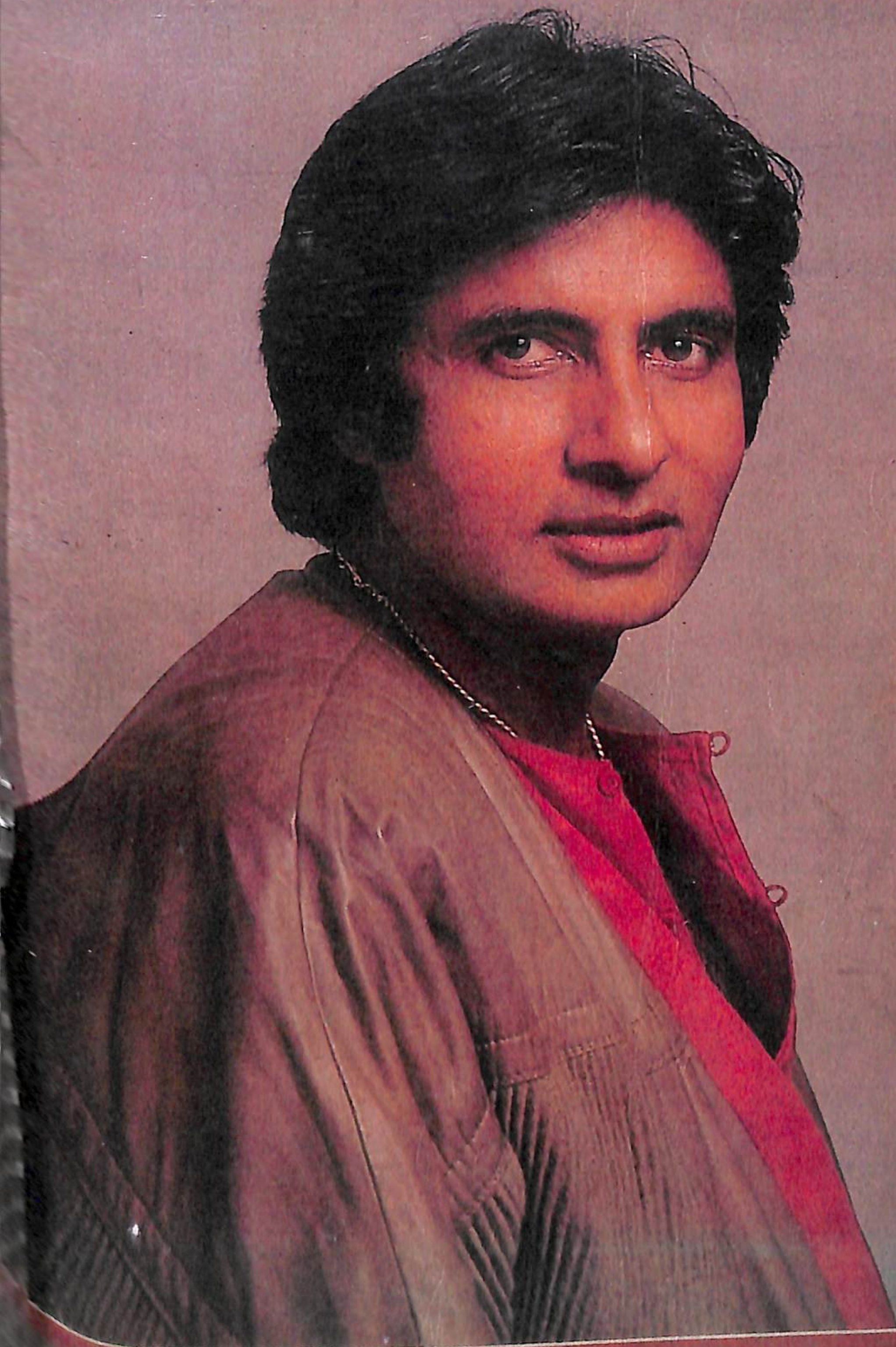
# नायक महानायक

दुनिया

फिल्म विशेषांक १९९२



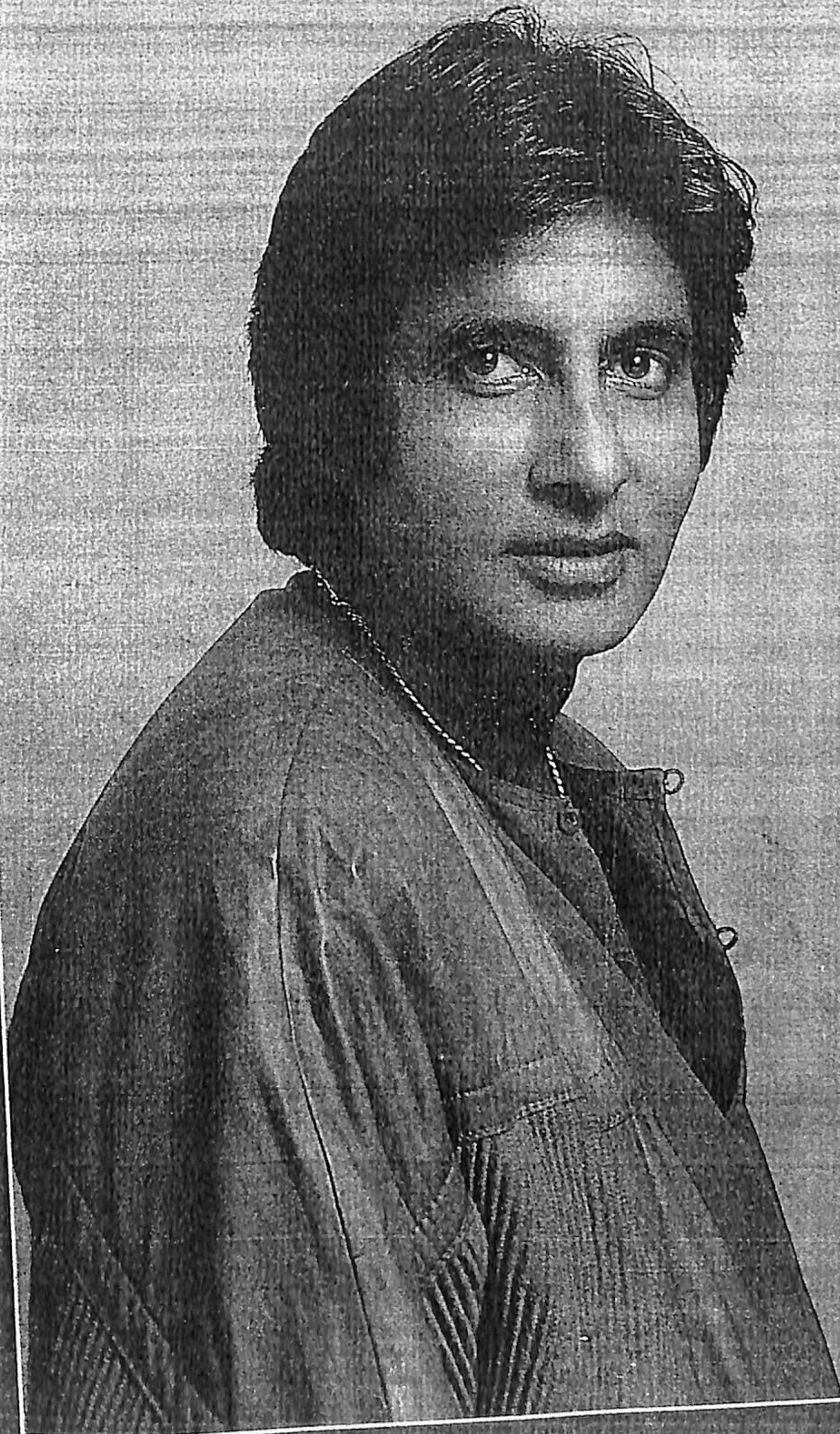
मूल्य ३०/-

रविकान्त

# नायक महानायक

नईदुनिया

फिल्म विशेषांक १९९२



मूल्य ३०/-

# १ महानायक





# अनुक्रमणिका

● मुखपृष्ठ : अमिताभ बच्चन
● छाया : गौतम राज्याध्यक्ष (बंबई)
● ब्लोअप छाया : के. सुभाष (बंबई)

# ३ चरित्र नायक



# २ नायक

## ४ खलनायक



## ५ हास्य-नायक



## ६ नए नायक



❁ **विशेषांक के साथ अमिताभ बच्चन का मुफ्त ब्लोअप**

## ७ बहुरूपिए नायक



### सामग्री सौजन्य : साभार


☐ फिल्म इंडिया ☐ स्क्रीन ☐ फिल्म फेअर ☐ सिनेमा विजन ☐ माधुरी ☐ सिनेमा इंडिया इंटरनेशनल ☐ इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया ☐ सिनेमा इन इंडिया ☐ सेवंटी फाइव इयर्स ऑफ इंडियन सिनेमा (टी. एम. रामचंद्रन्) ☐ स्टार एंड स्टाइल ☐ हिंदी सिनेमा का इतिहास (मनमोहन चड्ढा) ☐ राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार तथा डायरेक्टोरेट ऑफ फिल्म फेस्टिवल ऑफ इंडिया के प्रकाशन ☐ म.प्र. फिल्म विकास निगम भोपाल के प्रकाशन : 'पटकथा' तथा 'अशोक कुमार' ☐ गैर फिल्मी समाचार पत्रों के रविवारीय संस्करण ☐ फिल्म कल्चर (इंदौर)


### चित्र-सौजन्य :


- ☐ प्रीतम मेघाणी (उल्लासनगर)
- ☐ बद्रीप्रसाद जोशी (बंबई)
- ☐ शशिकांत किणीकर (पुणे)
- ☐ फिल्म-कल्चर (इंदौर)
- ☐ प्रतापराव शिंदे (इंदौर)
- ☐ उमेश व्यास (बंबई)
- ☐ व्यंग्य चित्र : देवेन्द्र शर्मा


## लेखक-समुदाय



### विशेष

*इस विशेषांक में प्रकाशित रचनाकारों/ समीक्षकों के विचार, विश्लेषण तथा समीक्षात्मक टिप्पणियाँ उनकी निजी अभिव्यक्ति है। उससे सम्पादक अथवा प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है।* **-प्रधान सम्पादक**

□ **सम्पादकीय**

# वह क्षण कब आएगा?

*यह अजीब लग सकता है कि सामाजिक बदलाव की इच्छा हर समय में समाज के प्रत्येक हिस्से में समकालीनता के अनुरूप पलती रहती है, लेकिन इस इच्छा के परिवर्तनकारी संगठित स्वरूप में प्रकट होने के लिए समाज एक उपयुक्त नायक की प्रतीक्षा करता है। और वह नायक सार्थक दिशा के लिए इच्छा-बलों को समन्वित करते हुए उस दौर का प्रतीक बन जाता है। इस नायक के आदर्श, तत्कालीन समाज के जीवन-आदर्श कहे जाते हैं।*

*शाब्दिक अर्थों में भी, नेतृत्व करने वाला यह व्यक्तित्व, यों तो अपने स्थानिक अर्थों में समाज के विभिन्न भागों में, विभिन्न रूपों में उपस्थित होता है किंतु व्यापक अर्थ में यह संपूर्ण समाज को दिशा देने के लिए उत्तरदायी है। भारतीय संदर्भ में राम या कृष्ण जैसे मिथकीय चरित्र लें अथवा स्वाधीनता संघर्ष से उभरे महात्मा गाँधी, यह स्पष्ट है कि इस नायकत्व का अनुप्रभाव संबंधित समाज पर समय से ऊपर उठकर रच जाता है।*

*मौजूदा समय में भारतीय समाज की त्रासदी यह है कि राजनीतिक खोह में तमाम किस्म के नायकों का समारोही अंत कर दिया गया है अथवा उन्हें मूर्ति-चित्र प्रतिष्ठाओं में घटाकर रख दिया गया है। राजनीतिक वृत्त ने अपनी त्रिज्या में जब नायक बनाने-बिगाड़ने का काम ले लिया, तब छवियों का सामाजिक प्रभाव एकाएक घट गया। उसी की परिणति है कि, 'नायक' अब प्रचार दीर्घाओं से निर्मित होते हैं और उनके सामाजिक सरोकारों पर कोई खास बहस नहीं होती।*

*जाहिर है, ऐसे में, जगमगाती छवियों की फंतासी रचते सिने संसार के नायक एकाएक महत्वपूर्ण हो उठे हैं। या तो वे पीढ़ियों के सपनों में रूपायित होते हैं या उस काल्पनिक छवि की उत्तेजना का लाभ लेकर राजनीतिक मार्ग से सामाजिक उत्थान के प्रणेता हो जाने तक की सोचने लगते हैं। इस तरह, भौतिक मूल्यों और चारित्रिक सश्लेषणों के इस संक्रमण काल में वे नायकत्व के निर्धारण में अपनी भूमिका तलाश रहे हैं।*

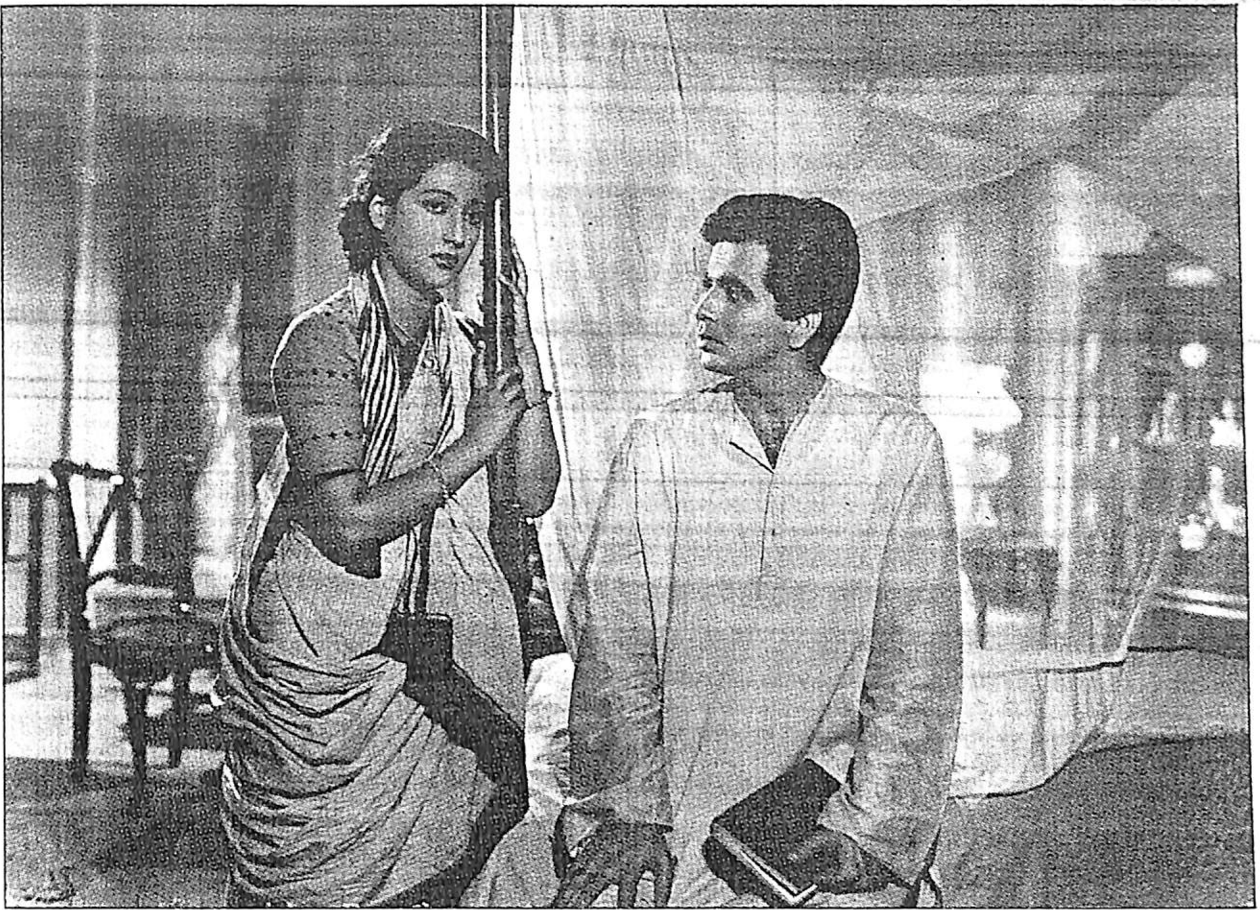
*जब हम एक मोटी बहस के दो खास सिरे लेते हैं कि नायक समाज को प्रतिबिंबित करने वाला होता है या समाज को दिशा देने वाला, तो फिल्मी नायकों में एक सुविधाजनक रास्ता अख्तियार करने का भाव पैदा हो जाता है। खासकर लोकप्रिय सिनेमा (यानी सबसे बड़े दर्शक वर्ग को प्रभावित करने वाला माध्यम) यह कहने लगता है कि जैसा समाज है, उसका प्रतिरूप परदे पर आता है। मूल्यों और परंपराओं को वह फ़ंतासी में इस्तेमाल अवश्य करता है, लेकिन मनोरंजन के इस महा-व्यवसाय में समाज को दिशा देने वाले नायक की माँग उसके लिए अनिवार्य प्रतीत नहीं होती।*

*'जय संतोषी माँ' के 'शो' में गुड़-चने बँटने या 'किस्मत' के आने पर जेबकटी की घटनाओं में वृद्धि होने अथवा कुछ हत्याओं- प्रेम प्रसंगों के पीछे फिल्मों के प्रभाव की खबरों को एक सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रभाव-प्रक्रिया मान लिया जाए, तो भी सबसे सामर्थ्यवान कला-उपकरण के सहयोग से आकार लेते कलाकार की छवि, नायक की तब ही हो सकती है, जब उससे सामाजिक सरोकार जुड़ जाएँ।*

*हमारी फिल्मों ने लवर बॉय/ जुबली कुमार/ ही-मेन/ या 'एंग्री यंग मेन' तो दिए हैं, लेकिन क्या सचमुच कोई नायक दिया है? वास्तविक अर्थों में रजतपटीय नायकत्व की ऊँचाइयाँ, समाज से सीधे रिश्तों के साथ एक परिवर्तनकारी जमीनी आदर्श के नेतृत्व की दिशाएँ खोलने में यदि सहायक होती हैं, तभी वह कलाकार नायक हो सकता है। और, महानायक... वह तो काल से परे और समाज के अंतरतम का हिस्सा बन गया चरित्र होता है।*

*फिल्मी-प्रतिरूपों के नायक-महानायक विशेषांक को आपके हाथों में देते हुए, हम यही कामना और आशा कर सकते हैं कि समकालीन भारतीय समाज के हर हिस्से में वांछित नायक-चरित्रों की स्थापना हो सके। जिस दिन स्क्रीन का कलाकार समाज का नायक हो जाए, उस दिन चलचित्र की भूमिका, 'सिर्फ मनोरंजन' से ऊपर उठ जाएगी और कलाकार की कला एकांगी और अल्पजीवी नहीं रह जाएगी।*

*क्या वह क्षण कभी आएगा?*



*देवदास : सुचित्रा सेन- दिलीपकुमार*

# बीसवीं सदी की चौखट से झाँकते नायक के चेहरे

श्रीराम ताम्रकर

● दुनिया ऐसी है, लेकिन उसे 'ऐसी होना चाहिए' और 'मैं उसे ऐसा बनाकर रहूँगा' इसी संकल्प के साथ नायक बनने की प्रक्रिया शुरू होती है। अभी तक युग- परिवर्तन की पीठिका में संस्थाओं तथा समूहों की शक्ति को रेखांकित किया जाता था। हमारी पुरातन अवधारणा इस सच की ओर संकेत करती है कि जन-जन ने हमेशा किसी 'जन- नायक' अथवा 'महानायक' को ही अपना आराध्य माना है। इसे अवतारवाद भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब कभी अवतारी-पुरुष की चर्चा चलती है, तो हम उसे 'भगवान' बनाकर मंदिर में बैठा देते हैं और उसके पुजारी या पंडे उस भगवान का नाम लेकर अपने निहित स्वार्थों को पूरा करते हैं। किसी भी देश का समय तथा समाज एक स्वप्न देखता है और उसे साकार करने के लिए वह उस व्यक्ति का इंतजार करता है, जो घोड़े पर सवार होकर आएगा और सामान्य- इच्छा को पूरा कर सकेगा। एक साधारण आदमी जब पूर्ण- पुरुष की दिशा में आगे बढ़ता है, तो दुनिया और साधारण आदमी के बीच एक प्रकार का संघर्ष शुरू होता है। इसकी परिणति 'नायकत्व' अथवा 'महानायकत्व में होती है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी साधारण आदमी पूरी दुनिया की चिंता करते हुए पूरी दुनिया के विरुद्ध भी चला जाता है।

● बीसवीं सदी की सर्वश्रेष्ठ कला सिनेमा में भी साहित्य के समानांतर नायक की छवि एक सी है। भारतीय फिल्मों के संदर्भ में दादा साहेब फालके द्वारा निर्मित पहली कथा-फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (१९१३) में नायक हरिश्चंद्र अपने नैतिक- अहं की सुरक्षा और संकल्प के कारण श्मशान के डोम के हाथ अपने पुत्र को बेच देने की करुण विवशता की सीमा तक पहुँच जाते हैं। फिल्मों में पहले नायक देवता हुआ करता था। फिर पौराणिक कथा- पुरुष। इतिहास–पुरुष। दर्शक- वर्ग में सामाजिक- यथार्थ की समझ धीरे-धीरे विकसित होती गई, तो फिल्म का नायक ऐसे 'देवता' के रूप में बदल गया, जो स्वर्ग से नीचे और धरती से थोड़ा ऊपर रह गया। दर्शक नैतिक छलांग लगाकर उसे छू तो सकते थे मगर खुद उस जगह तक नहीं पहुँच सकते थे। इस छूने में उसे महसूस होता था कि उसका अधूरा- सपना किसी न किसी स्तर पर पूरा हो रहा है।

● भारतीय चतुर फिल्म निर्माता ने इस रहस्य को बखूबी समझ लिया था। लेकिन 'शापग्रस्त- देवता नायक' भी शीघ्र ही अपनी स्थिति खोने लगा। उन दिनों अँगरेजी- राज के विरुद्ध भारत के जन- जन में आक्रोश की आग सुलग रही थी।परदे का नायक इस संघर्ष में दर्शक के साथ नहीं था। इसलिए 'दर्शक' को देवता के स्थान पर मनुष्य नायक की आवश्यकता हुई। जिन समझदार दर्शकों ने भारतीय सिनेमा के परंपरागत इतिहास का विकास बारीकी से देखा- समझा है, उन्हें मालूम है कि किस प्रकार एक 'हाड़- माँस का पुतला महात्मा' रजतपट की विभिन्न छवियों में 'नायक' का आकार लेने लगा था।

एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट होती है। १९९२ के दादा साहेब फालके

पुरस्कार से सम्मानित भालजी पेंढारकर ने औपनिवेशिक दादागिरी के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए 'वंदे मातरम्' फिल्म बनाई थी। अँगरेजी- राज के सेंसर बोर्ड ने उसे सात बार सेंसर किया और अंत में नाम बदल कर- वंदे मातरम् आश्रम शीर्षक से उस फिल्म को रिलीज की अनुमति दी गई। फिल्म छत्रपति शांताराम को भी अपनी फिल्म 'महात्मा' का नाम बदल कर 'धर्मात्मा' करना पड़ा था। इस घटना को इस तरह परिभाषित करेंगे कि समूह की चेतना, व्यक्ति की चेतना की तरह व्याख्यायित की गई।

● शरतचंद्र के उपन्यास के पन्नों से बाहर निकल कर सिनेमाघरों के परदों पर पहली बार एक 'महानायक' **देवदास** के रूप में आता है। अपनी पलायनवादी बनावट के बावजूद देवदास ने फिल्म की चौखट में रोमांटिक- युग की शुरूआत की। रोमांस की इस धारा को रतन/ खिड़की/ शहनाई/ मेला/ दीदार/ बरसात/ खजांची जैसी फिल्मों ने आगे बढ़ाया। ये तमाम फिल्में कालजयी नहीं होने के कारण महानायक की रचना नहीं कर सकीं। इसके विपरीत दक्षिण भारतीय भाषाओं की फिल्मों में एक साथ एक नहीं अनेक 'महानायक' आकार ले रहे थे। भाषाई अवरोध के कारण वे अपने प्रदेशों की सीमाओं को तोड़कर राष्ट्रीय क्षितिज पर दैदीप्यमान नहीं हो सके। फिर भी एम.जी. रामचंद्रन, एन.टी. रामाराव, प्रेम नजीर, राज कुमार (कन्नड़), शिवाजी गणेशन, जेमिनी गणेशन इस क्रम की एक अनिवार्य उपज हैं।

● सांस्कृतिक अवसाद और उदासी के दौर ने भारतीय सिनेमा को तीन नायक एक साथ दिए- दिलीप कुमार/ देव आनंद और राज कपूर। ये तीनों कलाकार अपनी फिल्मों के माध्यम से एक मध्यमवर्गीय- परिवार की त्रासदी- कामदी को आधार बना रहे थे। कालांतर में ये तीनों नायक 'त्रिदेव' कहलाए और 'मिथ' के रूप में पूरे भारतीय जनमानस पर छा गए।

इन 'त्रिदेव' से पहले परदे पर अशोक कुमार का आगमन हो चुका था। अपनी फिल्म 'अछूत कन्या' (१९३६) के जरिए वे वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध शंखनाद कर चुके थे। फिल्म अछूत कन्या में मनुष्य और मनुष्य को जोड़ने के सूत्र एक प्रेमकहानी के तानेबाने में बुने गए थे। ब्राह्मण नायक अछूत नायिका का वरण करता है। उस समय के वर्ण- विभाजित समाज में यह प्रेम की शौर्य- गाथा थी। इस फिल्म ने नई पीढ़ी की भूमिगत उस इच्छा को पूरा किया, जो प्रेम को वर्ण तथा वर्ग से ऊपर ले जाकर आत्मा का आलोक देती थी। लेकिन इस फिल्म का नायक 'महान नहीं' हो पाया क्योंकि दर्शक का सामाजिक- गुस्सा उसके कथागत- सच में समाप्त हो गया था।

● त्रासदी के मानक को पूरा करती बिमल राय की फिल्म **देवदास** (१९५५) में सामान्य से चेहरे वाले, धीमी फुसफुसाहट में संवाद बोलने वाले युवक **दिलीप कुमार** का उदय हुआ। आगे चलकर यह युवक 'हीरो-मिथ' का महानायक बन गया। संभवतः यह पहला ऐसा नायक था, जिसने विचार को संवेदना में रूपांतरित करते हुए त्रासदी को रोमांटिक- धरातल प्रदान किया। इसने बुद्धि अथवा तर्क के बजाए 'दिल द्वारा दुनिया' को समझने की प्रस्तावना लिखी। दिलीप कुमार द्वारा अभिनय का जो मुहावरा खोजा गया, उससे आगे आज तक कोई अभिनेता नहीं जा पाया है। दिलीप कुमार के अभिनय में एक ऐसा रहस्य है, जो उसके विभिन्न चरित्रों में मौजूद है। जैसे उसने अभी-अभी कुछ कहा और उसमें भी कुछ छूट गया है अथवा शेष रह गया है।

● इसी अवधि में मध्यमवर्गीय समाज के अंतर्विरोधों से निकल कर एक और नायक की एक भिन्न तथा परिचित छवि सामने आती है। जिसने आजादी के बाद के 'मोहभंग' की स्थिति को करुणा तथा हास्य के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया कि वे छवियाँ कालजयी हो गई। यह छवि थी दूसरों की गलतियों की सजा भोगने वाले निरपराध 'आवारा' की और उसे जीवंत बनाने वाला अभिनेता था- **राज कपूर**। इस अभिनेता ने लोक- संस्कृति के स्थान पर लोकप्रिय संस्कृति को वर्ग की विडंबना बनाया। अपने में एक ओर चार्ली चेप्लिन का भारतीय संस्करण भी छिपाए थे राज कपूर और दूसरी ओर ख्वाजा अहमद अब्बास तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू का वामपंथी दृष्टिकोण भी।

यदि दिलीप कुमार संजीदगी से लोकप्रियता के स्तर को छू रहे थे, तो राज कपूर जनप्रियता अर्जित कर रहे थे। लेकिन ये दोनों एक ही समय में एक ही समाज के दो चेहरे थे।

एक तीसरा चेहरा और उभरा जिसने अभिव्यक्ति के लिए भोले, सुंदर और सफेद चमकीले दाँतों वाली हँसी से भरे चेहरे को चुना। उसके कार्य तथा व्यवहार में स्वप्न-पुरुष की अदाएँ थीं और जबरदस्त सम्मोहक शक्ति लिए वह प्रकट हुआ था। प्रेम और आर्थिक अपराध के संसार को रचता और उसमें से अपने को बचता, बचाता वह नायक था- **देव आनंद**।



*अछूतोद्धार : अशोक कुमार-देविका रानी*

● भारतीय, खासकर हिंदी, सिनेमा की यही थी अभिनय त्रयी। कई दशकों तक यह पूर्ण- नायक की तरह दर्शकों के दिल- दिमाग पर छाई रही। सत्तर के दशक में इस छवि को एक ग्लेमरहीन और साधारण चेहरे ने तोडा, जो पास-पड़ोस या गली मोहल्ले के लड़के की तरह रजतपट पर जगमगाया। वहे चेहरा था- **राजेश खन्ना**। इस चेहरे में समाज को बदलने की ताकत नहीं थी क्योंकि वह अपने 'समय' को एक विवरण की तरह साथ लेकर आया था।

● राजेश खन्ना जैसे खुरदरे तथा सामान्य नायक के समानांतर एक नए और



*लोक-संस्कृति का नायक : राजकपूर*

यथार्थवादी आग्रह का नायक धीरे-धीरे फिल्म क्षितिज पर अपने आगमन की लालिमा बिखेर रहा था। उसके साथ नायकत्व के अलावा समाज और परिवेश की सच्चाइयाँ भी साथ थीं। इन सच्चाइयों में समाज का वह आंदोलन भी झांक रहा था, जो साहित्य, नाटक और लेखकों की लेखनी से निकल कर पूरे देश में बिखर रहा था। इस आंदोलन ने एक साथ नायक की जगह कई अभिनेता दिए जिन्होंने अपने सिनेमाई व्याकरण तथा अपनी सिनेमेटिक- भाषा से भारतीय सिनेमा को विश्व सिनेमा से जोड़ा।

● अंत में इतने तमाम नायकों की छवियों और चमक को ध्वस्त करती हुई एक सन्नाटेदार संजीदा आँखों और औसत आदमी से भिन्न कद काठी वाली एक शख्सियत परदे पर नायक के रूप में उभरी। उसने देखते ही देखते पूरे समाज को अपनी रोशनी तथा आकर्षण में समेट लिया। यह छवि सत्तर के उस दशक के यथार्थ से उपजी थी जिसमें पाकेटमार, गेम्बलर, ज्वेलथीफ या चंबल के बीहड़ के दस्युराज बने थे। अपराध इस दौर में अकेला न होकर संगठित हो चुका था। परदे पर एक 'अंडर-वर्ल्ड' उभर कर सामने आया जिसने सत्ता के समांतर अपना झंडा फहरा रखा था।

जनतंत्र के अनेक दोषों में एक दोष 'देरी से निर्णय' का है। नतीजे में कर्मण्य लोग अकर्मण्य की तरह व्यवहार करने लगे और सब कुछ भगवान भरोसे छोड़ दिया गया। मजे की बात यह कि भगवान खुद संसार छोड़कर कभी का कहीं चला गया था।

● यही से एक नाराज आदमी उठा। उसे भगवान से लड़ाई लड़नी थी। सारी दुनिया उसके लिए दुश्मन बन गई थी। वह नायक 'एंग्री यंगमेन' कहलाया। वह था **अमिताभ।** वह समय का नाजायज बेटा था, जो हर किसी से बदला लेने पर उतारू था। एक किस्म के रचनात्मक- अपराध ने भारतीय सिनेमा के असली महानायक को जन्म दिया। अमूर्त आदर्शवाद की आँधी और तूफान अपने साथ लेकर यह नायक संकल्प को उन्माद में बदल कर तमाम व्यवस्थाओं, समाज, सत्ता से सीधे- सीधे लड़ना चाहता था। यही लड़ता हुआ हिंस्र नायक पूरे अस्सी के दशक पर छाया रहा। अब उसने बिदा के लिए अपने हाथ उठा लिए हैं। देवदास की राख से फोनिक्स की तरह उठकर विराट हुए इस महानायक की सिनेमाई व्याख्याएँ खूब हुई हैं। जरूरत है कि इसका समाजशास्त्री अध्ययन किया जाए।

● यह आश्चर्यजनक दुर्भाग्य है कि बीसवीं सदी अपने अंतिम दिन गिन रही है। और सिरहाने खड़ा रहने वाला कोई नायक नहीं बचा है। दम तोड़ती इस सदी के मुँह में गंगा-जल की बूँद कौन डालेगा? इसका उत्तर हम नहीं, भविष्य बताएगा। क्योंकि सदी और सिनेमा दोनों अपने अंत के पास पहुँच चुके हैं। ■

# बात सिर्फ शकूर मियाँ की नहीं

सीधे सादे शकूर मियाँ की करीब करीब पूरी जिंदगी ही निकल गयी थी बंधुआ मजदूरी करते करते। हर रोज कड़ी मशक्कत करना और धौंस धपट सहना ही जैसे उनकी किस्मत थी। अपनी मेहनत का पूरा मुआवजा मांगने का सोचना भी गुनाह था उनके लिए। एक बात तो उन्हें मालूम थी, वह यह कि उनके साथ जो कुछ हो रहा है वह नाजायज और गैरकानूनी है। इसकी सुनवाई कहां होती लिहाजा वह चुप रहे और तकरीबन पूरी उम्र ही निकाल दी बाहुबल और धनबल के राज में।यह सब चलता रहा ऐन राजधानी भोपाल के नज़दीक के गांव में।

लेकिन पिछले दिनों शकूर मियाँ को लगा कि अब वक्त बदला है और उनकी सुनवाई जरूर होगी। उन्होने अपनी हिम्मत संजोई और थाने में रपट कर दी। अब मामला पहले जैसा नहीं था। तुरंत कार्रवाई हुई और उनकी सुनवाई प्रशासन के शिखर तक पहुंची। शकूर मियाँ के शोषक का राज खत्म हुआ जिसकी बुनियाद ही रखी थी पैसे और गुंडागर्दी पर। अब शकूर मियाँ के माथे की सलवटें जाहिर करती हैं - इत्मीनान जो कानून के राज में रहने वाले हर बाशिंदे को हासिल होता है।

लेकिन यह कहानी सिर्फ शकूर मियाँ या उनके साथ काम करने वाले बाकी बंधुआ मजदूरों की ही नहीं है।

पूरे प्रदेश में पिछले दो सालों के दौरान जिसकी लाठी उसकी भैंस वाले हालात को बदला है एक ऐसी सरकार ने जिसका यकीन है कानून के राज में और लोगों की कानून के प्रति निष्ठा में। चाहे इंदौर के बंबई बाजार का मामला हो या कहीं और अतिक्रमण हटाने का, हर कहीं सरकार ने जनहित में कानून को कानून के तौर पर सख्ती से लागू किया है। बगैर भेदभाव के, बगैर रियायत के।

नतीजा निकला है शकूर मियाँ जैसे शोषित पीड़ित लोगों के हक में जो अब कानून के राज में चैन की सांस ले सकते हैं। बगैर उस आतंक के जो हावी था बरसों से उन पर।



दो वर्षों में प्रशासन को जनोन्मुखी बनाने तथा उपलब्ध साधनों से सभी क्षेत्रों के विकास के प्रयास हुए हैं। प्रशासन में हस्तक्षेप राजनैतिक भ्रष्टाचार और धनबल बाहुबल की मनमानी पर अंकुश से सरकार में लोगों का विश्वास बढ़ा है।

सुंदरलाल पटवा
मुख्यमंत्री

**मध्यप्रदेश सरकार**



खण्ड-१

महानायक

पैदा होने से पहले ही अशोककुमार का नाम 'अशोककुमार गांगुली' तय हो गया था। □ मेरी माँ ने 'अछूत-कन्या' फिल्म देखी, तो सिनेमा हॉल में रो पड़ी थीं क्योंकि मैं रेलवे-क्रॉसिंग पर लड़ रहा था और ट्रेन आ रही थी।

# दादा मुनि : अशोककुमार

**अजातशत्रु**

मेरे सामने एक आदमी बैठा था। हवा की तरह सजग, आत्मस्थ और आसपास की चीजों के प्रति अनजाने संवेदनशील। अगर मैं बार-बार याद नहीं करता कि यह आदमी २५०-३०० फिल्मों में काम कर चुका है और हिंदी सिनेमा की अजीम हस्ती है, तो मैं उसे समझदार, इंटेलीजेंट बुजुर्ग ही समझता। यूँ वह संसार के बड़े-बड़े लोगों से मिल चुका है और उसके पास बंगला, कार और भरपूर पैसा है। मगर पृष्ठभूमि से यह सब प्रभाव गायब था। मेरे सामने एक प्रेमल वर्तमान जीवंत था। जैसे वह सिर्फ मुझे जानता है और मुझे ही तवज्जो देता है। उसमें शंका, झिझक और बनावटीपन का नामोनिशान नहीं था। वह डायरेक्ट पर्सेप्शन में से बातें कर रहा था। उसकी सिगरेट की जलती आँख और उसकी नाक का अग्रभाग...दोनों ही...अभिभूत करते थे। हाँ, जो चीज इस शख्स में तेजस्वी थी, वह थी उसकी आँखों की चमक-खासतौर पर जब वह गहरा उतरता। मैं अभी तक नहीं समझ पाया, इस शख्स में कोई अंदरूनी बैरियर क्यों नहीं है? क्यों वह आश्वस्त और लापरवाह है? क्यों मुझे वह इतनी आत्मीयता से अपना अतीत बतला रहा है? दोस्तों, ढेरों पेज लिखकर और उसके साथ घंटों बैठकर मैं अभी भी नहीं जानता कि वह कहाँ पर एक्टर है? कैसे एक्टिंग करता है? मेरे लिए वह अजूबा है, क्योंकि यह इंसान न परदे पर एक्टर है और न जीवन में **दिलीपकुमार** की तरह इफेक्ट के लिए बातें करता है। मगर सच्चाई तो यह है कि वह हिंदुस्तान का बहुत बड़ा एक्टर है। मैं आज तक उस रहस्य को नहीं जान सका, जो रहस्य नहीं है और फिर भी है। दादा मुनि के लिए मेरे जेहन में तब भी अनायास एक-एक शब्द था और अब भी विचारों के जंगल के बाद, एक ही शब्द है- **'बौद्धिक संत, जेन-गुरु।'** तो अब इंटरव्यू पढ़िए!

**आपका असल नाम कुमुदलाल है। अशोककुमार नाम कैसे पड़ा?**

मेरा असल नाम अशोककुमार ही है। मेरे नाना बहुत रईस थे। जब मैं माँ के पेट में आया, तभी उन्होंने यह नाम रख दिया था। मेरे जन्म के पहले लंदन से खिलौनों का बॉक्स बुलाया गया था। उसमें कपड़े वगैरह भी थे। किसी ने कहा था कि लड़के की जगह लड़की हो गई, तो क्या होगा? सो नानाजी ने ऐसे कपड़ों का ऑर्डर दिया था, जो लड़के या लड़की के लिए समान हो। तो लंदन से जो बॉक्स भागलपुर आया था, उस पर **'अशोककुमार गांगुली'** लिखा हुआ था। इस तरह मैं पैदा होने के पहले ही अशोककुमार हो गया।

**फिर 'कुमुदलाल' नाम का खुलासा क्या है?**

उसका भी एक किस्सा है। खंडवे में पिताजी ने डाक से एक मशीन बुलाई थी। पंचिंग मशीन, जो आजकल २०-३० रुपए में मिल जाती है और तब १५०-२०० रुपयों में आई थी। पिताजी का नाम कुंजीलाल था। सो पार्सल पर लिखा था- 'के. गांगुली'। बाद में हम सब भाई उसके लिए झगड़ने लगे, तो पिताजी ने समझाया, देखो यह मशीन तुम सबकी है। किशोर का नाम 'क' से है। अनूप का घरेलू नाम भी। मेरा नाम तब कुमुदलाल कर दिया गया। इसका मतलब यह हुआ कि 'के. गांगुली' की पार्सल हम सबकी थी।



*फिल्म आशीर्वाद के जोगी ठाकुर अशोक कुमार*

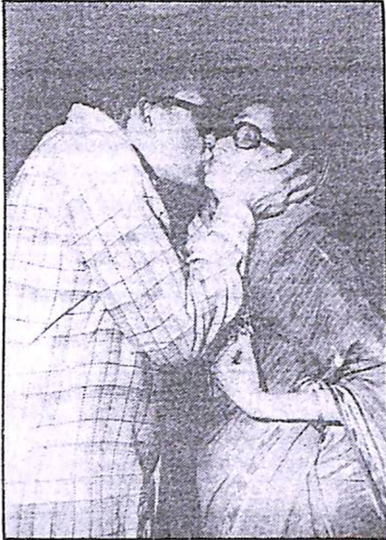
**बचपन की यादें कितने पीछे तक जाती हैं?**

तीन-साढ़े तीन साल तक। मुझे याद हैं, तब मैं माँ-बाप का अकेला लड़का था। हरदा में रहता था। हमारे बंगले के पीछे बहुत बड़ा मैदान या खेत था। माँ को खाना बनाते नहीं आता था, सो पास के किसी गाँव से

एक ब्राह्मण को बुलाया गया था।

**हरदा से खंडवा कैसे आए?**

शायद दादा माखनलाल चतुर्वेदी के कारण। हल्की-सी याद है कि पिताजी हरदे में वकालत करते थे और दादा माखनलाल पास के ही गाँव मसनगाँव में शिक्षक थे। बाद में दादा का नाम हुआ। वे खंडवे में बस गए। तब काफी बंगाली खंडवा में बस गए थे। साहित्य, कला और संस्कृति में भी इस



*पत्नी शोभा को प्यार का उपहार*

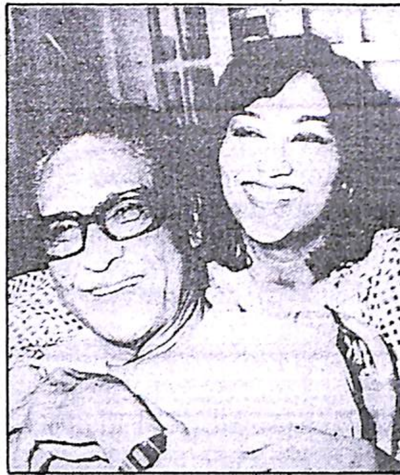
शहर का नाम हो रहा था। 'बाबा' (पिताजी) तब वहीं चले गए।

**खंडवे की कौन-कौन-सी बातें आपको याद हैं?**

सबसे ज्यादा धूनी वाले दादा का आश्रम। फिर गाँजा गोदाम/ डबल फाटक स्कूल/ जसवाड़ी का एरोड्रम/ अबना नदी/ रेलवे ब्रिज के पार की मेहता स्कूल/ जसवाड़ी और घर के पीछे एक संस्कृत पाठशाला/ वहाँ सत्यनारायण का मंदिर था।

**पिताजी की याद किस रूप में है?**

पिताजी से लगाव बाद में पैदा हुआ, जब मैं जवान हो गया पर मेरे बड़े होने के बाद उन्होंने कभी मेरे पसंद और चुनाव में दखल नहीं दी। एक्टर बन गया, तो एक बार बोले- जीवन में जैसा चलता है, चलने देना बस कभी एम्बीशन (महत्वाकांक्षा) मत पालना। इससे तुम जल्दी थक जाओगे। वे बहुत अच्छे ज्योतिषी थे। हारोस्कोप देखते थे। मुझसे बोले तुम्हें औरतों की दोस्ती बहुत नसीब होगी, पर लंबा अफेयर कभी नहीं चला पाओगे। तुम्हारी कुंडली में शुक्र प्रबल है, पर मंगल भी सामने बैठा है। बहुत बाद में ज्योतिष मैंने भी पढ़ा। संस्कृत का शिक्षक लगाया। खंडवे के घर में एक बंगाली किताब थी न जाने कौन लाया था। उसे बुलवाकर उसे पूरा पढ़ गया। 'लघु पाराशरी' और 'वृहत पाराशरी' भी बाँची। पिताजी की खास याद मुझे इसलिए है कि वे बहुत हँसमुख थे। मेरा मुस्कराना और ठहाका बिल्कुल उनके जैसा है। वे बहुत अच्छे



*छोटी बिटिया प्रीति गांगुली और दादा मुनि*

कॉमेडियन थे। कोर्ट में जजों को हँसा दिया करते थे। बाद में मन हुआ था कि उनके बताए हुए केसों पर कोई किताब लिखूँ। पर काम बीच में ही रुक गया। एक घटना अभी तक याद है। उनके पास देहाती गुंडे का केस आया था, वह मूँछे ऐंठा करता था। यही आदत जज की भी थी। बाबा ने अदालत में नकली गंभीरता से कहा- 'मी लार्ड, यह आदमी मूँछे ऐंठा करता है, वैसे आदमी बुरा नहीं है।' जज साहब शरमा गए, फिर झेंप छिपाने को बोले, 'मूँछे ऐंठता है, तो क्या हुआ? दैट्स नाट क्राइम' और उस आदमी को डाँटकर भगा दिया। बाहर आकर बाबा ने कहा- 'अब तू भोपाल भाग जा, इधर मत दिखना।' दरअसल कॉमिडी मेरे और किशोर के खून में है। पर किशोर में बाबा की विट और हरकतें अधिक आईं। मैं सिर्फ विट और कुछ हद तक टाँट वाले संवाद तक सीमित रह गया। किशोर के ही कहने पर मैंने भाई-भाई किया था, जिसमें विलेन बनना पड़ा। किशोर बोला था- 'भैया, मुझे यह फिल्म मिल रही है। आप साथ हो जाएँगे, तो कैरियर को बूस्ट मिलेगा।' किशोर की कॉमिडी पर बाबा का प्रभाव है।

**आपके माता-पिता आपकी फिल्में देखते थे?**

हाँ, पर बाबा ने मेरी फिल्में ज्यादा देखी। यह अलग बात है कि खंडवे से बहुत इंटीमेटली उन्होंने मुझे कुछ नहीं लिखा। हाँ, माँ ने जब खंडवे में **अछूत कन्या** देखी थी, तो रो पड़ीं, क्योंकि उसमें रेलवे क्रॉसिंग गेट पर मेरी लड़ाई दिखाई गई थी और रेलगाड़ी आ रही थी।

**क्या यह सच है कि आप अछूत कन्या के बाद भी फिल्म लाइन छोड़कर आना चाहते थे? आप बंबई में रुक कैसे गए?**

असल बात यह है कि मैं एक्टर बनना नहीं चाहता था। मगर पता नहीं हिमांशु राय ने मुझमें ऐसी क्या बात देख ली थी कि वे बोलते थे- अशोक, डोंट लीव लाइन। दो-चार फिल्में और कर लो। तुम्हारा नेचुरल स्टाइल चल गया, तो 'यू विल राइज टू एमिनेंस।' बाद में मुझे लगा कि मरना-खपना ही जब इस लाइन में है, तो क्यों न मैं अपने को परफेक्ट करना शुरू करूँ। फिर मैंने इस प्रोफेशन को सीरियसली लिया।

**सीरियसली लिया- इसका क्या मतलब?**

(रुककर) एक्टर तो सब होते हैं। बच्चों को स्कूल नहीं जाना होता है, तो वे एक जैसा बहाना बनाते हैं। यह बहाना ही एक्टिंग है, पर सफल एक्टिंग करने का मतलब है कि आप ऐसा बहाना बना रहे हैं कि वह दूसरों से अलग लगे और कामयाब हो जाए। मैंने सीखा कि 'हाऊ टू एक्ट एक्टिंग नहीं है, एक्टिंग है-व्हाट टू एक्ट।' सो मैं मेहनत करता व पता लगाता कि सीन में मुझे नया क्या करना है। मैं ड्रामा या थिएटर नहीं करना चाहता था। बढ़-चढ़कर

## अशोक कुमार की साइकल दौड़

*__अशोक कुमार__ भारतीय फिल्म इतिहास में जितने महत्वपूर्ण हैं उतनी ही दिलचस्प उनकी जीवन शैली भी है। वे होमियोपैथी विशेषज्ञ, चित्रकार, शतरंज चैंपियन और हस्तरेखा विशेषज्ञ भी हैं। इसके साथ ही वे एक साहसिक खिलाड़ी भी रह चुके हैं। यह तथ्य बहुत कम लोगों को मालूम होगा। साइकल चलाने में वे इतने पटु रहे कि उन्होंने अभिनेता जानकीदास को खुले मुकाबले की चुनौती दे डाली। साइकल चलाने में चैंपियन रह चुके जानकीदास के साथ दादा मुनि का मुकाबला काफी धूम-धड़ाके के माहौल में बंबई के ब्रेबोर्न स्टेडियम में १८ मई १९५१ को होना तय हुआ था। इस हेतु फिल्म निर्देशक किशोर साहू ने विख्यात जौहरी नरोत्तमदास से सोने की एक कलात्मक ट्रॉफी तैयार करवाई। निश्चित तिथि को ३५ हजार दर्शकों की उपस्थिति में स्टार विरुद्ध चैंपियन की दौड़ शुरू हुई। पहले हिस्से में अशोक कुमार आगे रहे, मगर बाद में जीत का सेहरा जानकीदास के सिर बँधा। दरअसल, यह एक नुमाइशी दौड़ थी, जिसे प्रायोजित करने के लिए जानकीदास ने जी-तोड़ कोशिश कर अशोक कुमार को राजी किया था। एक खेल के रूप में साइकल चालन को देश में लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अशोक कुमार ने इस मुकाबले में भाग लेना स्वीकार किया। स्पर्धा को वास्तविक स्वरूप देने के लिए जानकीदास ने एक माह तक दादा मुनि को साइकल दौड़ का अभ्यास करवाया था।*

**● सरला**

बनना, दिखना मुझे शुरू से पसंद नहीं था। सो, मैंने पता लगाया कि अगर मैं 'लाउड एक्टिंग' न करूँ, तो करने के लिए फिर क्या बचता है? तब मेरा ध्यान संवादों और उनके लहजे की तरफ गया। मैंने महसूस किया कि चुप रहने और डॉयलागबाजी करने के बीच संवेदनशील ढंग से अपनी बात कह जाना ही एकमात्र ऐसा सार्वभौमिक मैथड है, जिसमें दुनिया के तमाम लोग अपना सुख-दुख बयान करते हैं। सो मैंने फीलिंग और उसकी सादा, संवेदनशील बयानी को परफेक्ट किया। यही अब मेरा स्टाइल है और यह चल गया।

**यह किस दौर की बात है?**

अछूत कन्या से लेकर नया संसार के बीच की। नया संसार तक मैं अपना ढाँचा तय कर चुका था। 'महल' डॉयलाग-डिलेवरी के हिसाब से और संवेदनशील अंडरप्लेइंग के हिसाब से मेरी पहली फिल्म थी, जिसके बाद मुझे अपने फंडामेंटल्स ढूँढने नहीं पड़े। गुमराह तक उन्हीं को निखारता-सँवारता रहा।

**आपके हिसाब से आप एकदम सम पर किस फिल्म में आ गए थे?**

दीदार में। एक बात और बता दूँ। संवेदनशील अभिनय में अच्छे संवादों का बहुत हाथ होता है? उसमें निहित कविता या शायरी हमें इतनी अभिभूत कर देती है, कि संवेदना और सही एक्सप्रेशन चेहरे पर आ जाता है।

**याने अभिनेता के लिए संवाद कमोबेश वही काम करते हैं, जो गायक के लिए गीत करते हैं?**

एक्जेक्टली।

**कई बार लगता है कि संवाद आपकी शख्सियत में से आ रहे हैं और मुमकिन है कि वे पटकथा में न हों?**

हाँ...हाँ... ऐसा भी होता है। उसके दो-तीन कारण हैं। पहला यह कि संवाद-लेखक अपने मन में जैसा बोलता है, वैसा लिखता है। अब हम एक्जेक्ट वैसा तो नहीं बोल सकते। इसलिए अपने लहजे के हिसाब से उसे ढालना पड़ता है। दूसरे, लिखते समय पटकथा-लेखक के मन में जो सीन होता है, ऐन वैसे ही डिटेल्स सेट पर नहीं होते। बीच में से टेबल हट जाए तो बहुत फर्क आ जाता है। फिर दो पात्रों के बीच की दूरी भी बोलते वक्त कम ज्यादा हो जाती है, सो जुमले को अपने हिसाब से छाँट देना पड़ता है। तीसरे, एक्टर का भी एक मिजाज होता है जिसके हिसाब से वह सीन को इंटरप्रेट करता है। वह पात्र अथवा सिचुएशन की माँग को देखते हुए अपने इन्ट्यूशन से भी कोई डॉयलाग जोड़ देता है। तुमने पूछा था कि **ऊँचे लोग** में क्या वह डॉयलाग मेरा है जब मैं अपने लड़के के कातिल से पूछता हूँ- 'मरते वक्त, रज्जो, को तकलीफ तो नहीं हुई?' हाँ, वह डॉयलाग पटकथा में नहीं था। मैंने उसे जोड़ा था। मेरा इंटरप्रेटेशन था कि मैं रजनीकांत का बाप बना हूँ और उसे बहुत चाहता हूँ। उसकी हत्या गोली मारकर कर दी गई थी। सो इतने दुलारे और फूल से बच्चे की याद करके, उस डॉयलाग का आना जरूरी था। गुमराह में भी मैंने वैसा किया था- जैसे 'बच्चों को यह बता देना ठीक होगा कि उनकी माँ अब इस दुनिया में नहीं है। देर-अबेर उन्हें इस हकीकत का सामना करना पड़ेगा।' कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई संवाद पसंद नहीं आता, तो मैं डायरेक्टर से पूछ लेता हूँ कि अगले किसी सीन में थीम से इसका संबंध तो नहीं है। इसका भी ख्याल रखना पड़ता है।

**और आपके सिगरेट सुलगाने के सुप्रसिद्ध प्रसंग?**

खंडवा में प्रफुल्ल नागड़ा ने यही सवाल पूछा था। याद रखो, कैमरे के सामने मक्खी भी बेकार नहीं उड़ती। मैं ऐसे सीन बहुत रिहर्स करके जाता हूँ। घर पर हिसाब लगाता हूँ। कितने कदम चलना है, डॉयलाग के बीच कहाँ सिगरेट केस निकालना है, कहाँ पॉज देकर लाइटर से सिगरेट लगाना है, और कहाँ धुआँ छोड़कर वाक्य पूरा करना है। इस मामले में कभी-कभी डायरेक्टर बृज मजाक करते थे। वे सेट से पेपर वेट या कोई निशान हटवा देते थे। इससे मेरे केलकुलेशन को झटका लगता था, और मैं बिगड़ पड़ता था। फिर वे सब ठीक कर देते थे। कहने का मतलब यह कि ऐसे सीन में मैं एक-एक सेंटीमीटर का नाप जोख रखता हूँ। यह मेरी अपनी स्टाइल है।

**दादा मुनि, हम फिर वापस चलें! बतलाइए, आपकी शादी कब हुई? तब कौन सी फिल्म आप कर रहे थे? शोभाजी याने आपकी पत्नी को आपने पहली बार कब देखा था?**

शोभा मुझसे दस साल छोटी थी। पहली बार उसे भागलपुर में देखा था। घर पास-पास थे। मामा ले गए थे। तब वह फ्रॉक पहनती थी। मैंने देखा, एक लड़की रोटियाँ बेल रही है। करीब चालीस-पचास उसके सामने थीं। मैंने मामा से पूछा- यह क्या? वे बोले, अरे भाई आज मेहमान आने वाले हैं। बड़ी सीधी सादी, कामकाजी लड़की है। मैं इस घटना को भूल गया। जब मेरी शादी की बात चली, तो मैं **वचन** कर रहा था या शायद रिलीज होने वाली थी। खैर यह सन् १९३८ की बात है। शोभा को माँ देख चुकी थी। सो मैंने भी उसे देखकर हाँ बोल दिया। मामा बोले पहचाना? मैंने कहा- 'नहीं।' वे बोले यह



वही लड़की है, जिसे तुमने रोटी बेलते देखा था। यह अजीब बात थी कि उसके पिता, मिस्टर बनर्जी कैप्टन थे। पर शोभा पढ़-लिख नहीं पाई थी। वे लोग धनबाद के रहने वाले थे। बाद में भागलपुर आ गए। (हँसते हुए) हमारे ससुर साहब ने शराब के नशे में एक आदमी को शूट भी कर दिया था। नौकरी चली गई। पर वे जेल जाने से बच गए। खैर! शोभा को मैं बंबई ले आया। यहीं टीचर लगाकर उसे पढ़ाया-लिखाया।

**अब जब वे इस दुनिया में नहीं हैं, तो उनकी कौन-सी बातें आपको, ज्यादा याद आती हैं?**

बहुत अच्छी 'हाउस वाइफ' थी वह। मुझे बहुत प्यार करती थी। उसके लिए माता-पिता, बाल-बच्चे, नाते-रिश्तेदार, किसी की कीमत नहीं थी। बस जो कुछ था, मैं था। उसका पति। मैं नहाने के लिए

एक ब्राह्मण को बुलाया गया था।

**हरदा से खंडवा कैसे आए?**

शायद दादा माखनलाल चतुर्वेदी के कारण। हल्की-सी याद है कि पिताजी हरदे में वकालत करते थे और दादा माखनलाल पास के ही गाँव मसनगाँव में शिक्षक थे। बाद में दादा का नाम हुआ। वे खंडवे में बस गए। तब काफी बंगाली खंडवा में बस गए थे। साहित्य, कला और संस्कृति में भी इस



*पत्नी शोभा को प्यार का उपहार*

शहर का नाम हो रहा था। 'बाबा' (पिताजी) तब वहीं चले गए।

**खंडवे की कौन-कौन-सी बातें आपको याद हैं?**

सबसे ज्यादा धूनी वाले दादा का आश्रम। फिर गाँजा गोदाम/ डबल फाटक स्कूल/ जसवाड़ी का एरोड्रम/ अबना नदी/ रेलवे ब्रिज के पार की मेहता स्कूल/ जसवाड़ी और घर के पीछे एक संस्कृत पाठशाला/ वहाँ सत्यनारायण का मंदिर था।

**पिताजी की याद किस रूप में है?**

पिताजी से लगाव बाद में पैदा हुआ, जब मैं जवान हो गया पर मेरे बड़े होने के बाद उन्होंने कभी मेरे पसंद और चुनाव में दखल नहीं दी। एक्टर बन गया, तो एक बार बोले- जीवन में जैसा चलता है, चलने देना बस कभी एम्बीशन (महत्वाकांक्षा) मत पालना। इससे तुम जल्दी थक जाओगे। वे बहुत अच्छे ज्योतिषी थे। हारोस्कोप देखते थे। मुझसे बोले तुम्हें औरतों की दोस्ती बहुत नसीब होगी, पर लंबा अफेयर कभी नहीं चला पाओगे। तुम्हारी कुंडली में शुक्र प्रबल है, पर मंगल भी सामने बैठा है। बहुत बाद में ज्योतिष मैंने भी पढ़ा। संस्कृत का शिक्षक लगाया। खंडवे के घर में एक बंगाली किताब थी न जाने कौन लाया था। उसे बुलवाकर उसे पूरा पढ़ गया। 'लघु पाराशरी' और 'वृहत पाराशरी' भी बाँची। पिताजी की खास याद मुझे इसलिए है कि वे बहुत हँसमुख थे। मेरा मुस्कराना और ठहाका बिल्कुल उनके जैसा है। वे बहुत अच्छे



*छोटी बिटिया प्रीति गांगुली और दादा मुनि*

कॉमेडियन थे। कोर्ट में जजों को हँसा दिया करते थे। बाद में मन हुआ था कि उनके बताए हुए केसों पर कोई किताब लिखूँ। पर काम बीच में ही रुक गया। एक घटना अभी तक याद है। उनके पास देहाती गुंडे का केस आया था, वह मूँछे ऐंठा करता था। यही आदत जज की भी थी। बाबा ने अदालत में नकली गंभीरता से कहा- 'मी लार्ड, यह आदमी मूँछे ऐंठा करता है, वैसे आदमी बुरा नहीं है।' जज साहब शरमा गए, फिर झेंप छिपाने को बोले, 'मूँछे ऐंठता है, तो क्या हुआ? दैट्स नाट क्राइम' और उस आदमी को डाँटकर भगा दिया। बाहर आकर बाबा ने कहा- 'अब तू भोपाल भाग जा, इधर मत दिखना।' दरअसल कॉमेडी मेरे और किशोर के खून में है। पर किशोर में बाबा की विट और हरकतें अधिक आईं। मैं सिर्फ विट और कुछ हद तक टाँट वाले संवाद तक सीमित रह गया। किशोर के ही कहने पर मैंने भाई-भाई किया था, जिसमें विलेन बनना पड़ा। किशोर बोला था- 'भैया, मुझे यह फिल्म मिल रही है। आप साथ हो जाएँगे, तो कैरियर को बूस्ट मिलेगा।' किशोर की कॉमेडी पर बाबा का प्रभाव है।

**आपके माता-पिता आपकी फिल्में देखते थे?**

हाँ, पर बाबा ने मेरी फिल्में ज्यादा देखी। यह अलग बात है कि खंडवे से बहुत इंटीमेटली उन्होंने मुझे कुछ नहीं लिखा। हाँ, माँ ने जब खंडवे में **अछूत कन्या** देखी थी, तो रो पड़ी, क्योंकि उसमें रेलवे क्रॉसिंग गेट पर मेरी लड़ाई दिखाई गई थी और रेलगाड़ी आ रही थी।

**क्या यह सच है कि आप अछूत कन्या के बाद भी फिल्म लाइन छोड़कर आना चाहते थे? आप बंबई में रुक कैसे गए?**

असल बात यह है कि मैं एक्टर बनना नहीं चाहता था। मगर पता नहीं हिमांशु राय ने मुझमें ऐसी क्या बात देख ली थी कि वे बोलते थे- अशोक, डोंट लीव लाइन। दो-चार फिल्में और कर लो। तुम्हारा नेचुरल स्टाइल चल गया, तो 'यू विल राइज टू एमिनेंस।' बाद में मुझे लगा कि मरना-खपना ही जब इस लाइन में है, तो क्यों न मैं अपने को परफेक्ट करना शुरू करूँ। फिर मैंने इस प्रोफेशन को सीरियसली लिया।

**सीरियसली लिया- इसका क्या मतलब?**

(रुककर) एक्टर तो सब होते हैं। बच्चों को स्कूल नहीं जाना होता है, तो वे एक जैसा बहाना बनाते हैं। यह बहाना ही एक्टिंग है, पर सफल एक्टिंग करने का मतलब है कि आप ऐसा बहाना बना रहे हैं कि वह दूसरों से अलग लगे और कामयाब हो जाए। मैंने सीखा कि 'हाऊ टू एक्ट एक्टिंग नहीं है, एक्टिंग है-व्हाट टू एक्ट।' सो मैं मेहनत करता व पता लगाता कि सीन में मुझे नया क्या करना है। मैं ड्रामा या थिएटर नहीं करना चाहता था। बढ़-चढ़कर

## अशोक कुमार की साइकल दौड़

*अशोक कुमार भारतीय फिल्म इतिहास में जितने महत्वपूर्ण हैं उतनी ही दिलचस्प उनकी जीवन शैली भी है। वे होमियोपैथी विशेषज्ञ, चित्रकार, शतरंज चैंपियन और हस्तरेखा विशेषज्ञ भी हैं। इसके साथ ही वे एक साहसिक खिलाड़ी भी रह चुके हैं। यह तथ्य बहुत कम लोगों को मालूम होगा। साइकल चलाने में वे इतने पटु रहे कि उन्होंने अभिनेता **जानकीदास** को खुले मुकाबले की चुनौती दे डाली। साइकल चलाने में चैंपियन रह चुके जानकीदास के साथ दादा मुनि का मुकाबला काफी धूम-धड़ाके के माहौल में बंबई के ब्रेबोर्न स्टेडियम में १८ मई १९५१ को होना तय हुआ था। इस हेतु फिल्म निर्देशक किशोर साहू ने विख्यात जौहरी नरोत्तमदास से सोने की एक कलात्मक ट्रॉफी तैयार करवाई। निश्चित तिथि को ३५ हजार दर्शकों की उपस्थिति में स्टार विरुद्ध चैंपियन की दौड़ शुरू हुई। पहले हिस्से में अशोक कुमार आगे रहे, मगर बाद में जीत का सेहरा जानकीदास के सिर बँधा। दरअसल, यह एक नुमाइशी दौड़ थी, जिसे प्रायोजित करने के लिए जानकीदास ने जी-तोड़ कोशिश कर अशोक कुमार को राजी किया था। एक खेल के रूप में साइकल चालन को देश में लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अशोक कुमार ने इस मुकाबले में भाग लेना स्वीकार किया। स्पर्धा को वास्तविक स्वरूप देने के लिए जानकीदास ने एक माह तक दादा मुनि को साइकल दौड़ का अभ्यास करवाया था।*

● **सरला**

## दादा धुनी वाले का राज?

*एक अनुभव खंडवे के दिनों का है। दादा धुनी वाले ने इंदौर की रानी शर्मिष्ठादेवी को डंडे से मार दिया। सो उन्हें वहाँ से हटा दिया गया था। वे मोरटक्का आ गए थे। वहाँ वे नर्मदा नदी के पार तंबू डालकर रहते थे। मैं अपने दोस्तों मंसूर अली (जो बाद में इंस्पेक्टर बना) और एक चौधरी (सब मर गए बेचारे)-मैं जिससे दोस्ती करता हूँ, सब मर जाते हैं,- के साथ इंदौर जा रहा था। हमने सोचा, उस सनकी बाबा की करामात देखी जाए। सो हम मोरटक्का उतरे। नाव से नर्मदा पार कर तंबू में पहुँचे। हम दादा के पीछे जाकर खड़े हो गए। तभी उनका कोई भक्त प्रसाद लाया। प्रसाद क्या, पूड़ी और सब्जी थी। अब बाबा ने पूड़ी हाथ में ली और लगे उस आदमी की नाक दबाने। हम तय करके चले थे कि बाबा ने हमें मारा, तो हम भी उसे पीट देंगे। विज्ञान के विद्यार्थी थे। धरम-वरम को पाखंड समझते थे। जब वह आदमी घबराकर गिर पड़ा तो दादा बोले - बस? देख, मेरे पीछे तीन छोकरे खड़े हैं जो मुझे मारने आए हैं। यह सुनते ही हम भाग निकले। नाव में बैठे तो डर लगता था कि नाव उलट न जाए। पर हम तीन मित्रों के अलावा कोई न जानता था कि हम बाबा को पीटना चाहते थे। उन्हें कैसे पता चला? यह राज मैं आज तक नहीं जान सका।*

किया जा सकता है। अनंत तरीके हैं। सो मैं एक्टिंग को एन्ज्वॉय करता हूँ। किसी भी सीन के पहले मेरे पास कुछ नहीं होता। पर मैं ही उसमें रंग भरता हूँ-जाने कहाँ से यह सब मुझे सोचने, खोजने, क्रिएट करने का मौका देता है। और यही मजा है।

**आपसे कोई एक्टिंग सीखे तो क्या सीख सकता है?**

हाँ, मेरे पास नौजवान आते हैं। मैं उन्हें अपनी तरफ से बहुत कुछ बतलाता हूँ। पर कुल मिलाकर यह सब फार्मूला है। असली एक्टिंग मन से आती है। एक किस्म के सेंस ऑफ बेलेंस से, इन्ट्यूशन से... कि कितना बोलना है, कितना पॉज देना है, कहाँ अचानक कोई ट्विस्ट देना है वगैरह-वगैरह।

**अपने मार्मिक दृश्यों को जब आप बतौर दर्शक देखते हैं, तो कैसा महसूस करते हैं?**

भई, मुझे तो अक्सर यही याद आने लगता है कि शूटिंग कहाँ हुई थी। कैमरा कहाँ रखा था। मेरे साथ कौन-कौन थे। उस दिन सैट पर क्या-क्या हुआ था। वगैरह-वगैरह। पहले डबिंग सिस्टम नहीं था। सो सीन के साथ जो रेकार्ड हो जाता था वही फिल्म में चला जाता था। इसलिए अपनी बहुत सी पुरानी फिल्में तो मैंने देखी ही नहीं। पर, नहीं, कहीं-कहीं मूव भी होते हैं। इसी **आशीर्वाद** को लो। एक दृश्य में अपनी बेटी से मिलने जा रहा हूँ। गाड़ीवान मेरा ही लिखा गीत गाता है- 'जीवन से लंबे हैं, बंधु, ये जीवन के रास्ते।' सचमुच मेरी आँखें बहने लगी थीं। (फिर खिलखिलाकर) ऋषिकेश मुखर्जी ने ऐसा ही बतलाया था।

**आपका प्रिय पात्र कौन-सा है?**

कोई नहीं। सभी भूमिकाओं में मैंने जी तोड़ मेहनत की है। घटिया से घटिया फिल्मों में, जिनकी कामयाबी के बारे में मुझे शक था, पर जिन्हें मित्र-निर्माताओं के आग्रह पर करना पड़ा। मैंने अपने रोल पर बाकायदा होमवर्क किया और फिर सैट पर गया।

**कोई ऐसी फिल्म जो फ्लॉप गई? पर आपने अभिनय अच्छा किया था।**

हाँ, ऐसी एक फिल्म दो भाई थी। एक तरह से क्राइम फिल्म थी। मैं इसमें एक जज बना था, जो सचमुच भला है, पर उसे खून करना पड़ता है। और इस खून की एकमात्र चश्मदीद गवाह, जो बाद में उसके छोटे भाई की पत्नी है, उसे दरिंदा मानती है। बड़ा पेचीदा रोल और पेचीदे हालात थे। उस जज की पत्नी को जज के ही अजीज और भरोसेमंद दोस्त ने रेप कर दिया था और पत्नी ने आत्महत्या कर ली थी। जज साहब की शादी के बारे में भी किसी को पता नहीं था।

**यह रोल क्यों पसंद था आपको?**

इसलिए कि उसने मुझे सोचने को मजबूर कर दिया था कि अगर मैं मजिस्ट्रेट होता, और मेरे साथ ऐसा हादसा गुजरता, तो मैं क्या करता? एकबारगी मुझे लगा था कानून स्टीरियोटाइप भर है। क्राइम के कारण उसके डर मे बड़े हैं। मुझे उस पात्र से जाती हमदर्दी हो गई थी। मैं दहल-सा गया था।

**आपके काम करने का तरीका क्या है? मतलब, आप जब रोल को लेकर घर आते हैं, तो सबसे पहले अपने को क्या सोचता हुआ पाते हैं? नोट कीजिए, मैंने कहा, 'क्या सोचता हुआ पाते हैं,' यह नहीं कि आप क्या सोचते हैं?**

मेरा ध्यान सबसे पहले पात्र की वेशभूषा की तरफ जाता है। वेशभूषा ही किसी इमान का पहला 'मैं' होता है। प्रकटतः इसीलिए साधुओं को भगवा पहनने का जोर दिया जाता है। सो ड्रेस मुझे आधा पात्र बना देती है। उसके बाद मैं सोचता हूँ, वह कौन है, क्या है, कहानी में उसकी हालत क्या है, दूसरे पात्रों से उसका रिश्ता क्या है। दूसरे अभिनेता के साथ मेरी लाइनें क्या हैं और फ्रेम के भीतर मुझे कैसे रिएक्ट करना है।

**ऊँचे लोग** का मेजर चंद्रकांत मिला, तो मैंने सबसे पहले उसके यूनीफार्म की तरफ गौर किया। बाल छोटे करवाए। मिलिटरी अफसरों के साथ मैं रह चुका हूँ। इसलिए उनके तौर-तरीके याद किए। फिल्म में मैं अंधा भी हूँ। इसलिए मैं आँखों से काम नहीं ले सकता था। सो, डायरेक्टर से कहा, आँखों पर लाइटिंग मत देना। बस, जो कुछ करना था, मुझे संवादों के मार्फत ही करना था इसलिए मैंने डॉयलाग डिलेवरी पर ज्यादा ध्यान दिया था। दुलीचंद (कन्हैयालाल) के साथ बात करने का लहजा और है, और अपने बेटों (राजकुमार, फिरोजखान) के साथ और।

**आपके स्वाभाविक अभिनय का राज क्या है?**

(बहुत सोचने के बाद) शायद मेरा यह स्वभाव, यह दृष्टिकोण, कि बड़ा छोटा कोई नहीं है। सब इत्तेफाक की बात है। इसलिए सबको बराबर समझो। सबको प्यार करो। आई लव लाइफ। इट इज सो ब्यूटीफुल थिंग। मैं साधु-संत नहीं हूँ। पर सादगी और सहजता को बहुत प्यार करता हूँ। शायद यही कारण होगा। **(मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम भोपाल द्वारा १९९२ में प्रकाशित पुस्तक 'अशोक कुमार' से इंटरव्यू के प्रमुख अंश, साभार)**

**प्रमुख फिल्में :** ☐ जीवन नैया/ अछूत कन्या/ जन्मभूमि (१९३६) ☐ इज्जत/ प्रेम कहानी/ सावित्री (१९३७) ☐ निर्मला/ वचन (१९३८) ☐ आजाद/ बंधन (१९४०) ☐ अंजान/ झूला/ नया संसार (१९४१) ☐ अंगूठी/ किस्मत/ नजमा (१९४३) ☐ चल चल रे नौजवान (१९४४) ☐ हुमायूँ (१९४५) ☐ महल/ खिलाड़ी/ मशाल/ निशाना/ समाधि/ संग्राम (१९५०) ☐ अफसाना/ दीदार (१९५१) ☐ नव बहार/ सलोनी (१९५२) ☐ परिणिता (१९५३) ☐ बादबान/ लकीरें (१९५४) ☐ बंदिश (१९५५) ☐ भाई-भाई/ एक ही रास्ता/ बंदी/ एक साल/ मिस्टर एक्स (१९५६) ☐ चलती का नाम गाड़ी/ हावड़ा ब्रिज/ रागिनी (१९५८) ☐ धूल का फूल (१९५९) ☐ कल्पना (१९६०) ☐ आरती (१९६२) ☐ बंदिनी/ गुमराह/ मेरे मेहबूब/ मेरी सूरत तेरी आँखें (१९६३) ☐ चित्रलेखा (१९६४) ☐ ऊँचे लोग (१९६५) ☐ दादी माँ/ ममता (१९६६) ☐ ज्वेल थीफ (१९६७) ☐ आँसू बन गए फूल/ दो भाई/ सत्यकाम (१९६९) ☐ पूरब पश्चिम/ सफर (१९७०) ☐ अनुराग/ विक्टोरिया नं. २०३ (१९७२) ☐ मिली (१९७५) ☐ अर्जुन पंडित (१९७६) ☐ खट्टा-मीठा/ अनुरोध/ ड्रीमगर्ल (१९७७) ☐ अनपढ़ (१९७८) ☐ जुदाई/ खूबसूरत (१९८०) ☐ चलती का नाम जिन्दगी (१९८१) ☐ शौकीन (१९८२) ☐ अवाम/ प्यार की जीत (१९८७) ☐ मिस्टर इंडिया (१९८८) ☐ क्लर्क (१९८९)।

**प्रस्तुति : आदर्श गर्ग**

नीचे उतरता, तो सीढ़ी से लेकर बाथरूम तक सबको भगा देती थी। बच्चे चीखते थे। पर किसी की नहीं सुनती थी। बंगलौर में मैंने बंगला बनवाया था। मुझे जाना होता तो एक दिन पहले खुद प्लेन से चली जाती थी और पूरा कमरा साफ करवा देती थी। तौलिया, दस्ती, रेजर, कंघा तक... अपनी जगह मिलते थे। शूटिंग पर मैं मद्रास जाता, तो रेलगाड़ी में मेरे साथ जाती थी। जिद कर जाती थी- मैं भी चलूँगी। मैं भाड़े का बहाना करता, तो भी नहीं मानती थी।

**आपके अभिनय पर बंगाली होने, ब्राह्मण होने और एक शिक्षित, धार्मिक परिवार में पाले-पोसे जाने का क्या प्रभाव है? क्या आप मानते हैं कि १९१५-२० के खंडवा जैसे कस्बे ने, आसपास की ग्राम्य-सादगी ने और मध्यवर्गीय हिंदू परिवार ने ही आपको अभिनय और संवाद- अदायगी में वह सहजता-सादगी बख्शी है, जो आपकी स्क्रीन-इमेज की मूलभूत पहचान है?**

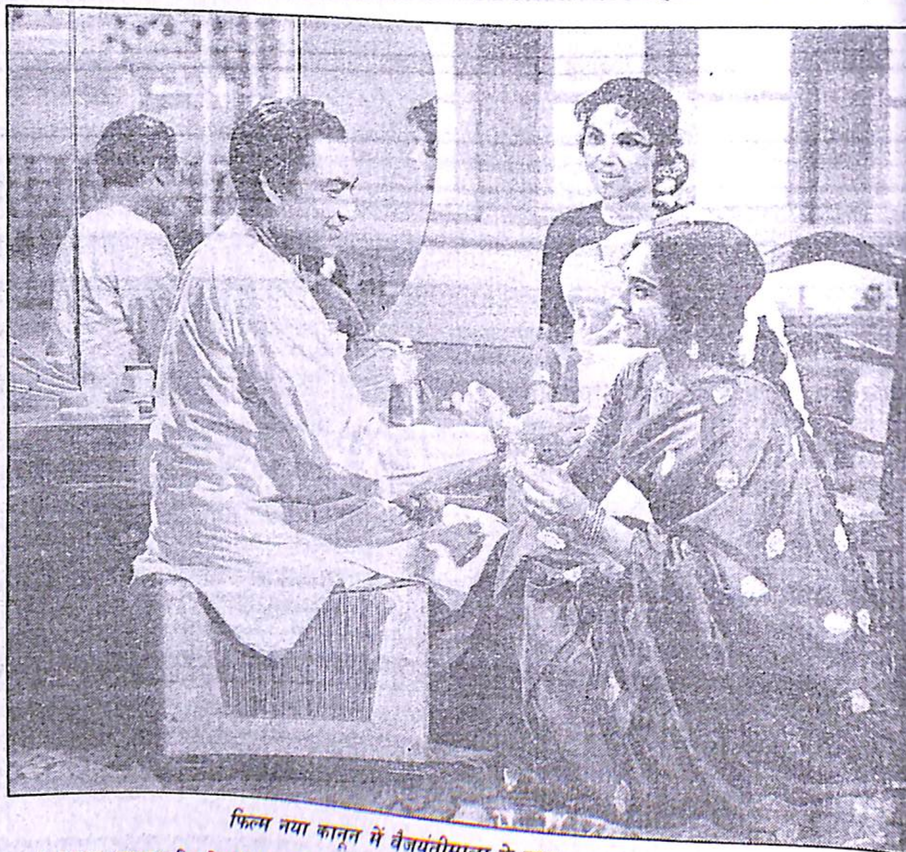
हाँ, मैं आगे-पीछे विचार करता हूँ, तो ऐसा लगता भी है। यकीनन् मैं मुसलमान और युसूफ (दिलीप) ब्राह्मण होते... तो हमारी अदाकारी और मैनरिज्म में फर्क आता। मैं सोचता हूँ, दिलीप कुमार में स्टेज या थियेटर का जो टच है, वह उस सभ्यता संस्कृति के कारण भी है, जो बुलंदी और नाटकीयता को अपने में समेटे हुए है। राजा और बादशाह के फर्क जैसा है यह! मैं यह भी सोचता हूँ कि बंगाली बाबू की शालीनता और हिंदू ब्राह्मण की शुचिता का मुझ पर असर है। एक समय, जब मैं खंडवे में था, पूजा-पाठ करता था। उपवास रखता था, और (मजा लेते हुए) भोजन करते समय मौन रहता था। यह सब माँ का असर था। जब एक साल में दुबला हो गया, तो पिताजी ने माँ से झगड़ा किया और फिर से अंडा-मछली शुरू हुआ। रही बचपन के शहर और निमाड़ की बेतकल्लुफी की बात... सो आत्मीयता, सरलता और घरेलूपन जैसी चीजें, जो मेरे अभिनय में दिखती हैं, काफी हद तक, मेरे निजी स्वभाव के बावजूद मध्यप्रदेश के हिंदी बेल्ट का असर है।

**सेट पर खूबसूरत एक्ट्रेस को बाँहों में भरने का सीन चल रहा हो और डायरेक्टर बोले- कट। फौरन एक्ट्रेस उधर और हम इधर। जैसे कुछ हुआ ही नहीं। असल जिंदगी जरा देर से 'कट' बोलती है!**

**दादा मुनि संबोधन का आधार क्या है? खासकर मुनि शब्द का?**

बंगाल में बड़े भाई या उम्र में वरिष्ठ व्यक्ति को दादा कहा जाता है। हिंदी क्षेत्रों में यह सामान्य संबोधन है। फर्क बस यह है कि बंगाली में मणि शब्द जोड़ दिया जाता है, चूँकि मणि कीमती होती है। इस तरह शब्द बना, दादामणि, दीदीमणि वगैरह। मुझे यह संबोधन अपनी छोटी बहन से मिला, जो मुझसे पाँच साल छोटी थी। जॉय मुखर्जी की माँ। बंबई में मेरे बहनोई एस. मुखर्जी भी मुझे दादामणि बोलते रहे, क्योंकि मैं अपनी बहन से बड़ा था। उनकी वजह से फिर सभी मुझे दादामुनि कहने लगे।

**कहा जाता है कि अस्थमा के कारण आपने संवाद बोलने की शैली को बदला?**



फिल्म नया कानून में वैजयंतीमाला के साथ

अस्थमा खानदानी बीमारी मानी जाती है। पर मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं है, हुआ यह था कि फिल्म राखी के क्लाइमेक्स में मुझे मरना था। निर्देशक भीमसिंग बोले- 'इफेक्ट के लिए मौत की घरघराहट (डेथ-रॉटल) चाहिए।' मुझसे वैसा बन नहीं रहा था। उन्होंने कहा- '२०-२५ गिलास फ्रिज का ठंडा पानी पी लो।' मैंने वैसा किया। मुझे बुखार आ गया। मद्रास में किसी तरह मैंने वह सीन किया, और सेट पर से ही अस्पताल पहुँचाया गया। ठीक तो खैर मैं हो गया। पर न जाने कौन से टिसू ध्वस्त हुए। साँस की यह बीमारी मेरे पीछे लग गई। इसके बाद मेरे संवादों पर हाँफने का थोड़ा रंग आ गया। मगर वह मेरा स्टाइल नहीं है।

**आप बेहतरीन होमियोपैथ माने जाते हैं फिर भी...इलाज?**

होमियोपैथी हो या कोई भी चिकित्सा प्रणाली... एक हद के बाद वह चुप हो जाती है। मैंने कैंसर की एक मरीज को ठीक कर दिया था। पर बाद में वह उसीसे मरी। इसी को आयुर्वेद के एक श्लोक में प्रारब्ध कहा गया है और मेडिकल साइंस इसे पर्सनल फेक्टर्स नाम देती है।

**अब क्या सोचते हैं, जब फिल्म कैरियर का सत्तावन साल लंबा सपना बीत गया और आप, पत्नी, भाई और मित्रों की मौत के बाद यहाँ अकेले बैठे हैं?**

एक हद के बाद मैं नहीं सोच पाता। सो अपने को व्यस्त रखता हूँ। तुम्हें मेरे सेक्रेटरी खुर्शीद ने बतलाया होगा कि मैं इतवार को सारे दिन क्रॉसवर्ड भरा करता हूँ। अपने बच्चों से भी नहीं मिलता।

**जिंदगी को कैसे लेते हैं?**

शुरू से 'डिटेज्ड' हूँ। जिंदगी हर पल यही सिखाती है। सब कुछ ऐसा है, जैसे मैं सेट पर किसी खूबसूरत एक्ट्रेस को बाँहों में लेता हूँ... और डायरेक्टर ने कहा- कट। तो वो उधर मैं इधर। जैसे कुछ हुआ ही नहीं था। बस फर्क इतना है कि जिंदगी जरा देर से 'कट' बोलती है। मगर बोलती जरूर है। और तब तक हम इस सिनेमा से अटेच्ड हो चुके होते हैं। मैंने डिस्टेंसिंग बहुत पहले सीख ली थी।

**एक्टिंग के बारे में आपकी क्या राय है?**

ओह, इट्स ए फैसिनेटिंग आर्ट।

**फैसिनेटिंग किस मायने में?**

अब देखो। एक सीन को कितने एंगल से

**एक रूमानी नायक की छवि निभाने के लिए देव आनंद को अभिनय के प्रश्नपत्र में सौ में से सौ अंक मिलते हैं। देव आनंद के मैनरिज्म ने सदैव पीढ़ियों को प्रभावित किया है। उनके जैसा चलना, लंबे और टेढ़े-मेढ़े डग भरना, खिड़की तथा झरोखों से झाँककर गाने गाना, तेजी से बोलना, सिर हिलाकर हँसना और हमेशा छैल-छबीला शहरी बाबू बने रहना-उनके प्रशंसकों को रास आया है।**

रिमझिम ने इस युवक का मन मोह लिया था। उसके पास अँगरेजी साहित्य के साथ बी.ए. ऑनर्स की डिग्री थी। लेकिन वह लेक्चरर नहीं बनना चाहता था। इसी दौर में देव के बड़े भाई चेतन आनंद भी देहरादून छोड़कर बंबई में जमने का प्रयास कर रहे थे। चेतन नाट्य संस्था इप्टा से जुड़े हुए थे इसलिए ख्वाजा अहमद अब्बास और अन्य लेखकों से देव को भी नजदीकियाँ हासिल हो गई थी। मोतीलाल उनके पड़ोसी थे। लेकिन देव आनंद अपने बलबूते पर कुछ कर दिखाना चाहते थे। अपने एक दोस्त के साथ परेल की 'चाल' में रहने लगे। यहीं कुछ नाटकों में भी काम किया, लेकिन यह संघर्षो का दौर था। इसी दौर को तोड़ने के लिए देव को १६५ रुपए माहवार की सैनिक डाक सेवा के सेंसर में नौकरी करनी पड़ी। काम था सैनिकों की डाक खोलना और पढ़ना। देव स्वयं कहते हैं-'मैं फिल्मों में नायक बनने के इरादे से ही बंबई आया था। यही मेरा सपना था। मेरे पिताजी गुरदासपुर के नामी वकील थे। मुझे अँगरेजी में बी.ए. ऑनर्स करने का नाज अब भी है। लेकिन, मैं परिवार की परंपरा से हटकर बंबई आया था। मैं अपने बूतें पर कुछ बनना चाहता था और इसके लिए कमर कस चुका था।'

आखिरकार मेहनत रंग लाई। सपना साकार हुआ। देव आनंद पूना में प्रभात स्टूडियो की फिल्म **'हम एक हैं'** के लिए स्क्रीन टेस्ट में सफल हो गए। नायक की भूमिका के लिए चुन लिए जाने पर वे पूना से बंबई पहुँचे, तो उत्तेजना की वजह से तेज बुखार हो आया था। 'हम एक हैं' के सैट पर धोती पहनकर जब देव आनंद आए तब किसे पता था इस तरह भविष्य के जबदरस्त ग्लैमरस हीरो का पदार्पण हो रहा है। लेकिन सचाई यही थी। इस फिल्म में देव की नायिका थी कमला कोटनीस, जबकि माँ की भूमिका दुर्गा खोटे ने निभाई थी। देव आनंद ने पहली बार कैमरे का सामना करने के अनुभव के बारे में एक साक्षात्कार में कहा था 'मैं घबरा जरूर रहा था, पर हौसला बनाए रखा। अभिनेता बनने का कोई प्रशिक्षण तो लिया नहीं था। इसलिए मेरा तरीका काम करने और गलतियाँ सुधारने का था। चढ़ती उम्र का जोश था और उसमें कुछ भी नामुमकिन नहीं लगता था। दुर्गा खोटे मेरा उत्साह बढ़ाती रहती थीं। सबसे बड़ी बात तो थी चार सौ रुपए माहवार का वेतन। मैं अपने को किसी शहजादे से कम नहीं समझ रहा था।' सन् १९४७ में प्रदर्शित हुई 'हम एक हैं' की लागत दस लाख रुपए प्रचारित की गई थी, जो कि उन दिनों दिमाग चकरा देने वाली राशि थी। उन दिनों पोस्टरों पर अपनी तस्वीरें देखकर मुग्ध होने वाले देव आनंद ने अगली फिल्म साइन की 'जिद्दी', जिसमें अशोक कुमार ने उन्हें नायक की भूमिका के लिए चुना था। अशोक कुमार तब देविका रानी की सलाह पर ही फिल्मिस्तान छोड़कर बॉम्बे टॉकीज वापस आए थे इसलिए देव आनंद को उनके द्वारा चुना जाना बेहद महत्वपूर्ण था। 'जिद्दी' में खेमचंद प्रकाश का संगीत था। किशोर कुमार ने इसी फिल्म में अपना पहला गीत गाया और बाद में किशोर, देव के खास गायक सिद्ध हुए।

इसके बाद देव आनंद की फिल्म थी 'विद्या' जिसमें उनकी नायिका थी सुरैया, जिनके साथ उनकी जोड़ी बेहद लोकप्रिय हुई। इस जोड़ी ने 'जीत' से लेकर 'सनम' तक तहलका मचाया और देव आनंद हरदिल अजीज हीरो बन गए। इसी बीच सन् १९४९ में देव आनंद ने फिल्म निर्माण के क्षेत्र में कदम रखा। सुरैया को नायिका लेकर 'अफसर' बनाई। इस फिल्म में सचिन देव बर्मन ने संगीत दिया और फिर वे देव के पसंदीदा संगीतकार बन गए। भविष्य में देव आनंद की सफलता में सचिन देव बर्मन के संगीत और किशोर की आवाज को लोकप्रियता तक में हिस्सेदार माना जाने लगा। दरअसल इन तीनों की टीम ने हिंदी फिल्मों के लिए एक से एक हिट गीत दिए और देव आनंद की रूमानी छवि में इन गीतों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लेकिन, देव-सुरैया के बीच शादी न हो पाने के बाद दूरियाँ बढ़ती गई और सन् १९५१ में 'सनम' रिलीज होने के बाद उन दोनों की जोड़ी टूट गई। उधर देव आनंद ने कल्पना कार्तिक से शादी कर ली। उन्होंने बाजी/नौजवान/टैक्सी ड्रायवर/काला पानी/गाइड/आँधियाँ जैसी हिट फिल्में बनाई और हीरो के रूप में एक के बाद एक कितनी ही सफल फिल्में दीं।

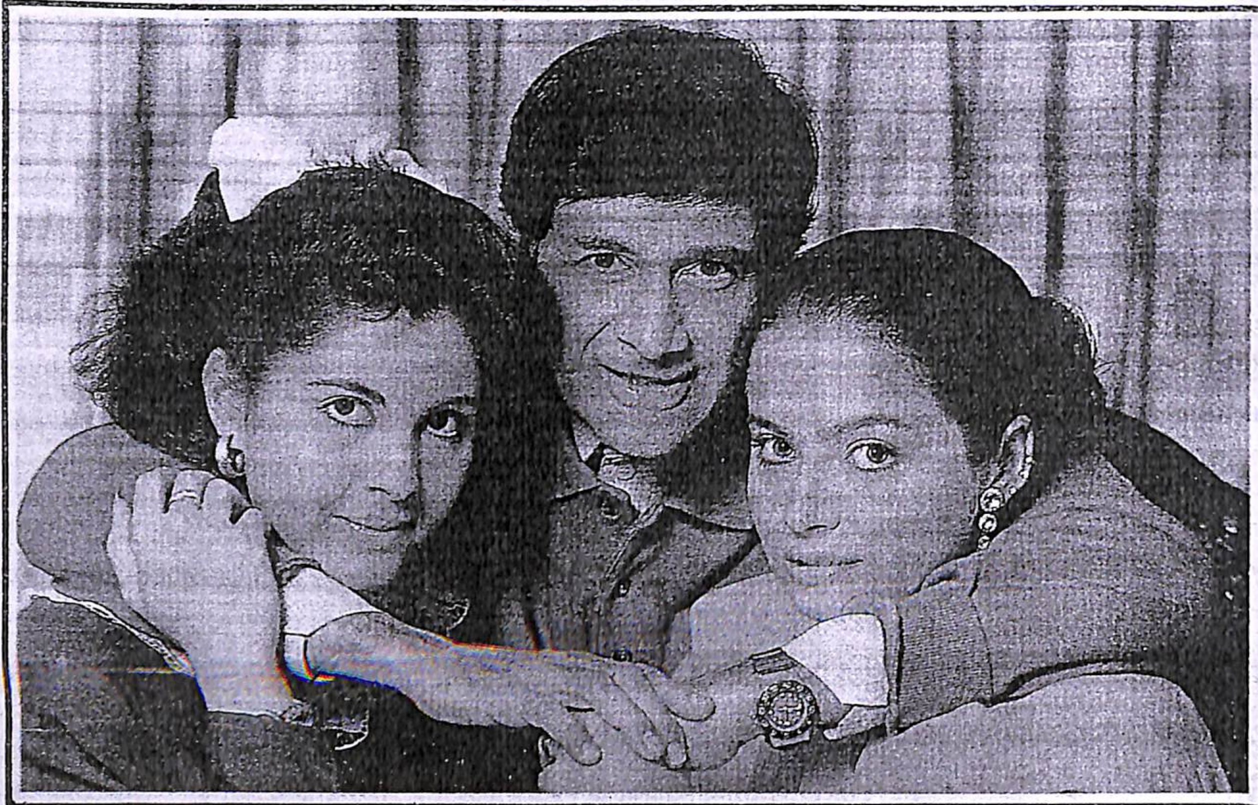
जहाँ तक अभिनय का प्रश्न है देव आनंद के खाते में एक रूमानी नायक की छवि निभाने



# देव आनंद एवरग्रीन सुपर स्टार

संदीप श्रोत्रिय

न जाने कितने ही विशेषण हिंदी फिल्मों के इस महानायक से जुड़ते रहे। रोमांटिक हीरो की इतनी जबरदस्त और दीर्घकालीन छवि और किसी भी नायक को नसीब नहीं हुई कि नानी-दादी के साथ पोती-पोतियों सी किशोरियाँ भी उसकी बाँकी अदाओं को देख आहें भरती हों। अपनी इसी छवि की बदौलत देव आनंद ने नायिकाओं की भी कम से कम तीन पीढ़ियों के साथ लोकप्रिय नायक की



भूमिका अदा की है। उनके साथ काम कर चुकी हीरोइन माँ से नानी तक की भूमिकाएँ करने को तैयार थीं, लेकिन देव हीरो ही बने रहे। इतने लंबे समय तक हीरो बने रहे देव आनंद की सफलता का रहस्य उनकी ताजगी, फुर्ती और उम्र के प्रभाव से अछूता चेहरा रहा। कभी युवकों ने उनके बालों की नकल की, तो कभी उनकी शर्ट के कॉलर, बैल्ट, हैट वगैरह-फैशन की दिशाएँ तय करते रहे। देव आनंद के चलने और बोलने का अंदाज अटपटा होते हुए भी तीन पीढ़ियों तक युवाओं के दिलो-दिमाग पर छाया रहा। कुल मिलाकर हिंदी सिनेमा में देव आनंद की जोड़ का दूसरा नायक शायद ही मिले जिसने इतने लंबे समय तक 'मैनरिज्म' की बदौलत लोकप्रियता हासिल की हो।

पचास के दशक में हिंदी सिनेमा के आकाश पर तीन महानायक उभरे थे- राजकपूर, दिलीप कुमार और देव आनंद। देव आनंद, राज और दिलीप से एकदम अलग छवि लेकर आए थे। वे रूमानी नायक के रूप में हिंदी फिल्मों के बेताज बादशाह बने और सालों-साल तक बने रहे। उषाकिरण की पीढ़ी की नायिकाएँ रिटायर हुई तो सुरैया, मधुबाला और वहीदा, साधना से होते हुए देव हेमा, मुमताज, जीनत, टीना मुनीम तक के हीरो बने। ऐसा इसलिए हो सका कि एक तो उनकी मुस्कान दिलों में उतर जाती थी और दूसरे लोग उनके अनोखे लहजे के दीवाने थे। अपनी अदाओं से ज्यादा देव आनंद स्वयं भी अपनी छवि के लिए जिम्मेदार रहे। दरअसल हिंदी सिनेमा में स्टार सिस्टम को जन्म देने वालों में देव आनंद का नाम सबसे पहले लिया जाता है। देव ने न केवल अपनी लोकप्रियता का सही अंदाज लगाया वरन् अपनी क्षमताओं का ठीक-ठीक आकलन भी किया। यही वजह थी कि देव आनंद ने ऐसे समय में निर्माताओं से अपना पारिश्रमिक और अपनी शर्तें मनवानी शुरू कीं जिन दिनों ज्यादातर कलाकार निर्माताओं से यह कहने की हिम्मत तक नहीं जुटा पाते थे कि 'मैं तुम्हारी फ़िल्म में काम करने के इतने पैसे लूँगा।'

फिल्म 'आंधियाँ' के सैट का मशहूर किस्सा है कि जब देव आनंद से निर्देशक ने कहा कि इस संवाद पर अख्तर हुसैन आपको थप्पड़ मारेंगे, तो देव आनंद अड़ गए, 'सवाल ही पैदा नहीं होता। क्या मेरे दो हाथ नहीं हैं? मैं इसके हाथ नहीं पकड़ लूँगा? अगर यह दृश्य आपकी फिल्म का जरूरी मोड़ है, तो यह मेरे कैरियर का भी मोंड़ साबित होगा। मेरे लाखों प्रेमी क्या सोचेंगे कि उनका हीरो मार खा गया और चुप रहा। यह नहीं होगा।' अपनी छवि के लिए देव की चिंता से जाहिर है कि वे शुरू से एक लंबी पारी खेलने के लिए कटिबद्ध थे और यह उन्होंने कर भी दिखाया।

आज भले ही देव आनंद को खुशकिस्मत माना जाए, लेकिन सच है कि फिल्मी हस्ती बनने से पहले उन्हें भी जबरदस्त संघर्ष करना पड़ा था। २६ सितंबर १९२३ को जन्म लेने वाला यह कलाकार १९ जुलाई १९४४ को बंबई आया था। पहली ही नजर में बंबई की

# दूसरा नाम : दिलीप कुमार

**दिलीपकुमार आज एक अभिनेता न होकर एक संस्था या एक स्कूल हैं। उनकी शख्सियत और अभिनय को लेकर हजारों पन्ने इस आधी शताब्दी में लिखे गए हैं। एक कालजयी-कलाकृति की तरह उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर बार-बार नजर डालना एक नए सौंदर्य-शास्त्रीय अनुभवों से गुजरना है। एक सच्चा कलाकार किस प्रकार धर्म, देश, राजनीति और जाति से ऊपर उठ सकता है, इसकी जीवित मिसाल हैं दिलीपकुमार!**

● हेमचन्द्र पहारे

(१९६७) जैसी हास्य, ऐक्शन तथा मारा-मारी से भरपूर भूमिकाएँ कीं और उन सभी के लिए उन्हें 'फिल्म फेयर' का सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार भी मिला। जैसे कि यह पर्याप्त नहीं था १९६३ में उनकी खुद की फिल्म 'गंगा-जमना' भी प्रदर्शित हुई, जिसमें शीन-काफ से दुरुस्त उर्दू मुकालमें अता करने वाले शहजादे सलीम को एकबारगी हम पूरबी भाषा बोलने वाले गँवार किसान-मजदूर तथा बाद में अनिच्छुक डाकू की भूमिका करते तथा एक बार फिर 'फिल्म फेयर' पुरस्कार जीतते देखते हैं। दिलीपकुमार बड़ी विनम्रता से कहते हैं कि असली सृजन-शीलता तो उस लेखक की होती है, जो कागज पर पात्र रचता है, लेकिन इस आकार और रंग-रूप विहीन पात्र को ठोस इंसान का रूप देने के लिए अभिनेता को खुद में किस दैवी सृजनशीलता को पैदा करना होता है वह 'देवदास' में उनका अभिनय देखकर ही जाना

उड़न खटोला' जैसी फिल्मों ने उन्हें 'ट्रेजेडी किंग के सिंहासन पर कुछ इस पुख्तगी के साथ बिठला दिया कि उनके प्रशंसक उनकी हर नई फिल्म देखने जाने के पूर्व आश्वस्त हो जाना चाहते थे कि इसमें दिलीप मरता है या नहीं। नायक के जीवित रह जाने से उन्हें लगता था जैसे उनके साथ उनके हीरो ने कोई धोखाधड़ी कर दी है।

लेकिन अपने कैरियर के काफी प्रारंभिक दौर में ही दिलीपकुमार ने यह महसूस कर लिया कि उनका दुखांतिका-नायक के रूप में इस तरह जड़ हो जाना न केवल उनके कलाकार की अकाल मृत्यु साबित होगा, बल्कि वह फिल्मी-व्यक्तित्व उनके निजी व्यक्तित्व पर भी धीरे-धीरे हावी होता जा रहा था। इस मुकाम पर उन्होंने दो काम किए: एक तो उन्होंने मनोवैज्ञानिकों की मदद ली, जिन्होंने उन्हें इस पस्त हिम्मत और शिकस्ता पात्र से अपने आपको मुक्त करने की सलाह दी। दूसरे इस सलाह को मानकर ही उन्होंने हल्की-फुल्की भूमिका वाली महबूब खाँ की पहली रंगीन फिल्म 'आन' स्वीकार की। यहीं से उनका विविधता के प्रति आग्रह शुरू हुआ।

लेकिन जैसा कि फिल्म उद्योग में अक्सर होता है, किसी भी कलाकार के लिए अपनी स्थापित और लोकप्रिय छवि को तोड़ना आसान नहीं होता। आखिर हर कलाकार अपने दर्शकों के लिए 'उपयोग की एक वस्तु' भी होता है और 'ग्राहक ही हमेशा सही होता है' यह बात लोकप्रिय नायकों पर भी लागू होती है। इसी का नतीजा थी **'अमर'**, **'देवदास'** तथा **'मुगले आजम'** की उनकी अविस्मरणीय भूमिकाएँ। किसी **नसीरुद्दीन शाह** या **संजीवकुमार** जैसे अभिनेता के लिए बहुविध पात्रों को परदे पर साकार करना उतना कठिन नहीं होता क्योंकि उनके वैसा करने में जोखिम न उनके खुद के लिए ज्यादा होता है न निर्माता, निर्देशक या दर्शक के लिए ही। लेकिन परिपाटी को तोड़ना किसी सुपर-स्टार के लिए भी कितना कठिन हो

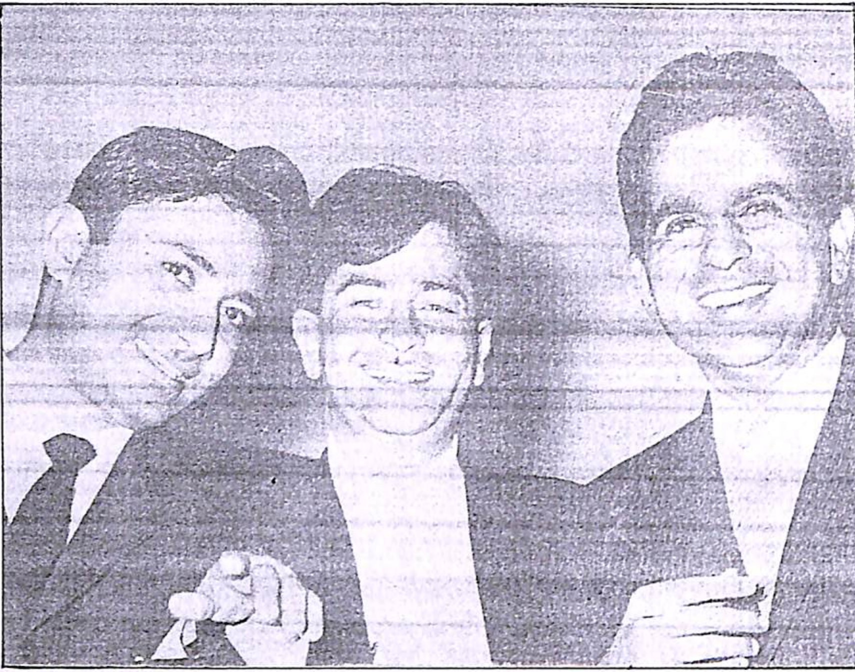


सकता है, यह **अमिताभ बच्चन** से पूछने पर पता चल सकता है। उनकी असंदिग्ध बहुविध अभिनय प्रतिभा के बावजूद वे उनके प्रशंसकों द्वारा तय की गई लीक से हट नहीं पाए।

दिलीप के लिए श्रेय की सबसे बड़ी बात यही है कि उन्होंने इस असंभव को संभव कर दिखलाया। शहजादे सलीम और बिगड़े दिल शराबी प्रेमी देवदास की अति गंभीर और चुनौतीपूर्ण भूमिकाओं के बाद ही उन्होंने काफी अंतराल के साथ 'आजाद (१९५५)', 'नया दौर', 'मधुमती', 'कोहिनूर (१९६०)', 'लीडर (१९६५) तथा 'राम और श्याम

जा सकता है। जहाँ शरद बाबू रुके वहाँ से दिलीप ने आगे चलना शुरू किया और उसी यात्रा को तकमील तक पहुँचाया। बहरहाल, 'गंगा-जमना' एक युग प्रवर्तक तथा 'ट्रेंड सेटर' फिल्म थी। दिलीप और नासिर खान जैसे एक-दूसरे से विपरीत प्रकृति के भाइयों के इन्हीं पात्रों को अमिताभ और शशिकपूर तथा अन्य जोड़ियों ने असंख्य बार परदे पर दुहराया और 'डाकू' फिल्मों का सिलसिला भी यहीं से चालू हुआ।

दुहराव से बचने के आग्रह के साथ ही दिलीपकुमार के कैरियर की एक अहम लेकिन



के लिए पूरे अंक आते हैं। अगर विविधता और अभिनय क्षमताओं की कसौटी पर कसा जाए, तो वे अपने कई समकालीन अभिनेताओं से उन्नीस ठहरते हैं। उनके अभिनय के बारे में अभिनेत्री नूतन ने कहा था कि **'देव एक तकनीक से काम करने वाले कलाकार हैं,'** लेकिन देव आनंद का कहना है कि 'अभिनय में तकनीक जैसी कोई बात नहीं होती। किसी भी एक्टर को अपने आपको अत्यधिक ग्लैमरस प्रोजेक्ट करना जरूरी होता है और इसके लिए कैमरा मूवमेंट, लाइट्स एंगल्स वगैरह का ध्यान रखना ही चाहिए।' जो भी हो देव आनंद ने लंबे समय तक उम्र को अपने व्यक्तित्व पर हावी नहीं होने दिया और पश्चिमी अंदाज वाले किसी शहरी छैल-छबीले युवक की भूमिका निभाते रहे। उन्हें ठीक से रोना कभी नहीं आया, लेकिन उनका लंबे-लंबे आड़े-टेढ़े डग भरकर चलना, खिड़की और झरोखों से झांक-झांक कर गाना, तेजी से बोलना और सिर हिलाकर हँसना उनके प्रशंसकों को खूब भाया। 'गाइड' ने उन्हें अंतरराष्ट्रीय लोकप्रियता दिलाई। उस ऊँचाई को फिर नहीं छू पाए।

'प्रेम पुजारी' से वे निर्देशक भी बनगए। 'हरे राम हरे कृष्ण' जैसी हिट फिल्म भी दी, लेकिन निर्देशक के रूप में देव आनंद कमजोर ही साबित हुए। एक के बाद एक कई फ्लॉप फिल्में उन्होंने बनाई और आज भी बनाए जा रहे हैं। वे नए-नए विषय लेकर 'नवकेतन' के बैनर तले धड़ाधड़ फिल्में बना रहे हैं। नित नए कलाकार भी ला रहे हैं, लेकिन लगता है कि उनकी पकड़ ढीली होती जा रही है। किशोर और सचिन देव बर्मन के निधन के बाद उनकी फिल्मों का संगीत भी सूना हो गया है। फिर भी देव आनंद फ्लॉप फिल्मों की परवाह किए बिना फिल्में बनाए जा रहे हैं, जो उनके इस दावे को सही साबित करता है कि फिल्में बनाना उनका व्यवसाय नहीं शौक है। लेकिन आज के फिल्म दर्शकों को उनसे अधिक रचनात्मकता की अपेक्षा है, जिसे जायज ही कहा जाएगा। क्या यह अफसोस की बात नहीं है कि देव आनंद जैसे वरिष्ठ और अनुभवी फिल्मकार के काम को फिल्मी दुनिया और दर्शक भी पर्याप्त गंभीरता से नहीं ले रहे हैं। खुशी की बात है कि देव आनंद आज भी सक्रिय हैं, लेकिन उनकी सक्रियता का ज्यादा से ज्यादा सार्थक उपयोग होना चाहिए।

● **प्रमुख फिल्में:** ○ हम एक हैं (१९४६) ○ विद्या, जिद्दी (१९४८) ○ जीत, नमूना (१९४९) ○ अफसर, दिलरूबा, खेल, मधुबाला (१९५०) ○ आँधियाँ, जाल (१९५२) ○ पतिता, राही (१९५३) ○ बादबान, टैक्सी ड्रायवर (१९५४) ○ हाउस नं. ४४, इंसानियत, मुनीमजी (१९५५) ○ सी.आय.डी., फंटूश, पाकेटमार (१९५६) ○ बारिश, नौ दो ग्यारह, पेइंग गेस्ट (१९५७) ○ अमरदीप, काला पानी, सोलवाँ साल (१९५८) ○ लव मेरेज (१९५९) ○ बंबई का बाबू, सरहद (१९६०) ○ हम दोनों, माया, रूप की रानी चोरों का राजा (१९६१) ○ तेरे घर के सामने (१९६३) ○ तीन देवियाँ, गाइड (१९६५) ○ ज्वेलथीफ (१९६७) ○ प्रेम पुजारी, जानी मेरा नाम (१९७०) ○ हरे राम हरे कृष्ण (१९७२) ○ छुपा रुस्तम, शरीफ बदमाश, जोशीला (१९७३) ○ हीरा पन्ना (१९७४) ○ देस परदेस (१९७८) ○ स्वामी दादा (१९८२) ○ हम नौजवान (१९८९) ○ अव्वल नंबर (१९९०) ○ सौ करोड़ (१९९१)

(आदर्श गर्ग द्वारा प्रस्तुत)

# किंवदंती का

हिंदी फिल्मों के आकाश पर लगभग पचास वर्षों से सूर्य की तरह चमकने वाले **दिलीपकुमार** की अभिनय कला अब किन्हीं विशेषणों की मोहताज नहीं रह गई है। उनकी फिल्मों से उनके अभिनय को ऊँचा उठते देखने वाली पीढ़ी ने ही अचानक पाया कि उनका व्यक्तित्व भी अब उनके कृतित्व से ऊँचा उठ गया है। उनके करोड़ों प्रशंसकों के लिए दिलीपकुमार एक व्यक्ति न रहकर अब एक संस्था, एक स्कूल तथा एक जीवित किंवदंती बन गए हैं। प्रशंसक उनके अन्य समकालीनों के भी बहुत हैं, लेकिन वे भी दिलीपकुमार को ही एक पैमाने और संदर्भ बिंदु की तरह इस्तेमाल करते हैं। हर अनोखे व्यक्तित्व की तरह दिलीप ने भी विवादों को जन्म दिया, लेकिन सारे मतभेदों, विवादों तथा नफरत-उल्फत की मिलीजुली भावनाओं के चलते दिलीप फिल्म-चर्चाओं में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से हमेशा मौजूद रहे। उनकी शख्सियत और काम को लेकर हजारों सफे इस आधी सदी के दौरान लिखे गए, लेकिन एक असल क्लासिक कलाकृति की तरह उनके काम और व्यक्तित्व पर बार-बार नजर डालना एक नए सौंदर्य-शास्त्रीय अनुभव से गुजरने की तरह होता है। यह लेख भी कुछ ऐसी ही एक कोशिश है।

वास्तविक जीवन में **यूसुफ खान** के रूप में जाने जाने वाले दिलीपकुमार का यशस्वी कैरियर चालीस के दशक में बॉम्बे टॉकीज की फिल्म 'ज्वार-भाटा' से शुरू हुआ। जिन लोगों को उनके नाम बदलने पर ऐतराज रहा है, उनकी जानकारी के लिए इतना बताना काफी होगा कि बॉम्बे टॉकीज की अधिष्ठात्री **देविका रानी** को उनका असली नाम कुछ जँचा नहीं और उन्होंने ही यूसुफ को जहाँगीर, वासुदेव तथा दिलीपकुमार में से एक को अपने फिल्मी नाम के रूप में चुन लेने को कहा। इनमें से अंतिम को उन्होंने क्यों चुना इसका खुद उनके पास भी कोई खास बतलाने लायक कारण नहीं है। प्रारंभिक फिल्मों 'प्रतिमा' तथा 'ज्वार-भाटा' में तो उन्हें अपनी प्रतिभा का कोई खास मौका नहीं मिला, लेकिन शशधर मुखर्जी की **'शहीद'** (कामिनी कौशल) तथा नितिन बोस की **'मिलन'** ने एक गंभीर अभिनेता के रूप में उनकी संभावनाओं का परिचय दे दिया। 'शहीद' फिल्म के साथ ही अंत में नायक के अवश्यंभावी रूप से मर जाने वाली दुःखांत फिल्मों का सिलसिला प्रारंभ हो गया। 'वतन की राह में वतन के नौजवाँ शहीद हो' गीत के साथ जब शहीद में उनकी अंतिम यात्रा निकली, तो दर्शकों की आँखों से आँसू बह निकले थे। 'अंदाज/ फुटपाथ/ शिकस्त/ मेला/ बाबुल/ दीदार तथा

## दंडित दिलीप कुमार

*वर्तमान फिल्मी सितारों के अक्खड़ और उद्दंड व्यवहार की अक्सर चर्चा होती है। मगर एक जमाना ऐसा भी था जब फिल्मों के लोकप्रिय नायकों को कड़े अनुशासन में रहना पड़ता था। अनुशासन तोड़ने पर उन्हें दंड दिया जाता था। ऐसे ही दिनों का जिक्र करते हुए विख्यात नायक **दिलीप कुमार** ने कई दिलचस्प प्रसंगों का उल्लेख किया है। जिक्र उन दिनों का है जब वे बंबई टॉकीज में काम करते थे। एक बार भड़कीले रंग की पोशाक पहनकर स्टूडियो में आने पर उन्हें चेतावनी दी गई कि आइंदा सादे कपड़े पहनकर ही स्टूडियो आएँ। इसी प्रकार स्टूडियो में धूम्रपान करने के अपराध में उन पर सौ रुपए का जुर्माना भी कर दिया गया था।*

*दिलीप कुमार और राजकपूर अक्सर स्टूडियो छोड़कर दोपहर का शो देखने के लिए चुपके से खिसक जाया करते थे। एक दिन इंटरवल के दौरान दिलीप कुमार को देविका रानी ने देख लिया। उन्होंने बड़े प्यार से दिलीप साहब को पास बुलाया तथा अपने साथ आई लेडी रामाराव, श्रीमती जमशेदजी टाटा आदि सहेलियों से उनका परिचय कराते हुए उन्हें अत्यंत प्रतिभाशाली युवा कलाकार निरूपित किया। दिलीप साहब बड़े खुश थे कि उनकी गलती माफ कर दी गई। मगर यह भ्रम अगली पहली तारीख को टूट गया। कैशियर ने तनख्वाह देते वक्त बताया कि बिना इजाजत स्टूडियो छोड़कर सिनेमा देखने जाने के अपराध की वजह से उनकी तनख्वाह से सौ रुपए काट लिए गए थे।*

● सरला

'क्रांति' से चरित्र अभिनेताओं की भूमिकाएँ स्वीकार करनी शुरू कीं। लेकिन वे कोई बद्रीप्रसाद, नजीर हुसैन या विपिन गुप्ता नहीं बनकर रह गए। वे अपनी फिल्मों के प्रमुख पुरुष पात्र होते थे। फिल्म में पिता वे होते थे, परंपरागत 'हीरो' उनका बेटा होता था, लेकिन फिल्म का प्रमुख आकर्षण वे स्वयं होते थे। परदे पर अपनी उपस्थिति मात्र से वे सारे किरदारों पर हावी हो जाते थे। अंतिम कसौटी पर वे रमेश सिप्पी की फिल्म 'शक्ति' द्वारा उतरे, जहाँ उनका सामना खुद उस युग के (और इस युग के भी) सुपर स्टार अमिताभ बच्चन के साथ हुआ। शक्ति में एक ईमानदार, कर्मठ और ऐसे आदर्शवादी पुलिस अफसर पिता की भूमिका को उन्होंने साकार किया, जो अपने कर्तव्य पालन की धुन में अपने बेटे की भावनाओं की भी उपेक्षा कर जाता है। 'शक्ति' में उनकी सशक्त भूमिका के लिए उन्हें 'राम और श्याम' के पंद्रह वर्ष बाद सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का फिल्म फेयर का पुरस्कार फिर मिला। बेशक, अमिताभ की तुलना में उनके पात्र को पटकथा-लेखक के द्वारा ज्यादा उभारा गया था। (इसे वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं) लेकिन उन्होंने इसे जिस कौशल के साथ प्रस्तुत किया उसका श्रेय उन्हें उनके कट्टर आलोचक भी बड़ी कसक के साथ देने को बाध्य हुए। जो चीज मार्लन ब्रैंडो के लिए 'गॉड फॉदर' ने की वही 'शक्ति' ने दिलीपकुमार के लिए की। इसके बाद आजकल के सबसे बड़े तमाशागर सुभाष घई के 'कर्मा' और 'सौदागर' में भी उन्हें अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का मौका तो मिला, लेकिन 'सौदागर' में राजकुमार (जिन्हें पैगाम के जमाने से ही राजकुमार के प्रशंसक उनसे बीस अभिनेता मानते रहे हैं) को आजकल के युवा दर्शकों द्वारा उनकी अपेक्षा ज्यादा पसंद किया गया। इसी दौर में उन्होंने 'धर्माधिकारी' और 'इज्जतदार' जैसी ऐसी निहायत ही महत्वहीन फिल्मों में भी काम किया, जिनके बारे में खुद उन्हें ही पता नहीं था कि वे उनमें क्या कर रहे थे। इन दिनों जबकि किसी को उम्मीद ही नहीं थी, तभी दिलीप ने अचानक सुधाकर बोकाड़े की फिल्म **'कलिंगा'** में शीर्षक भूमिका के साथ ही जीवन में पहली बार निर्देशन की जिम्मेदारी भी उठा ली है। गुणवत्ता और श्रेष्ठता के प्रति उनके आग्रह को देखते हुए उनके प्रशंसक निश्चय ही दम साध कर इस फिल्म के रिलीज का इंतजार करेंगे। देखना यह है कि अपनी विलंबित में चलने की आदत और हृदय रोगी होने की अफवाहों के चलते दर्शकों को इस फिल्म के लिए कितना इंतजार करना पड़ता है।



दिलीपकुमार की कला का समुचित आकलन करने पर जो कुछ तत्व स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आते हैं, उनमें सबसे प्रमुख हैं उनका पात्र में गहनता के साथ पैवस्त हो जाना। बगैर रिहर्सल के सीधे टेक करना (उनके हिसाब से रिहर्सल कर लेने के बाद अभिनय में स्वयंस्फूर्त प्रेरणा नहीं रह पाती)। दर्शक के साथ सीधे तादात्म्य स्थापित कर लेना, ताकि वह उस पात्र में खुद को पहचान सके; (याद कीजिए 'सगीना' में वह दृश्य जब वह अपने बचपन के अप्रिय प्रसंगों को बयान करते हैं या 'गोपी' में अपनी भाभी निरूपा रॉय को फटकारने के बाद जैसे ही वह उन्हें अपनी सोने की चूड़ियाँ लाकर देती है वे अचानक रुक कर कह उठते हैं, 'ना भाभी ना, मैं इतना बुरा नहीं हूँ।')। हॉलीवुड के उस्ताद अभिनेता पाल मुनी की तरह वे भी ऐसे कोई सौ पात्रों में खुद को गुम कर देते हैं, जो वे नहीं होते। दिलीप के अभिनय को 'मैथड ऍक्टिंग' कहकर तिरस्कृत करने वाले उनके आलोचक अक्सर उनकी भावनात्मक गहराई, पात्र में डूबने की तैयारी, ध्वनि (गला), आँखों और हाथों समेत पूरे जिस्म का इस्तेमाल करने में उनकी महारत को नजरअंदाज कर जाते हैं। जोगन, फुटपाथ तथा शिकस्त में तो उन्होंने खामोशी का भी निहायत ही सुखद इस्तेमाल किया है।

अंत में, वह कौन-सी चीज है, जिसने दिलीपकुमार को एक महान कलाकार से भी ऊँचा उठाकर उनके जीवनकाल में ही एक किंवदंती बना दिया? उनका व्यक्तित्व वैसे उनके कलाकार से भी ऊँचा उठ गया? इन सवालों के जवाब विवादों से दूर रहने की उनकी सिफत, उनकी सच्ची मानवीयता तथा अपने सह कलाकारों के साथ शालीन रिश्ते रखने के गुणों में खोजे जा सकते हैं। उनकी जहनियत, नफासत और हर हालात में भलमनसाहत न त्यागने की बीसियों मिसालें दी जा सकती हैं। सच्चा कलाकार किस तरह धर्म, राजनीति, देश और जाति से ऊपर उठ सकता है, उसकी जीवंत मिसाल हैं दिलीपकुमार। ■



'शबनम' में दिलीप कुमार और कामिनी कौशल

बहुत ही महत्वपूर्ण खासियत थी एक समय में एक या दो से ज्यादा फिल्मों में अभिनय न करना। लगभग पचास वर्षों के अपने कैरियर में उन्होंने सौ से भी कम फिल्मों में काम कर खुद को अति अनावरण से बचाए रखा।

'गंगा-जमना' के निर्माण के दौरान दिलीप को सेंसर बोर्ड के हाथों काफी परेशानी झेलनी पड़ी थी। आज उन ऐतराजों को भले ही हास्यास्पद कह दिया जाए, जिनके कारण 'गंगा-जमना' का रिलीज आठ महीनों तक टलता गया। लेकिन तब दिलीप को उनके कारण भयानक मानसिक यातना झेलनी पड़ी थी। सेंसर की एक आपत्ति यह थी कि डाकुओं द्वारा ट्रेन को लूटना उन्हें नई तरकीबें सुझाएगा। एक अन्य आपत्ति सेंसर को यह थी कि फिल्म का डाकू नायक मरते वक्त 'हे राम' कहता है। (राष्ट्रपिता द्वारा उच्चारित इन अंतिम शब्दों को डाकू नायक द्वारा भी दुहराया जाना सेंसर पचा नहीं पाया था।) इससे भी बड़ा व्यंग्य यह रहा कि इस फिल्म को सेंसर से पास करवाने के लिए अंततः एक कट्टर **गांधीवादी मोरारजी देसाई** को ही हस्तक्षेप करना पड़ा था। बहरहाल, इसके साथ ही दिलीपकुमार ने फिल्म निर्माण से सदा के लिए हाथ खींच लिया। इसी तरह, उनके राजकपूर तथा देवआनंद जैसे साथियों ने जहाँ बाद में निर्देशन भी प्रारंभ कर दिया, वहीं दिलीपकुमार आज तक अभिनय पर अपने सारे प्रयासों को केंद्रित किए रहे। यह बात अलहदा है कि दिलीप 'गंगा-जमना' से लेकर 'बैराग' तक बाकायदा परोक्ष रूप से अपनी फिल्मों के हर विभाग में दिलचस्पी लेते रहे हैं। कुछ ने उनकी इस प्रवृत्ति को नागवार हस्तक्षेप मानकर उसकी आलोचना की है, लेकिन खुद दिलीप उसे रचनात्मक सहयोग कहना पसंद करते हैं। दिलीपकुमार एक बार में या साल भर में एक या दो फिल्मों में ही काम करते थे, उनकी साख और प्रतिष्ठा हर फिल्म के साथ दाँव पर लगी होती थी और इसे देखते हुए अपनी फिल्म के साथ उनके कहीं ज्यादा घनिष्ठता के साथ जुड़ जाने को गलत भी नहीं कहा जा सकता।

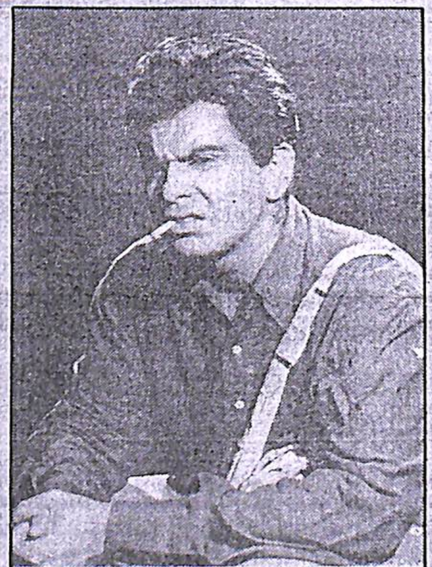
सत्तर का दशक दिलीप के लिए बहुत फलदायी नहीं रहा, कैरियर के लिहाज से भी और व्यक्तिगत जीवन के हिसाब से भी। 'दिल दिया दर्द लिया', 'आदमी', 'संघर्ष', 'गोपी' तथा 'बैराग' जैसी फिल्मों ने एक अभिनेता के रूप में तो उन्हें ज्यादा क्षति नहीं पहुँचाई, लेकिन ये फिल्में किसी न किसी कारण से ज्यादा चली नहीं। खराब स्वास्थ्य, आयकर के लफड़े तथा बढ़ती उम्र के हिसाब से सही भूमिकाएँ न चुन पाने की मजबूरी के कारण दिलीप ने बड़ी गरिमा और शालीनता के साथ कुछ समय के लिए नेपथ्य में चला जाना ही ठीक समझा। अपनी समाज सेवा तथा पारमार्थिक गतिविधियों को चलाते दिलीप ने इस वक्त का उपयोग आत्म निरीक्षण और रुककर थोड़ी-सी साँस लेने के लिए किया। सन १९८० के बाद शुरू हुआ वह दौर जिसे वे खुद अपना दूसरा फिल्मी जीवन कहते हैं।

दिलीपकुमार ने मनोजकुमार की फिल्म

## महारानी एलिजाबेथ और दिलीप कुमार

*पद्म भूषण से सम्मानित **दिलीप कुमार** ऐसे वरिष्ठ अभिनेता हैं जिनकी अभिनय श्रेष्ठता को देश-विदेश की प्रमुख हस्तियों ने सराहा है।*

*देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने एक बार दिल्ली के रामलीला मैदान में जनसभा के बीच कहा था कि हिंदुस्तान के कोने-कोने में दो व्यक्तियों की आवाज को लोग सुनते हैं- एक मेरी व दूसरी दिलीप साहब की। **श्रीलंका** की पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती भंडारनायके ने दिलीप साहब से मिलने के चक्कर में अपनी विदेश यात्रा को कई घंटे के लिए स्थगित कर दिया। दिलीप कुमार एक बार इंग्लैंड गए, तो **महारानी एलिजाबेथ** उनसे मिलने के लिए बेताब होकर स्वयं ही चल पड़ीं। उन्हें समझाया गया कि आप महारानी हैं। यहीं रुकिए। दिलीप कुमार को ही यहाँ बुलवा लिया जाएगा।*



● **शशि**

## दंडित दिलीप कुमार

*वर्तमान फिल्मी सितारों के अक्खड़ और उद्दंड व्यवहार की अक्सर चर्चा होती है। मगर एक जमाना ऐसा भी था जब फिल्मों के लोकप्रिय नायकों को कड़े अनुशासन में रहना पड़ता था। अनुशासन तोड़ने पर उन्हें दंड दिया जाता था। ऐसे ही दिनों का जिक्र करते हुए विख्यात नायक **दिलीप कुमार** ने कई दिलचस्प प्रसंगों का उल्लेख किया है। जिक्र उन दिनों का है जब वे बंबई टॉकीज में काम करते थे। एक बार भड़कीले रंग की पोशाक पहनकर स्टूडियो में आने पर उन्हें चेतावनी दी गई कि आइंदा सादे कपड़े पहनकर ही स्टूडियो आएँ। इसी प्रकार स्टूडियो में धूम्रपान करने के अपराध में उन पर सौ रुपए का जुर्माना भी कर दिया गया था।*

*दिलीप कुमार और राजकपूर अक्सर स्टूडियो छोड़कर दोपहर का शो देखने के लिए चुपके से खिसक जाया करते थे। एक दिन इंटरवल के दौरान दिलीप कुमार को देविका रानी ने देख लिया। उन्होंने बड़े प्यार से दिलीप साहब को पास बुलाया तथा अपने साथ आई लेडी रामाराव, श्रीमती जमशेदजी टाटा आदि सहेलियों से उनका परिचय कराते हुए उन्हें अत्यंत प्रतिभाशाली युवा कलाकार निरूपित किया। दिलीप साहब बड़े खुश थे कि उनकी गलती माफ कर दी गई। मगर यह भ्रम अगली पहली तारीख को टूट गया। कैशियर ने तनख्वाह देते वक्त बताया कि बिना इजाजत स्टूडियो छोड़कर सिनेमा देखने जाने के अपराध की वजह से उनकी तनख्वाह से सौ रुपए काट लिए गए थे।*

**● सरला**

'क्रांति' से चरित्र अभिनेताओं की भूमिकाएँ स्वीकार करनी शुरू कीं। लेकिन वे कोई बद्रीप्रसाद, नजीर हुसैन या विपिन गुप्ता नहीं बनकर रह गए। वे अपनी फिल्मों के प्रमुख पुरुष पात्र होते थे। फिल्म में पिता वे होते थे, परंपरागत 'हीरो' उनका बेटा होता था, लेकिन फिल्म का प्रमुख आकर्षण वे स्वयं होते थे। परदे पर अपनी उपस्थिति मात्र से वे सारे किरदारों पर हावी हो जाते थे। अंतिम कसौटी पर वे रमेश सिप्पी की फिल्म 'शक्ति' द्वारा उतरे, जहाँ उनका सामना खुद उस युग के (और इस युग के भी) सुपर स्टार अमिताभ बच्चन के साथ हुआ। शक्ति में एक ईमानदार, कर्मठ और ऐसे आदर्शवादी पुलिस अफसर पिता की भूमिका को उन्होंने साकार किया, जो अपने कर्तव्य पालन की धुन में अपने बेटे की भावनाओं की भी उपेक्षा कर जाता है। 'शक्ति' में उनकी सशक्त भूमिका के लिए उन्हें 'राम और श्याम' के पंद्रह वर्ष बाद सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का फिल्म फेयर का पुरस्कार फिर मिला। बेशक, अमिताभ की तुलना में उनके पात्र को पटकथा-लेखक के द्वारा ज्यादा उभारा गया था। (इसे वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं) लेकिन उन्होंने इसे जिस कौशल के साथ प्रस्तुत किया उसका श्रेय उन्हें उनके कट्टर आलोचक भी बड़ी कसक के साथ देने को बाध्य हुए। जो चीज मार्लन ब्रैंडो के लिए 'गॉड फॉदर' ने की वही 'शक्ति' ने दिलीपकुमार के लिए की। इसके बाद आजकल के सबसे बड़े तमाशागर सुभाष घई के 'कर्मा' और 'सौदागर' में भी उन्हें अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का मौका तो मिला, लेकिन 'सौदागर' में राजकुमार (जिन्हें पैगाम के जमाने से ही राजकुमार के प्रशंसक उनसे बीस अभिनेता मानते रहे हैं) को आजकल के युवा दर्शकों द्वारा उनकी अपेक्षा ज्यादा पसंद किया गया। इसी दौर में उन्होंने



'धर्माधिकारी' और 'इज्जतदार' जैसी ऐसी निहायत ही महत्वहीन फिल्मों में भी काम किया, जिनके बारे में खुद उन्हें ही पता नहीं था कि वे उनमें क्या कर रहे थे। इन दिनों जबकि किसी को उम्मीद ही नहीं थी, तभी दिलीप ने अचानक सुधाकर बोकाड़े की फिल्म **'कलिंगा'** में शीर्षक भूमिका के साथ ही जीवन में पहली बार निर्देशन की जिम्मेदारी भी उठा ली है। गुणवत्ता और श्रेष्ठता के प्रति उनके आग्रह को देखते हुए उनके प्रशंसक निश्चय ही दम साध कर इस फिल्म के रिलीज का इंतजार करेंगे। देखना यह है कि अपनी विलंबित में चलने की आदत और हृदय रोगी होने की अफवाहों के चलते दर्शकों को इस फिल्म के लिए कितना इंतजार करना पड़ता है।

दिलीपकुमार की कला का समुचित आकलन करने पर जो कुछ तत्व स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आते हैं, उनमें सबसे प्रमुख हैं उनका पात्र में गहनता के साथ पैवस्त हो जाना। बगैर रिहर्सल के सीधे टेक करना (उनके हिसाब से रिहर्सल कर लेने के बाद अभिनय में स्वयंस्फूर्त प्रेरणा नहीं रह पाती)। दर्शक के साथ सीधे तादात्म्य स्थापित कर लेना, ताकि वह उस पात्र में खुद को पहचान सके; (याद कीजिए 'सगीना' में वह दृश्य जब वह अपने बचपन के अप्रिय प्रसंगों को बयान करते हैं या 'गोपी' में अपनी भाभी निरूपा रॉय को फटकारने के बाद जैसे ही वह उन्हें अपनी सोने की चूड़ियाँ लाकर देती है वे अचानक रुक कर कह उठते हैं, 'ना भाभी ना, मैं इतना बुरा नहीं हूँ।')। हॉलीवुड के उस्ताद अभिनेता पाल मुनी की तरह वे भी ऐसे कोई सौ पात्रों में खुद को गुम कर देते हैं, जो वे नहीं होते। दिलीप के अभिनय को 'मैथड ऍक्टिंग' कहकर तिरस्कृत करने वाले उनके आलोचक अक्सर उनकी भावनात्मक गहराई, पात्र में डूबने की तैयारी, ध्वनि (गला), आँखों और हाथों समेत पूरे जिस्म का इस्तेमाल करने में उनकी महारत को नजरअंदाज कर जाते हैं। जोगन, फुटपाथ तथा शिकस्त में तो उन्होंने खामोशी का भी निहायत ही सुखद इस्तेमाल किया है।

अंत में, वह कौन-सी चीज है, जिसने दिलीपकुमार को एक महान कलाकार से भी ऊँचा उठाकर उनके जीवनकाल में ही एक किंवदंती बना दिया? उनका व्यक्तित्व वैसे उनके कलाकार से भी ऊँचा उठ गया? इन सवालों के जवाब विवादों से दूर रहने की उनकी सिफत, उनकी सच्ची मानवीयता तथा अपने सह कलाकारों के साथ शालीन रिश्ते रखने के गुणों में खोजे जा सकते हैं। उनकी जहनियत, नफासत और हर हालात में भलमनसाहत न त्यागने की बीसियों मिसालें दी जा सकती हैं। सच्चा कलाकार किस तरह धर्म, राजनीति, देश और जाति से ऊपर उठ सकता है, उसकी जीवंत मिसाल हैं दिलीपकुमार। ■

## 'ग्लेमर-क्वीन' से 'किंग' का सफर

# अक्किनेनी नागेश्वर राव

□ फ्रॉक पहनकर चोटियाँ गूँथना और घर में लड़कियों के घरेलू काम करना, ऐसा था बचपन नागेश्वर राव का! □ □ स्टेज पर नारी-पात्रों में वे इतने लोकप्रिय हो गए थे कि 'नारी' से 'नर' बनने के लिए उन्हें संघर्ष करना पड़ा।

अक्किनेनी नागेश्वर राव का जन्म किसान परिवार में, छोटे से सागर तटीय ग्राम में हुआ था। आंध्रप्रदेश के गुडीवारा कस्बे के पारंपरिक कृषक परिवार में वे अपनी माता की नौवीं संतान के रूप में जन्मे। पूर्व जन्मे आठों बच्चों में से चार का निधन हो गया था। गाँव के पंडितों ने कहा कि आठवाँ बच गया है इसलिए नौवाँ निश्चित मरेगा। उधर इस नौवें बच्चे के गले पर भारी फोड़ा हो गया। माता ने इस शिशु को यमराज से बचाने की तरकीब यह सोची कि इसका लालन-पालन लड़कियों की तरह किया जाए। उन्हें फ्रॉक पहनाई गई। चोटियाँ गूँथी गईं। घर के वे सारे काम करवाए जाते रहे जो लड़कियाँ करती हैं। सुबह ४ बजे से रात ८ बजे तक वे लगातार काम में व्यस्त रहते थे। स्कूल में भी उन्हें नाटकों में स्त्री भूमिकाएँ दी जातीं। उनका काम काफी पसंद किया जाने लगा। परिवारजनों ने भी अभिनय को प्रोत्साहित किया। इसे जीविका के साधन के रूप में अपनाने की सलाह दी। इस तरह ए.एन.आर. की अभिनय यात्रा शुरू हुई। वे एक घुमक्कड़ नाटक मंडली में शामिल होकर गाँव-गाँव नाटकों का आयोजन करने लगे। अभिनय के साथ-साथ उन्हें प्रचार का काम भी करना पड़ता था। लई की बाल्टी तथा पोस्टरों का बंडल लेकर उन्हें शहर, गाँव, कस्बों की दीवारों पर चिपकाना उनका ही काम था। नाटक मंडलियों में भी उन्हें नारी पात्रों की भूमिका मिलती थी। पाँच रुपए प्रति शो के पारिश्रमिक पर उन्होंने 'राजा हरीशचंद्र', 'तुलसी', 'विप्रनारायण', 'जरासंध' आदि नाटकों में काम किया। सुंदर नाक-नक्शे तथा भावपूर्ण अभिनय के कारण वे **ग्लेमर क्वीन** के नाम से विख्यात हो गए।

मादक महिषी (ग्लेमर क्वीन) की अभिनय यात्रा का दूसरा दौर सन् १९४४ में विजयवाड़ा रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म से शुरू हुआ। विख्यात फिल्म निर्माता बलरामैया ने उन्हें देखा तथा उनमें छिपी प्रतिभा को पहचानकर उन्हें फिल्मों में काम करने के लिए राजी कर लिया। ए.एन.आर. मद्रास आ गए। फिल्मों में आकर उनके सामने सबसे बड़ी कठिनाई हुई स्वयं को मर्दाने रूप में प्रस्तुत करने की। अब तक वे नायिकाओं की भूमिकाएँ ही किया करते थे। मर्दाने तौर-तरीके तथा लटके-झटके नए सिरे से सीखने पड़े। कठोर श्रम तथा निरंतर अभ्यास से वे इस कमी को शीघ्र ही दूर कर सके। इसके बाद फिल्म सीताराम जननम् से तेलुगु फिल्म संसार में एक नए नायक **नागेश्वर राव** का जन्म हुआ। इसके बाद की कहानी कीर्ति की सीढ़ियों पर चढ़ने की कहानी है। पहली फिल्म में ही वे तलवारबाज/ घुड़सवार तथा ताकतवर पहलवान के रूप में परदे पर आए।



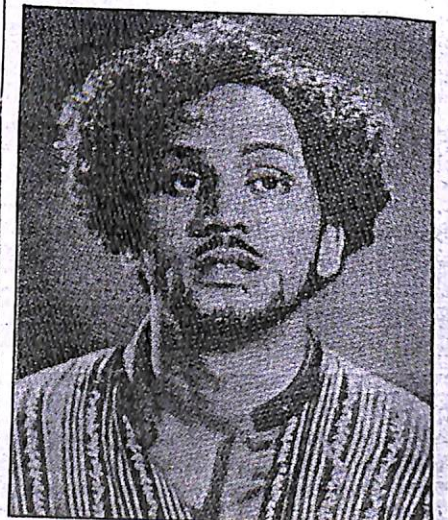
*तेलुगु फिल्म 'अमारा शिल्पी जक्कन्ना' में बी. सरोजा देवी के साथ नागेश्वर राव*

इसके बाद काफी दिनों तक उन्हें ऐसी ही भूमिकाएँ मिलती रहीं। 'मायालोकम्' 'बलराजू' आदि इसी काल की हिट फिल्में हैं। बलराजू एक भोले संगीतप्रेमी चरवाहे की कहानी थी। उसमें वीरता के साथ रोमांस का पुट भी था। यह फिल्म तेलुगु में रोमांटिक फिल्मों का मार्ग प्रशस्त करने वाली सिद्ध हुई। इसी के साथ नागेश्वर राव परदे पर आदर्श प्रेमी के रूप में लोकप्रिय हो गए तथा तेलुगु फिल्मों के पहले ग्लेमर नायक कहलाए। इस प्रकार **ग्लेमर क्वीन** से **ग्लेमर किंग** तक बनने की यात्रा पूरी हुई।

इसके बाद फिल्म समसाराम आई। इसमें नागेश्वर राव ने साधारण मानव की भूमिका की। यह फिल्म १९५० में प्रदर्शित हुई तथा काफी सफल रही। इसके बाद नागेश्वर राव रोमांटिक फिल्मों में जमने लगे। 'लैला मजनूँ' में कैस, 'अनारकली' में सलीम, 'देवदास' में देवदास बनकर आए। इस प्रकार 'ग्लेमर किंग', 'ट्रेजेडी किंग' के रूप में ढलने लगा। तमिल फिल्म 'परदेसी' में उनका अभिनय नई ऊँचाइयों को छू गया। 'कन्ना टल्ली', 'परिवर्तन', 'अर्धांगिनी' जैसी फिल्में प्रदर्शित हुई तथा सभी हिट रहीं। के.वी. रेड्डी की 'विप्रनारायण', 'चरणदासी', 'तेनाली रामकृष्ण', 'जयभेरी', 'प्रेमाभिषेक' आदि उनकी हिट फिल्में रही हैं।

इस तरह सातवीं कक्षा से स्कूली पढ़ाई छोड़ने वाला यह लड़का अंतरराष्ट्रीय ख्याति का सुपर हीरो बन गया। विश्व विद्यालयों ने इसे सम्मानित किया तथा इसके नाम पर एक महाविद्यालय भी खुला है। सन् १९८० में उत्तर केरोलिना नुशविले नगर में उनको सम्मानित कर मानद् नागरिकता प्रदान की गई। अपनी पत्नी अन्नपूर्णा के नाम से उन्होंने हैदराबाद की बंजारा हिल्स पर अन्नपूर्णा स्टूडियो भी खोल दिया। ऐसा करके उन्होंने मद्रास में स्थानांतरित हो रहे तेलुगु फिल्मोद्योग को हैदराबाद में ही बनाए रखने का सफल प्रयास किया।

दक्षिण भारतीय फिल्मोद्योग में आदर्श अभिनेता के रूप में पूजे जाने वाले इस नायक की यात्रा अभी जारी है। रोमांटिक विषयों



पर आधारित फिल्मों में वे अभी भी नायक की भूमिका करते हैं। ऐसी फिल्मों की ८० प्रतिशत सफलता निश्चित रहती है। उनके अनुसार सफलता तथा असफलता में स्थायित्व का कारण यह है कि वे एक जैसी कहानियों वाली फिल्मों में काम नहीं करते। विभिन्न किस्म के चरित्रों एवं कहानियों को लेकर बनाई जाने वाली फिल्मों में ही काम करना उन्हें अच्छा लगता है।

आधुनिक फिल्मी शैली तथा पुराने जमाने की फिल्मों की तुलना करते हुए वे कहते हैं कि तेलुगु सिनेमा का सर्वश्रेष्ठ काल १९५० से १९७० तक रहा। इस अवधि में कहानी के चयन तथा अभिनेताओं के चयन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उन दिनों की फिल्मों के नायक आमतौर से सभी दृष्टि से भले होते थे तथा उनकी भलमनसाहत पूरी फिल्म में कायम रहती थी। आज स्थिति बदल गई है। कहानियों को कलाकार की छवि के अनुसार बदला जाता है। संवाद सेट पर ही लिखे जाते हैं। शब्द 'अभिनय' अपना अर्थ खो चुका है। नायकों को दुश्चरित्र, कानून विरोधी तथा गुंडा किस्म का दिखाया जाता है। इसका दायित्व पश्चिमी प्रभाव को निरूपित करते हुए उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा था- बाइपास सर्जरी के लिए अमेरिका जाने पर मैंने वहाँ 'रेम्बो भाग-३' नामक फिल्म देखी। मैंने सावधानी से उसमें होने वाले कत्ल गिने। फिल्म में कुल मिलाकर ११९ कत्ल हुए थे। यह फिल्म वहाँ सुपरहिट थी। फिल्म का नायक 'सिल्वेस्टर स्टेलॉन' वहाँ का सुपर स्टार। पहले सिर्फ दस प्रतिशत फिल्में ही हिंसा प्रधान बनती थी, मगर अब उनका प्रतिशत ९० हो गया है।

सार्थक फिल्मों की दुर्दशा का कारण वे अच्छे थिएटरों की लगातार घटती संख्या को भी ठहराते हैं। उनके विचार से व्यावसायिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने तेलुगु सिनेमा को पतन के गर्त में डाला है। दर्शकों को उनकी रुचि के अनुसार मसाला परोसने के तर्क की आड़ लेकर अच्छी फिल्म विधा को अलविदा कह दिया गया है।

राजनीति में घुसे भ्रष्टाचार एवं स्वार्थपरता से भी वे असंतुष्ट हैं। उनके अनुसार यदि राजनीति का शुद्धिकरण नहीं हुआ तब देश का विकास रुक जाएगा। अपने पुत्र **नागार्जुन** की अभिनय क्षमता को भी वे कड़ी कसौटी पर कसते हैं। उनके अनुसार नागार्जुन का सबसे बड़ा दोष धीमी और बेअसर आवाज है। इस दोष को दूर करने के लिए उन्होंने उसे बंबई में आशाचंद्रा के अभिनय प्रतिष्ठान में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए भी भेजा था।

अपने जीवन का लक्ष्य एक अच्छा एवं सहयोगी इंसान बनना बताते हुए वे कहते हैं कि उन्हें यह महसूस होता है कि वे अपनी मंजिल तक पहुँचने में सफल हुए हैं। फिल्मी दुनिया को लाइफ-टाइम योगदान करने पर वर्ष १९९१ में उन्हें दादा साहेब फालके सम्मान से सम्मानित किया गया है। **(लोच)**



# ऑल टाइम ग्रेट राजकुमार

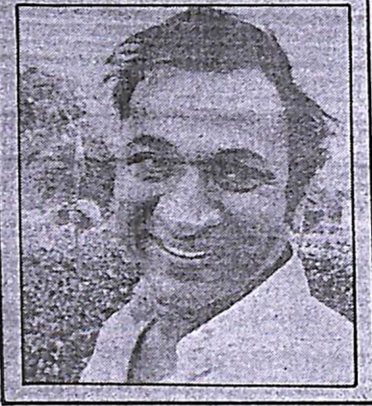
कर्नाटक के इस महान् अभिनेता का बचपन दारुण यंत्रणाओं की अविश्वसनीय कहानी जैसा लगता है। अपने बचपन का जिक्र करते हुए उन्होंने एक साक्षात्कार में बताया कि शिक्षा के लिए स्कूल भेजना तो दूर पिता ने उन्हें अक्षर ज्ञान करवाना भी अपना कर्तव्य नहीं समझा। पिता नियमित रूप से उनकी पिटाई करते थे। यह पिटाई इतनी निर्मम होती थी कि वे धोती में ही पेशाब कर दिया करते थे। पिता पिटाई कर संतुष्ट नहीं होते थे। जब पीटकर थक जाते थे, तब मुँह में भरे पान की सारी पीक बेटे के चेहरे पर इस तरह थूकते थे कि सारा चेहरा पीक से रंग जाता था।

पिता रंगमंच के अभिनेता थे। वे चाहते थे कि बेटा भी अभिनय के क्षेत्र में उतरे। बेटा मुथुराज (राजकुमार का असली नाम) कोशिश तो करता था, मगर रिहर्सल के दौरान घबरा जाता था। एक बार ऐसे ही मौके पर उन्हें नाटक में अर्जुन के अभिनय के लिए रिहर्सल करवाई गई। नाटक के निर्देशक गुब्बी वीरन्ना ने पाया कि मुथूराज से कोई उम्मीद करना बेकार है। दूसरे नियमित अभिनेता को अर्जुन की भूमिका सौंपी गई। ऐन नाटक के दिन वह अभिनेता नहीं आया। मजबूरी में मुथूराज को मंच पर भेजा गया। मुथूराज जैसा दब्बू, झिझकू तथा शर्मीला कलाकार, जो बोलने में हकलाता हो कुछ कर पाएगा, यह आशा किसी को नहीं थी। अचानक सब विस्मित रह गए यह देखकर कि मुथूराज जितना उत्कृष्ट अभिनय कर रहा है, उतने ही अच्छे ढंग से संवाद बोल रहा है। गाने भी सस्वर गा रहा है।

गुब्बी वीरन्ना इस सीधे-सादे किशोर की छिपी अभिनय प्रतिभा को पहचान गए। वे फिल्म निर्माण भी करते थे इसलिए सन् १९५४ में अपनी फिल्म 'बेदरा कनप्पा' में मुख्य भूमिका के लिए मुथूराज को चुनने का फैसला किया। स्क्रीन टेस्ट हो चुके थे। मुथूराज को पूरा विश्वास था कि वे सभी परीक्षणों में सफल रहे हैं। अचानक एक दिन सबेरे वे अखबार में पूरे पृष्ठ का विज्ञापन देखकर चकित हो गए। विज्ञापन के अनुसार वीरन्ना ने राजकुमार नामक नए अभिनेता को नायक के रूप में लिया था। मुथूराज भागे-भागे वीरन्ना के पास पहुँचे तथा गुस्से और गम के साथ इस धोखेबाजी की वजह पूछने लगे। वीरन्ना ने मुस्कराते हुए सब सुना। बाद में बताया कि परदे पर वे ही राजकुमार के नाम से आने वाले हैं। इस तरह नब्बे रुपए माहवार पाने वाला रंगमंच का कलाकार मुथूराज परदे पर राजकुमार के रूप में जन्मा। यह फिल्म अधिक सफल न रही मगर राजकुमार का अभिनय सराहा गया। इसके बाद वे कई धार्मिक, ऐतिहासिक तथा आंचलिक कथाओं पर आधारित फिल्मों में नायक के रूप में लिए जाने लगे। उनकी पहली पच्चीस फिल्मों

**● बचपन में राजकुमार के पिता उनकी इतनी पिटाई करते थे कि वे धोती में ही पेशाब कर दिया करते थे। इतने से भी पिता का गुस्सा शांत नहीं होता, तो वे राजकुमार के चेहरे पर पान खाकर थूक दिया करते थे।**

□ सक्रिय राजनीति से दूर रहते हुए भी सपूर्ण कर्नाटक को लकवाग्रस्त करने की क्षमता राजकुमार में है। □ □ 'स्वर्ण-पुरुष' के नाम से मशहूर राजकुमार ने सिर्फ एक बार खलनायक हिरण्यकश्यप की भूमिका की है। वे परदे पर अपने चरित्र के जरिए न तो सिगारेट पीते रहे हैं और न शराब!



में केवल चार सामाजिक थीं।

राजकुमार की अभिनय प्रतिभा अपने पूरे निखार पर प्राचीन हिंदू-संतों की भूमिका करते हुए आई। कंकनदास/ कबीर/ तुकाराम/ गौरा/ राघवेन्द्र स्वामी आदि प्रमुख हैं। इन फिल्मों ने उन्हें कन्नड़ भाषी क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाया। राजकुमार स्वयं भी कन्नड़ भाषा के प्रति समर्पित रहे। उन्होंने कन्नड़ के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा की फिल्म में काम करना कभी स्वीकार नहीं किया।

राजकुमार को सफलता आसानी से नहीं मिली। उन दिनों कन्नड़ में फिल्मों का निर्माण काफी कम तादाद में होता था। कल्याणकुमार एवं उदयकुमार जैसे नायक लोकप्रिय थे। जब दोनों कुमारों ने कन्नड़ फिल्मी दुनिया को छोड़कर तेलुगु में भाग्य आजमाने का फैसला किया, तब राजकुमार को अपने पैर जमाने का मौका मिला। राजकुमार संघर्ष के दौरान समझ चुके थे कि सफलता पा लेना तथा उसे कायम रखना दोनों ही अलग चीजें हैं। इसीलिए सफल होने के बाद भी वे अपने व्यवहार तथा तौर-तरीकों को संतुलित बनाए रहे। समय की पाबंदी/ विनम्रता तथा अन्य साथियों के साथ सम्मानजनक व्यवहार उनका खास गुण रहा है। व्यवहार के कारण **'स्वर्ण-पुरुष'** के नाम से मशहूर रहे राजकुमार ने निर्माता, वितरक तथा प्रदर्शक रहकर फिल्म उद्योग के हर पहलू से करीबी परिचय प्राप्त किया है। राजकुमार के दोनों बेटे **शिवराजकुमार** तथा **राघवेन्द्र राजकुमार** भी कन्नड़ फिल्मों के सुपर स्टार बनकर चमक रहे हैं। दो सौ से भी अधिक फिल्मों में काम करने वाले राजकुमार ने नागेश्वरराव/ एन.टी. रामाराव/ शिवाजी गणेशन/ अशोककुमार को अपना आदर्श माना है।

अभिनय को वे 'ध्यान' का पर्याय मानते हैं। किसी पात्र में स्वयं को आत्मसात करने के बाद ही उस पात्र की चारित्रिक विशिष्टताओं को सहज ढंग से पेश किया जा सकता है। वे स्वयं वही भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं, जिन्हें सफलता के साथ अभिनीत करने का उन्हें पूर्ण विश्वास रहता है। अपनी क्षमता और सीमाओं का जिक्र करते हुए उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा था, '**कमल हासन** जिन पात्रों को जीवन्त बना सकते हैं, उनको मैं इतनी कुशलता के साथ पेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिन पात्रों को मैं सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकता हूँ उनमें से कई का अभिनय करते हुए कमल हासन असफल हो सकते हैं।'

'कनकदास' तथा 'भक्त कुंभारा' में अपने अभिनय को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले इस कलाकार ने सिर्फ एक बार खलनायक की भूमिका की है। वे हिरण्यकश्यप बनकर परदे पर आए थे। सामाजिक फिल्मों में 'शंकर गुरु' को उनकी सर्वोत्तम फिल्म माना जाता है। एक साथ तीन विविध भूमिकाओं में राजकुमार ने इस फिल्म को सुपर हिट बना दिया था। यही फिल्म हिंदी में **'महान'** के नाम से बनी तथा राजकुमार वाली भूमिका अमिताभ बच्चन ने की है। धार्मिक/ ऐतिहासिक तथा सामाजिक फिल्मों में सफल अभिनय करने के साथ-साथ राजकुमार ने सनसनीखेज जासूसी फिल्मों में भी अद्भुत अभिनय क्षमता का परिचय दिया है। 'जेम्स बॉण्ड' जैसी भूमिकाओं में वे चार फिल्मों में आए तथा चारों ही सफल रहीं।

राजनीति से स्वयं को दूर रखने वाले राजकुमार का कहना है कि सक्रिय राजनीति में उतरने का उनका कोई इरादा नहीं है। कर्नाटक एवं कन्नड़ भाषा के हितों पर होने वाले किसी भी प्रहार को वे सहन नहीं करेंगे तथा दोनों के हितों की रक्षा के लिए हर मोर्चे पर सक्रिय रहेंगे। राजकुमार अभिनय करने के साथ-साथ सामाजिक दायित्वों से भी परिचित हैं। इसीलिए वे परदे पर धूम्रपान तथा मदिरापान वाले दृश्य नहीं करते। एक ट्रस्ट के माध्यम से वे जनकल्याण योजनाओं में निरंतर आर्थिक सहायता देते रहते हैं। कावेरी जल-विवाद के दौरान राजकुमार की भूमिका अत्यंत विवादास्पद रही। जनवरी १९९२ में बंगलोर में आयोजित अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह के उनके समर्थकों द्वारा बहिष्कार ने केंद्र तथा कर्नाटक सरकार को परेशानी में डाल दिया था। बंगलोर में हुए दंगों पर राजकुमार की छाया सदा रही। एक अभिनेता, राजनीति से दूर रहकर भी समाज तथा राजनीति को कितना प्रभावित कर सकता है, इसका ताजा प्रमाण कर्नाटक-तमिलनाडु जल-विवाद में देखा जा सकता है।

**(लोच)**

# महानायकों मे

● **जयप्रकाश चौकसे**

सन् १९२९ में **पृथ्वीराज** कपूर बंबई आए और अवैतनिक एक्स्ट्रा के रूप में अभिनय जीवन प्रारंभ किया। उनका व्यक्तित्व इतना मोहक था कि वे 'ग्रीक-देवता' की तरह दिखते थे। वे अत्यंत परिश्रमी और अनुशासन प्रिय थे। १९३१ में **'आलमआरा'** के द्वारा प्रतिष्ठित हो गए। उस जमाने में अभिनय का विकास नहीं हुआ था और अभिनेता का व्यक्तित्व ही एकमात्र मानदंड था। संवाद बोलने की शैली बहुत महत्वपूर्ण थी। पारसी थिएटर के प्रभाव से सिनेमा मुक्त नहीं हुआ था। पृथ्वीराज स्वंयं नाटक के बहुत बड़े प्रेमी थे और संवाद अदायगी में नाटकीयता के शिकार थे। उन दिनों हॉलीवुड की फिल्मों को देखकर 'अंडरप्ले' का महत्व कई अदाकारों ने समझा। पृथ्वीराज ने बंगाल की न्यू थिएटर्स कंपनी में अभिनय प्रारंभ किया। **न्यू थिएटर्स स्कूल के प्रभाव के कारण पृथ्वीराज ने अपनी स्वतंत्र शैली विकसित की, जिसमें संवाद को स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करना अनिवार्य था।** राजसी व्यक्तित्व के साथ संवाद की यह शैली उन्हें राजा-महाराजा एवं राजपूत की भूमिकाओं के लिए प्रथम चयन के रूप में स्थापित कर गई। **'विद्यापति'** में उदारमना राजा की भूमिका में पृथ्वीराज ने ऐसा प्रभाव पैदा किया कि प्रेमी विद्यापति खलनायक-सा लगने लगा। **'राजरानी मीरा'** में भी पृथ्वीराज ने अविस्मरणीय भूमिका का निर्वाह किया।

सोहराब मोदी की फिल्म **'सिकंदर'** में अपने अभिनय के कारण पृथ्वीराज चोटी के सितारे हो गए। उनकी जाँघ ठोंकने की अदा ने सिकंदर के गर्व को बखूबी अभिव्यक्त किया। जब श्याम बेनेगल 'भारत एक खोज' बना रहे थे, तब उन्होंने सिकंदर का पात्र कुणाल को दिया और उसे समझाया कि ऐतिहासिक सत्य यह है कि सिकंदर छोटे कद के व्यक्ति

## जिया बेकरार है

आज के तथाकथित सुपर स्टारों की तरह यदि पृथ्वीराज कपूर भी नखरेबाज और तुर्रेबाज होते तो शायद हसरत जयपुरी जैसा लोकप्रिय गीतकार हिंदी फिल्मों को नसीब न होता। एक ट्राम कंडक्टर हसरत जयपुरी ने एक दिन पृथ्वीराज कपूर याने पापाजी को रिझा दिया। रातों रात राजकपूर की फिल्म बरसात के गीत 'जिया बेकरार है' से हर हिन्दुस्तानी का जिया उन्होंने बेकरार कर दिया।

# वट-वृक्ष : पृथ्वीराज कपूर

भारतीय जनमानस में सिकंदर का नाम लेते ही पृथ्वीराज की छवि उभरती है और किसी और अभिनेता को वे स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं हैं। **इसी तरह 'मुगले-आजम' में अकबर की भूमिका उन्होंने कुछ इस तरह अदा की कि अफसाने के सामने ऐतिहासिक सत्य गौण हो गया।**

पृथ्वीराज बहुत ही समर्पित अभिनेता थे और भूमिका पर गहन विचार कर बहुत मेहनत करते थे। मुगले-आजम में उन्होंने सचमुच का जिरहबख्तर पहना, जो कि बहुत वजनदार और तकलीफ देने वाला था। दरगाह वाले दृश्य में वे सचमुच नंगे पैर मीलों चले। शायद भारत के पहले **'मेथड स्कूल'** के अभिनेता थे। इसी फिल्म का एक नाटकीय गीत कलर में फिल्मांकित किया गया। एक शॉट में अकबर की आँखों में खून उतर आता है। इस शॉट के लिए तकलीफ देने वाली प्रक्रिया से गुजरे। उम्र के हर दौर में उन्हें नई विधाओं को सीखने का शौक था। पचास वर्ष की आयु में उन्होंने कथक नृत्य सीखने का प्रयास किया।

पृथ्वीराज के अभिनय की नकल संभव नहीं है और न ही उनसे कोई परंपरा शुरू होती है क्योंकि उन जैसा राजसी व्यक्तित्व बार-बार जन्म नहीं लेता। उनका अभिनय उनके विराट व्यक्तित्व का ही हिस्सा था। उन्होंने १५ वर्ष तक पृथ्वी थिएटर का संचालन किया और १३० शहरों में घूमकर २७०० शो किए। पृथ्वी थिएटर एक ऐसी सांस्कृतिक संस्था थी, जिसने अनेक प्रतिभाशाली लोगों को अवसर दिया। फिल्म उद्योग में बीस प्रतिशत लोग पृथ्वी-थिएटर से आए हैं- शंकर-जयकिशन, राम गांगुली, रमेश सहगल, प्रेमनाथ, पृथ्वीराज के तीनों पुत्र, सज्जन, इंदरराज आनंद इत्यादि। पूना संस्थान के पहले पृथ्वी थिएटर ही वह संस्थान था जिसने फिल्म उद्योग को अनूठी प्रतिभाएँ देकर विकसित किया।

पृथ्वीराज उस समय सक्रिय थे जब समाज का अविभाज्य-वर्ग सिनेमा को नफरत की निगाह से देखता था। पृथ्वीराज ने पर्दे पर और पर्दे के बाहर इतना गरिमामय आचरण किया कि वे पहले व्यक्ति थे जिनका सम्मान सामाजिक संस्थाओं ने किया और श्रेष्ठि वर्ग ने सिनेमा के प्रति अपना दृष्टिकोण बदला। वे पहले अभिनेता थे जिन्हें **राज्यसभा** में नामजद किया गया और भारतीय संसद में उनके ओजस्वी भाषण और भव्य मौजूदगी ने फिल्म उद्योग का नाम रोशन किया। वे कई सांस्कृतिक दलों के साथ विदेश दौरे पर भी गए थे।

देवकी बोस की 'सीता' में पृथ्वीराज राम बने थे और उनके अभिनय के कारण आम जनता ने उन्हें अपार आदर दिया। शांताराम की 'दहेज' में उनके अभिनय का ऐसा प्रभाव पड़ा कि कई सामाजिक संस्थाओं ने दहेज विरोधी कार्यक्रम बनाए। पूरी दुनिया में ऐसे अभिनेता कम ही हुए हैं जिनके कारण पूरा समाज प्रभावित हो। आजादी के समय सांप्रदायिक हिंसा के दौर में पृथ्वीराज ने कौमी एकता का अलख अपने नाटकों के द्वारा जगाया और हिंसाग्रस्त क्षेत्रों में दौरा भी किया।

नाटकों के बाद जनता के सामने झोली फैलाकर उन्होंने लाखों रुपए इकट्ठे किए जो दंगाग्रस्त और बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों में सामाजिक संस्थाओं के द्वारा दान में दिए गए। उन्होंने फिल्म अभिनय से कमाया हुआ धन नाटकों में लगाया और स्वयं सारी उम्र किराए के मकान में सादगीपूर्ण ढंग से रहे। सिकंदर के बाद उन्होंने प्रति फिल्म एक लाख ग्यारह हजार एक रुपए पारिश्रमिक लिया। उन्होंने कभी काला धन नहीं लिया।

व्यक्तिगत जीवन में आचरण की यह पवित्रता ही उनके अभिनय में उभर कर आई और यह पवित्रता ही उनके अभिनय पक्ष का सबसे सशक्त अंग है। यथार्थ की अच्छाई ने उन्हें एक आभा मंडल प्रदान किया, जो पर्दे पर उन्हें बहुत लाभ दे गया। एक तरह से पृथ्वीराज ने लांजाईनूस की इस थ्योरी को सत्य सिद्ध किया कि 'एक अच्छा इंसान ही अच्छा कवि (कलाकार) हो सकता है।'

पृथ्वीराज कपूर की कुछ मान्यताएँ थीं और वे उनके प्रति समर्पित थे। अपनी जवानी में उन्होंने पेशावर में सांप्रदायिक दंगे के समय एक अनजान मुसलमान स्त्री की जान बचाने के लिए स्वयं को दाँव पर लगाया था। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के हिमायती थे। वे हर चीज को पूरी शिद्दत से महसूस करते थे और उसी तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करते थे। अकबर सांप्रदायिक सौहार्द के प्रतीक रहे हैं और पृथ्वीराज ने उस किरदार को इतने जीवंत ढंग से प्रस्तुत किया कि सलीम-अनारकली प्रकरण में खलनायक होते हुए भी वे नायक बनकर ही उभरे और इसी कारण उन्होंने सर्वश्रेष्ठ सहायक अभिनेता का फिल्मफैयर पुरस्कार लेने से इन्कार कर दिया।



**न्यू थिएटर की परंपरागत शैली के प्रवाह के विपरीत बहते हुए पृथ्वीराज कपूर ने अभिनय की अपनी स्वयं की शैली विकसित की। सोहराब मोदी की फिल्म 'सिकंदर' ने उन्हें सुपर-सितारा बना दिया। 'मुगले-आजम' में अकबर की भूमिका उन्होंने कुछ इस तरह अदा की कि इतिहास, अफसाने के सामने बौना हो गया।**

१९२९ में **चैलेन्ज** उनकी पहली फिल्म थी और १९७१ में रणधीर कपूर की **कल, आज और कल** उनकी अंतिम फिल्म थी। इन ४२ सक्रिय वर्षों में उन्होंने ५५ फिल्मों में काम किया। पृथ्वी थिएटर से सभी नाटकों के



*पृथ्वीराज कपूर द्वारा निर्देशित फिल्म 'पैसा' का एक दृश्य।*

लगभग २७०० शो में अभिनय किया और एन्डरसन् की कंपनी में शेक्सपिअर के अनेक नाटकों में भी कार्य किया। पृथ्वीराज को लोग आदर से पापाजी कहते थे और फिल्म उद्योग के इतिहास में वे इतिहास-पुरुष ही माने जाएँगे जिसने यथार्थ और अभिनय के बीच के अंतर को लभगभ मिटा दिया।

तीन नवंबर १९०६ को जन्मे पृथ्वीराज कपूर का निधन २९ मई १९७२ को हुआ। एक भरा भूरा जीवन उन्होंने जिया। रंगमंच तथा सिनेमा को उन्होंने बिना स्वार्थ के जो योगदान किया, उसके लिए भारत सरकार ने उन्हें मरणोपरांत १९७१ का दादा साहेब फालके सम्मान १९७२ में प्रदान किया, जिसे उनके बेटे राजकपूर ने स्वीकार किया था। उनके निधन पर **राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण** ने ये दो पंक्तियाँ लिखकर अपनी श्रद्धांजलि दी थी-

**रखकर भी बहुरूप, हो अद्वितीय ही आज**
**होते कहीं अनेक तुम प्रियवर पृथ्वीराज!**

उनकी फिल्में हैं: सिनेमा गर्ल, आलम आरा (पहली बोलती फिल्म), विद्यापति, पागल, मिलाप, मंजिल, सपेरा, सिकंदर, उजाला, आँख की शरम, सीता, इशारा, महारथी कर्ण, वाल्मिकी, देवदासी, दहेज, आवारा, आनंदमठ, मुगले आजम, तीन बहुरानियाँ, कल, आज और कल।

### इंदौर में पृथ्वीराज

*सन् १९२८-२९ में पृथ्वीराज कपूर अपने तीन नाटक-पैसा, पठान और दीवार-लेकर इंदौर आए थे। चार दृश्यों वाले रिवाल्विंग स्टेज पर उन्होंने महाराजा (सिनेमाघर) में अपने नाटक प्रस्तुत किए थे। महाराजा तुकोजीराव यहाँ नाटक देखते थे।*

# किसी एक नायक का नाम लो? मोतीलाल

● **रमेश वैद्य**

जन-साधारण से सहानुभूति दर्शाने वाले अनेक नायक-महानायक आए। उनके स्तर पर जीने का साहस केवल **मोतीलाल** ने ही दिखाया। उनके दो विशेष गुण थे- प्रसन्नचित्त स्वभाव और सम्मोहक स्वर। भद्र, शालीन। अलमस्त और रोमांटिक। हॉलीवुड परम्परा के नायक मोतीलाल की आँखें सदैव मुस्कराती रहती थीं। प्रत्येक सुन्दरी के मन में रचा बसा मोतीलाल स्वाभिमानी मगर प्रिय युवक था, जो **'डॉ. मधुरिका'** (१९३५) से घर-घर में एक परिचित चेहरा बन गया था। मोतीलाल राजवंश का नाम तीस के दशक में आदर के साथ दर्ज है। यह वह दौर था जब मूक युग समाप्त हो रहा था। **गीत-संगीत** और संवाद का महत्व फिल्मों में बढ़ता जा रहा था। इस पृष्ठभूमि में अपने स्पष्ट उच्चारण और संवाद बोलने की विशिष्ट शैली में सही उतार-चढ़ाव के कारण मोतीलाल निर्माता-निर्देशकों के चहेते थे। पारसी थिएटर की नाटकीयता को छोड़ मोतीलाल ने सरल, सहज और स्वाभाविक संवाद शैली विकसित की।

अपनी पहली फिल्म 'द ल्यूअर ऑफ द सिटी' के सेट पर जब मोतीलाल आए, तो उन्हीं के शब्दों में- मैं अपनी सुधबुध भूल गया था और टकटकी बाँधे कैमरे को देखता रहा। काम रोक दिया गया। मैंने देखा कि हीरोइन **सीता देवी** को उनकी माँ ने मेरे पास हौसलाअफ़जाई को भेजा। मुझे राय दी गई कि मैं बाहर जाकर इधर-उधर घूमूँ और



लोगों से मिलूँ। मैंने कई लोगों से हाथ मिलाया। थोड़ी देर बाद मैंने अपने को नॉर्मल पाया। उसके बाद मैंने कभी कैमरे की आँख से आँख नहीं मिलाई।'

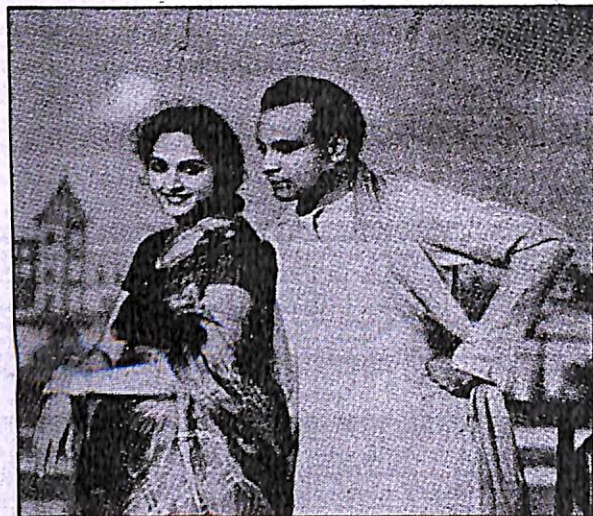
मोतीलाल ने 'सिल्वर किंग' नामक फिल्म में एक फ्रांसीसी आदमी से तलवार चलाना सीखा और गहरी नदी में छलांग भी लगाई। इतना सब सीखने के बाद जो करना पड़ा वह इतना कि विलेन याकूब और उसके साथियों के सामने तलवार केवल हाथ से घुमाई। एक औरत को बचाने के सीन में उथले पानी पर खड़े होकर छलांग लगाई मगर सिनेमा तकनीक का करिश्मा ऐसा कि परदे पर मोतीलाल ने तलवार के जौहर दिखाए। गहरी नदी में छलांग भी लगाई।

मोतीलाल अपने अभिनय के बारे में बतलाते है कि- 'अरमान फिल्म में मैंने बिना अभिनय किए ही अभिनय करना, जाना-समझा। मैं प्रायः अभिनय नहीं करता रहा हूँ। मैं तो अपने रोल को जीता हूँ।' मोतीलाल के ये उद्‌गार उनकी अभिनय-कुशलता पर सीधी टिप्पणी के रूप में देखे जाने चाहिए। सिनेमा के परदे पर राजा से रंक और कक्षा से कोठे तक सभी भूमिकाएँ करनी होती हैं। मोतीलाल ने अपने लंबे फिल्मी कैरियर में रोल तो विविध प्रकार के किए मगर मोती बनकर नहीं वरन उस किरदार विशेष के अंदर पैठ कर। वे सदैव अपने व्यक्तित्व का उस चरित्र के साथ तादात्म्य स्थापित करते थे। अंधे युवक का पात्र 'अरमान' में जीने के बाद मोतीलाल कई दिनों तक ठीक से देख नहीं सकते थे। कितना अनोखा और आत्मीय रिश्ता जोड़ लेते थे वे कि अंतर्मन में भी अंधत्व को बसा लिया।

**सहज तथा स्वाभाविक अभिनय के लिए भारतीय सिनेमा के इतिहास में पहला नाम मोतीलाल का लिखा गया है। देवदास का चुन्नी बाबू हो अथवा मि. सम्पत, कैमरे के सामने वे किरदार को जीते थे। जानदार अभिनय के साथ उन्होंने शानदार जीवन कैसे जिया जाता है, इसकी मिसाल भी फिल्मी दुनिया में पेश की है।**

चार्ली चेपलिन की फिल्म **द किड** पर आधारित फिल्म **मस्ताना** में मोतीलाल एक ऐसे व्यक्तित्व की भूमिका में है जो एक अनाथ बच्चे को अपनाता है। बच्चे के माँ-बाप जब उस बच्चे को पा लेते हैं, तो मोती को कोर्ट में खड़ा होना पड़ता है।

प्रख्यात उपन्यासकार के.एम. मुंशी द्वारा लिखित सागर मूवीटोन और न्यू थिएटर्स के बैनर में बनी कई फिल्मों में भी मोतीलाल ने काम किया। मनुष्य स्वभाव का गहन अध्ययन उनकी पूँजी थी, जो उन्हें अपने अभिनय को नए आयाम और नई ऊँचाइयाँ देती थी। 'इमप्रोवाइजेशन' एक ऐसा हथियार था उनके हाथ में, जो उन्हें अपने रोल को सही दिशा निर्देश देता था। इस बात का प्रमाण है उनका आर.के.नारायण के उपन्यास पर बनी फिल्म **मिस्टर संपत** जो मोतीलाल की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में से एक है। मिस्टर संपत एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र है, जो अपने ढंग से जीना चाहता है, जिसके मन में कोई आग्रह या लगाव नहीं है। वह असाधारण नहीं वरन एक साधारण आदमी है। इस रोल



## कस्तूरी की महक जैसे मोतीलाल

*यह घटना सन् १९६२ की है। वह साँझ इंदौर के कई लोगों के लिए अविस्मरणीय बन गई है। उस साँझ की याद आते ही मन में हरियाली छा जाती है। स्वल्पाहार का आयोजन था। प्रमुख अतिथि थे फिल्म अभिनेता **मोतीलाल।** मुझे भी निमंत्रण था। सब काम छोड़कर वहाँ गया। मोतीलाल मेरे प्रिय कलाकार थे। उनकी हर फिल्म मैंने देखी थी। किसी-किसी फिल्म को कई बार देखा था। सन् ५० तक बनी कई फिल्मों को १० से २५ बार तक कई लोगों ने देखा था। फिर भी मन नहीं भरता था। ऐसे लोगों में मैं भी था।*

*समारोह नेहरू उद्यान में था। लोगों को पता चल गया था। बड़ी भीड़ अपने प्रिय कलाकार मोतीलाल को एक नजर देखने के लिए इकट्ठी थी। मोतीलाल मोटर से उतरे तो लोगों में बड़ी हलचल मच गई। बड़ी मीठी व सहज मुस्कुराहट के साथ मोतीलाल ने सब लोगों के स्वागत को स्वीकार किया। उनके साथ अभिनेत्री **नलिनी जयवंत** और जाने-माने संगीत निर्देशक सी. रामचंद्र भी थे। सबकी आँखें मोतीलाल पर ही टिकी थीं।*

*मैं भी मोतीलाल को अपलक देखता रहा। गजब का आकर्षण था उनमें। गौर वर्ण। सुंदर व आकर्षक चेहरा। सबसे बढ़कर उनकी प्रसन्न मुद्रा। उनकी मुस्कुराहट और बातें करते समय की मीठी हँसी सचमुच मन को मोह लेती थी। मुझे बार-बार यह लगा था कि परदे पर दिखाई देने वाले मोतीलाल से आँखों के सामने खड़े मोतीलाल बहुत ही सुंदर एवं आकर्षक हैं। मैं उनके पास पहुँचा। मन आनंद एवं संकोच से भरा था। पास पहुँचकर कहा- नमस्ते मोतीलालजी।*

*मेरी नमस्ते का उत्तर उन्होंने जिस प्रसन्नता से दिया, उससे मेरा संकोच दूर हो गया।*

*मैंने कहा- अनेक वर्षों से आपकी हर फिल्म का आनंद लेता रहा हूँ। आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। वह आज पूरी हो गई। मेरा नाम है हीरालाल शर्मा। यहाँ एक दैनिक पत्र का सम्पादन करता हूँ। बड़ी सहजता व आत्मीयता से वे बोले- मुझे भी बड़ी खुशी हुई शर्माजी आपसे मिलकर। कोई बनावट या आडम्बर नहीं था उनके शब्दों में। मैंने फिर पूछा- आपको यह इंदौर शहर कैसा लगा?*

*वे बोले- बड़ा सुंदर शहर है। मुझे बहुत पसंद आया। मैं पहले भी यहाँ आया हूँ। मुझे यहाँ कोई असुविधा नहीं हुई। आय एम व्हेरी हैप्पी हियर।*

*उस दिन की उस छोटी सी मुलाकात ने मुझे बड़ा आनंद और उत्साह प्रदान किया। आज मोतीलाल नहीं हैं पर वे मेरे मन में कस्तूरी की तरह महक रहे हैं।*

● **हीरालाल शर्मा**



*बिमल राय की फिल्म देवदास (१९५५) में वैजयंतीमाला, मोतीलाल और दिलीपकुमार।*

को मोती ने जितनी सहजता और विश्वसनीयता से किया वह शायद उनकी जगह दूसरा नहीं कर पाता। उनकी यही समझ विमल रॉय की फिल्म 'देवदास' में भी काम आई। सहगल साहब की 'देवदास' (१९३५) में कई खूबियाँ हैं मगर जहाँ तक चुन्नीलाल की भूमिका का सवाल है मोतीलाल की अदाकारी ने उस कोठेबाज बड़े दिल वाले के रोल में चार चाँद लगा दिए हैं। चुन्नीलाल की बात चलने पर स्वयं मोती ने कहा था कि चुन्नीलाल महज एक गिरा हुआ इंसान नहीं है। सही सलाह के अभाव में वह जो कुछ भी बन गया था मगर उसके अंदर का आदमी अभी जिन्दा था। तभी तो वह देवदास को कोठे पर ले जाने के बाद पछताने लगता है। मोती के इसी संवेदनशील स्वभाव ने चुन्नीलाल को लोगों का सहानुभूति का पात्र बना दिया।

'छोटी छोटी बातें' एक आत्म कथ्यात्मक फिल्म है। इसमें मोतीलाल का नाम मोतीलाल ही है। एक ऐसा मोती जो पूरी दुनिया के लिए प्रेम लिए फिरता है, जबकि उसके मन में वेदना और पीड़ा है। इस रोल में वे केवल एक चलती-बोलती छाया ही नहीं बल्कि उनकी अस्मिता और आदर्श का पूँजीभूत स्वरूप हो गया था।

मोतीलाल समकालीन जाने – माने कलाकारों में कुन्दन लाल सहगल, बिलिमोरिया बंधु, जाल मर्चेंट, अशोक कुमार, सुरेन्द्र के बराबर गिने जाते हैं। ए.डी. और दिनशॉ बिलिमोरिया तो ठेठ अँग्रेजी रुझान वाले हीरो थे। मगर एक प्रतिनिधि शहरी भारतीय युवक के रूप में मोतीलाल को स्थान दिया जाना चाहिए। अगर ग्रामीण हिन्दुस्तानी का प्रतिबिंब **बलराज साहनी** के अभिनय में मिलता है, तो शहरी का मोतीलाल में। ऐसा कहना शायद अनुचित न होगा कि देव-दिलीप जैसे अभिनेता आत्म मुग्ध- 'नार्सिसस' बने रहे वहीं मोती के पात्र यथार्थवादी और तथ्यपरक दृष्टिकोण वाले हाड़मांस के देहधारी इंसान ही रहे। आगे चलकर मोती की इस अभिनय परंपरा में संजीव कुमार उभर कर निकले हैं।

१९३४ से १९६५ तक कई नामी हीरोइनें मोतीलाल के साथ फिल्मों में आई जिनमें कुछ प्रमुख नाम हैं- रोज/ नर्गिस/ लीला देसाई/ निर्मला/ सुरैया/ मीनाशोरी/ नूतन/ मुनव्वर सुल्ताना/ मधुबाला/ गीताबाली/ मीनाकुमारी। मोतीलाल की जोड़ी सबसे ज्यादा जमी सविता देवी/ माधुरी और शोभना समर्थ के साथ।

फिल्म अभिनेताओं के रोमांस के चर्चे तो अपवादों को छोड़कर चलते ही रहे हैं। लेकिन मोतीलाल सस्ता रोमांस करने के आदी नहीं थे। निर्देशक कुमार सेन समर्थ से अलग होने के बाद शोभना समर्थ जैसी सुंदर अभिनेत्री ने मोतीलाल से जो नेह का नाता जोड़ा वह आजीवन निभाया। मोतीलाल अक्सर अपनी पेकॉर्ड कार में बंबई से दिल्ली अपनी पत्नी से मिलने जाया करते थे। यह बात उनकी कर्तव्य-परायण पति की भूमिका को रेखांकित करती है।

४ दिसंबर १९१० को मोतीलाल इस दुनिया में आए और अपनी कला से लोगों को रिझाकर १७ जून १९६५ के दिन बिदा हो गए। रईस और शाह खर्च मोतीलाल अपने उपनाम 'राजवंश' को भी सार्थक कर अभिनय इतिहास के मानक बिंदु हैं। ■

**■ प्रमुख फिल्में :** □ दीवाली □ परदेसी □ शादी □ उमंग □ तकदीर □ आगे कदम □ पिया मिलन □ एक थी लड़की □ हँसते आँसू □ हमारी बेटी □ मि. सम्पत्त □ मस्ताना □ देवदास □ छोटी छोटी बातें।

**फिल्म के परदे पर शिवाजी गणेशन की संवाद अदायगी सुनकर राजनेता उन्हें अपने भाषणों में दोहराया करते थे। तीन सौ से अधिक फिल्मों में नायक बने शिवाजी गणेशन ने जब अभिनेता से राजनेता बनना चाहा, तो राजनीति ने उन्हें किनारे कर दिया। शिवाजी की दो सौवीं फिल्म टिकट- खिड़की पर इतनी सफल रही कि एम.जी.आर सरकार ने मनोरंजन कर की दरें बढ़ा दी थीं।**

## लिविंग लीजैण्ड

# शिवाजी गणेशन

एक अक्टूबर उन्नीस सौ सत्ताईस को जन्मे **शिवाजी गणेशन** का असली नाम विल्लूपुरम चिन्निहा गणेशन है। उनका फिल्मी कैरियर विविधताओं का विचित्र खजाना रहा है। मर्दाने नायक, क्रूर खलनायक, हँसोड़ विदूषक, रोमाण्टिक नर्तक तथा प्रभावशाली संवाद अदायगी करने वाले अभिनेता के रूप में वे लाजवाब माने जाते रहे हैं। रंगमंच से फिल्मों में उनका प्रवेश सन् १९५२ में हुआ। नेशनल पिक्चर्स के श्री पेरूमल ने उन्हें 'पराशक्ति' में मुख्य भूमिका के लिए चुना। यह फिल्म फ्लॉप हो गई। उनके नाम के साथ शिवाजी जुड़ने का प्रसंग भी इन्हीं दिनों का है। वे 'शिवाजी काण्डा साम्राज्यम' नामक नाटक में शिवाजी की भूमिका कर रहे थे। दर्शकों में द्रविड़ कड़गम पार्टी के संस्थापक नेता ई.वी. रामास्वामी नायकर भी थे। उन्हें गणेशन का अभिनय इतना अच्छा लगा कि इस अभिनेता का नाम ही उन्होंने शिवाजी के साथ जोड़ दिया।

यह महान अभिनेता छः वर्ष की आयु में ही नाटक कम्पनी में काम करने के लिए घर छोड़कर भाग निकला था। एम.आर. राधा नामक फिल्म अभिनेता द्वारा शुरू की गई नाट्य संस्था सरस्वती गणसभा में अभिनेता के रूप में उन्होंने अपना कैरियर शुरू किया। इसी दौरान वे विख्यात नेता सी.एन. अन्नादुराई के सम्पर्क में आए तथा उनके द्वारा लिखे गए नाटकों में अभिनय करने लगे। पहली फिल्म 'पराशक्ति' अनीश्वरवाद को प्रोत्साहित करने वाली थी। इस फिल्म की पटकथा एवं संवाद एम. करुणानिधि ने लिखे

थे। स्वयं गणेशन भी नास्तिक विचारधारा के थे। इस कारण उन्हें शुरू में काफी जनविरोध का सामना करना पड़ा। इन विरोधों के बावजूद गणेशन की कीर्ति यात्रा जारी रही। संवाद अदायगी की उनकी शैली तो तमिल सिनेमा की बहुमूल्य धरोहर बन गई। उनके



## नेता के बजाए महान अभिनेता

*शिवाजी गणेशन की ट्रेजडी यह रही है कि उन्हें राजनीति के अखाड़े में उनके ही तथाकथित शुभचिंतकों ने जमने नहीं दिया। एम.जी.आर. को शिवाजी की शक्ति का अहसास था, इसलिए उन्होंने पास बैठाकर ऊपर उठने के तमाम रास्तों को 'सील' कर दिया। अपने को बंद कमरे में पाकर शिवाजी आश्रय के लिए कांग्रेस पार्टी में शामिल हुए थे। कुमार स्वामी कामराज की सादगी से प्रभावित होकर उन्होंने कांग्रेस में प्रवेश किया। कामराज के लिए अपने तमाम कार्यकर्ताओं को मैदान में उतारकर शिवाजी ने उस शिखर पुरुष के प्रति अपना ऋण अदा किया। उनकी मृत्यु के बाद अम्मा (श्रीमती गांधी) के संपर्क में शिवाजी आए। श्रीमती इंदिरा गांधी ने उनकी शक्ति पहचानकर उन्हें राज्यसभा की सदस्यता प्रदान की। उन्होंने तमिलनाडु में कांग्रेस के पैर मजबूत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। लेकिन इंदिराजी की मृत्यु के बाद शिवाजी और उनके कार्यकर्ताओं की उपेक्षा का दौर आरंभ हो गया। अपनी 'इमेज' को खंडित करने के बजाए उन्होंने कांग्रेस पार्टी छोड़ दी। दरअसल शिवाजी की कुंडली में महानायक के नक्षत्र अधिक प्रबल थे, इसलिए वे नेता के स्थान पर महान अभिनेता साबित हुए हैं।*

संवादों को राजनेताओं ने अपने भाषणों में इस्तेमाल किया। अन्य कई अभिनेताओं ने इस शैली की नकल कर स्वयं को स्थापित किया। जिस प्रकार अभिनय उनका नैसर्गिक गुण था उसी प्रकार राजनीति उनकी जन्मजात कमजोरी। उनके पिता स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। ब्रिटिश साम्राज्य में कारागार की यातनाएँ और मस्तक में गोलियों के प्रहार झेल चुके थे। बेचारी माता राजमणि ने परिवार का पालन करने में अपनी सारी उम्र खपा दी।

शिवाजी का नास्तिक से आस्तिक बनना, कमला से १९५२ में उनका विवाह तथा नायक के रूप में २७५ से भी अधिक फिल्मों में अभिनय उनके चार दशकों की उपलब्धियों में शामिल है। उनकी फिल्मों में २६३ तमिल, नौ तेलुगु, दो कन्नड़ तथा एक हिन्दी है। नायिकाओं में भानुमति/ सावित्री/ पद्मिनी/ सरोजादेवी/ के.आर. विजया/ जानकी/ अंजलि देवी/जयललिता आदि प्रमुख हैं। दक्षिण भारत के लगभग सभी शीर्षस्थ फिल्म निर्देशकों के साथ काम कर वे सभी की प्रशंसा के पात्र बने। उनके निर्देशकों में कृष्णन पंजू/ बी.आर. पंथलु/ श्रीधर/ भीमसिंह/ माधवन/ त्रिलोकचन्द्र/ पी. नागार्जुन तथा एल.वी. प्रसाद प्रमुख हैं। सन् १९६० से १९७० तक का समय उनके फिल्मी कैरियर का सर्वोत्तम काल रहा है।

अपनी विशिष्ट अभिनय शैली के कारण उन्हें देश-विदेश में निरंतर सम्मानित किया जाता रहा। मिस्र के राष्ट्रपति जनरल नासेर ने १९६० में कैरो अफ्रो-एशियन फिल्म समारोह में उन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनय का पुरस्कार दिया। यह पुरस्कार उन्हें 'वीर पाण्ड्या कट्टाबोमन' नामक फिल्म में श्रेष्ठ अभिनय के लिए मिला था। अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी ने उन्हें विशेष रूप से आमंत्रित कर अमेरिका बुलाया था। १९५४ से १९६४ तक उन्हें १९ क्षेत्रीय अवार्ड मिले। १९६६ में उन्हें 'पद्मश्री' तथा १९८४ में पद्मभूषण से सम्मानित किया गया। पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी के काल में १९८३ में राज्यसभा के लिए नामजद भी किए गए थे।

लोकप्रियता के इस शिखर तक पहुँचने के लिए शिवाजी गणेशन ने जो परिश्रम किया है वह सामान्य अभिनेताओं के लिए असंभव प्रतीत होता है। सेट पर जाने से पूर्व वे अपने सारे संवाद कंठस्थ कर लेते थे। पूरी पटकथा पढ़ चुके होते थे। पटकथा के महत्व को सर्वोपरि घोषित करते हुए उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा था- 'व्यावहारिक रूप से फिल्म की सफलता या असफलता का सारा दारोमदार पटकथा लेखक पर रहता है।' इसी प्रकार सैद्धांतिक प्रशिक्षण को वे गैर जरूरी मानते हैं तथा कहते हैं कि अभिनय अनुभव से आता है।

राजनीति के मैदान में भी वे नायक की तरह सदैव चर्चित रहे। ई.वी. रामास्वामी नायकर से वे बचपन से ही प्रभावित थे। द्रविड़ मुनेत्र कषगम के वे प्रमुख प्रचारक बने। बाद में उन्होंने ऑल इंडिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम की सदस्यता ग्रहण की। विख्यात कांग्रेसी नेता कामराज नाडर के प्रयास तथा प्रभाव उन्हें कांग्रेस पार्टी में ले आए। सन् १९८८ में उन्होंने अपना पृथक क्षेत्रीय दल गठित कर लिया। तमिज्गा मुनेत्र मुन्नानी नामक इस दल को लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने अथक परिश्रम किया। इस १९९० में उनका यह दल जनता दल में विलीन कर दिया गया। लगभग तीन सौ फिल्मों में परदे पर आने वाले इस कलाकार को जनता ने नायक के रूप में ही पसंद किया। राजनेता के रूप में वे जनता द्वारा स्वीकार नहीं किए गए। कलाकार के रूप में सत्ता को प्रभावित करने की उनकी क्षमता विलक्षण रही है। उनकी दो सौवीं फिल्म 'त्रिशूलम' से इतनी अधिक आय होने लगी थी कि एम.जी.आर. सरकार ने मनोरंजन कर का ढाँचा ही बदल दिया। सुपर सक्सेस होने पर मनोरंजन कर की दरें बढ़ा दी गईं। 'नवरात्रि' उनकी सौवीं फिल्म थी। इस फिल्म में उन्होंने नौ विभिन्न भूमिकाएँ की थीं। यही फिल्म नया दिन नई रात नाम से हिन्दी में बनी थी जिसके नायक संजीव कुमार थे।

**(लोच)**

# नारी से दूर रहने वाले जेमिनी गणेशन

☐ जेमिनी गणेशन और शिवाजी गणेशन ये दोनों महानायक दक्षिण भारतीय फिल्माकाश के जगमगाते नक्षत्र हैं।

☐ ☐ **जेमिनी गणेशन परदे पर अपनी नायिका से सदैव दूर रहते हैं, लेकिन निजी जीवन में स्त्रियाँ उनके पीछे दौड़ती हैं।**

☐ ☐ ☐ आधुनिक फिल्मों में प्रेम-प्रसंगों को वे बलात्कार से कम नहीं मानते। नायिका का नृत्य उन्हें मिर्गी का दौरा लगता है।

गणेशन को बचपन से ही अभिनय तथा उछलकूद का शौक था। स्कूल तथा महाविद्यालय में वे जब मंच पर भारतीय एवं विदेशी अभिनेताओं की नकल पेश किया करते थे तब छात्र मंत्रमुग्ध हो जाते थे। पढ़ाई पूरी करने के बाद वे मद्रास आकर नौकरी तलाशने लगे। काफी दौड़-धूप एवं प्रतीक्षा के बाद उन्हें मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में व्याख्याता की नौकरी मिली। व्याख्याता के रूप में भी उन्होंने अभिनय का शौक जारी रखा। शेक्सपीयर के कई नाटकों को महाविद्यालय के मंच पर अभिनीत किया। 'ऑथेलो' तथा शॉयलॉक के रूप में उनके उत्कृष्ट अभिनय की चर्चा सारे नगर में हुई। मद्रास की फिल्मी हस्तियों ने भी उनके सशक्त अभिनय को मुक्तकंठ से सराहा। अचानक एक दिन डाकिया उन्हें चिट्ठी दे गया जिसमें जेमिनी स्टूडियो से टेस्ट के लिए बुलावा था।

बिना अर्जी के इस बुलावे पर कलाकार का विस्मय स्वाभाविक था। वहाँ पहुँचने पर स्क्रीन टेस्ट और ध्वनि परीक्षण में खरा उतरने के बाद भी प्रोडक्शन एक्जीक्यूटिव के रूप में नियुक्ति पाकर वे चकित रह गए। अभिनेता के रूप में कैरियर बनाने की चाह लेकर आए युवक पर यह फैसला वज्राघात सिद्ध हुआ। अपनी मानसिक स्थिति का जिक्र करते हुए वे कहते हैं- मैं अभिनेता बनने के लिए उत्सुक था। अभिनेता के रूप में आप जो चाहे व्यक्तित्व अपना सकते हैं। भिखारी, प्रेमी, अपंग, करोड़पति, खलनायक, यहाँ तक कि देवता भी बन सकते हैं। दरअसल यह काम लगभग सर्वशक्तिमान सृष्टा जैसा है। सृष्टा के काम को पाने की लालसा में वे जेमिनी स्टूडियो में पाँच साल तक प्रतीक्षा करते रहे। उन्हें अभिनय का अवसर नहीं मिला। उन्होंने अनुबंध तोड़ दिया तथा स्वतंत्र रूप से काम की तलाश करने लगे।

अभिनेता के रूप में वे पहली बार **मिस मालिनी** नामक फिल्म में खलनायक के रूप में परदे पर आए। उनकी अभिनय प्रतिभा को दर्शकों एवं समालोचकों ने खुलकर सराहा। इसके बाद खलमुक्त होकर वे अगली फिल्म में नायक बना दिए गए। महाम ओरू मगलायम नामक फिल्म में उन्हें डबल रोल मिला। साथ ही नायिका के रूप में **सावित्री** मिली, जो बाद में उनकी जिन्दगी का अटूट हिस्सा बनी। स्वयं को नायक के रूप में प्रतिष्ठित करने में उन्हें **शिवाजी गणेशन** से तीव्र स्पर्धा का सामना करना पड़ा। दोनों ही उच्च कोटि के अभिनेता थे। निजी जिन्दगी में अच्छे दोस्त भी। दोनों ही रोमांटिक भूमिकाओं एवं भावप्रधान दृश्यों में प्रभावशाली अभिनय के लिए विख्यात हैं। दर्शकों का प्यार भी दोनों को बराबर मिला। फिल्म पेनिन पेरूमाइ में जेमिनी गणेशन, शिवाजी गणेशन तथा सावित्री एक साथ आए हैं। इसके बाद दोनों ने एक साथ काम नहीं करने का फैसला किया। यह फैसला 'वीर पांड्या कट्टाबोमन' फिल्म में टूट गया। अपने



*हिंदी फिल्म सौगंध (१९६१) में अंजलि देवी और जेमिनी गणेशन।*

तथा शिवाजी के रिश्तों का ज़िक्र करते हुए वे कहते हैं- हम दोनों अच्छे दोस्त हैं। लेकिन शिवाजी ज्यादा दुनियादार तथा एग्रेसिव हैं। वे झपटकर ज्यादा और बेहतर हिस्सा खुद के कब्जे में कर लेते हैं। सीधा और सौम्य स्वभाव जेमिनी गणेशन की विशिष्टता है। इसी सरल स्वभाव के कारण वे राजनीति से सदा दूर रहे।

कुल मिलाकर दो सौ से भी अधिक फिल्मों में अभिनय करने वाले जेमिनी गणेशन का दुर्भाग्य है कि उन्हें रोमांटिक प्रेमी की छवि में ही कैद कर दिया गया। उनकी अभिनय प्रतिभा के विविध आयामों को उभरने का पर्याप्त अवसर नहीं मिला। अपनी रुचि का जिक्र करते हुए एक बार उन्होंने कहा था- 'मैं खलनायक की भूमिका के लिए उत्सुक नहीं हूँ। शांत, सहानुभूतिपूर्ण, पीड़ाग्रस्त, पात्रों के रूप में परदे पर आना चाहता हूँ।' परदे पर आदर्श रोमांटिक परंपरावादी प्रेमी की भूमिका करते हुए वे नायिका का स्पर्श भी करते हुए परदे पर यदा-कदा दिखाई पड़ते हैं। इसके ठीक विपरीत यथार्थ जीवन में सुंदर महिलाओं के साथ उनके घनिष्ठ प्रणय संबंधों के किस्से काफी मशहूर रहे हैं। युवतियों के प्रति अत्यधिक झुकाव की चर्चा होने पर एक साक्षात्कार में अपनी सफाई देते हुए वे बोल पड़े थे- 'मैं स्त्रियों के पीछे न तो कभी भागा, न उनसे बलात्कार करने का मेरा इरादा रहा। इसके ठीक विपरीत स्त्रियों ने मेरे साथ ऐसा किया। मैं इसीलिए युवकों से कहता हूँ कि सदा नारी से दूर रहो।'

नारी से दूर रहने की आम सलाह देने वाले इस नायक के साथ कई रोमांटिक प्रेम-प्रसंग निजी जीवन में जुड़े रहे। शायद इसीलिए वे अपनी बेटी के बारे में किसी भी किस्म की टिप्पणी करने में सकुचाते हैं। **रेखा** के रूप में हिंदी फिल्मों की बहुचर्चित अभिनेत्री को जेमिनी गणेशन की फिल्मोद्योग को कीमती देन कहा जा सकता है। वे कहते हैं- 'मेरे बच्चे पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर हैं। मैंने इन पर कोई कानून कायदा कभी नहीं थोपा। उनमें गजब का आत्म विश्वास है।' उनकी दूसरी बेटी ने भी एक फिल्म नीनाईवल्लम में काम किया था मगर फिल्मी दुनिया रास न आने से जिगी ने डॉक्टरी की। पढ़ाई कर एम.बी.बी.एस. की डिग्री ले ली।

वर्तमान फिल्मी दुनिया की रीति-नीति से असंतुष्ट जेमिनी गणेशन का कहना है कि परदे पर आजकल नायक-नायिका के जो प्रेम दृश्य दिखाए जाते हैं वे बलात्कार का आभास देते हैं। नृत्य देखकर लगता है कि नर्तकी को मिर्गी का दौरा पड़ गया है। नए आधुनिक तकनीकी साधनों की मदद से आज भी प्रेम त्रिकोण की कहानियाँ बेहतर ढंग से फिल्माई जा सकती हैं। मगर इस दिशा में कोई ठोस और सक्रिय पहल करने को तैयार नहीं है।

जेमिनी गणेशन ने नायक का चोला उतारकर जब चरित्र अभिनेता के रूप में परदे पर आना शुरू किया तब उनकी अभिनय प्रतिभा का बिल्कुल नया पहलू सामने आ गया। के. बालचंद्रन् की तेलुगु फिल्म रुद्रवीणा में वे चिरंजीवी के पिता के रूप में आए हैं। परंपरावादी, कट्टर, रूढ़िग्रस्त, कर्नाटकी संगीतकार के रूप में उनकी जीवंत भूमिका सर्वत्र सराही गई। इसी प्रकार पौनमन्ना चेलवन में विजयकांत के पिता के रूप में वे बहुत प्रभावशाली रहे हैं।

(लोच)



# टालीगंज का महानायक उत्तम कुमार

● असीम चक्रवर्ती

सन १९४९ में नवेंदु सुंदर बनर्जी के निर्देशन में जब उत्तमकुमार की पहली फिल्म रिलीज हुई तब उत्तमकुमार का नाम उत्तमकुमार नहीं बल्कि अरुणकुमार था। यह फिल्म बॉक्स आफिस पर लुढ़क गई थी। ऐसे में फिल्म इंडस्ट्री के कुछ लोगों ने अरुण नाम को 'अनलकी' बताया। उन्होंने अपनी दूसरी फिल्म 'मर्यादा' में अपना नाम बदलकर अरूप कुमार कर लिया। फिर भी दुर्भाग्य ने उनका साथ नहीं छोड़ा। यह फिल्म भी फ्लॉप हो गई। एक ऐसी स्थिति आ गई जब निर्माता-निर्देशकों का दरवाजा बार-बार खटखटाने के बावजूद भी नायक की भूमिका तो दूर, किसी भी भूमिका में उन्हें चांस नहीं मिल रहा था। उनमें परिश्रम करने की क्षमता, धैर्य और अटूट आत्मविश्वास था कि वे घबराए बिना प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी कोशिश जारी रख सके। यही वजह थी कि तीसरी फिल्म फ्लॉप होने के बाद १९५१ में उन्होंने एम.पी. प्रोडक्शंस में वेतनभोगी अभिनेता की नौकरी कर ली।

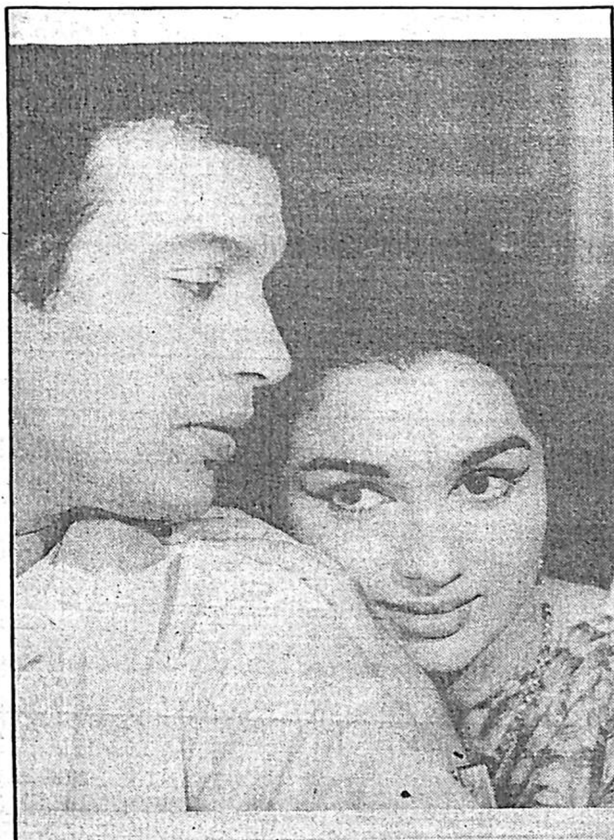
उन दिनों स्टूडियो में ही फिल्म निर्माण किया जाता था। अभिनेता, अभिनेत्री तथा दूसरे कलाकार मासिक वेतन के हिसाब से काम करते थे। एक स्टूडियो का कर्मचारी दूसरे स्टूडियो में काम नहीं कर सकता था। बहरहाल एम.पी. स्टूडियो में काम की शुरूआत करते समय उन्होंने फिर नाम बदलकर एक नया नाम **उत्तमकुमार** रख लिया। यानी एक नई नौकरी में एक नया नाम रखकर उन्होंने अपनी विफलता से भरे अतीत को भुलाने की कोशिश की। इसमें वे पूरी तरह से सफल भी हुए। इस कंपनी से प्रदर्शित उनकी पहली फिल्म **बसु परिवार** को व्यावसायिक सफलता ही नहीं मिली, बल्कि उन्हें अच्छे अभिनेता के रूप में स्वीकृति भी मिली। उनका उद्देश्य रोमांटिक नायक बनने का था, जो उन्होंने बहुत जल्दी **अग्नि परीक्षा** में काम करके हासिल कर लिया। इसके बाद उन्हें पीछे मुड़कर देखने की जरूरत नहीं पड़ी। वैसे 'अग्नि परीक्षा' से पहले प्रदर्शित उनकी दो फिल्में 'चंपा डांगर बौ' और 'बौ ठाकुरानी[illegible] हाट' को भी उल्लेखनीय दर्जा प्राप्त है। इन दोनों फिल्मों में प्रधान चरित्र निभाने के बावजूद भी उन्हें नायक के रूप में स्वीकृति 'अग्नि परीक्षा' के बाद ही मिली। इस संबंध में उनका कहना था कि 'अग्नि परीक्षा' में विफल होने पर शायद मेरा फिल्म कैरियर कुछ और ही रूप में सामने आता। संभवतः मुझे जिंदगीभर चरित्र अभिनेता ही बनकर रहना पड़ता। बहरहाल यहीं से अरुणकुमार से उत्तमकुमार बनने का इतिहास खत्म हो जाता

है और यहाँ से शुरू होती है उत्तमकुमार की जय यात्रा।

'अग्नि परीक्षा' के बाद ५० के दशक में ही उत्तमकुमार ने अनेक उल्लेखनीय फिल्मों में नायक के रूप में भूमिका निभाई। इनमें से कई फिल्में ऐसी थीं, जिन्होंने उनकी प्रतिष्ठा की जमीन को और मजबूत किया तथा बतौर उनका कद निरंतर ऊँचा उठता चला गया। वे उल्लेखनीय फिल्में हैं:- गृहप्रवेश/ भरणेर परे/ साजेर प्रदीप/ देवत्र/ शापमोचन/ विधिलिपि/ व्रतचारिणी/ सबार उपरे/ सागरिका/ साहेव बीबी गोलाम/ शंकरनारायण बैंक/ श्यामली/ त्रिजामा/ शिल्पी/ नवजन्म/ पुत्रवधू/ बड़ी दीदी/ जात्रा होलो शुरू / पृथ्वी आमारे चाय/ तासेर घर/ हारानो सूर/ चंद्रनाथ/ जीवनतृष्णा/ राईकमल/ राजलक्ष्मी ओ श्रीकांत/ शिल्पी/ बंधु/ मानभयी गर्ल्स स्कूल/ सूर्य तोरन/मरूतीर्थ हिंगलाज/ चावा-पावा/ गलि थेके/ राजपथ/ खेलाघर / सोनार हरिन/ विचारक/ अबाक पृथ्वी आदि।

इस प्रसंग में यह एक दिलचस्प तथ्य है कि फिल्मों में आने से पहले उत्तमकुमार न तो अभिनय की चर्चा किया करते थे और न ही अधिक फिल्में देखा करते थे। थोड़ा- बहुत हारमोनियम बजाकर गाना गाने का शौक उन्हें जरूर था। कभी मोहल्ले के थिएटर में जरूर काम किया करते थे। इससे ज्यादा कुछ नहीं। उनकी किताबी पढ़ाई भी ज्यादा नहीं हुई थी। ऐसे में उन्होंने अपने आपको फिल्मों के लिए कैसे इतनी अच्छी तरह तैयार कर लिया था यह बात आज भी बहुत चौंकाती है। इसकी तह में जाएँ तो दो बातें सामने आती हैं। एक, फिल्मोद्योग के ग्लैमर ने उन्हें कभी आकर्षित नहीं किया। दूसरा, एक सनक के चलते वे कैमरे के सामने आ गए थे, जिसने बाद में धीरे-धीरे जिद का रूप अख्तियार कर लिया और यही जिद कालांतर में उनके लिए एक चुनौती बन गई। इसलिए कैरियर में आई हर विफलता का सामना उन्होंने बड़ी सहजता के साथ किया। इससे घबराकर पीछे हटने की बात उन्होंने कभी नहीं सीखी। 'जीरो' से उन्होंने अपना फिल्म कैरियर शुरू किया था। कैमरे की तरफ कैसे देखना है, कैसे बोलना है और कैसे हँसना है, यह सब-कुछ फिल्म में आकर ही उन्होंने सीखा था। इससे पहले कुछ भी नहीं। शुरू-शुरू में उनकी संवाद अदायगी में एक जड़ता थी। सुपारी मुँह में डालकर घंटों आईने के सामने इससे मुक्ति पाने का अभ्यास किया करते थे। यह तो उनके परिश्रम का एक नमूना मात्र है। सच तो यह है कि अपने कैरियर के शुरूआती दौर में उन्हें जिस तरह से हतोत्साहित होना पड़ा है, उसका तो कोई हिसाब ही नहीं है। मेक-अप करके शॉट देने के लिए तैयार बैठे, अचानक उनसे कहा गया कि उनकी जगह अब इस फिल्म में कोई दूसरा काम करेगा। यह सारा अपमान बाजी जीतने की गरज से चुपचाप सहते रहे। अंततः उन्होंने यह बाजी जीती ही नहीं, अंतिम साँस तक उसे अपने कब्जे में भी रखा।

अब सोचने वाली बात तो यह है कि किन परिस्थितियों में उनका आगमन हुआ था यानी एक के बाद एक कठिनाइयों को पार कर उन्होंने जो सफलता अर्जित की उसके पीछे सिर्फ उनके एक अकेले की मेहनत थी। उन दिनों बंगला फिल्मों में कई जनप्रिय नायक थे- असित वरन/ रबीन मजुमदार/ विकास राय/ अभि भट्टाचार्य आदि। इनमें से अभि भट्टाचार्य कलकत्ता-बंबई का चक्कर मार रहे थे और अंत में बंबई चले गए। उस समय बंगला फिल्मों की हालत बहुत खराब थी। हिंदी फिल्म के ग्लैमर ने बंगवासियों के मन को जीत लिया था। अभिनय के मामले में भी बंगला फिल्में बहुत पीछे थीं, क्योंकि हिंदी फिल्मों में अशोक कुमार, दिलीप कुमार, राजकपूर, देव आनंद, नर्गिस, सुरैया, मीनाकुमारी, मधुबाला आदि का जोरदार अभिनय था। ऐसे समय में बंगला दर्शकों के बीच आई 'अग्नि परीक्षा' जो सुपरहिट थी। उत्तमकुमार की अभिनय प्रतिभा का पता उनकी शुरूआती फिल्म 'बसु परिवार' या 'चंपा डांगार फूल' से ही चलता है। परदे पर उनका बोलना, चलना, हँसना, रोना एकदम वास्तविक लगता है। उसमें कोई नाटकीयता नहीं है। उनकी यही वास्तविकता उन्हें दूसरों से अलग प्रतिष्ठित करती है। उत्तम का अभिनेता के रूप में आत्म-प्रकाश तब हुआ, जब वे सुचित्रा के साथ अपनी जोड़ी के अलावा अकेले ही दर्शकों के आकर्षण का केंद्र बन चुके थे। सन् ५० की



*उत्तम कुमार तारिका आशा पारिख के साथ*

अपनी हिट फिल्मों के सहारे ही सन् ६० के दशक में वे फिल्मोद्योग पर हावी रहे। इस दौरान उनकी श्यामली, राईकमल, मरूतीर्थ, हिंगलाज, विचारक, अवाक पृथ्वी आदि फिल्में

**बंबइया सिनेमा में जितने प्रभावशाली और लोकप्रिय दिलीप कुमार हैं, वही स्थिति कलकत्तिया सिनेमा में उत्तम कुमार की रही है। अग्नि परीक्षा फिल्म से वे चौबीस कैरेट सोने की तरह शुद्ध और टंच होकर उभरे। उत्तम कुमार की खाली जगह को आज तक दूसरा अभिनेता नहीं भर सका है।**

दूसरी नायिकाओं को लेकर या बिना नायिका के ही हिट हुई थीं। छठे दशक में उत्तम-सुचित्रा की जोड़ी टूटी तो नहीं, लेकिन बहुत ही कम फिल्मों में दोनों ने एक साथ काम किया। दोनों की जोड़ी की दो फिल्में 'सप्तपदी' और 'विपासा' सुपर हिट थीं। साथ ज्यादा फिल्मों में काम न करने की वजह यह थी कि उस समय सुचित्रा ने अपनी फिल्मों की संख्या में काफी कटौती कर दी थी।

इस प्रसंग में देखने वाली बात यह है कि उत्तम पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे केवल रोमांटिक नायक ही नहीं, एक असाधारण अभिनेता भी साबित हुए। एक ओर 'हारानो सूर', 'सप्तपदी' आदि में वे रोमांटिक नायक के रूप में दिखाई पड़े, तो दूसरी ओर विचारक, नेकलेस, जतुगृह, झिंदेर वंदी, देवा-नेवा, भ्रांति विलास, एंटनी फिरिंगी, चिड़ियाखाना, अपरिचित, नायक आदि फिल्मों में उनके अभिनय का असाधारण रूप दर्शकों के सामने आया।

इन फिल्मों के हिट होने में उत्तमकुमार के अभिनय ने तो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, साथ ही उनके साथ काम कर रही टीम ने भी उन्हें

भरपूर आधार दिया। सुचित्रा सेन, सावित्री चटर्जी, सुप्रिया देवी, कानेरी वसु जैसी नायिकाओं, सत्यजित राय, तपन सिन्हा से लेकर अग्रदूत, अजयकर, असित सेन, नीरेन लाहिड़ी, सलिल दत्त, सुनील बंदोपाध्याय, पीयूष बसु, सुधीर मुखर्जी जैसे प्रसिद्ध फिल्म निर्देशकों का भी उन्हें अच्छा साथ मिला। इसके अलावा अनुपम घटक, नचिकेता घोष, रवीन चटर्जी, अनिल बागची, हेमंत मुखर्जी जैसे संगीतकारों और इनमें सर्वोपरि उनके गाए गीतों के हेमंत मुखर्जी के साथ ने उन्हें नायक से महानायक बना दिया।

सन् ६०-७० के बीच यह भी देखा गया कि उत्तम केवल नायक ही नहीं बल्कि बंगला फिल्मों के रक्षक भी हैं। कई डूबती हुई फिल्मों को उत्तम ने सिर्फ अपने करिश्मे से बचा लिया। अपने अभिनय से उन्होंने दर्शकों को इस कदर प्रभावित किया कि बंगाल के हर घर में उनके प्रशंसक की धूम थी और बंगला फिल्में एक तरह से उन पर निर्भर हो चुकी थीं। सत्यजित राय के 'नायक' और 'चिड़ियाखाना' तथा सुनील बंदोपाध्याय के 'एंटनी फिरिंगी' में उत्तम कुमार ने अपने अभिनय की विशालता सिद्ध कर दी। दूसरी ओर सत्यजित राय की फिल्म से 'लाइम लाइट' में आने वाले सौमित्र चटर्जी को ही एकमात्र उत्तमकुमार का प्रतिद्वंद्वी माना जाता है, जो किसी दूसरे नायक के बारे में कभी सोचा भी नहीं गया। अनिल चटर्जी, बसंत चौधरी जैसे तत्कालीन नायक भी उत्तम कुमार की बराबरी नहीं कर पाए। उत्तम और सौमित्र के प्रतिद्वंद्वतामूलक अभिनय ने ही



*उत्तम कुमार- सुचित्रा सेन फिल्म अग्नि परीक्षा।*

सलिल दत्त की 'अपरिचित' फिल्म को सुपरहिट बना दिया था। वजह थी कि बाद में जिस फिल्म में भी उत्तमकुमार और सौमित्र एकसाथ आए वही फिल्म हिट या सुपरहिट होती रही। जैसे 'स्त्री', 'देवदास' आदि।

इन दोनों के साथ की फिल्में भले ही हिट होती रही हों, लेकिन सौमित्र कभी उत्तम से आगे नहीं बढ़ पाए। उनकी अभिनय प्रतिभा चतुर्मुखी थीं। जमींदार, भिखारी, चोर, बदमाश किसी भी भूमिका में वे पीछे नहीं थे। उनकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती। वे सर्वोत्तम ही नहीं महानायक थे। अब दीगर बात यह है कि एक बार उन्हें भी लगा था कि उनके स्टारडम की गाड़ी अब पटरी से उतर रही है। यह सोच तब उभरा जब उनकी अभिनीत एकसाथ आठ फिल्में बॉक्स आफिस पर लुढ़क गईं। यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि इसके बावजूद उनकी जययात्रा थमी नहीं। क्योंकि उनकी जययात्रा को रोकने वाला कोई प्रतिद्वंद्वी ही नहीं था। सत्तर के दशक के बीचोंबीच निर्देशक शक्ति सामंत की 'अमानुष', अरविंद मुखर्जी की 'अग्निश्वर', दिलीप मुखर्जी की 'नगर दर्पण' इसी बात को पुख्ता करती हैं। पार्थप्रतीम चौधरी की 'जदुवंश' उनको दी गई महानायक की संज्ञा को और भी सार्थक रूप से सिद्ध कर देती है। ■

# क्या उत्तम कुमार आखरी महानायक थे?

*बंगला फिल्मों में उत्तम कुमार के उदय से पहले **प्रमथेश बरूआ** को श्रेष्ठ अभिनेता माना जाता था। उनकी मृत्यु २९ नवंबर १९५१ में हुई। जबकि उत्तम कुमार की पहली हिट फिल्म 'बसु परिवार' ११ अप्रैल १९५२ में रिलीज हुई। प्रमथेश बरूआ की अंतिम फिल्म 'माया कानन' १६ जनवरी १९५३ में रिलीज हुई थी। इसलिए उनके युग के खत्म होने से पहले ही उत्तम कुमार के आगमन ने दर्शकों को प्रमथेश बरूआ के अभाव को महसूस नहीं होने दिया था। कई बाधाओं, अपमान और हताशा का सामना करते हुए उन्होंने अपने दृढ़ संकल्प के बल पर महानायक बनने का सफर तय किया। आश्चर्य की बात है कि एक बार महानायक का खिताब पाने के बाद उन्हें किसी प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्वी का सामना नहीं करना पड़ा। उनके अभिनय में यकायक कंधे को घुमाकर देखना, यू स्टाइल से कटे बाल, भौंहों का कुंचन, संवाद अदायगी और इन सबसे बड़े उनके धोती कुर्ते ने, कुल मिलाकर बंगाली पुरुष की एक नई इमेज दी। इससे बंगला संस्कृति में एक नई लहर आई थी। बंगभाषी दर्शक उनके रोमांटिक इमेज से इतने ज्यादा प्रभावित हुए कि उन्हें 'गुरु' कह कर पुकारने में संकोच नहीं किया।*

*उत्तम कुमार को गुजरे हुए तेरह साल हो चुके हैं। उस समय बंगला फिल्म के जो नायक थे वे आज भी हैं। **सौमित्र चटर्जी** का स्थान थोड़ा बदला है। आजकल वे चरित्र अभिनेता के रूप में आ रहे हैं। **दीपांकर डे** नायक के रूप में कभी भी अधिक सफल नहीं हुए। **रंजित मल्लिक** नायक के रूप में बदस्तूर जमे हुए हैं। उन्हें ज्यादा लोकप्रियता नहीं मिली है।*

*जनप्रिय तो **विक्टर बनर्जी** को कहा जा सकता है। उनकी अभिनीत फिल्में है-आगुन/ एकान्त आपन/ दुइ पृथ्वी/ प्रतिदान/ प्रतिकार आदि। 'दुइ पृथ्वी' में उत्तम कुमार नायक थे और खलनायक विक्टर बनर्जी थे। फिर भी विक्टर का अभिनय ही उल्लेखनीय था। बाकी फिल्मों मे जनप्रियता का कारण सिर्फ उनकी इमेज है। उन्हें हालीवुड की फिल्म में सर्वप्रथम अभिनेता के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई। एक समय ऐसा था जब उत्तम और सौमित्र का नाम साथ-साथ सुनाई पड़ता था। उसी प्रकार इस समय **तापस पाल** और **प्रसनजित** का नाम साथ-साथ है। 'क्वालिटी' नहीं 'क्वानटिटि' में ही वे विश्वास रखते हैं। इतनी फिल्मों में काम करने के बावजूद भी वे स्टार नहीं बन पाए। तापस पाल की लोकप्रियता उल्लेखनीय है लेकिन उत्तम कुमार और प्रमथेश बरूआ की तुलना में कुछ भी नहीं।*

*सच तो यह है कि वर्तमान में बंगला फिल्मों में 'स्टार' कोई नहीं है, जिसे हम इस 'युग' के नाम से चिन्हित कर सकें। ऐसा कोई भी नहीं है जिसके कंधे पर भरोसा रखकर बंगला फिल्म व्यावसायिक सफलता पा सके। जब तक ऐसा कोई मिल नहीं जाता तब तक उत्तम कुमार को ही अंतिम प्रतिभा कहा जा सकता है। (अच)*

दक्षिण भारत के चार राज्य- तमिलनाडु/केरल/ कर्नाटक और आंध्रप्रदेश- ऐसे हैं जहाँ अभिनेताओं ने राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली है। फिल्म नीति से वहाँ की राजनीति सदैव प्रेरित तथा संचालित होती रही है। पूरी दुनिया में कहीं भी ऐसे उदाहरण नहीं मिलेंगे, जहाँ अभिनेता के पैर धोकर दर्शक 'चरणामृत' लेते हों। एम.जी.आर. हो या एन.टी.आर. कोई भी किसी 'अवतार' से कम नहीं हैं।

## नंदमुरी तारक रामाराव

# राम भी और रावण भी

दक्षिण भारत के लोकप्रिय नायक-नायिकाओं को राजनीति में घुसपैठ कर सत्ता के गलियारों में अपनी जगह बनाने का चस्का रहा है। **एम.जी.आर/** शिवाजी गणेशन/जयललिता/ तथा एन.टी.आर.। सभी ने अभिनय से मिली लोकप्रियता को मतदान पेटियों में जमा करने की कोशिश की। इन सारे दक्षिण भारतीय सितारों में यदि किसी को सर्वाधिक महत्वाकांक्षी कहा जा सकता है, तो वह है एन.टी.आर.। प्रादेशिक राजनीति से निकल कर राष्ट्रीय क्षितिज पर रोशन होने की उनकी जी तोड़ कोशिशें पिछले एक दशक से जारी हैं।

आंध्रप्रदेश के कृष्णा जिले के निम्मनकाऊ ग्राम में किसान के घर जन्मे **नंदमुरी तारक रामाराव** की पढ़ाई लिखाई गुंटूर में हुई थी। उन दिनों भारतीय स्वाधीनता आंदोलन पूरे जोरों पर जारी था। युवक रामाराव इन सबसे निलिप्र रहकर अभिनय को कैरियर के रूप में अपनाने के लिए निष्ठा के साथ जुटे हुए थे। महाविद्यालयीन नाटकों में उत्कृष्ट अभिनय कर मैडल और प्रमाण पत्र बटोरते रहे। बी.ए. करने के वाद वे हैदराबाद में आए तथा न्याय विभाग में नौकरी पा गए। नौकरी करना उन्हें रास नहीं आया। अभिनय के प्रति झुकाव उन्हें फिल्मों में ले गया। रोमांटिक तथा फेंटेसी फिल्मों से शुरू हुई उनकी अभिनय यात्रा को यश के पहियों पर सवार करवाने का श्रेय आंध्र के विख्यात फिल्मकार **बी. नागी रेड्डी** को है। अग्गी रमदू, मलई कल्लन तथा मालीस्वरी में उनके अभिनय ने साबित कर दिया कि वे सिर्फ रोमांटिक नायक ही नहीं, बल्कि उत्कृष्ट अभिनेता हैं। फिल्म 'मालीस्वरी' को तो अंतरराष्ट्रीय सराहना एवं प्रशंसा प्राप्त हुई है। यह फिल्म भारत का प्रतिनिधित्व करती हुई लंदन में दिखाई गई थी। रामाराव केवल अभिनेता ही नहीं निर्माता, निर्देशक, लेखक तथा पटकथा लेखक भी हैं। व्यावसायिक फिल्मों के साथ-साथ कलात्मक फिल्मों के निर्माण में भी उन्होंने अहम भूमिका की है। निर्देशक के रूप में उनकी पहली फिल्म 'थोडू दोंग्लू' अन्य फार्मूला फिल्मों से बिल्कुल अलग थी। इस फिल्म को आज भी तेलगु की 'पाथेर पांचाली' कहा जाता है। सच तो यह है कि रामाराव ने अपनी इस फिल्म का निर्माण सत्यजित राय की 'पाथेर पांचाली' से कई वर्षों पहले किया था।

एन.टी.आर. शायद तेलुगु के सत्यजित राय हो जाते मगर पहली फिल्म की आर्थिक असफलता ने उनके भीतर के प्रयोगवादी सहज कलाकार को तोड़ दिया तथा वे मसाला फिल्मों के निर्माण में जुट गए।

हिन्दी फिल्मी दर्शकों को शायद ही पता हो कि विभिन्न शीर्षस्थ हिन्दी नायकों की हिट फिल्में उन्हीं दक्षिण भारतीय फिल्मों का हिन्दी संस्करण थी जिनके नायक रामाराव थे। आदमी (दिलीप कुमार), इंसानियत (देवानंद), राखी (अशोक कुमार), खानदान (सुनील दत्त) आदि। विविधता की इसी क्षमता ने उन्हें चार दशकों तक सफल नायक के रूप में कायम रखा। सन् १९४० से अब

*विश्वामित्र के रूप में एन.टी.आर.*





*एन.टी. रामाराव रति अग्निहोत्री के साथ*

तक वे दक्षिण भारत के सर्वाधिक बिक सकने वाले चार नायकों में रहे हैं।

कृष्ण, राम, रावण, वाल्मीकि, दुर्योधन, हरिश्चंद्र, शिव, विष्णु, वेंकटेश्वर, दुष्यंत, भीष्म, इंद्रजीत, भीमसेन आदि पौराणिक चरित्रों को परदे पर साकार करने के साथ-साथ वे कई ऐतिहासिक चरित्रों को भी अभिनीत कर चुके हैं।

रामाराव की कहानी पर निर्मित फिल्म यातम्मा कला (यातम्मा का सपना) आपातकाल में प्रतिबंधित कर दी गई थी। कारण यह था कि फिल्म में कुछ संवाद सरकार के परिवार नियोजन कार्यक्रम के विरोधी थे। मनोरंजन के क्षेत्र में सरकार का यह हस्तक्षेप रामाराव को अखरा तथा उन्होंने स्वयं राजनीति में प्रवेश करने का निर्णय किया। तेलुगुदेशम पार्टी बनी। रामाराव लोकप्रियता की सीढ़ियाँ फलाँगते हुए मुख्यमंत्री की कुर्सी तक पहुँच गए। अक्सर नायकों के राजनीति में आने की चर्चा के समय रामाराव की तुलना एम.जी.आर. से की जाती है। दरअसल दोनों में कोई तुलना हो ही नहीं सकती। एम.जी.आर. का पूरा फिल्मी कैरियर राजनीति से जुड़ा रहा। वे पार्टी के प्रवक्ता के रूप में अभिनय करते, संवाद बोलते मुख्यमंत्री बने। इसके ठीक विपरीत एन.टी.आर. ने फिल्मों के माध्यम से राजनीति का प्रसार कभी नहीं किया।

एन.टी.आर. ने कुल सवा तीन सौ फिल्मों में अभिनय किया है। रामाराव ने राजनीति में जितनी तेजी से प्रवेश किया उतनी ही तेजी से वे राष्ट्रीय स्तर के नेता बन गए। तेलुगुदेशम पार्टी के राष्ट्रीय मोर्चा में शरीक होने पर वे राष्ट्रीय निर्णयों में अहम माने जाने लगे। पूर्व प्रधानमंत्री वि.प्र. सिंह के कार्यकाल में केंद्रीय सत्ता के महत्वपूर्ण सूत्र उन्हीं के हाथों में थे। भारत देशम दल की असफलता, चैतन्य रथ का असरहीन होना इस महान नायक की असफलता नहीं बल्कि 'प्रवर्तक' होने का परिणाम माना जाना चाहिए। राम और रावण की भूमिका को सहज और समान कौशल से परदे पर जीवंत करने वाले रामाराव अभिनय तथा राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में महानायक के रूप में ऐतिहासिक रहेंगे। **(लोच)**

**एक संपूर्ण नायक की हैसियत से धर्मेन्द्र तीन दशक से फिल्मों में डटा हुआ है। सफलता से वह बहका नहीं और असफलता उसे डिगा नहीं पाई। जब उसकी फिल्में दनादन पिटती हैं, तो वह 'फोनिक्स' की तरह सारी धूल झाड़कर फिर से मुक्का ताने खड़ा हो जाता है।**

**भूपेन्द्र चतुर्वेदी**

# ही-मेन धर्मेन्द्र

बात अप्रैल उन्नीस सौ अट्ठावन की है। फिल्म फेयर ने बिमल राय और गुरुदत्त के साथ मिलकर 'टेलेंट कांटेस्ट' का आयोजन किया था। फगवाड़ा से एक मैट्रिक पास नौजवान बंबई आया इस कांटेस्ट में अपनी किस्मत आजमाने के लिए। लुधियाना के ठेठ गाँव के इस जाट नौजवान के पास अभिनय के नाम पर कुछ भी नहीं था सिवाय इसके कि उसने दिलीपकुमार, याकूब, प्रेमनाथ की कुछेक फिल्में देखी थीं। इन फिल्मों ने इस नौजवान को इस कदर परेशान कर दिया कि सोते-जागते, उठते-बैठते रुपहले परदे के सपने ही देखा करता। फिल्म फेयर की स्पर्धा का इश्तहार जब उसे अखबार में दिखा, तो वह अपने को रोक न सका। बंबई से बुलावा आया और उसने फगवाड़ा से बंबई सेंट्रल के लिए ट्रेन पकड़ ली। नौजवान के मुकद्दर ने ज़ोर मारा और वह कांटेस्ट में चुन लिया गया। एक बार को तो उसे लगा कि परदे का खिलाड़ी बनने की उसकी चाह पूरी होने में देर नहीं, निर्माता-निर्देशक उसे अपनी फिल्म में लेने के लिए आगे-पीछे घूमेंगे। उसे क्या मालूम था कि बंबई बड़ी बेरहम है, कोई नहीं आया उसके पास। निराश होकर वह गाँव लौट गया। कुछ दिन बाद सुबोध मुखर्जी को इस नौजवान की याद आई, वे 'लव इन शिमला' बना रहे थे। बुलावा मिलते ही उसने फिर बंबई की राह पकड़ी। सुबोध मुखर्जी ने सब फाइनल कर दिया, लेकिन किस्मत फिर दगा दे गई। फिल्म के निर्देशक आर.के. नैयर ने यह कहकर उसे रद्द कर दिया कि 'मुझे एक्टर चाहिए, फुटबॉल का खिलाड़ी नहीं।' नौजवान निराश जरूर हुआ, लेकिन इस दफे वह कसम खाकर आया था कि वह गाँव बेरंग नहीं लौटेगा। इस स्टूडियो से उस स्टूडियो तक धक्के खाने का सिलसिला शुरू हुआ, फाके पड़ने लगे। उधारी बढ़ने लगी। लेकिन यह नौजवान टूटा नहीं, अड़ा रहा।

आखिरकार साध पूरी हुई। उसकी मुलाकात हुई अपने जैसे ही कुछ फक्कड़ युवकों से, जिन पर फ़िल्म बनाने का भूत सवार था। इन्हीं में एक थे अर्जुन हिंगोरानी। इधर-उधर से जोड़-तोड़कर करके वे फिल्म बना रहे थे, 'दिल भी तेरा, हम भी तेरे' बलराज साहनी हीरो थे। हिंगोरानी ने इस नौजवान को काम दे दिया। फिल्म बनी, रिलीज हुई



और चली भी। इस फिल्म से अपने अभिनय के कैरियर की शुरूआत करने वाला लुधियाने के गाँव का वह गबरू नौजवान **धर्मेन्द्र** था। जो आज लाखों दिलों पर राज कर रहा है। धर्मेन्द्र, यानी अपने चहेतों का धरमिंदरा। जेम्स बांड का देशी रूप। परदे का 'ही मेन।' बत्तीस साल बाद भी धर्मेन्द्र पूरी मजबूती से डटा हुआ है। उसके साथ अभिनय की पारी शुरू करने वाले आउट हो चुके, लेकिन वह है कि आउट होने का नाम ही नहीं ले रहा। उम्र के पचपनवे पड़ाव पर दस्तक दे रहा धर्मेन्द्र हीरोइनों की तीसरी पीढ़ी के साथ हीरो बनकर आ रहा है और हैरत की बात यह कि लोग उसे पसंद कर रहे हैं। मीनाकुमारी और वहीदा रहमान भी उसकी हीरोइनें थीं और किमी काटकर और रति अग्निहोत्री भी उसकी हीरोइनें हैं, लेकिन दर्शक हैं कि तालियाँ पीटे जा रहे हैं। शोले जैसी दमकती सुडौल काया, चौड़ी छाती और कुछ-कुछ ग्रीक देवताओं जैसा भोला मासूम चेहरा! किसी ने कहा, 'धर्मेन्द्र पहलवानी शरीर पर कलाकार



बदले की आग में शत्रुघ्न सिन्हा और धर्मेन्द्र



का सिर रखकर धरती पर आ गया है।' धर्मेन्द्र आज भी एकदम वैसा ही है। बुढ़ापा न उसके चेहरे पर आया है और न जिस्म पर। हरफनमौला धर्मेन्द्र, जो अभी भी धड़ाधड़ फिल्में किए जा रहा है। उसके अभिनय का जादू फीका नहीं पड़ रहा। उस पर तुर्रा यह कि धर्मेन्द्र ने अभिनय का कहीं कोई प्रशिक्षण नहीं लिया। सब कुछ अनुभव से सीखा है, उसने।

बात चल रही थी हिंगोरानी की पहली फिल्म 'दिल भी तेरा, हम भी तेरे' की। यह फिल्म धर्मेन्द्र को परदे पर जरूर ले आई, लेकिन अभिनेता के रूप में उसकी धाक इस फिल्म से नहीं जम सकी। हाँ, हिंगोरानी जैसा एक यार जरूर मिल गया, जिसके लिए धर्मेन्द्र के दिल में आज भी बहुत जगह है। इस फिल्म के बाद उस जमाने के मशहूर निर्देशक बिमल राय, धर्मेन्द्र पर रीझे और 'बंदिनी' में उसे काम मिल गया। अशोककुमार और नूतन की जोड़ी थी इस फिल्म में। उस समय दादा मुनि के साथ काम करना किसी सौभाग्य से कम नहीं था। 'बंदिनी' में धर्मेन्द्र का किरदार एक डॉक्टर का था, जिसे उसने सफलता के साथ अभिनीत किया। लेकिन बंदिनी से पहले आई 'शोला और शबनम।' हिंगोरानी की यह दूसरी फिल्म थी और धर्मेन्द्र की भी। फिल्म जगत के लोग अब धर्मेन्द्र को जानने लगे थे। जे. ओमप्रकाश फिल्म बना रहे थे 'आई मिलन की बेला' राजेन्द्रकुमार हीरो थे और ओमप्रकाश विलेन की तलाश में थे। उनकी निगाह धर्मेन्द्र पर गई और बतौर खलनायक फिल्म में ले लिया। धर्मेन्द्र का यह पहला और आखिरी मौका था, जब खलनायक के रूप में वह परदे पर आया। गजब की बात यह हुई कि दर्शकों की सहानुभूति हीरो को न मिलकर विलेन यानी धर्मेन्द्र को मिली। हिंदी फिल्मों में ऐसी उलट बाँसी इससे पहले कभी नहीं हुई थी। चेतन आनंद ने 'हकीकत' में लिया और फिल्म भी अच्छी चली। लेकिन धर्मेन्द्र को सही ब्रेक मिला ओ.पी. रल्हन की 'फूल और पत्थर' से। रातोंरात धर्मेन्द्र स्टार बन गया। मीनाकुमारी के साथ उसकी जोड़ी दर्शकों को पसंद आई। इस फिल्म ने बॉक्स आफिस पर कामयाबी के नए रिकॉर्ड बनाए।

'फूल और पत्थर' के दौरान ही धर्मेन्द्र की मीनाकुमारी से आँखें लड़ गईं। इन दोनों की नजदीकी बढ़ती गई और फिर सालों तक इन दोनों के प्यार के किस्से सुर्खियाँ बनते रहे। रामानंद सागर की 'आँखें' ने धर्मेद्र को जबर्दस्त लोकप्रियता दिलाई। 'गैरों पर करम, अपनों पे सितम...' गाना गली-गली गूँजा। 'आँखें' में धर्मेन्द्र का किरदार एक जासूस का था। इस भूमिका में धर्मेन्द्र एकदम फिट रहे। वास्तव में यह वह दौर था, जब हिंदी सिनेमा की शक्ल तेजी से बदल रही थी। एक तो सिनेमा रंगीन हो चुका था, दूसरा विदेशी फिल्में काफी तादाद में आने लगी थीं। इन विदेशी स्टंट फिल्मों से हिंदी सिनेमा अप्रभावित कैसे रह सकता था। हिंदी में स्टंट फिल्में पहले भी बन रही थीं, लेकिन दौर रूमानी फिल्मों का ही था। प्रेमनाथ, दारासिंह स्टंट फिल्मों के हीरो हुआ करते थे, लेकिन उन्हें कभी पहले स्तर के नायकों में शुमार नहीं किया गया। सिनेमा के स्वरूप में बदलाव और धर्मेन्द्र की पारी की शुरूआत संयोग से लगभग एक साथ ही हुई। स्टंट फिल्मों के हीरो के लिए धर्मेन्द्र एकदम मुआफिक था। लोहे का-सा मजबूत दिखने वाला शरीर और प्यार करने के लिए एक मासूम चेहरा उसके पास था। एक देशी जेम्स बांड, जिसकी निर्माताओं को उस समय सख्त जरूरत थी। धर्मेन्द्र में वे सारी खूबियाँ थीं, सो उसका चल निकलना स्वाभाविक था। 'आँखें' की सफलता ने रामानंद सागर को अभिभूत कर दिया और बाद में उन्होंने कई फिल्में (ललकार, चरस बगावत) धर्मेन्द्र को लेकर बनाईं। सातवें दशक के आखिरी सालों में धर्मेन्द्र की जोड़ी आशा पारेख के साथ जमी। आत्माराम की

**शोले जैसी दमकती काया, चौड़ी छाती, ग्रीक देवताओं की तरह भोला और मासूम चेहरा। जैसे किसी पहलवान के धड़ पर कलाकार का सिर लगाकर कोई धरती पर आ गया हो- ऐसा है धर्मेन्द्र।**

फिल्म 'शिकार' में धर्मेन्द्र-आशा की जोड़ी को दर्शकों ने खूब पसंद किया और फिल्म ने गोल्डन जुबली मनाई। आए दिन बहार के समाधि और मेरा गाँव मेरा देश जैसी हिट फिल्में इस जोड़ी ने दीं।

व्यावसायिक सिनेमा में अपने शरीर और अपने आक्रामक तेवरों से एक बड़े अभिनेता के रूप में स्थापित हो चुके धर्मेन्द्र ने लीक से हटकर भी भूमिकाएँ कीं। ऋषिकेश मुखर्जी ने धर्मेन्द्र को लेकर अनुपमा, सत्यकाम, गुड्डी जैसी फिल्में बनाईं। इन फिल्मों के जरिए धर्मेन्द्र ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का सिक्का जमाया। 'अनुपमा' के कवि को याद कीजिए और याद कीजिए वह गीत 'या दिल की सुनो दुनिया वालों', कहीं नहीं लगता कि धर्मेन्द्र सिर्फ मारधाड़ वाला अभिनेता है। सत्यकाम का एक ईमानदार इंजीनियर जो इस भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ उठ खड़े होने से अपने को रोक नहीं पाता। गुड्डी का नायक धर्मेन्द्र जो अपनी कमजोरियों को बताकर हकीकत पर पड़ा परदा हटाता है। मीनाकुमारी ने फूल और पत्थर के बाद कहा था कि 'लोग धर्मेन्द्र की सीरियस एक्टिंग की तारीफ कर रहे हैं पर जिस दिन वह कॉमेडी रोल करेगा, सब देखते रह जाएँगे।' चुपके-चुपके, ज्वार-भाटा और नौकर बीवी का, में जब धर्मेन्द्र ने कॉमेडी की तो लोगों को दाद देना ही पड़ी।

'तुम हँसी मैं जवान' से धर्मेन्द्र की जिंदगी का एक नया अध्याय शुरू हुआ। मद्रास की एक शर्मीली और बड़ी-बड़ी आँखों वाली लड़की इस फिल्म में धर्मेन्द्र की हीरोइन थी। पहली फिल्म से ही धर्मेन्द्र के साथ यह लड़की

दर्शकों की आँखों में समा गई। धर्मेन्द्र और हेमा मालिनी की जोड़ी को हिंदी सिनेमा की अब तक की सबसे पसंदीदा और सफल जोड़ी मानने वालों की कमी नहीं है। दर्शक मानों इस जोड़ी पर मर मिटे और दोनों का साथ होना ही किसी फिल्म की कामयाबी की गारंटी मानी जाने लगी। हिंदी चित्रपट की इस सबसे रोमांटिक जोड़ी ने बीस से ज्यादा फिल्में दीं और आखिरकार फिल्मी प्यार के अफसाने जिंदगी की हकीकत बन गए। शराफत/ राजा-जॉनी/ सीता और गीता/ आजाद/ ड्रीम गर्ल/ पत्थर और पायल/ जुगनू/ दोस्त/ प्रतिज्ञा जैसी हिट फिल्में इस जोड़ी के नाम हैं और शोले, धरम-हेमा की जोड़ी की बात चले और इस फिल्म का जिक्र न आए, यह मुमकिन नहीं। बक-बक करके कान काटने वाली शोख बसंती और उस पर जान देने वाले वीरू उस्ताद को भूला नहीं जा सकता। वीरू-बसंती के डॉयलाग आज भी लोगों की जुबान पर हैं। दस-बारह साल तक इस जोड़ी का जादू परदे पर चलता रहा। बाद में जब यह उतरने लगा, तो दिल्लगी, राजपूत, रज़िया सुल्तान जैसी फिल्में पिट गईं। इन फिल्मों की असफलता के बाद यह जोड़ी परदे से जरूर हट गई, लेकिन अभी तक कोई और जोड़ी उसकी जगह नहीं ले पाई है।

धर्मेन्द्र एक पूर्ण नायक है। रूमानियत के साथ जिंदगी के यथार्थ को प्रस्तुत करने में वह कहीं भी अधकचरा सिद्ध नहीं हुआ। लेखक, सैनिक, पुलिस अफसर, किसान, इंजीनियर, कैदी, कैसी भी भूमिका हो धर्मेन्द्र ने उसे बड़ी खूबी के साथ परदे पर जी कर दिखाया। नफरत की धधकती ज्वाला और प्रतिशोध के अँगारे उसकी आँखों में ऐसे तैरते हैं कि लगता है अगले ही पल ये सामने वाले को जलाकर राख कर देंगे। वह जाँबाज है, लड़ाकू है। खलनायक और उनके साथियों को धुनता धर्मेन्द्र अस्वाभाविक नहीं लगता। इसमें उसका कसरती बदन उसका सबसे बड़ा सहायक है। धूम-धड़ाका करने वाला धर्मेन्द्र जब किसी लड़की से प्यार करता है, तब उसका भोला चेहरा काम आता है। रोने और नाचने में उसे जरूर तकलीफ आती है और इस बात को वह खुद भी स्वीकारता है।

लेकिन धर्मेन्द्र के इस फिल्मी सफर के नकारात्मक बिंदु भी हैं। इनमें एक तो यह कि वह ढेर सारी फ्लॉप फिल्मों की गठरी लादे हुए है। लगभग दो सौ फिल्में वह कर चुका है, जिसमें २५-३० फिल्में ऐसी निकलेंगी, जिन्हें हिट कहा जा सकता है। धर्मेन्द्र ने इतनी फिल्में क्यों कीं, बिना कहानी देखे फिल्में क्यों चुनीं, उसके चाहने वाले अक्सर ये सवाल पूछते हैं। बकौल धर्मेन्द्र मेरे पास यदि कोई आता है और प्यार से कहता है, 'भापे तैनु ऐस फिल्म विच काम करना ही ए, तो बेचारा ये जट 'न' नहीं कर पाता।' धर्मेन्द्र की यह भलमनसाहत या कहें कमजोरी ही इन ढेर फ्लॉप फिल्मों की खास वजह रही है। निर्माताओं और निर्देशकों ने इसका पूरा फायदा उठाया है। धर्मेन्द्र को निश्चय ही जबर्दस्त कामयाबी मिली है। तीन दशक से दर्शक उसे नायक के रूप में न सिर्फ देख रहे हैं, बल्कि भरपूर प्यार भी दे रहे हैं, लेकिन इसके बावजूद एक दिन भी ऐसा नहीं आया, जब धर्मेन्द्र को नंबर एक कहा गया हो। वह नंबर दो से नंबर दस तक सब जगह है, लेकिन नंबर एक से वह चूकता रहा। धर्मेन्द्र के मुताबिक 'उसने कभी नंबर एक बनने का ख्वाब ही नहीं पाला।' फिल्मों की सफलता को उसने एक सपने को पूरा होने की तरह लिया है। अति महत्वाकांक्षा उसमें नहीं है, शीर्ष पर पहुँचने के लिए कोई रणनीति उसने कभी नहीं बनाई। फिल्में करना और करते चले जाना ही धर्मेन्द्र का शायद सूत्र वाक्य रहा है। वह हिंदी सिनेमा का हरफनमौला है, साहस और जाँबाजी से लबरेज अदाकार। उसमें बनावट नहीं है। नाजुक, सुंदर और आहें भरने वाले नायकों की परंपरा को तोड़ने का श्रेय उसके खाते में है। उसके व्यक्तित्व के खुरदुरेपन में ही ऐसी आकर्षण शक्ति है, जिसके बल पर धर्मेन्द्र अपनी नायिकाओं के दिलों का राजा भी बनता रहा है और दर्शकों का प्यार भी लूटता रहा है।

परदे का धर्मेन्द्र भले ही कठोर हो, लेकिन निजी जिंदगी में वह एक भोला और भावुक इंसान है। माँ उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है और ताकत भी। बेइंतहा प्यार करता रहा है वह अपनी माँ को। निजी जीवन में उसे जैसा सुख-संतोष मिला है, उससे भी किसी को ईर्ष्या हो सकती है। प्रकाश जैसी पत्नी मिली (फिल्मों में आने से काफी पहले शादी हो चुकी थी), जो बड़ी शालीनता से पिछले लगभग चार दशक से धर्मेन्द्र का साथ निभा रही है। लेकिन इस ही मेन की जिंदगी की एकमात्र नायिका प्रकाश नहीं है। कई और नायिकाएँ आई-गईं हैं। मीनाकुमारी जिस प्यार के लिए बरसों तक तरसती रहीं, धर्मेन्द्र से उन्हें वह प्यार मिला। फिर आई हेमा, जो एक बार धर्मेन्द्र की जिंदगी में आई तो वापस नहीं जा सकी। दोनों ने शादी रचाकर अपने प्यार को दुनिया के सामने हिम्मत के साथ जाहिर करके दिखाया। पिछले पाँच-सात साल में कई नई-नवेली नायिकाओं के नाम धर्मेन्द्र के साथ जुड़ चुके हैं। अनीता राज, अमृतासिंह, किमी काटकर से धर्मेन्द्र ने कितना रोमांस लड़ाया, यह तो वही जाने, लेकिन मीनाकुमारी या हेमा मालिनी जैसी गहराई इन रोमांस प्रसंगों में नहीं रही, यह जरूर कहा जा सकता है।



*फिल्म बगावत में हेमा मालिनी और धर्मेन्द्र*

बहरहाल, एक संपूर्ण नायक की हैसियत से धर्मेन्द्र डटा हुआ है। उसकी जड़ें गहरी हैं, इस बात का एहसास उसने बार-बार कराया है। सफलता से वह बहकता नहीं है और असफलता उसे डिगा नहीं पाती। जब उसकी फिल्में दनादन पिटती हैं, तो लगता है अब वह आउट हुआ, लेकिन 'फोनिक्स' की तरह वह एक फिल्म से ही सारी असफलता की धूल झाड़कर अपना मुक्का तान खड़ा हो जाता है। सचमुच, धर्मेन्द्र अंदर से भी बड़ा कद्दावर और मजबूत है। ■

■ **प्रमुख फिल्में :** *शोला और शबनम (१९६१) *अनपढ़, शादी, सूरत और सीरत (१९६२) *बंदिनी (१९६३) *आई मिलन की बेला, घर का चिराग, हकीकत, ममता (१९६४) *काजल, नीला आकाश, पूर्णिमा (१९६५) *आए दिन बहार के, आया सावन झूम के, अनुपमा, देवर, दिल भी तेरा हम तेरे, दिल ने फिर याद किया, फूल और पत्थर (१९६६) *आँखें, बहारों की मंजिल, मझली दीदी, मेरे हमदम मेरे दोस्त (१९६८) *आदमी और इंसान, शिकार, सत्यकाम, यकीन (१९६९) *गुड्डी, जीवन मृत्यु (१९७०) *शराफत, मेरा गाँव मेरा देश, मेरा नाम जोकर (१९७१) *दो चोर, ललकार, राजा जॉनी, सीता और गीता (१९७२) *फागुन, झील के उस पार, जुगनू, ज्वार भाटा, कहानी किस्मत की, लोफर, यादों की बारात (१९७३) *दोस्त, ड्रीमगर्ल, पत्थर और पायल (१९७४) *चैताली, धर्मवीर, प्रतिज्ञा, शोले (१९७५) *चरस, चुपके-चुपके (१९७७) *आजाद, दिल्लगी, शालीमार, द बर्निंग ट्रेन (१९७८) *कर्त्तव्य (१९७९) *राम बलराम (१९८०) *क्रोधी (१९८१) राजतिलक, बगावत (१९८३) *नौकर बीवी का (१९८४) *गुलामी, सल्तनत (१९८५) *हुकूमत, लोहा (१९८७) *महावीरा, जलजला, यतीम (१९८८) *शहजादे (१९८९)नाकाबंदी, शेर दिल (१९९०) *फरिश्ते (१९९१)।

● **प्रस्तुति : आदर्श गर्ग**

☐ विश्व सिनेमा के इतिहास में ऐसा उदाहरण दूसरा नहीं मिलता कि रजतपट के नायक की मृत्यु पर हजारों स्त्रियों ने कलई की चूड़ियाँ तोड़कर विधवा वेश धारण किया हो।

'एम.जी.आर.'!...इन तीन अक्षरों की परिधि में सिर्फ एक नाम नहीं, बल्कि इतिहास की प्रतिच्छाया भी सिमटी है। इतिहास जो एक नाम ने रचा। व्यक्ति में संभावना की समष्टि का इतिहास। सैल्यूलाइड की चमक के विस्तृत फैलाव का इतिहास। ख्याति की बुलंदियों के स्पर्श का इतिहास। .. तमिल नेता/

# रजतपट के गिल गामेश एम.जी. रामचन्द्रन

● राहुल ब्रज शर्मा

अभिनेता, 'एम. जी. आर.' उर्फ 'मुरुदर गोपालन रामचंद्रन' एक इतिहास पुरुष का नाम है, जो किसी मानक बिंदु की तरह मानवीय उपलब्धियों की हथेली पर अँगूठे की तरह सतह से डेढ़ इंच ऊपर मौजूद रहा। जिस बिंदु के पास शख्स एक 'शख्सियत' में तब्दील होता है, जिसके करीब आदमी की निजता से ज्यादा उसकी छवि का प्रक्षेप ताकतवर हो उठता है, जब उसके आभा मंडल की विद्युतीय परिधि में लोकप्रियता एक जुनून बनकर चारों ओर मँडराने लगती है।

दुनिया में शायद ही कोई चित्रपट कलाकार एम.जी.रामचंद्रन की तरह लोगों के दिलो-दिमाग पर अपनी अमिट छाप छोड़ सका हो। उनकी असाधारण लोकप्रियता के कुछ प्रमाण ही काफी हैं-उदाहरण के लिए २४ दिसंबर १९८७ को जब इस महानायक की मृत्यु हुई, तो दक्षिण भारत की स्त्रियों ने हाथों की चूड़ियाँ तोड़कर विधवा वेश धारण कर लिया था। गुर्दे की बीमारी के सिलसिले में एम.जी.आर. जिस वक्त अमेरिका गए, उस वक्त तमिलनाडु के २० व्यक्तियों ने उनके क्षणिक बिछोह से ही उद्वेलित होकर आत्मदाह का प्रयास किया। रामचंद्रन की श्रीलंका यात्रा के दौरान उनका जो ऐतिहासिक स्वागत किया गया, वह विश्व में किसी अंतरराष्ट्रीय राजनयिक को भी नसीब नहीं हुआ होगा। उनकी स्वागत यात्रा में ३००० कारों का काफिला शामिल हुआ था।

एम.जी.आर. को 'सुपर स्टार' कहना भी उनके महात्म्य की गरिमा को हल्का करना है। क्योंकि जिन अर्थों में हम इस उपाधि का प्रयोग करते हैं, वह उनके सामने अर्थहीन है। अगर लोकप्रियता के लिहाज से प्रथम श्रेणी प्राप्त किसी अभिनेता को हम 'सुपर स्टार' की श्रेणी में रखें, तो एम.जी.आर. को इस पैमाने पर 'गोल्ड मेडलिस्ट' मानना होगा। जरा अंदाजा लगाइए, इस अभिनेता की फिल्मी कामयाबी के ग्राफ का, जिसकी फिल्में सौ दिन से पहले परदे से उतरती ही नहीं थीं। उनकी एक फिल्म ने तो पचास छबिगृहों में एक साथ रजत-जयंती मनाकर अक्षुण्ण कीर्तिमान रचा। उत्तर भारतीय दर्शकों के लिए **'शोले'** और **'अमिताभ'** व्यावसायिक सफलता की पराकाष्ठा समझी जाती है, लेकिन रामचंद्रन के आगे 'बच्चन' वास्तव में 'बच्चू' जान पड़ते हैं, जिस वक्त उनकी फिल्में तमिलनाडु में इतिहास रच रहीं थीं, उस वक्त हमारे अमिताभ या जीतेन्दर/ धर्मेन्दर माँ की गोद में सलीके से सू-सू करना भी नहीं सीखे होंगे। जो पारिश्रमिक रामचंद्रन को साठ के दशक में मिलता था, उसके लिए आज भी 'स्टार' तरसते हैं। 'एम.जी.आर.' के चुंबकीय व्यक्तित्व का ही असर था, कि ढलती आयु के बावजूद परदे पर उनका झुर्रियों भरा चेहरा भी दर्शकों ने बेहद पसंद किया। उनके कैरियर की आखिरी फिल्में कामयाबी के लिहाज से किसी तरह कमजोर नहीं थीं। इक्की-दुक्की असफलताओं को छोड़कर रामचंद्रन के खाते में कोई 'इंद्रजीत', 'अग्निपथ' या 'अजूबा' दर्ज नहीं है।

चित्रपट के 'संभावना-क्षितिज' का स्पर्श करने वाले 'एम.जी.आर.' को अभिनय कला खून में नहीं, बल्कि पसीने की विरासत में मिली। कहने का अर्थ यह कि उनके खानदान में दूर-दूर तक किसी का अदाकारी से ताल्लुक नहीं था, लेकिन उन्हें इस व्यवसाय को मजबूरीवश पेट पालने के लिए अपनाना पड़ा। 'एम.जी.आर.' का बचपन बेहद कठिन परिस्थितियों में गुजरा। १९१७ में श्रीलंका के कैंडी शहर में जन्मे रामचंद्रन के पिता एक जाने-माने वकील थे। लेकिन अल्पायु में ही उन्हें पितृसुख से वंचित होना पड़ा। पिता की मृत्यु के बाद रामचंद्रन अपनी माता के साथ मद्रास चले आए। यहाँ उन्होंने पाँच रुपए माहवार पर एक नाटक कंपनी में नौकरी कर ली। उस वक्त वे सिर्फ सात साल के थे। स्टेज पर पहली बार एम.जी.आर. ने एक नाटक में अभिमन्यु की माँ 'उत्तरा' की भूमिका निभाई थी। स्त्री के पात्र के रूप में अभिनय की शुरूआत करने वाले रामचंद्रन आगे चलकर महिलाओं के 'आदर्श पुरुष' बने।

पंद्रह नाटकों में काम करने के बाद एम.जी. आर. ने अभिनय छोड़ सेना की नौकरी करने का मन बना लिया था। नाटक खेलकर उनका दैनिक हाथ खर्च तो निकल जाता, किंतु नियमित आमदनी नहीं हो पाती थी। इसी दौरान उन्हें एक फिल्म का प्रस्ताव मिला। २३



*एम.जी.आर. की सदाबहार छबि*

वर्षीय रामचंद्रन इस आकर्षक अवसर को भुनाने का लोभ सँवरण नहीं कर सके। कन्द्रास्वामी मुदलियार की फिल्म 'साथी लीलावथी' रजत पट पर उनके प्रवेश का जरिया बनी। यह १९३५ की बात है, जबकि सवाक सिनेमा की शुरूआत हुए जुम्मा-जुम्मा चार साल ही हुए थे। इस लिहाज से रामचंद्रन भारतीय सिनेमा के प्रवर्तकों में गिने जा सकते हैं।

कैरियर की पहली फिल्म में 'एम.जी.आर.' छोटी भूमिका के कारण परदे पर नगण्य-सी उपस्थिति ही दर्ज करा पाए थे। 'साथी लीलावथी' के बाद उन्होंने 'माया मछिन्दर/ श्री मुरुगन/ 'थाई मगलक्कू कुट्रिया थाली' आदि कुछ फिल्मों में छुटपुट पौराणिक चरित्र निभाए। हीरो बनने के लिए उन्हें काफी इंतजार करना पड़ा। १९४७ में बनी 'राजकुमारी' बतौर नायक एम.जी.आर. की पहली फिल्म थी। 'एम.सोमसुंदरम' कृत इस फिल्म का कथानक 'अरेबियन नाइट्स' जैसी फंतासी कहानियों पर आधारित था, जिसे दर्शकों ने खूब पसंद किया। खास तौर से फिल्म में 'एम.जी.आर.' की तलवारबाजी के दाँव-पेंच हतप्रभ करने वाले थे।

एम.जी.आर. की दूसरी हिट फिल्म थी- 'मोहिनी'। इस फिल्म की हीरोइन 'एन.जानकी' की 'मोहिनी' सूरत का कुछ ऐसा असर रहा कि रामचंद्रन उनके साथ दाम्पत्य सूत्र में बँध गए। 'मोहिनी' के बाद 'एम.जी.आर.' की अगली दो फिल्मों 'मैंथिरी कुमारी' और 'मरुत्था इल्लुवारसी' ने भी सफलता अर्जित की। इनके सहारे रामचंद्रन एक सफल हीरो के रूप में प्रतिष्ठित तो हो गए थे, लेकिन उपलब्धियों की वह अनूठी चमक जो अन्य कलाकारों के बीच उन्हें वैशिष्ट्य का दर्जा देती है, उसका सिलसिला फिल्म 'मर्मयोगी' से शुरू होता है। इसमें उन्होंने गरीबों की मदद करने वाले एक व्यक्ति की 'राबिनहुड छाप' भूमिका निभाई थी जिससे दक्षिण भारत में एम.जी.आर. को शोषित वर्ग के मसीहा की छवि हासिल हुई। मर्मयोगी की जबरदस्त कामयाबी से रामचंद्रन के उर्वर दिमाग में यह विचार पनपा कि जनता को आकर्षित करने के लिए सामाजिक समस्याओं के धरातल पर हीरोगिरी का अखाड़ा खोलना चाहिए। इसी तारतम्य में उन्होंने 'एम.थंगाई' जैसी पारिवारिक फिल्म में काम किया। इसका हिन्दी संस्करण 'छोटी बहन' के नाम से बना था जिसमें एम.जी.आर. वाली भूमिका बलराज साहनी ने अभिनीत की थी।

दुर्भाग्य से रामचंद्रन की अगली दो फिल्मों 'नाम' और 'गुंडूकिल्ली' ने बॉक्स आफिस पर दम तोड़ दिया। लेकिन इस धक्के से तबाही की फिसलन में रपटने की बजाए एम.जी.आर. ने तुरंत अपने कदम मजबूत करते हुए व्यावसायिक सफलता का गणित समझने के लिए दर्शक मानसिकता की थाह लेना शुरू की। उन्होंने पाया कि स्वातंत्र्योत्तर भारत का आम आदमी जहालत और गुलामी की जकड़न के 'हैंग ओवर' से निजात पाने के लिए सुखद जीवन स्तर और नैतिक मूल्यों की तलाश में छटपटा रहा था। एम.जी.आर. ने इसी नब्ज पर हाथ रख कर जनसामान्य का अवचेतन झनझनाने की कोशिश की। दक्षिण भारत के तमाम दर्शक उनके समक्ष स्तुतिगान के शंख और नगाड़े बजाने लगे।

एक मजबूत कलाकार के रूप में स्थापित होने के लिए रामचंद्रन ने योजनाबद्ध तरीके से काम किया। 'गुंडूकिल्ली' की असफलता के बाद जब उन्हें 'सिरूमुल नायडू' की फिल्म 'मलई कल्लन' में एक सशक्त भूमिका मिली, तो वे बीती ताहि बिसार कर करो या मरो वाली शैली में जुट गए। १९५४ में प्रदर्शित इस फिल्म ने 'एम.जी.आर.' को पलक झपकते ही दक्षिण भारत का शीर्ष अभिनेता बना दिया। 'मलई कल्लन' एम.जी.आर. की सर्वश्रेष्ठ फिल्म मानी जाती है। हिन्दी में इसका रीमेक 'आजाद' नाम से बना। आम तौर पर समीक्षक रामचंद्रन को आला दर्जे का कलाकार नहीं मानते, लेकिन 'मलई कल्लन' में उनका अभिनय लाजवाब समझा जाता है।

इसके बाद एम.जी.आर. की लगातार कई फिल्मों ने सफलता के झंडे गाड़े। 'अलीबाबा एंड फोर्टी थीफ' जैसी फंतासी फिल्म ने जहाँ बच्चों में उनकी लोकप्रियता मजबूत की, वहीं 'मदुरई वीरन/ सिरथ वजा वेन्डम/ आनंद ज्योथि ओरक्कू/ कवल करन आदि से उनका एक अत्यंत विशाल महिला दर्शक वर्ग तैयार हुआ। तमिल युवकों में एम.जी.आर. का नशा छाना स्वाभाविक था, क्योंकि वे स्त्रियों के बीच 'काम्य पुरुष' की छवि बना चुके थे। रामचंद्रन की सबसे लोकप्रिय फिल्में 'एंगा विट्टू पिल्लई' और 'नदोड़ी मन्ना' साबित हुई। इनमें से 'नदोड़ी मन्ना' के निर्देशक भी एम.जी.आर. ही थे। इस फिल्म में उन्होंने एक होनहार तारिका 'सरोजा देवी' को पहली बार परदे पर प्रस्तुत किया। 'नदोड़ी मन्ना' और 'एंगा विट्टू' भारतीय सिने इतिहास में व्यावसायिक सफलता की दृष्टि से मील का पत्थर समझी जाती है। १९६५ में निर्मित 'एंगा विट्टू' ने तो पचास सिनेमाघरों में एक साथ सिल्वर जुबली मनाकर अद्भुत कीर्तिमान स्थापित किया था।

'एम.जी.आर. संभवतः एकमात्र ऐसे अभिनेता थे, जिनके साथ पच्चीसों अभिनेत्रियों की जोड़ियाँ जमी, और कामयाब रहीं। इनमें से भानुमति/ विजया/ बी.सरोजा/ जानकी/ देविका/ अंजली/ जयललिता/ राजकुमारी आदि के नाम प्रमुख हैं। नायिकाओं के साथ रामचंद्रन के संबंध उनके प्रशंसकों के बीच खासे आकर्षण का केंद्र रहे हैं। खास तौर पर जयललिता के साथ उनके अंतरंग संबंध भी काफी चर्चित हुए। इन दोनों के बीच निकटता 'कवल करन' फिल्म की शूटिंग के दौरान बढ़ी थी। जयललिता से मुलाकात के पूर्व एम.जी.आर. तीन विवाह कर चुके थे, जिनसे उनकी कोई संतान नहीं थी। हालाँकि जयललिता के साथ रामचंद्रन ने ब्याह नहीं रचाया, किंतु उनमें विवाहित दम्पतियों की तरह ही घनिष्ठता बनी रही।

महिलाओं के बीच एम.जी.आर. जितना लोकप्रिय अभिनेता दूसरा नहीं होगा। उनके प्रशंसकों में सर्वाधिक तादाद स्त्रियों की रही।

*श्री मुरुगन फिल्म के एक दृश्य में एमजीआर।*



**□ □ तमिलनाडु की स्त्रियाँ अपने को गोपियाँ और एम.जी.आर. को कृष्ण जैसा मानती थीं। आज भी मद्रास में उनकी समाधि पर दस हजार दर्शक प्रति दिन दर्शन को जाते हैं और उनके नाम के लॉकेट/ ताबीज/ अँगूठियाँ पहनते हैं।**

दक्षिण भारत की महिलाएँ एम.जी.आर. के प्रति उतना ही अनुराग रखती थीं, जैसा शायद गोपियों को कृष्ण से रहा होगा। वैसे स्त्रियाँ स्वभाव से ही भावुक और जल्दी पसीजने वाली होती हैं, इसलिए जब एम.जी.आर. जैसे शक्तिशाली अभिनेता ने उनकी तरफदारी का इरादा जताया, तो वे उन पर निहाल हो गईं। नारी जाति के प्रति एम.जी.आर. की सहानुभूति का कारण उनकी माँ सत्यभामा थीं, जिन्होंने कठिन परिस्थितियों के बीच अपने बच्चों को पाल-पोस कर बड़ा किया। रामचंद्रन की कई फिल्मों में उनके मातृप्रेम की झलक मिलती है। वे नशेबाज व्यक्तियों द्वारा अपनी बीवियों पर जुल्म ढाने के सख्त विरोधी थे। एम.जी.आर. की शराब विरोधी मुहिम ने ग्रामीण महिलाओं को खास तौर पर प्रभावित किया। उन्हें वह 'पुनमना चम्मल' (सोने जैसे दिल वाला) के नाम से पुकारती थीं। मीलों दूर से गाँवों में रहने वाली महिलाएँ उनके दर्शन हेतु पैदल चलकर आतीं। 'रामचंद्रन' वास्तव में तमिल स्त्रियों के लिए 'मर्यादा पुरुषोत्तम' थे।

'एम.जी.आर.' जैसा दक्ष और व्यावसायिक योजनाकार कोई अन्य अभिनेता नहीं हुआ है। उन्होंने अपनी निजी जिंदगी को भी सिनेमाई छवि की तरह स्वच्छ, शालीन और दोषरहित बनाए रखा। परदे पर अपनी छवि को लेकर वे इतने सचेत थे कि उनकी किसी भी फिल्म में वे धूम्रपान या मदिरापान करते नजर नहीं आए। सद्चरित्र व्यक्ति का चोला ओढ़ने के अलावा उन्होंने खुद को शोषित-वर्ग के विद्रोही नायक के रूप में पेश किया। अपनी फिल्मों में वे अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया करते थे। उनकी इस मानवाधिकार समर्थक छवि के कारण तमिलनाडु में उन्हें 'मक्कल थिलकम' (जन नायक) और 'पुरत्वि नदिगर' (क्रांतिकारी अभिनेता) कहा गया।

आमजन के सच्चे हितैषी का दर्जा हासिल करने के बाद रामचंद्रन सार्वजनिक जीवन में सक्रिय हुए। राजनीति में कलाकारों के घालमेल की शुरूआत करने वालों में उनका नाम सबसे ऊपर है। अमिताभ या राजेश जैसे चौबों की तरह छब्बेजी बनने की प्रक्रिया में वे दुबे नहीं बने। बल्कि अभिनेता से नेता के रूप में शाब्दिक विखंडन उनके 'करिश्मा' या 'युग' को द्विगुणित करने में सहायक रहा। सत्तर के दशक में वे चित्रपट से राजपथ की ओर मुड़े। राजनीतिक जीवन अपनाने के पूर्व 'मदुरैय मीथा पेडियन' उनकी अंतिम फिल्म थी। आरंभ में रामचंद्रन ने 'कांग्रेस' की सदस्यता ग्रहण की। लेकिन बाद में वे तमिलनाडु के क्षेत्रीय दल 'द्रमुक' से जुड़ गए। उन दिनों 'द्रमुक' कार्यकर्ता फिल्मी हस्तियों की लोकप्रियता को राजनीतिक दृष्टि से भुनाने की फिराक में थे। लिहाजा एम.जी.आर. को अपनी ओर खींचने के लिए उन्होंने पूरा जोर लगा दिया। रामचंद्रन जब कांग्रेस छोड़कर 'द्रमुक' में शामिल हुए, तो उनका संपर्क 'शिवाजी गणेशन'/ 'अन्नादुरई' और करुणानिधि जैसे फिल्मी राजनेताओं के साथ घनिष्ठ हुआ। करुणानिधि पूर्व में एम.जी.आर. की कई फिल्मों के संवाद लिख चुके थे। लिहाजा दोनों के बीच परिचय काफी पुराना था। करुणानिधि से रामचंद्रन की दोस्ती खासी मजबूत होने के बावजूद राजनीतिक मतभेदों को लेकर उसमें दरार आ गई। रामचंद्रन का शिवाजी गणेशन के साथ भी आत्मीय दोस्ती और 'आत्मीय दुश्मनी' भरा विचित्र संबंध रहा। एम.जी.आर. की माँ शिवाजी गणेशन को 'अन्नम' अर्थात अपना छोटा बेटा मानती थीं। राजनीतिक रंगमंच पर हालाँकि शिवाजी और एम.जी.आर. के बीच कुछ तनातनी रही, लेकिन दोनों एक-दूसरे की व्यक्तिगत रूप से काफी इज्जत करते थे। रामचंद्रन की मृत्यु पर गणेशन बिलख-बिलखकर रोए थे।

एम.जी.आर. ने अपने एक अलग राजनीतिक दल 'अन्नाद्रमुक' का गठन किया था। इसी की ताकत पर वे 'सेन थोम' विधानसभा क्षेत्र से निर्वाचित हुए, और तमिलनाडु के सबसे लंबे कार्यकाल वाले मुख्यमंत्री बने। राजनीतिक मंच पर रामचंद्रन की उपस्थिति रंगमंच से भी ज्यादा मजबूत साबित हुई। उनके पास अटूट जनसमर्थन की एक ऐसी दुर्लभ कुंजी मौजूद थी, जिसके सहारे वे सत्ता के किसी भी दुर्बोध लक्ष्य तक पहुँच सकते थे। नेतृत्व की दौड़ में आगे निकलने के लिए एम.जी.आर. ने बड़ी चतुराई के साथ तमिल क्षेत्रीयतावाद का मसला उठाया। उनके सूत्र वाक्य 'थाई कुलम द्रविड़म' (हमारी मातृनस्ल द्रविड़) ने तमिल मतदाताओं को लुभाने में खासी मदद की। रामचंद्रन एक मँजे हुए राजनीतिज्ञ की तरह चाल चलने में माहिर थे। उन्होंने ग्लैमर की राजनीति खेली। सार्वजनिक जीवन से जुड़ते ही सबसे पहले रामचंद्रन ने अपनी हीरो छाप फिल्मी वेशभूषा का परित्याग कर एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण किया। फर की टोपी, काला चश्मा, झक-सफेद लुंगी-कुर्ता और कंधों पर झूलती शॉल एक जनसेवी के रूप में एम.जी.आर. की पहचान बन गए थे।

एम.जी.आर. की जनसभाओं में मानवसमुद्र उमड़ आता था। जब 'रथेथिन उदर वीरा पोगले' (मेरे सगे भाइयो) के संबोधन के साथ वे अपने भाषण की शुरूआत करते, तो हर तरफ उल्लास की लहर दौड़ जाती। उनके राजनीतिक सहयोगी अन्नादुरई ने कहा था कि अगर एम.जी.आर. किसी चुनाव प्रत्याशी के समर्थन में मंच पर खड़े भर हो जाएँ, तो उसके प्रतिद्वंद्वी द्वारा चुनाव लड़ने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। रामचंद्रन ने सुभाष बोस और माओ त्से तुंग जैसे क्रांतिकारी नेताओं की तरह एक नारा दिया



*जयललिता के साथ एमजीआर 'आदिमई पेन्न' में*



**● दुनिया के किसी राष्ट्रपति/ प्रधानमंत्री या राष्ट्राध्यक्ष का इतना सम्मान नहीं हुआ, जितना एम.जी. आर. की श्रीलंका यात्रा के समय ३००० कारों के काफिले ने उनका दर्जा बढ़ाया।**

● एम.जी.आर. की १९६५ में निर्मित फिल्म एंगा विट्टू ने ५० सिनेमाघरों में सिल्वर जुबली मनाकर कीर्तिमान रचा था।

था- 'थुंगते थुंपी चोम्बेरिना'– 'अर्थात सोओ मत, वरना लोग तुम्हें मुर्दा समझेंगे।' आश्चर्य की बात है असमानता के खिलाफ जिहाद छेड़ने वाले एम.जी.आर. स्वयं सत्ता सँभालने के बावजूद तमिलनाडु की सामाजिक संरचना में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं ला सके। उल्टे वहाँ गरीबी पहले से अधिक हो गई। लेकिन रामचंद्रन की कथनी और करनी का यह विरोधाभास उनके प्रशंसकों को कतई नहीं अखरा। यह एम.जी.आर. की सम्मोहक छवि का ही प्रभाव था कि लोग उनकी खामियाँ नजरअंदाज कर गए।

रामचंद्रन के प्रति तमिल जनता का 'नास्टेल्जिक' रवैया मेक्सिको की लोककथाओं के पौराणिक चरित्र 'गिल गामेश' का सहज स्मरण कराता है जिसे वरदान प्राप्त था कि उसकी ओर देखने वाला उसका गुलाम बन जाएगा। एम.जी.आर. रजतपट के 'गिल गामेश' थे, जिनके चेहरे में फिल्म दर्शकों को अपना आराध्य नजर आया। रामचंद्रन के प्रशंसक वस्तुतः उनके उपासक हैं। तमिलनाडु की जनता पर उनका नशा इस कदर छाया हुआ था, कि उनकी मृत्यु के बाद पूरा तमिलनाडु खुद को अनाथ महसूस करने लगा।

परदे पर लगभग तीन दशक गुजार कर १३४ फिल्मों में काम करने वाले एम.जी.आर. अपने फिल्मी जीवन में अनेक बार मृत्यु के मुँह से बाल-बाल बचे। एक फिल्म की शूटिंग के दौरान उन्हें एक साथी कलाकार 'एम.आर.राधा' ने गंभीर रूप से घायल कर दिया था। कहा जाता है कि 'राधा', एम.जी.आर. से द्वेष रखते थे और इसलिए उन्होंने उनकी हत्या का प्रयास किया। राधा के रहस्यमय आघात से रामचंद्रन की वाकशक्ति क्षीण पड़ गई थी। इसके बाद उन्हें कई गंभीर बीमारियों ने आ घेरा।

कभी गुर्दे की परेशानी रही तो कभी उनके दिमाग में खून का थक्का जम गया। इन सभी प्राणघातक परिस्थितियों के बावजूद उनके प्रति एक अपार जन समूह की सद्भावना का ही प्रताप था कि वे इन सबसे बच गए। एम.जी.आर. की मृत्यु हुए एक अरसा हो चुका है, लेकिन आज भी तमिलनाडु में कई लोग ऐसे हैं, जो उन्हें मृत मानने को तैयार नहीं। चिलचिलाती धूप हो या मूसलधार बारिश का मौसम, उनके प्रशंसक हजारों की संख्या में नियमित रूप से उनकी समाधि पर फूल चढ़ाने आते हैं। एम.जी.आर. जैसे युग प्रवर्तक के लिए 'अंत' शब्द का कोई अर्थ नहीं। उनके प्रशंसक उन्हें ईश्वर सदृश्य मानते थे, और ईश्वर कभी मरता कहाँ है? ■

# सूर्योदय और सूर्यास्त के मध्य : वी.शांताराम

सिनेमा अपनी प्रथम शताब्दी के निकट है। अगर हम इस शताब्दी को एक दिन मान लें, तो कहना होगा कि **शांताराम** सूर्योदय के थोड़ी देर बाद आए और सूर्यास्त के थोड़ा-सा पहले चले गए। १९२१ में 'रुक्मणी हरण' में कृष्ण की भूमिका की थी शांताराम जी ने और १९९० तक फिल्म जगत में सक्रिय रहे। शांतारामजी ने फिल्म विधा के हर रंग का गहरा अध्ययन किया था और इसी प्रक्रिया में अभिनय का ज्ञान भी अर्जित किया। अभिनय उनकी प्राथमिकता की सूची में बहुत बाद के क्रम में आता था। 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी' और 'दो आँखें बारह हाथ' में उनकी यादगार भूमिकाएँ रही हैं।

शांताराम एक स्वाभिमानी फिल्मकार थे और संपूर्ण फिल्मकार थे, इसलिए, उन्हें सितारों पर निर्भर रहना पसंद नहीं था। शांतारामजी को कई फिल्मों में अभिनय करना पड़ा, क्योंकि सितारों के नखरे उन्हें पसंद नहीं थे और फिल्में केवल उनके निर्देशक होने के कारण ही बिक जाती थीं। **निष्ठा और समर्पण शांतारामजी के हर कार्य में श्वास की तरह स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत थे। एक अभिनेता के रूप में भी उन्होंने निष्ठा, आत्मविश्वास और संपूर्ण समर्पण से महत्वपूर्ण** **भूमिकाओं को परदे पर जीवंत कर दिया।** जब तक निर्देशक शांताराम को अनुशासित अभिनेता मिलते गए, तब तक उन्होंने अभिनय नहीं किया, परंतु जैसे ही अनुशासनहीनता नजर आई, उन्होंने स्वयं अभिनेता का कार्य किया। १९४३ में वे कालिदास के महाकाव्य **शकुंतला** पर फिल्म बनाना चाहते थे। यह उनकी महत्वाकांक्षी फिल्म थी। उन्होंने स्वयं दुष्यंत की भूमिका निभाई और यह पहली भारतीय फिल्म है जो न्यूयार्क में प्रदर्शित हुई।

शांतारामजी की फिल्मों की समालोचना लिखते-लिखते, के.ए.अब्बास ने सत्य घटना के



आधार पर पटकथा लिखी 'डॉ.कोटनीस की अमर कहानी' और शांताराम ने डॉ.कोटनीस की भूमिका बहुत ही सशक्त ढंग से निभाई। पात्र की महानता को शांताराम ने पर्दे पर साकार किया। देश-विदेश के पत्रकारों ने फिल्म तथा अभिनय को बहुत सराहा।

एक अभिनेता के रूप में 'दो आँखें बारह हाथ' का जेलर का पात्र बहुत बड़ी चुनौती था और शांताराम ने इस भूमिका के साथ न्याय किया। **निर्देशक शांताराम, अभिनेता शांताराम की बहुत सहायता करते थे।** शांताराम स्वस्थ और मजबूत शरीर वाले व्यक्ति थे और अभिनय के लिए उन्होंने इसका भरपूर उपयोग भी किया। 'दो आँखें' के क्लाइमैक्स में एक बैल पर काबू पाने के दृश्य सहज और स्वाभाविक थे। उन दिनों फिल्म पत्रकारिता आज की तरह घिनौनी नहीं थी अन्यथा शांताराम को 'ही मैन', 'मॉचो' इत्यादि कहा जाता।

१९६१ में शकुंतला को उन्होंने 'स्त्री' के नाम से पुनः निर्मित किया और दुष्यंत की भूमिका भी निभाई परंतु उम्र के उस दौर में प्रेम प्रसंग के दृश्य अस्वाभाविक लगे, इसलिए, स्त्री के बाद उन्होंने अभिनय नहीं किया।

१९२१ और १९२७ के बीच अनेक भूमिकाएँ शांतारामजी ने कीं परंतु अभिनय क्षेत्र में कोटनीस और दो आँखें अमर रचनाएँ मानी जाएँगी क्योंकि उनमें अभिनेता रम गया और निर्देशक के विश्वास पर खरा उतरा। यह अजीब बात है कि शांतारामजी ने प्रदीपकुमार, महिपाल और गोपीकृष्ण जैसे लोगों के साथ भी सर्वकालीन हिट फिल्में बनाई। **दरअसल शांतारामजी इतने कुशल निर्देशक थे कि पत्थरों से अभिनय करा सकते थे।** कोटनीस और दो आँखें के विषय अत्यंत मानवतावादी थे और उनमें अभिनय की निपुणता से ज्यादा निष्ठा की आवश्यकता थी। नए विचारों में आपका विश्वास धर्म की तरह ठोस नहीं हो, तो अभिनय की तकनीक कोई मदद नहीं कर सकती।

शांतारामजी पात्र के विचार और चलने फिरने का एक निश्चित खाका तैयार करते थे और उसी के अनुसार अभिनय करते थे। माथे पर एक शिकन भी नहीं आ सकती थी, अगर वह पहले से तय नहीं है। शांतारामजी ने अभिनय में शरीर संचालन को महत्व नहीं देते हुए केवल चेहरे के भाव और आवाज पर जोर दिया। 'दो आँखें' में तो उन्होंने संवाद भी बहुत कम बोले हैं। दृष्टि का प्रभावोत्पादक प्रयोग किया है। **संयत अभिनय** करने वाले शांतारामजी के निर्देशन में काम करने वाले दूसरे अभिनेता अपनी नाटकीयता नहीं छोड़ पाए थे। यह अजीब संयोग है कि शांतारामजी ने अपनी क्लासिक फिल्मों- आदमी/ पड़ोसी/ दुनिया न माने में अभिनय नहीं किया है। वे अभिनय के मामले में एक स्कूल बने रहे। यही वजह है कि उनसे प्रेरणा तो कई अभिनेताओं ने ली मगर उनकी नकल कोई नहीं कर पाया। दरअसल शांतारामजी का निर्देशक उनके अभिनेता को लील गया। (जेपीसी) ■



# न भूतो न भविष्यति

# संजीव कुमार

● **संदीप श्रोत्रिय**

हिंदी फिल्मों के इतिहास में **संजीव कुमार** को निश्चय ही एक ऐसे अभिनेता के रूप में पहचाना जाएगा, जिसने किसी भी चुनौतीपूर्ण भूमिका को न केवल स्वीकार किया, बल्कि हर बार इस भूमिका में अपने आपको सौ टंच अभिनेता भी साबित कर दिखाया। संजीव कुमार की क्षमताओं की तुलना जिन प्रतिभावान भारतीय कलाकारों से की जा सकती है उनमें सबसे पहले **गुरुदत्त** का नाम लिया जाना चाहिए। फिर **मोतीलाल** तथा **बलराज साहनी।** गुरुदत्त से ही संजीव की शख्सियत इस कदर मिलती थी कि के. आसिफ जैसे दिग्गज फिल्मकार ने अपनी फिल्म 'मोहब्बत और खुदा' में गुरुदत्त की मृत्यु के बाद संजीव को ही चुना। संजीव ने फिल्म 'खिलौना' में पागल की भूमिका को जिस खूबी से निभाया था उसे देखकर गुरुदत्त की 'बहूरानी' की याद बरबस आ जाती है। संजीव और गुरुदत्त की भूमिकाओं में कई समांतर रेखाएँ खींची जा सकती हैं। प्यासा/ कागज के फूल/ साहब बीवी और गुलाम या फिर आर-पार जैसी फिल्मों में गुरुदत्त को देखकर संजीव की याद यों ही नहीं आ जाती है। दरअसल, संजीव की अभिनय यात्रा के कई पड़ाव उन्हें ठीक उसी मुकाम पर पहुँचा देते हैं, जहाँ गुरुदत्त थे। संजीव कुमार की 'अंगूर' या 'पति, पत्नी और वो' जैसी हल्की-फुल्की फिल्मों को गुरुदत्त की 'मिस्टर एंड मिसेज ५५' को सामने रखकर देखा जा सकता है।

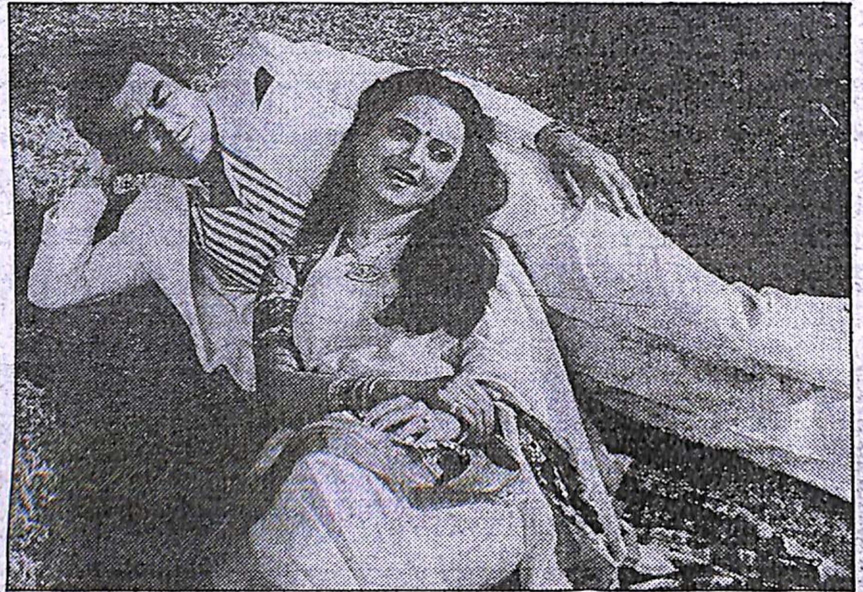
दूसरी ओर संजीव, मोतीलाल और बलराज साहनी के स्तर तक पहुँचकर सहज अभिनय भी कर लेते हैं। इन तीनों की ही क्षमता थी कि वे स्वयं को अपनी भूमिकाओं के हिसाब से ढाल लेते थे। किसी भी भूमिका में वे अपनी पहचान को इतना पारदर्शी बना लेते थे कि कलाकार कहीं नजर ही नहीं आता था, सिर्फ चरित्र दिखाई देता था। एक समीक्षक का संजीव के बारे में कहना था कि संजीव को कोई चुनौतीपूर्ण भूमिका दीजिए और फिर उन्हें काम करते हुए देखते रहना निश्चय ही अपने आप में एक अनुभव होता था। अपने ऐसे ही अनुभव को बयान करते हुए संजीव के प्रिय फिल्मकार गुलजार ने पिछले दिनों एक मुलाकात के दौरान फिल्म 'कोशिश' के एक दृश्य का जिक्र करते हुए बताया था- 'हम लोग 'कोशिश' का वह दृश्य फिल्मा रहे थे जिसमें गूँगे-बहरे संजीव का बेटा गूँगी-बहरी लड़की से शादी करने से इंकार कर देता है और संजीव भरपूर गुस्से में उसे समझाता है कि 'मैंने भी तो अपने जैसी लड़की से ही शादी की थी।' दृश्य बहुत भावुक था। संजीव ने काम शुरू किया। पूरे सेट पर सन्नाटा खिंच गया। शॉट पूरा हुआ तो कैमरामैन ने कहा- गुलजार साहब, मुझे नहीं पता यह शॉट कैसा हुआ। दरअसल, उसकी आँखों में आँसू थे और वह लैंस से ठीक से देख भी नहीं पा रहा था। लेकिन मुझे यह शॉट सिर्फ इसलिए फिर से लेना पड़ा क्योंकि वह

इतना अधिक भावुक और संवेदनाओं के स्तर पर अच्छा हो गया था, आगे आने वाले क्लाइमैक्स के प्रभावित होने का खतरा था। इस रीटेक के लिए मेरे तमाम साथियों ने मेरी आलोचना की। लेकिन संजीव ने अपने अभिनय पर इतना बेमालूम अंकुश लगाया कि भावनाओं के सैलाब पर वह बाँध बँध गया जो वास्तव में मुझे चाहिए था।' दरअसल, अभिनय की यह बारीकी जो संजीव में ही मिलती थी, वह उनके किसी और समकालीन में दिखाई नहीं देती। निश्चय ही संजीव कुमार, अमिताभ या राजेश खन्ना की तरह नंबर-वन की दौड़ में नहीं रहे। वे सुपर-डुपर स्टार नहीं बने। लेकिन अभिनय क्षमता के मामले में उनका हाथ पकड़ना बड़े-बड़े सितारों के बस की बात नहीं थी।

गुजराती रंगमंच से निकलकर हिंदी रंगमंच पर सक्रिय होने वाला कलाकार **हरिभाई जरीवाला** फिल्मों का संजीव कुमार बन गया। यह यात्रा न तो बहुत चमत्कारी थी और न ही बहुत रोचक। लेकिन इसमें संघर्ष करते हुए कलाकार की अंततः विजयगाथा शामिल हुई। आमतौर पर माना जाता है कि रंगमंच के कलाकार जब फिल्मों में आते हैं, तो प्रायः लाउड हो जाते हैं। लेकिन संजीव तो जैसे फिल्मों के लिए ही बने थे। उनका कहना था- 'रंगमंच को मैंने इसलिए अपनाया था कि मैं अपनी अभिनय क्षमता की थाह पा सकूँ। वैसे मेरा अंतिम लक्ष्य तो फिल्में ही थीं।' हिंदी फिल्मों में ऐसी मिसालें बहुत कम मिलती हैं, जब कोई कलाकार शून्य स्तर की स्टंट फिल्मों से अपना कैरियर शुरू करे और शीर्षक्रम की फिल्मों तक जा पहुँचे। संजीव कुमार को फिल्मों में प्रवेश कुछ देर से मिला था। साठ के दशक के मध्य में संजीव 'निशान' में पहली बार तलवारबाजी करते हुए फिल्मी परदे पर दिखाई दिए थे। उनकी अभिनय क्षमता की तरफ फिल्मकारों का ध्यान तब गया जब सन् १९६४ में के. आसिफ ने उन्हें गुरुदत्त के निधन के बाद 'मोहब्बत और खुदा' के लिए अनुबंधित किया। इसी बीच फिल्मी दुनिया में दिलीप-राज-देव की तिकड़ी का चमत्कार भी कम होता नजर आने लगा था। दिलीप कुमार की 'आदमी' और 'संघर्ष' बॉक्स ऑफिस पर नहीं चल पाई थीं तो राजकपूर की 'अराउंड द वर्ल्ड' और 'सपनों का सौदागर' तथा देव आनंद की 'दुनिया' फ्लॉप हो गई थीं। इसी दौर में फिल्मी दुनिया में एक नई तिकड़ी उभरी जिसमें राजेश खन्ना, अमिताभ बच्चन और संजीव कुमार शामिल थे। इस तिकड़ी को यदि अभिनय क्षमताओं के लिहाज से देखा जाए तो निश्चय ही संजीव कुमार का नाम शीर्ष पर रखा जाएगा।

संजीव कुमार ने अपने चेहरे से तो जबर्दस्त अभिनय किया, साथ ही आवाज से अभिनय की ओर भी बहुत ध्यान दिया। संजीव कुमार ने एक साक्षात्कार में कहा था- 'मैं शूटिंग के समय अपनी क्षमता का ६० प्रतिशत हिस्सा खर्च करता हूँ और ४० प्र.श. ताकत डबिंग के समय लगाता हूँ। मुझे पता है कि मेरे पास अमिताभ जैसी गहरी आवाज नहीं है इसीलिए मैं अपनी आवाज पर बहुत मेहनत करता हूँ। फिर 'टेक' और 'डबिंग' के बीच के समय में मुझे अपनी भूमिका पर विचार करने का मौका भी मिल जाता है।' अपनी अभिनय क्षमताओं का इतना बारीक विश्लेषण बहुत कम कलाकार कर पाते हैं। यहाँ यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि अपनी आवाज पर बहुत मेहनत करने वाले इस कलाकार ने 'कोशिश' में न सिर्फ गूँगे चरित्र को निभाया, बल्कि 'राष्ट्रीय पुरस्कार' भी जीता। 'कोशिश' के बाद राजिन्दरसिंह बेदी की **'दस्तक'** में भी संजीव कुमार को राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पुरस्कारों से अलग संजीव ने लगातार स्वयं को जबर्दस्त कलाकार सिद्ध किया और फिल्मी दुनिया में अपनी जगह सुरक्षित रखी।

संजीव कुमार के बारे में एक बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि उनकी 'एक्टिंग रेंज' बहुत व्यापक थी। 'खिलौना' का विक्षिप्त प्रेमी, 'पति, पत्नी और वो' का शरारती पति, **अर्जुन पंडित** में भी उनका अभिनय ऊँचाइयों पर था। कला और गंभीर फिल्मों के अलावा संजीव ने व्यावसायिक सिनेमा में भी दखल बनाए रखी। जब 'त्रिशूल' जैसी मल्टी स्टार फिल्मों का दौर आया, तो संजीव ने चरित्र अभिनेता के रूप में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी। 'आँधी' फिल्म का वह संवाद संभवतः संजीव की व्यक्तिगत कार्यशैली पर सौ फीसदी खरा उतरता है जिसमें सुचित्रा सेन उनसे कहती हैं कि तुम्हें तो बूढ़ा बनने का इतना शौक था कि जवानी के दिनों में भी बालों पर सफेदी लगा लिया करते थे। दरअसल, संजीव ने बहुसितारा फिल्मों से लेकर कला फिल्मों तक में एक भावुक प्रौढ़ कलाकार की जगह बना ली थी। 'परिचय' के बूढ़े, बीमार लेकिन आत्मसम्मानी पिता की भूमिका में जब वह 'बीती ना बिताई रैना' गाता है तो दृश्य यादगार बन जाता है। यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए कि जब संजीव से पहले की पीढ़ी के अभिनेता तक पिता की भूमिकाएँ करने से इंकार कर देते थे तब वह उस नायिका का पिता तक बन जाता



*संजीव कुमार-रेखा : 'राम तेरे कितने नाम'*

'मौसम' का चुहलबाज पति और वेश्या में बेटी को तलाश करता पिता और 'शोले' में बदले की आग में जलता हुआ ठाकुर, ये कुछ भूमिकाएँ हैं जिनके लिए संजीव को उनकी अभिनय क्षमताओं के लिए याद रखा जाएगा। एक और फिल्म थी- 'नया दिन, नई रात' जिसमें संजीव ने नौ रसों को रेखांकित करने वाली नौ भूमिकाएँ निभाई थीं। यह फिल्म कला मूल्यों की कसौटी पर भले ही कुछ कमजोर दिखाई देती हो लेकिन संजीव कुमार की व्यापक अभिनय क्षमता से परिचित तो कराती ही है। संजीव को आँधी/ अंगूर/ नमकीन/ गृहप्रवेश/ परिचय जैसी फिल्मों में छोटी-बड़ी भूमिकाओं के लिए भी पहचाना जाता है लेकिन अपेक्षाकृत कम चर्चित फिल्म

था जिसका वह नायक बना था। 'मौसम' में शर्मिला और 'परिचय' में जया के पिता की भूमिकाएँ इसका उदाहरण हैं।

जहाँ तक यादगार भूमिकाओं का प्रश्न है, स्वयं संजीव कुमार ने एक साक्षात्कार में तीन भूमिकाओं का चयन किया था। एक थी 'शोले' में ठाकुर की भूमिका, दूसरी 'कोशिश' में गूँगे-बहरे नायक की भूमिका और तीसरी भूमिका थी फिल्म 'आँधी' में राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखने वाली नायिका के पति की भूमिका। 'आँधी' को देखकर अशोक कुमार ने संजीव से कहा था- तुमने इस फिल्म में कमाल कर दिया है। मैंने यह फिल्म इसीलिए गौर से देखी थी कि नायिका प्रधान इस फिल्म में सुचित्रा सेन के सामने तुम क्या करते हो। लेकिन सच तो यह है कि मुझे फिल्म में सिर्फ तुम्हारा चरित्र ही याद रहा। संजीव तो कहीं

दिखा ही नहीं। यही संजीव की सफलता थी।

गुलजार, संजीव के प्रिय निर्देशक थे। वे कहते थे कि गुलजार के साथ मेरा बढ़िया तालमेल रहता है। हम दोनों एक जैसा सोचते हैं। कई बार यह होता है कि मैं कोई बात कहना शुरू करता हूँ- और उसे पूरा वे कर देते हैं। जिसे 'परफेक्ट ट्यूनिंग' कहते हैं वह हमारे बीच थी। उनके सेट पर मैं बहुत सहज होकर अपने चरित्र में दाखिल होता हूँ और गुलजार कभी मेरे 'मूवमेंट्स' पर एतराज नहीं करते बल्कि वे लगातार मुझे प्रोत्साहित करते हैं। दरअसल, हमारे बीच एक अजीब सा रिश्ता है, फिर हमने जो फिल्में साथ-साथ की हैं, वे सफल भी हुई हैं। गुलजार के साथ मेरी फिल्में आईं- कोशिश/ परिचय/ आँधी/ मौसम/ नमकीन और अंगूर। ये सभी सराही गईं। जबकि गुलजार ने मेरे बिना जो फिल्में बनाई मीरा/ किताब/ किनारा, वे पिट गईं। जाहिर है गुलजार को उनकी संजीव कुमार वाली फिल्मों के लिए जाना जाता है और संजीव को गुलजार की फिल्मों से।

हाल ही में जब गुलजार इंदौर आए थे तो उन्होंने संजीव कुमार के बारे में कहा था कि संजीव को कोई हक नहीं था हमें इस तरह छोड़ जाने का। सचमुच संजीव कुमार बहुत जल्दी चले गए। सन् १९८५ में जब उनकी मृत्यु हुई तब उनके सामने बहुत लंबा रास्ता खुला पड़ा था। रचनात्मकता की दृष्टि से उन्होंने फिल्मों में बहुत छोटा जीवन जिया। 'निशान'/ 'बादल' और 'हुस्न और इश्क' जैसी कमजोर फिल्मों के बाद 'आशीर्वाद' जैसी फिल्मों में छोटी भूमिकाओं से होते हुए हिंदी

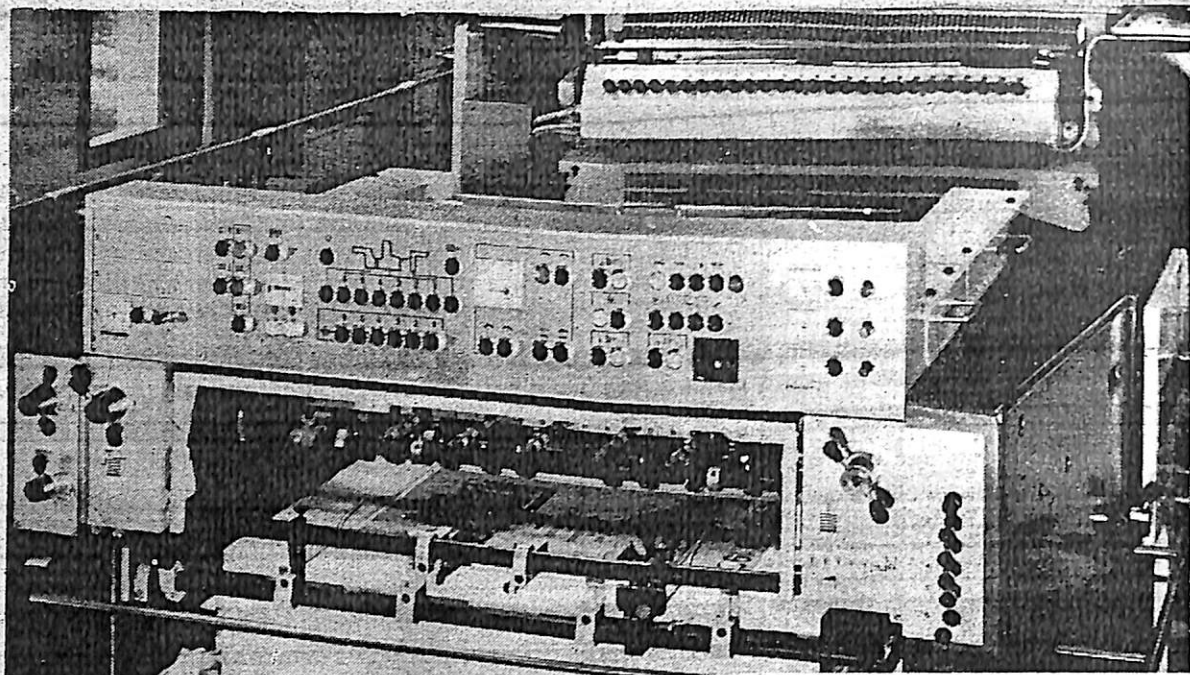
**वैसे तो संजीव कुमार सिर्फ संजीव कुमार थे। यदि स्वाभाविक अभिनय और चुनौतीपूर्ण भूमिकाओं को लेकर उनकी तुलना करने की विवशता हो, तो सिर्फ मोतीलाल या गुरुदत्त उनके सामने ठहरते हैं। दो बार 'राष्ट्रीय अभिनेता' घोषित हुए संजीव कुमार का फिल्मी जीवन भले ही छोटा रहा हो, उनकी उपलब्धियाँ महान हैं!**



प्रोफेसर की पड़ोसन में

सिनेमा के आकाश को छूने वाले संजीव कुमार एक महानायक थे। सत्यजित राय ने 'शतरंज के खिलाड़ी' के लिए उन्हें चुना। अब यह और बात है कि सत्यजित राय की कार्यशैली से वे असहमत ही रहे क्योंकि वहाँ उनका एक-एक मूवमेंट पहले से तय कर दिया गया था और संजीव को अपनी तरफ से कुछ करने का मौका नहीं मिला। लेकिन यह दो दिग्गजों की शैलियों का घर्षण ही कहा जाना चाहिए। फिल्मों के इस महानायक के बारे में एक समीक्षक ने कहा था कि लोग कहते हैं कि संजीव की मृत्यु दिल के दौरे से हुई जबकि लगता यह है कि उसकी मौत दिल टूटने से हुई। प्यार में लगातार असफल रहे संजीव आखिरकार 'मोहब्बत और खुदा' को अधूरी छोड़कर ही चल बसे।

● **प्रमुख फिल्में :-** *पहली फिल्म हम हिंदुस्तानी (१९६०) *नायक के रूप में पहली हिंदी फिल्म निशान (१९६५) *अनोखी रात/ आशीर्वाद/ गौरी/ राजा और रंक/ संघर्ष (१९६८) *चंदा और बिजली/ जीने की राह/ सत्यकाम (१९६९) *दस्तक/ देवी/ खिलौना (१९७०) *अनुभव/ मन मंदिर (१९७१) *कोशिश/ परिचय/ सीता और गीता (१९७२) *अनामिका/ अनहोनी/ मनचली (१९७३) *मनोरंजन/ नया दिन नई रात (१९७४) *आँधी/ मौसम/ शोले (१९७५) *अर्जुन पंडित/ जिंदगी (१९७६) *आलाप/ शतरंज के खिलाड़ी/ यही है जिंदगी (१९७७) *पति, पत्नी और वो/ स्वर्ग नर्क/ त्रिशूल (१९७८) *गृहप्रवेश/ काला पत्थर/ नौकर (१९७९) *अंगूर/ सिलसिला (१९८१) *नमकीन/ विधाता (१९८२) *राम तेरे कितने नाम (१९८५) *लव एंड गॉड (१९८६)। ■



# PLANETA-SUPER-VARIANT

## Medium format

## Perfect printing

Now a days printers have to adapt themselves to most diverse customer requirements, and they can master this task better if the sheet-fed offset press compiles with all pre-conditions and, like in the case of PLANETA-SUPER-VARIANT 4, versatility and quality coupled with permanently high press output. Moreover, additional and special equipment give operating comfort and bring gain in time and material. A reliable varnishing and drying conception enable economic in-line finishing with a press output of up to 11,000 Sheets/h the PLANETA—SUPER—VARIANT prints on sheets from Bible paper to cardboard of 600g/sq.m. in excellent quality. The press is available in different configurations and adaptable accurately according to customer needs with perfector unit, alcohol damping units or remote ink control system PLANETA—VARICONTROL.



KBA-PLANETA

Manufactured by :

KBA-PLANETA AG
Friedrich-List-Strasse 2,
Radebeul 8122
(Germany)

Sole Agents in India

**INDO-POLYGRAPH MACHINERY PVT. LTD.**

**Delhi :** Regd. Office : 88, Okhla Industrial Estate, New Delhi-110020
Phone : 630189, 630265 Telex : 31-75410 Grams : POLGRAPH

**Bombay :** 5 B-175, Mittal Estate, Andheri-Kurla Road, Bombay-400059
Phone : 636-5884/8805 Fax : 637-7068 Telex : 11-79232

**Madras :** 131-A Block, Shivalaya Bldg., Ist Floor, 121-C-in-C Road,
Madras-600105, Phone : 474255

## परदे पर प्रेम की नजीर

# प्रेम नजीर

विश्व कीर्तिमानों की किताब में सर्वाधिक (६५०) फिल्मों में नायक का अभिनय करने वाले नायक के रूप में नाम दर्ज करवाने वाले **महानायक प्रेम नजीर** की पहली फिल्म 'त्याग सीमा' कभी पूरी न हो पाई। दूसरी मारूमगल फ्लॉप हो गई। इन दोनों लगातार असफलताओं के बाद वे अभिनय को सदा के लिए विदा कहना चाहते थे, मगर नाकामयाबी का दाग लेकर फिल्मी दुनिया छोड़ना उन्हें ठीक न लगा। इसलिए मलयालम फिल्मी दुनिया को छोड़कर वे तमिल फिल्मों में किस्मत आजमाने मद्रास पहुँचे। यहाँ भी सफलता ने उनका दामन नहीं थामा। नौबत यहाँ तक आ गई कि वे परिवार के लिए दो वक्त का भोजन भी नं जुटा पाते थे। इस बीच उनके मित्र मुथैया ने पर्याप्त पारिश्रमिक तय करवा कर उन्हें फिल्म 'पोन्कुथिरा' में काम दिलवा दिया। यह फिल्म भी फ्लॉप रही। फिर भी उम्मीद कायम रही। मेरीलेण्ड सुब्रमनियम द्वारा निर्मित तथा निर्देशित फिल्म 'अवकाशी' में उन्हें काम मिला। यह फिल्म सुपरहिट रही। अब्दुल कादर उर्फ प्रेम नजीर की यशोगाथा विश्व में कीर्तिमानी पताका फहराने के लक्ष्य से शुरू हो गई। सन् १९५२ में जब केरल में प्रेम नजीर का उदय हो रहा था, तब कर्नाटक में राजकुमार तथा तमिलनाडु में एम.जी.आर अपने पाँव जमा रहे थे।

प्रेम नजीर का फिल्मों में प्रवेश अभिनय स्पर्धा के माध्यम से हुआ था। त्रिवेंद्रम में हुई इस स्पर्धा में उन्हें प्रथम पुरस्कार मिला। इसके बाद निर्माता परमेश्वरन ने उनके सामने फिल्मों में काम करने का प्रस्ताव रखा। इसके बाद उन्हें 'त्याग सीमा' के लिए चुना गया। उस जमाने में एक फिल्म में काम करने का पारिश्रमिक सिर्फ एक हजार रुपए मिलता था। अब्दुल कादर घर से भी भागे तथा सलेम आकर निर्माता पॉल कलाक्किलिन से मिले, जिन्होंने अपनी अगली फिल्म विसापेन्टी के लिए अनुबंधित किया। उस जमाने में डबल या डुप्लिकेट का कोई रिवाज नहीं था। तलवारबाजी/घुड़सवारी/उछलकूद स्वयं ही करना होती थी। अब्दुल कादर ने यह सब सीखा। इस फिल्म की शूटिंग के दौरान केरल फिल्मोद्योग की विख्यात हस्ती थिंकुरसी सुकुमारन नायर ने अब्दुल कादर को नया नाम दिया **'प्रेम नजीर'।**

'अवकाशी' की सफलता के बाद प्रेम नजीर तमिल फिल्मों में काम करने लगे। उन्होंने लगभग पैंतालीस तमिल फिल्मों में काम किया है। इस दौरान वे शिवाजी गणेशन, एस.एस. राजेन्द्रन, एम.जी.आर. तथा टी.आर. महालिगम जैसी हस्तियों के संपर्क में आए। पाँचवें दशक के उत्तरार्द्ध में केरल के उदय स्टूडियो में रामायण पर आधारित धार्मिक फिल्म बनाए जाने का फैसला किया गया। **'सीता'** नामक इस फिल्म में प्रेम नजीर को नायक राम तथा कौशल्या कुमारी को नायिका सीता की भूमिका दी गई। यह फिल्म सफल रही। धार्मिक फिल्मों का दौर शुरू हुआ। महाकाव्य पर आधारित फिल्मों के निर्माण में और भी स्टूडियो आगे आए। प्रेम नजीर ने धार्मिक फिल्मों को लोकप्रियता के नए आयाम दिए। पौराणिक नायकों के रूप में अपनी छवि को लोकप्रिय बनाया। धार्मिक फिल्मों के बाद आंचलिक कथाओं पर आधारित फिल्मों का दौर शुरू हुआ। उनियारचा इस दौर की सबसे सफल फिल्म रही। उदय स्टूडियो के बंद हो जाने के बाद वे 'मेरीलेण्ड स्टूडियो' से जुड़ गए। इसी स्टूडियो के सुब्रमनियम ने प्रेम नजीर को अपना कैरियर सँवारने में सर्वाधिक सहायता दी।

**गिनीज बुक में ६५० से अधिक फिल्मों में नायक की भूमिका कर प्रेम नजीर ने अपना कीर्तिमान दर्ज कराया है। नायिका शीला के साथ वे १०७ बार नायक बन कर आए। वास्तविक जीवन में जब प्रेम नजीर 'दादा' बन गए, तब भी दर्शक चाहते रहे कि वे परदे पर सिर्फ 'रोमांटिक-रोल' करें।**

दक्षिण भारत के फिल्म उद्योग में स्थापित हो जाने के बाद प्रेम नजीर ने 'फ्रीलांसर' के तौर पर काम करना शुरू किया। के.एस. एन्टनी की फिल्म 'कलापाडुकल' फ्रीलांसर के तौर पर उनकी पहली फिल्म थी। इस फिल्म में उनकी भूमिका रोमांटिक तथा पौराणिक नायकों से अलग हटकर काफी गंभीर किस्म की थी। इसी फिल्म में येसूदास ने पहली बार प्रेम नजीर के लिए पार्श्व गायन किया। फिल्म 'निनमानी कलापाडुकल' में वे पहली बार शीला के साथ नायक बन कर आए। बाद में इस जोड़ी ने एक सौ सात फिल्मों में एक साथ काम कर कीर्तिमान बनाया।

इसके बाद शुरू हुआ नजीर का उत्कर्ष काल। इस काल में दक्षिण भारत के विख्यात साहित्यकारों की कृतियों पर फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ। एम.टी. वासुदेवन नायर, मोहम्मद बशीर के उपन्यासों पर आधारित फिल्मों में नजीर ने बहुत सशक्त अभिनय क्षमता का परिचय दिया। पी. केशवदेव के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'ओडाइल नीनू' उनकी अविस्मरणीय फिल्मों में से एक है। नजीर की अभिनय प्रतिभा को उभारने का श्रेय ए. विन्सेन्ट जैसे कुशल निर्देशकों को दिया जाना चाहिए।

प्रेम नजीर की उत्कृष्ट अभिनय क्षमता 'धर्मयुद्ध' तथा फिल्म 'अचानी' में पूरे निखार पर आ गई। फिल्म 'अग्निपुत्री' में उन्होंने प्रो. राजेन्द्रन के पात्र को जीवंत कर दिया। प्रोफेसर होकर वेश्या से विवाह रचाने वाले विद्रोही पात्र की भूमिका में उन्होंने अंतरराष्ट्रीय सराहना प्राप्त की। इसी प्रकार 'गंगासागरम्' में विद्रोही पुजारी के रूप में उनका अभिनय काफी प्रभावशाली रहा। गंभीर भूमिकाओं के साथ वे हलकी-फुलकी कॉमेडी फिल्मों में भी लोकप्रियता प्राप्त करते रहे। 'लेडीज हॉस्टल', 'लंकादहनम्' ऐसी ही फिल्में हैं।

लगभग तैंतीस वर्षों तक छ: सौ पचास से भी अधिक फिल्मों में विभिन्न प्रकार के पात्रों को जीवंत करने वाले इस कीर्तिमानी नायक की आखिरी दो फिल्में थी 'धवानी' एवं 'लाल इन अमेरिका'। धवानी में उन्होंने पिता की भूमिका की थी। 'लाल इन अमेरिका' में वे एक चरित्र अभिनेता के रूप में आए। इस प्रकार 'भार्गवी निलयम' से रोमांटिक नायक के रूप में स्थापित हुई उनकी छवि ढलान पर आकर चरित्र अभिनेता के रूप में ठहर गई थी।

प्रेम नजीर को अपने कैरियर के इस ढलान का पता चल गया। उन्होंने १९८२ में फिल्मोद्योग छोड़कर राजनीति में प्रवेश की घोषणा कर दी। संभवत: एन.टी.आर. तथा



*दीपा और प्रेम नजीर फिल्म संजारी*

एम.जी.आर. जैसे समकालीन नायकों की सक्रिय राजनीति में सफलता इसका प्रमुख कारण रहा हो। वे एक नई पार्टी बनाकर राजनीति में आना चाहते थे, मगर श्रीमती इंदिरा गाँधी की मृत्यु के कारण उनकी आकांक्षा पूरी न हो सकी। वे राजनीति में आए जरूर, किंतु पृथक क्षेत्रीय दल बनाकर नहीं, बल्कि 'कांग्रेस-आई' के एक सदस्य के रूप में।

फिल्म उद्योग में उनकी सेवाओं के बदले १९८५ में उन्हें 'पद्मभूषण' से सम्मानित किया। वे 'नेशनल फिल्म अवार्ड' की जूरी के चेयरमेन बनाए गए। इसके बाद उनके संबंध सरकार से ठीक नहीं रहे। सन् १९८८ में जब फिल्मोत्सव का आयोजन त्रिवेंद्रम में हुआ था, तब प्रेम नजीर को उम्मीद थी कि आयोजन में उनकी सलाह एवं सहायता को महत्व दिया जाएगा। ऐसा हुआ नहीं तथा उन्हें आयोजन समिति से दूर रखा गया।

प्रेम नजीर का अधूरा सपना था कि वे फिल्मों का निर्देशन करते। उन्होंने दो फिल्मों के निर्माण की योजना भी तैयार कर ली थी। एक में **मैमूटी** तथा दूसरी में **मोहनलाल** को नायक के रूप में लिया गया था। निधन के समय इन दोनों फिल्मों की शूटिंग शुरू करने की पूरी तैयारियाँ हो चुकी थीं। अचानक अवसान से यह स्वप्न अधूरा रह गया। नजीर के पुत्र शाहनवाज ने भी अभिनय के क्षेत्र में प्रवेश किया, किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली है।

प्रेम नजीर के अभिनय में विविधता तथा लचीलापन जितना था उतना ही उनके व्यक्तित्व में सहानुभूति का गुण था। वे सह-अभिनेताओं एवं निर्देशकों के प्रति सदा सहिष्णु रहे तथा अनावश्यक विवादों से बचते रहे। उनकी एक और विशेषता यह रही कि वे नायिकाओं को कम ही बदलते थे। शीला ने तो उनके साथ नायिका होने का गौरव पाया था। जया भारती उनके साथ पचास से भी अधिक फिल्मों में नायिका बन कर आईं। उन्होंने दूसरे सुपर स्टारों की तरह नायिकाओं में लगातार परिवर्तन के लिए कभी दबाव नहीं डाला।

प्रेम नजीर की अन्य विशेषताओं में उनका काम के प्रति समर्पण की भावना थी। वे अठारह घंटे प्रतिदिन काम करते थे। यहाँ तक कि जिस दिन उनकी बेटी का विवाह था उस दिन भी वे काम पर गए थे। दक्षिण भारत में एक रोमांटिक नायक के रूप में उनकी छवि इतनी अधिक लोकप्रिय हो गई थी कि 'दादा' बनने के बाद भी वे रोमांटिक नायक के रूप में परदे पर आते रहे। मलयालम फिल्मों की सुंदर से सुंदर नायिकाएँ उन्हें अपना नायक बनाने में गर्वित होती थीं। शीला, जया-भारती, शारदा, विजयश्री तथा ऐसी ही अनेक नायिकाओं के साथ वे परदे पर आए।

तीन दशक तक सदाबहार रोमांटिक नायक के रूप में मलयालम फिल्मों पर एकछत्र राज्य करने वाले इस नायक को अपने समकालीन दक्षिण भारतीय नायकों की तरह राजनीति में सफलता नहीं मिली। सत्ता और कुर्सी से वे दूर ही रहे। ■



## एंटी सुपर स्टार

# रजनीकांत

रजनीकांत की लोकप्रियता तथा उनके प्रशंसकों की संख्या का अनुमान उत्तर भारतीय हिन्दी फिल्मी दर्शक शायद ही लगा पाएँ। **कमल हासन** के समानांतर फिल्मी कैरियर को विकसित करने वाले रजनीकांत को दर्शकों का महज प्यार ही नहीं मिला बल्कि **एम.जी.आर** तथा **शिवाजी गणेशन** की तरह वे प्रशंसकों के लिए आराध्य बन गए। उनके प्रशंसकों ने **'रजनी रसिकगण'** नामक पत्रिका निकाली तथा इस पत्रिका की प्रतियाँ लगातार काले बाजार में बिकीं। जिस फिल्म में रजनीकांत काम करते हैं, वह मुहूर्त के दिन ही सभी क्षेत्रीय वितरकों द्वारा खरीद ली जाती है। उनकी एक फिल्म सिर्फ दो क्षेत्रों में ही पौने दो करोड़ रुपयों में बिकी। रजनीकांत के दर्शनों के लिए प्रतिदिन हजारों लोगों की भीड़ उनके बंगले के सामने जमा हो जाती है। सिर्फ पंद्रह साल के फिल्मी कैरियर में एक सौ पच्चीस से अधिक फिल्में पूरी करके **सुपर स्टार** के स्तर तक पहुँचने वाले रजनीकांत की जीवन यात्रा ने कई मोड़ देखे हैं।

रामकृष्ण आश्रम की शिक्षण संस्थाओं में पढ़े रजनीकांत ने बस-कण्डक्टर के रूप में अपनी जवानी की शुरूआत की। अभिनय का शौक था इसलिए नाटकों में काम करते रहते थे। एक नाटक में दुर्योधन की भूमिका जीवंत रूप से अदा करने पर मित्रों ने उन्हें अभिनय को कैरियर के रूप में अपनाने की सलाह दी। इसी राय को मानकर वे मद्रास आ गए। यहाँ एक एक्टिंग प्रशिक्षण संस्थान में अभिनय की औपचारिक शिक्षा लेने लगे। पहली बार परदे पर आने का मौका उन्हें 'अपूर्व रांगागल' नामक फिल्म में मिला। इस फिल्म में उनकी भूमिका काफी संक्षिप्त थी। एक्टिंग स्कूल की फाइनल परीक्षा में विख्यात निर्माता-निर्देशक के बालचंदर संस्थान में आए। उन्हें रजनीकांत का अभिनय पसंद आ गया। उन्होंने अपनी पहली फिल्म 'मुन्द्रु मुदीचू' में रजनीकांत को एंटी हीरो के रूप में लिया। इस प्रकार शिवाजी राव, रजनीकांत नाम से महानायक के राजमार्ग पर चल पड़े। 'भैरवी' नामक फिल्म में वे पहली बार नायक के रूप में अवतरित हुए। यह फिल्म सुपर हिट रही। नायक के रूप में इतनी अधिक सफलता पाने की कल्पना तक रजनीकांत ने नहीं की थी। उन्हें तो सिर्फ खलनायकी में ही अपना भविष्य नजर आ रहा था। इसके बाद उन्हें गंभीर नायक के तौर पर पंजू अरुणाचलम् ने पेश किया। अरुणाचलम् की अगली फिल्म में वे हल्की-फुल्की मजाकिया भूमिका में आए। इस फिल्म के निर्देशक राजशेखर थे। एक अँगरेजी फिल्म 'ब्लड स्टोन' में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका की है। रजनीकांत के अभिनय की विशेषताओं में उनके लटके-झटके प्रमुख हैं। सिगरेट उछालने की कला, चेहरे को मरोड़ने की क्षमता, संवाद अदायगी की मौलिकता आदि।

कमल हासन से रजनीकांत की स्पर्धा का दौर रजनीकांत की पहली फिल्म से ही शुरू हो गया था। १९७४ से शुरू हुए इस दौर ने फिल्मी दर्शकों को दो अखाड़ों में बाँट दिया। फिल्म 'निनाईयल इनीक्कुम' के प्रदर्शन पर तो तमिलनाडु में फिल्मी प्रशंसकों के मध्य शीत संघर्ष शुरू हो गया था। दोनों सुपर सितारों के चहेते बहस में ऐसे उलझे कि कौन सा सितारा फिल्म में भारी पड़ा है? यह फिल्म बॉक्स आफिस पर फ्लॉप क्यों हो गई? इसके बाद से दोनों सितारों ने निश्चय किया कि वे भविष्य में एक साथ काम नहीं करेंगे।

रजनीकांत को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का महत्वपूर्ण अवसर सन् १९८१ में मिला। उनकी फिल्म 'बिल्ला' ने इस वर्ष तमिलनाडु में बॉक्स आफिस के नए कीर्तिमान स्थापित किए। अमिताभ की सुपर हिट हिन्दी फिल्म 'डॉन' का यह तमिल संस्करण रजनीकांत की लोकप्रियता को और भी बढ़ा गया।

निर्माता पूनमचंद्र-राव ने अपनी हिन्दी फिल्म 'अन्धा कानून' में रजनीकांत को महत्वपूर्ण भूमिका दी। इसके बाद तो उनके प्रशंसकों की तादाद और भी बढ़ गई। स्वयं रजनीकांत को हिन्दी फिल्मों में काम करना अच्छा लगने लगा। वे सिर्फ उन्हीं हिन्दी फिल्मों में काम करते हैं जो बड़े बजट की मल्टीस्टार फिल्में होती हैं। इसकी वजह यह कि इन फिल्मों को बॉक्स आफिस पर कामयाब करने की जिम्मेदारी सिर्फ रजनीकांत की नहीं होती। इसके ठीक विपरीत तमिल फिल्मों में सफलता का सारा दारोमदार उन्हीं के कन्धों पर टिका रहता है। सन् १९८९ में प्रदर्शित हुई 'राजाधिराज' उनकी १२५वीं फिल्म थी। यह फिल्म सुपरहिट रही।

इसीलिए सरकार भी 'टैक्स' के रूप में मुनाफे का अपना हिस्सा वसूलती है।

फिल्मों का प्रमुख उद्देश्य दर्शकों को संतुष्ट करना होता है। अभिनेताओं का प्रयास भी इसी दिशा में होना चाहिए। शिक्षात्मक होना भी जरूरी है। लेकिन यह प्रतिशत पंद्रह से बीस के आसपास ही होना चाहिए। इसी तर्क के आधार पर वे अपने लटकों-झटकों को उचित ठहराते हैं। सिगरेट उछालने की उनकी चर्चित शैली को प्रोत्साहित करने का श्रेय वे निर्माता बालचंदर को देते हैं। उन्हें भारतीय फिल्मी दर्शकों की रुचि से कोई शिकायत नहीं है। वे कथित बुद्धिजीवियों से स्वयं को दूर ही रखना पसंद करते हैं।

रजनीकांत एक असामान्य तथा मौलिक व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके जीवन का ध्येय यश तथा धन प्राप्ति से अलग है। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था, 'अभिनय को मैंने सर्वस्व कभी नहीं माना। मैं एन.टी.आर. या अमिताभ नहीं बनना चाहता। स्टूडियो से लौटने के बाद रजनीकांत बदल कर शिवाजी राव हो जाता है। इसीलिए दर्शकों के बीच देवता जैसी छवि बनाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की। परदे पर मद्यपान करने, जूआ खेलने, सिगरेट पीने, दिखाई पड़ने में मुझे कोई हिचक नहीं होती, मैं जब बंगलौर जाता हूँ तब बढ़िया होटलों में ठहरता हूँ। वहाँ अपने पुराने बस कण्डक्टरी के जमाने के दोस्तों को बुलाता हूँ। विदेशी दारू से उनकी दावत करता हूँ तथा तनावमुक्त क्षणों का आनंद लेता हूँ।

रजनीकांत का झुकाव आध्यात्म की ओर भी काफी है। रमन्ना महर्षि को वे अपना गुरु एवं मार्गदर्शक कहते हैं। बकौल उनके धन, कीर्ति तथा भौतिक सुखों से उन्हें कोई लगाव नहीं है। इसीलिए उन्होंने निकट भविष्य में जो कार्यक्रम अपनाने की घोषणा की है, उसके अनुसार वे वर्ष में दो माह तक लुंगी तथा शाल धारण कर कन्धे पर झोला लटकाए हिमालय में योगी का जीवन बिताएँगे। इसके बाद दो माह शान और शौकत के साथ न्यूयार्क जाकर भोगी की जिन्दगी बिताएँगे। शेष आठ माह की अवधि में मात्र एक फिल्म में काम करेंगे।

रजनीकांत को साफ़ बोलने की आदत है। उन्हें यह कहने में झिझक नहीं होती कि फिल्मोद्योग में उनका कोई दोस्त नहीं है। इसी प्रकार वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि अपने व्यावसायिक तनाव दूर करने के लिए वे घर पर अकेले बैठकर मदिरापान करते हैं। छोटे बेनरों वाली फिल्मों के लिए वे अनुबंध करना कतई पसंद नहीं करते। हिंदी फिल्मों में भी उन्होंने केवल बड़े बजट वाली फिल्में ही स्वीकार की हैं। हालीवुड में निर्मित होने वाली अँगरेजी फिल्मों में भी काम करने के प्रस्ताव उनके पास आ रहे हैं। इस समय दक्षिण भारत में रजनीकांत का सितारा बुलंद है। अमिताभ बच्चन के बारे में कहा जाता है कि वे एक फिल्म से एक करोड़ रुपए पारिश्रमिक वसूलते हैं। रजनीकांत की पारिश्रमिक दर डेढ़ करोड़ रुपए है। **दलपति** उनकी सबसे महँगी फिल्म है। पिछले दिनों उनका पत्नी से बे-बनाव हो गया था। वे होटल में जाकर रहने लगे। उनके प्रशंसकों को यह नागवार गुजरा। पाँच हजार प्रशंसक उनके घर के सामने भूख-हड़ताल पर बैठ गए। जब तक रजनीकांत ने घर लौटकर पत्नी से समझौता नहीं किया, दर्शक नहीं गए। दरअसल बंबइया फिल्मों की राजनीति ने **दक्षिण भारत** के इस सुपर सितारे की उपेक्षा की है।




*जीनत अमान के साथ अपनी मुस्कराहट बाँटते*

**'रावण' की तरह आचरण करने वाले इस महानायक को उनके प्रशंसक 'राम' की तरह पूजते हैं। बस-कंडक्टर से महानायक बनने वाले रजनीकांत दक्षिण भारत में अमिताभ बच्चन से भी दस कदम आगे हैं। 'दलपति' फिल्म से उन्होंने डेढ़ करोड़ रुपया पारिश्रमिक लेकर सबको चौंका दिया है।**

व्यावसायिक फिल्मों के इस तीखे तेवर वाले नायक की सोचने की शैली भी तीखी तथा मौलिक है। उनके अनुसार फिल्म एक उद्योग है तथा इससे जुड़ा हर आदमी पैसा बनाना चाहता है। यह स्वाभाविक भी है।

---

**प्रमुख हिन्दी फिल्में:** अंधा कानून (१९८३), गगवा (१९८४), जान जानी जनार्दन (१९८४), बेवफाई, गिरफ्तार, गलियों का गुण्डा, वफादार, मेरा इंतकाम, महागुरु (१९८५), असली नकली (१९८६), तमाचा (१९८८), चालबाज (१९८९), फरिश्ते (१९९१), फूल बने अंगारे, खून का कर्ज (१९९१)। ■

# राजकपूर : आम आदमी का अक्स

**राजकपूर के पास दिलीप कुमार अथवा अमिताभ जैसी आवाज नहीं थी, परन्तु किसी भी भारतीय अभिनेता के पास उनके जैसी आँखें नहीं थीं। राजकपूर की आँखों ने बहुत कुछ कहा है, जो सीधे दर्शक के दिल में उतरा है।**

● **जयप्रकाश चौकसे**

राजकपूर का निर्माता-निर्देशक स्वरूप इतना विराट रहा है कि उनकी अभिनय क्षमता का सही आकलन कभी नहीं हो पाया। उनका जादुई व्यक्तित्व इतना आभा मंडित रहा है कि उनके अभिनेता स्वरूप पर कभी चर्चा ही नहीं हुई। उन पर आधा दर्जन किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं और सभी लेखकों ने फिल्मकार राजकपूर पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। **इससे बड़ा अन्याय अभिनेता राजकपूर के साथ क्या हो सकता है कि स्वयं फिल्मकार राजकपूर ने उसे ज्यादा महत्व नहीं दिया और दूसरे निर्देशकों की फिल्म में भी यंत्रवत आदेशों का पालन किया।** इतना ही नहीं, वे फिल्मों के चयन के प्रति भी उदासीन ही रहे। स्वयं की फिल्मों का निष्णात अभिनेता राजकपूर, दूसरे निर्देशकों की फिल्मों में यदाकदा ही नजर आता है। एक अभिनेता के रूप में राजकपूर ने अपने निर्देशकों को कभी सलाह नहीं दी। दिलीप कुमार और अमिताभ निर्देशकों के निर्देशक रहे परन्तु राजकपूर ने अपने आप को 'दखलंदाजी' से बचाए रखा। आर.के. के बाहर की गई फिल्मों में, अभिनय की गुणवत्ता की दृष्टि से, केवल चार या पाँच फिल्मों को गिनाया जा सकता है-तीसरी कसम/ अनाड़ी/ दास्तान/ अंदाज/ फिर सुबह होगी/ छलिया और दिल ही तो है। आर.के. की हर फिल्म में राजकपूर ने बहुत अच्छा अभिनय किया और इनमें भी जागते रहो/ श्री ४२०/ जोकर और संगम अविस्मरणीय अभिनय के लिए सदैव याद की जाएँगी। संगम में मध्यांतर के बाद ईर्ष्या की अग्नि में जलने वाले पति के रूप में राजकपूर ने बहुत भावप्रवण अभिनय किया है। **यह कितनी अजीब बात है कि हास्य भूमिकाओं के लिए लोकप्रिय राजकपूर ने गंभीर पात्रों के रूप में अपने जीवन का श्रेष्ठतम अभिनय किया** है-तीसरी कसम/ जागते रहो/ अनाड़ी और जोकर के उदाहरण सामने हैं। दरअसल राजकपूर की शैली 'ट्रेज्यो-कॉमिक' रही-आँख में आँसू और होंठ पर मुस्कराहट-इस विधा के वे एकमात्र अभिनेता रहे। **राजकपूर के पास दिलीप कुमार या अमिताभ की आवाज नहीं थी परन्तु किसी भी भारतीय कलाकार के पास राजकपूर की आँखें नहीं थीं और इन आँखों से राजकपूर ने बहुत कुछ कहा है।** श्वेत-श्याम फिल्मों में इन आँखों की भावप्रवणता से दर्शक अभिभूत होता रहा, तो कलर के युग में इन आँखों के रंग ने गजब ढाया। आँखों के साथ ही राजकपूर पूरे जिस्म का प्रयोग अभिनय के लिए करते थे। 'अंदाज' प्रतिभा का संगम था और दिलीप के पात्र में सहानुभूति अंतर्निहित थी-वह लेखक और निर्देशक का प्रिय पात्र था। इन सब बातों के बावजूद राजकपूर ने खिलंदड़ युवक का अभिनय इतना जबरदस्त किया कि लोग मंत्रमुग्ध हो गए। अन्तर्मुखी पात्र का अभिनय आसान होता है क्योंकि कुछ नहीं करना भी अभिनय का हिस्सा माना जाता है। बहिर्मुखी पात्र को जीवंत करने के लिए अपने पूरे शरीर को सुख के झरने में बदलना होता है और 'ओवर-एक्टिंग' से भी बचना होता है। **अंदाज/दास्तान और संगम में राजकपूर के अभिनय ने आनंद के पर्याय का रूप ग्रहण कर लिया।** अविरल सुख के इसी स्रोत से प्रभावित होकर ऋषिकेश मुखर्जी ने 'आनंद' के पात्र की रचना की और फिल्म 'आनंद' राजकपूर को समर्पित की।

राजकपूर ने अपने अभिनय में गीत के समय होंठ चलाने के कार्य पर पूरा अधिकार कर लिया था व मुकेश की आवाज उनकी आवाज से मिलती भी थी। गीतांकन के समय राजकपूर सचमुच ही प्लेबेक वाले गीत के साथ सुर मिलाकर गाते थे, इसी कारण उनका गीत अभिनय बहुत सच्चा और भला लगता था उनके चेहरे और गले की मांसपेशियाँ सही रूप में क्रियाशील रहती थीं। बहुत से अभिनेता गा ही नहीं सकते, इसलिए, प्लेबेक का छलावा पकडा जाता था।

सुनहरे पर्दे पर आम आदमी के पात्र को प्रस्तुत करने वाले राजकपूर असली जीवन में यूरोपिअन की तरह दिखते थे परन्तु यह उनके अभिनय का ही कमाल है कि अविश्वसनीय

## रसिक राजकपूर!

*भारतीय फिल्मोद्योग के शो-मैन राजकपूर सही अर्थों में रसिक प्रवृत्ति के थे। नारी सौंदर्य के प्रति उनके हृदय में अगाध आकर्षण था। कैशोर्य की प्रथम सीढी पर चढ़ते ही उन्हें रोमांस की अनुभूति होने लगी थी। अभिनेता बलराज साहनी की पहली पत्नी **दमयंती** ने पहली बार उनके हृदय को स्पन्दित किया। इसके बाद अभिनेत्री हेमावती के प्रति वे आकृष्ट हुए। बाद में हेमावती, सप्रू की पत्नी बन गई। राजकपूर के जीवन में कृष्णा का प्रवेश हुआ। इसके बाद भी उनका रोमांटिक हृदय सौंदर्य के प्रति पिघलता रहा। मधुबाला की सुंदरता के वे पुजारी थे। नरगिस, पद्मिनी और वैजयंती माला से उनके रोमांटिक रिश्तों की कथाएँ काफी चर्चित हुईं। राजकपूर और नरगिस की प्रेम कहानी सन् १९४८ में शुरू हुई। राजकपूर की फिल्म **आग** में जब नरगिस को लिया गया तो उसकी आयु सिर्फ १७ बरस थी। उसके बाद सन् १९५६ तक दोनों ने सत्रह फिल्मों में साथ काम किया। नरगिस सभी समारोहों में राजकपूर के साथ जाती थी। यहाँ तक कि रूस में अखबारों में उन्हें राजकपूर की पत्नी ही लिखा जाता था। कहते हैं कि नरगिस के हृदय में जब मातृत्व की आकांक्षा जागी, तब से उनके संबंध राजकपूर से तनावग्रस्त होने शुरू हुए। नरगिस, सुनील दत्त की पत्नी बन गई। इसके बाद उनकी भूमिका एक आदर्श पत्नी और माँ की रही। राजकपूर ने भी एक जिम्मेदार प्रेमी की तरह नरगिस के वैवाहिक जीवन में विष घोलने के हर प्रयास से स्वयं को बचाए रखा। 'मैं नशे में हूँ' तथा 'फिर सुबह होगी' फिल्म के निर्माता चाहते थे कि राजकपूर पर्दे पर ऐसे गीत गाते हुए नजर आएँ, जो नरगिस की बेवफाई दर्शाते हों। इसके लिए 'किसी नरगिसी नजर को दिल देंगे हम' तथा 'इस नरगिसी आँखों के छुपे वार से तौबा' जैसे गीत खासतौर पर लिखे गए। राजकपूर ने इन गीतों को गाने से साफ इंकार कर दिया।*

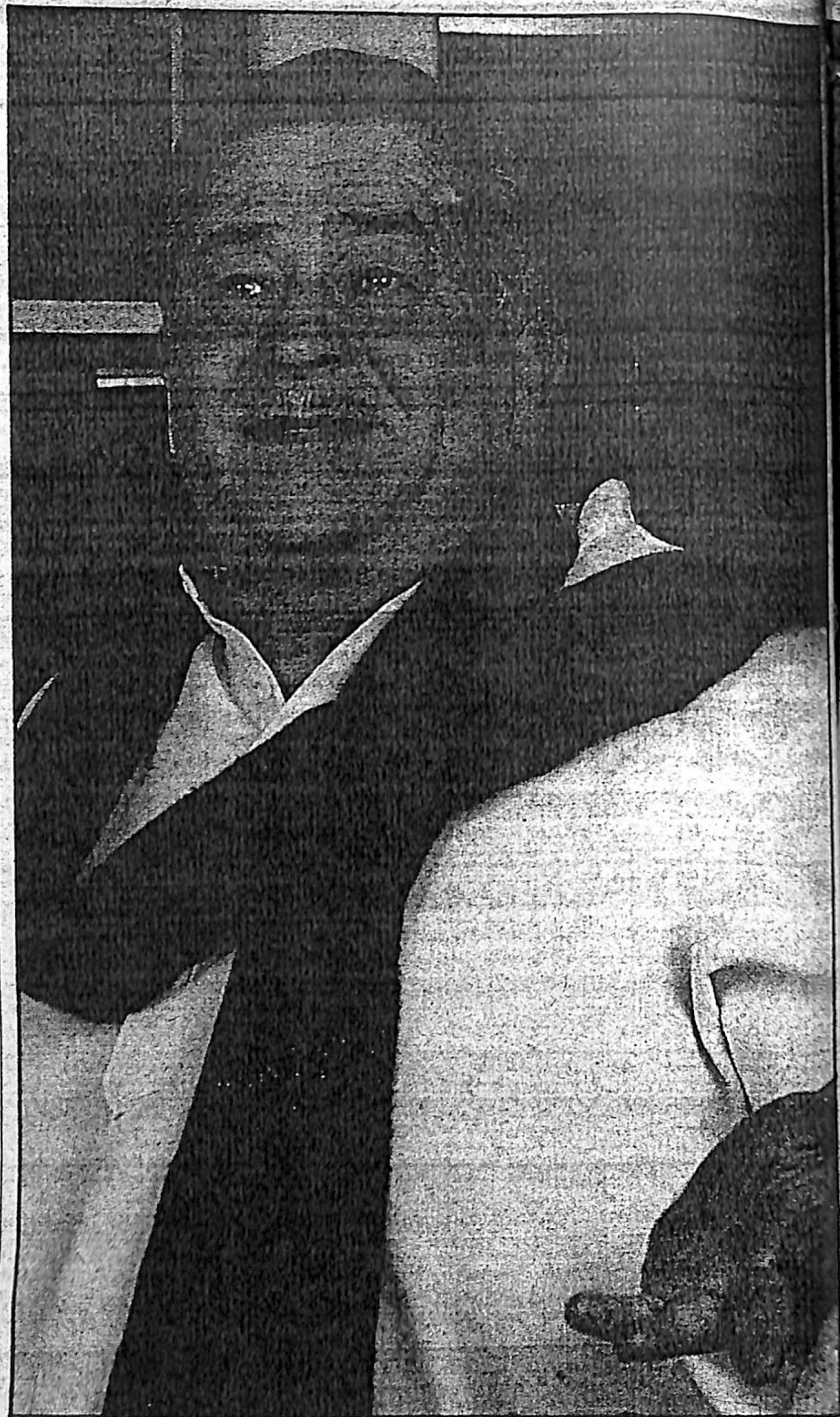
*इसका मतलब यह नहीं कि प्यार दोनों के ही दिल से मिट गया था। नरगिस हमेशा सफेद रंग की साड़ी पहनती रहीं, जो राज का पसंदीदा रंग था। राज, नरगिस द्वारा उपहार में दी गई कार को आजीवन सहेजकर, संभालकर रखे रहे और उन्होंने आर.के. फिल्म के बैनर को बदला भी नहीं जिसमें नरगिस जैसी शक्ल की युवती राज की बाहों में झूलती नजर आती है।*

● **सरला**

पात्र (राजू-जिस देश में) में भी सच्चे लगते थे। तीसरी कसम के निर्माण के समय कहानीकार **फणीश्वरनाथ रेणु** जीवित थे और वे अपने हीरामन से बहुत प्रसन्न थे। फिल्म बनने के पूर्व उन्हें शक था कि खिलंदड़ बहिर्मुखी राजकपूर गाँव के गवई गाड़ीवान हीरामन को कैसे प्रस्तुत करेंगे। शूटिंग के पहले ही दौर में उन्हें उनका हीरामन साक्षात नजर आया। 'जागते रहो' में गाँव से आए प्यासे नवयुवक की कथा है। शहर की जगमग ने उसे चौंधिया दिया है परन्तु जीवन के नकलीपन पर वह शर्मिंदा भी है। 'जागते रहो' की बहुमंजिला इमारत आधुनिक भारत है और जैसे आधुनिक शहरी इंडिया ने भारत के गाँव की आवाज दबा दी है वैसे ही पूरी फिल्म में नायक केवल एक संवाद बोलता है। पूरी फिल्म में राजकपूर की आँखें और हाव-भाव ही उसकी मूक वेदना को अभिव्यक्त करते हैं। 'चार दिल चार राहें' में राजकपूर अकेले ही व्यक्ति की बारात लिए हरिजन कन्या को ब्याहने जाते हैं। अद्‌भुत दृश्य है और अद्‌भुत है अभिनय। 'फिर सुबह होगी' में गरीबी और सामाजिक अन्याय से पीड़ित तथा हत्या के अपराध भाव से दुःखी नायक की कठिन भूमिका को राजकपूर ने अत्यंत तन्मयता से प्रस्तुत किया। विद्रुप भरी हँसी के साथ गीत गाया है: 'आसमाँ पे है खुदा और जमीं पर हम, आजकल वह इस तरफ देखता है कम।' 'फिर सुबह होगी' विश्व विख्यात उपन्यास 'क्राइम एंड पनिशमेंट' का भारतीय संस्करण थी। एक गरीब परिवार की मदद के लिए कानून का विद्यार्थी कानून तोड़ता है और अपराध भाव से ग्रसित होकर हकीकत से भागना चाहता है। उसने अपने पीछे कोई सबूत नहीं छोड़ा है परन्तु अपनी आत्मा की आवाज से कैसे दूर भागे? इस जटिल भूमिका को राजकपूर ने बहुत एकाग्रता से निभाया और इसी समय बिना हाथ हिलाए तेजी से चलने की क्रिया को अपनाया। **कसी हुई मुट्ठियाँ, माथे पर कई शिकन और आँखों में असीम वेदना तथा विद्रुप से तिरछे हुए होंठ- और साहिर के अर्थवान शब्द 'रहने को घर नहीं है, कहने को सारा जहाँ हमारा' - दास्तोवस्की का पात्र जीवंत हो उठा।** परवरिश में नाजायज संतान होने के दुःख को राजकपूर ने साकार किया। 'आँसू भरी है ये जीवन की राहें' गीत के समय उनकी तन्मयता दर्शक की आँखें नम कर देती हैं।

'मेरा नाम जोकर' के प्रारंभ में एक **'फार्स'** है-नायक अपना दिल खोज रहा है। दर्शक दीर्घा में उसकी तीन प्रेयसियाँ बैठी हैं। वह उनकी तरफ देखकर मंद-मंद मुस्कराता है। **यह एक मुस्कराहट जोकर की सारी वेदना व्यक्त करती है।** साहित्य की शब्दावली में कोई शायर अभिनेता होता, तो कहता 'राजकपूर, मेरा सारा दीवान ले लो परन्तु अपनी यह मुस्कराहट मुझे दे दो।'

जोकर/ जागते रहो/ तीसरी कसम में अनेक दृश्य हैं जिसका विस्तार से विवरण देकर अभिनेता राजकपूर के सही आकलन का



प्रयास किया जाता है परन्तु 'श्री ४२०' में उनके अभिनय का सही मूल्यांकन कभी नहीं हुआ। 'आवारा' की अंतरराष्ट्रीय ख्याति की छाया में छिपा रहा उनका यह प्रयास। दरअसल 'श्री ४२०' कालजयी कृति है। हर युग में वह समकालीन है। सड़क छाप चाय के ठिए पर नायक ने प्रेमिका को चाय प्रस्तुत की है परन्तु चायवाला नकद लिए बिना उसे चाय नहीं देता। वह अपने **मासूम से छल** को कायम रखते हुए प्रेमिका से कहता है कि चायवाले काका के पास सौ का छुट्टा नहीं है-क्या उसके पास एक दुअन्नी है। नायिका पैसे देती है। **राजकपूर के चेहरे पर गरीबी का इतिहास लिखा है-बस एक ही शॉट और लाचारी का भाव**-यह सैल्यूलाइड पर कविता का क्षण है। फिल्म के दूसरे भाग में इसी दृश्य का काउंटर है जब नायिका के पास दुअन्नी भी नहीं है और चायवाला काका उसे चाय देते हुए

कहता है कि कितने ही बड़े लोग उसके यहाँ मुफ्त की पी गए हैं और राजकपूर कार से उतरकर आता है-**आज उसके पास सब कुछ है परन्तु वह पहले से भी अधिक बेचारा है।** इसी फिल्म में सफल और अमीर राजकपूर आईने में अपनी छवि से बातचीत करता है-गरीब चिथड़ों में लिपटी हुई छवि से दिल की बातें- इस दृश्य को अनेक अभिनेताओं ने दोहराया है। आदमी और आत्मा की मुठभेड़ का यह ऐतिहासिक दृश्य है। श्री ४२० का यह आत्म-कथन वाला दृश्य शेक्सपीयर की सोलीलॉकी का सैल्यूलाइड रूपांतर है।

नायक के रूप में, अपने 'आखरी तमाशे जोकर' के बाद राजकपूर ने 'कल आज और कल' में चरित्र भूमिका निभाई। बीच की पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हुए एक दृश्य में राजकपूर सूने भवन को निहारता है जिसमें सारे फर्नीचर और फानूस पर कपड़े ढँके हैं- राजकपूर की निगाह में उजड़े हुए व्यक्ति का दर्द उभर आता है। 'धरम करम' में उनका अभिनय प्राणवान है। खान दोस्त/ अब्दुल्ला और दो जासूस में उन्होंने केन्द्रीय भूमिकाएँ की और कमजोर दिग्दर्शकों के बावजूद लोकप्रिय कार्य किया।

राजकपूर ने अपनी प्रारंभिक फिल्मों में संवाद अदायगी की अनेक गलतियाँ कीं थीं। मसलन वे बहुत तेज बोलते थे और इसी कारण आवाज फट जाती थी। शीघ्र ही उन्होंने अपने में सुधार किया और अंदाज तथा आवारा तक विश्वास पा लिया। उन्हीं दिनों उन्होंने नृत्य के कार्य में दिलचस्पी ली और 'दास्तान' तथा 'सरगम' में लोकप्रिय थिरकन पा ली। संगीत की ईश्वरप्रदत्त समझ ने उन्हें यहाँ भी मदद की। श्री ४२० में 'मुड़ मुड़ के न देख' गीत पर उन्होंने मनमोहक नृत्य किया। डांस मास्टर सत्यनारायण ने 'दिल का हाल' के लिए अच्छा नृत्य संयोजन किया था। पाश्चात्य नृत्य स्लो फॉक्स ट्राट वे बहुत अच्छा करते थे। भगवान दादा के 'अलबेला' की शैली को राजकपूर ने खुले मन से अपनाया और अपने शरीर में स्वाभाविक लय के कारण उस शैली में और थिरकन भर दी। राजकपूर ने बाल कलाकार के रूप में (१९३५) 'इंकलाब' से अभिनय यात्रा शुरू की जो १९८५ में 'चोर मंडली' की शूटिंग पर समाप्त हुई। इन पचास वर्षों में राजकपूर ने ६५ फिल्मों में अभिनय किया और अपनी चौथी फिल्म से वे नायक के रूप में आए। जोकर के बाद तीन फिल्मों में चरित्र भूमिकाएँ कीं और पाँच फिल्मों में केन्द्रीय पात्र किए। इसके अतिरिक्त सभी फिल्मों में नायक की भूमिका की। 'बेवफा' नामक फिल्म में खलनायक और वाल्मिकी फिल्म में नारद की भूमिका की थी।

एक अभिनेता के रूप में राजकपूर की प्रतिभा का पूरा दोहन नहीं हो सका परन्तु सीमित अवसरों पर अभिनय के सुषुप्त ज्वालामुखी की लपटें देखने को मिलती हैं। आँखों से भावाभिनय करने वाला राजकपूर आम आदमी का प्रतिनिधि कलाकार कहलाया। ■

**यह कितनी अजीब बात है कि हास्य भूमिकाओं के लिए लोकप्रिय राजकपूर ने गम्भीर पात्रों के रूप में अपने जीवन का श्रेष्ठतम अभिनय किया है।**

*फिल्म आग (१९४८) में नरगिस-राजकपूर*



**प्रमुख फिल्में :-** *इंकलाब (१९३५) *वाल्मिकी (१९४६) *नीलकमल (१९४७) *आग (१९४८) *अंदाज/ बरसात/ सुनहरे दिन (१९४९) *बावरे नयन/ दास्तान/ सरगम (१९५०) *आवारा (१९५१) *अनहोनी (१९५२) *आह/ पापी (१९५३) *बूट पॉलिश (१९५४) *श्री ४२० (१९५५) *चोरी-चोरी/ जागते रहो (१९५६) *शारदा (१९५७) *परवरिश/ फिर सुबह होगी (१९५८) *अनाड़ी/ चार दिल चार राहें/ कन्हैया/ मैं नशे में हूँ (१९५९) *छलिया/ जिस देश में गंगा बहती है (१९६०) *आशिक/ दिल ही तो है (१९६३) *संगम (१९६४) *तीसरी कसम (१९६५) *सपनों का सौदागर (१९६९) *मेरा नाम जोकर/ कल आज और कल (१९७१) *धरम-करम (१९७५) *खान दोस्त (१९७६) *अब्दुल्ला (१९८०)।

ओम पुरी :

# अभिनय का नया व्याकरण

● ब्रजेश्वर मदान

बर्ट हंस्त्रा की एक फिल्म है 'ग्लास'। फिल्म में दस मिनट का एक दृश्य है। फेक्टरी में बोतलें अपने-आप भरी जा रही हैं। उन पर ढक्कन लग रहे हैं। वे पैक हो रही हैं। हम देखते हैं कि कैसे यन्त्रविधि ने आदमी को गायब कर दिया है। जरा ठहरिए। नौ मिनट के बाद हम देखते हैं कि एक बोतल गिर जाती है। और उसके बाद एक-एक करके बोतलें गिरकर टूटने लगती हैं। आधे मिनट बाद हम देखते हैं कि अचानक एक मानवीय हाथ आता है और उस बोतल को सीधा कर देता है।

बर्ट हंस्त्रा की फिल्म के इस प्रसंग और यंत्रविधि को समझने के लिए एक रूपक के तौर पर प्रस्तुत कर सकते हैं कि कैसे यंत्रविधि ने कलाओं को भी पुराने मानवीय रूपों से काटा है।

बर्ट हंस्त्रा की इस फिल्म की चर्चा आज से कई वर्ष पूर्व **ओम पुरी** के साथ एक बातचीत के दौरान आई थी। शायद यह सन् ८३ की बात है। मैंने सत्यजित राय की फिल्म 'सद्गति' के संदर्भ में ओम पुरी से पूछा था, आखिर सत्यजित राय को 'सद्गति' के उस प्रसंग में जहाँ वह कुल्हाड़े से लकड़ी काट रहा था, के प्रभाव को तकनीक से क्यों दिखाना पड़ा।

ओम पुरी का उत्तर था-एक एक्टर के तौर पर बहुत 'एम्ब्रेसमेंट' महसूस हुई थी। क्या मुझमें कोई कमी थी। मैं ऐसा नहीं कह सकता था, जो उन्हें तकनीक का सहारा लेना पड़ा। शायद मेरे रिहर्सल करने के ढंग से उन्हें ऐसा लगा हो कि इस सीन का 'इम्पेक्ट' बगैर तकनीक के नहीं निकाल पाऊँगा। लेकिन यह प्रभाव गहरा हो सकता था, अगर एक स्टेटिक फ्रेम में यह दिखाया जाता कि कैसे वह लकड़ी फाड़ रहा है। धीरे-धीरे उसकी गति बढ़ती जाती है। वह अपनी सीमाओं को तोड़ रहा है। अपने आप को तोड़ रहा है।

ऐसी बात नहीं कि राय की दृष्टि से कोई मानवीय स्पर्श छूट जाए। 'सद्गति' के बारे में ओम पुरी ने एक दूसरे प्रसंग का जिक्र किया। राय ने फ्रेम में सिर्फ ओम पुरी का चेहरा रखा था। शॉट के बाद उन्होंने ओम पुरी से पूछा कि पेट पर हाथ क्यों रखा हुआ था, तो ओम

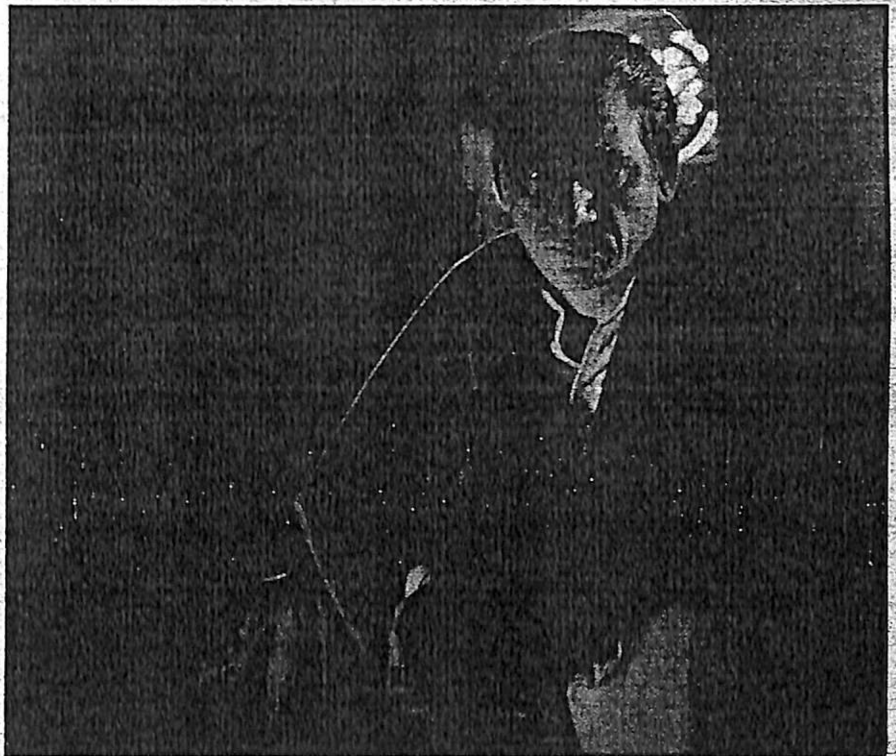
**ओमपुरी के अभिनय में यह बात सहजता से देखी जा सकती है कि वह अभिनय नहीं करता, बल्कि अपने 'चरित्र' को 'एनलाइज' करता है। अपने 'इमोशन' के विचार दर्शकों तक पहुँचा कर ओम पुरी ने नया रिश्ता कायम किया है। वे अपनी भूमिकाओं के लिए 'इमोशन-मैमोरी' सामूहिक-जीवन से ढूँढते हैं। यही उनकी अभिनय क्षमता है कि हर बार वे अपने द्वारा स्थापित अभिनय-सीमाओं को तोड़ते हुए आगे बढ़ते हैं।**

पुरी ने बताया जो व्यक्ति भूखा है और उसने कुछ खाया नहीं, खाली पेट कुल्हाड़ा चलाने से उसकी आँतें तो हिलेंगी और पेट में दर्द होगा। ओम पुरी से यह सुनने के बाद राय ने वह शॉट पेट पर उसके हाथ के साथ दोबारा लिया।

बात हाथ तक पहुँच गई। बर्ट हूंस्त्रा की फिल्म 'ग्लास' के संदर्भ में ओम पुरी का कहना था, लिहाजा मानवीय हाथ की जरूरत पड़ी। थिएटर में मानवीय टच की ज्यादा जरूरत है। लेकिन यंत्रविधि के बावजूद हो ही नहीं सकता कि एक्टर की जरूरत न पड़े। अगर आपके पास एक्टर है, तो डायरेक्टर का फर्ज है कि वह 'पोटेंशियल' को निकाल ले, क्योंकि उसमें 'लाइफ क्वालिटी' होती है। छूने की शक्ति होती है। बेजान चीजों की बजाए वह ज्यादा ताकत से छू सकता है।

ओम पुरी का फिल्मों में प्रवेश सन् ७८ में गिरीश कर्नाड की फिल्म **'गोधूलि'** से हुआ था। जिस फिल्म से उन्हें राष्ट्रीय पहचान मिली वह फिल्म थी गोविन्द निहलानी की **'आक्रोश'**। यहाँ इस फिल्म में ओम पुरी को देखना वैसा ही था जैसे ग्लास फेक्टरी में जहाँ सब कुछ स्वचलित प्रणाली से बिना आदमी के हो रहा हो। अचानक एक मानवीय हाथ का दिखाई दे जाना। 'आक्रोश' में हमें ओम पुरी की भूमिका में एक एक्टर की ताकत का पता चलता है। यह फिल्म में एक ऐसा चरित्र है, जो या तो 'चुप' रहता है या 'चीखता' है और उसकी चुप्पी में भी हम एक्टर की ताकत को पहचानते हैं। हमारे और फिल्म के बीच जैसे और कोई नहीं रहता। हम देखते हैं कि यहाँ जैसे फिल्म के सभी उपकरण 'सैकेन्ड नेचर' हो गए हैं। बल्कि गोविन्द निहलानी की भी कैमरे पर मास्टरी यहाँ ही नजर आती है। यहाँ यह स्पष्ट करना भी जरूरी है कि आक्रोश में भी यंत्रविधि से प्रभाव बिल्ड करने वाले दृश्य हैं, लेकिन वह उतना ताकतवर कहीं नहीं लगा जितनी ओम पुरी के अभिनय की 'लाइफ क्वालिटी'। यहाँ एक उदाहरण है। 'आक्रोश' का क्लाइमेक्स विवादास्पद रहा है। लेकिन वह क्लाइमेक्स भी ओम पुरी की अभिनय क्षमता से निकला। गोविन्द निहलानी ने विजय तेन्दुलकर को कहा था, ओम पुरी का चेहरा फिल्म में इतना 'स्ट्रांग' आया है कि उसे देखकर लगता है कि वह अंत में कुछ करेगा।

अगर देखा जाए, तो यह एक कमजोर आदिवासी का चरित्र था। इसके पीछे ओम पुरी की अपनी अभिनय क्षमता थी और वह एक्टिंग स्कूल था जहाँ किसी किरदार की कमजोरियों का इस्तेमाल भी एक ताकत की तरह होता है। यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं कि ओम पुरी ने केवल नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से अभिनय का डिप्लोमा किया है, फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान पुणे से भी अभिनय कोर्स किया है। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में तो अभिनय की दुनिया के हर



'मैथड' की जानकारी दी जाती है। लेकिन ओम पुरी की फिल्म देखकर यह पता चलना मुश्किल है कि वे एक्टिंग के किस मैथड में यकीन रखते हैं। फिर भी ओम पुरी की 'एक्टिंग' अभिनय के छात्रों के लिए एक पाठ्य पुस्तिका हो सकती है। चाहे वह चरित्र की कमजोरियों का इस्तेमाल ताकत की तरह करने में हो अथवा किसी चरित्र के साथ 'इन्वाल्वमेंट' को कंट्रोल कर विचार को सामने लाने वाली बात हो। ऐसा महसूस होता है कि जैसे स्टाएलावस्की और ब्रेख्त सभी उनकी शैली में घुल-मिल गए हों।

यहाँ यह बताना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि ओम पुरी के लिए चरित्र की इमोशन्ज ही नहीं, उसके विचार महत्वपूर्ण होते हैं। अगर आक्रोश में खामोशी है, तो खामोशी के कारण हैं। 'आक्रोश' के बाद मैंने ओम पुरी का इंटरव्यू लिया था। मैंने पूछा था, 'आप आक्रोश में खामोश ही रहते हैं या फिर चीखते हैं। इतनी ज्यादा खामोशी क्यों?'

ओम पुरी का उत्तर था- एक रीजन 'सिम्बोलिक' है। जिस क्लास को वे 'रिप्रजेन्ट' कर रहे हैं वह आर्टिकुलेट नहीं कर सकती। कोर्ट में जाकर बहस नहीं कर सकती। धारा-वारा का उसे कुछ पता नहीं। अब मिडिल-क्लास तो कानून जानती है लेकिन क्या उस आदिवासी को भी पता है कि उसके हक क्या हैं? क्या लड़ेंगे वह। यह पहलू लेखक का है। अब एक रीजन करेक्टर का है, जो शक्तिशाली लोग उसके आस-पास थे, उन्होंने उसको इस हालत में जकड़ दिया है। वह न कुछ उगल सकता है, न निगल सकता है। अब ठीक है, बीवी तो गई। लेकिन घर में दूसरे लोग उसकी बहन है, बच्चा है। दूसरे ग्रुप की शक्ति का उसे अहसास है कि वे क्या कर सकते हैं। वकील बेशक न जानता हो उन लोगों को, जो उसका पीछा करते हैं। लेकिन जो लोग उसके आस-पास मंडराते हैं, वह उन्हें अच्छी तरह जानता है। वह जानता है कि वे लोग कितने खतरनाक हो सकते हैं। उसमें ताकत नहीं कि वह बोल सके।

यही नहीं, 'आक्रोश' के विवादास्पद सहवास के दृश्य के पीछे भी एक रीजन था। उसकी पत्नी साहेब के यहाँ जाती है। वहाँ से साड़ी या बिस्कुट चुराकर लाती है। वह उसे कुर्सी पर बैठने के लिए भी कहता है। अगर

'सहवास' का दृश्य न होता तो दर्शक 'कन्फ्यूज' कर सकते थे कि वह शारीरिक रूप से अपने पति से संतुष्ट नहीं है। यह दृश्य इसलिए जरूरी था कि उसकी पत्नी के वहाँ जाने के कारण आर्थिक थे। वह उसे कहता भी है कि एक लुंगड़ी के लिए क्या मरी जा रही थी। इसलिए यह दिखाना जरूरी था कि पति- पत्नी में एक 'कम्पलीट पैशनेट' रिश्ता था।

यह ओम पुरी के अभिनय में देखा जा सकता है कि वे फिल्मों में चरित्रों को अभिनीत ही नहीं करते, बल्कि उसे देखने वालों के लिए 'एनलाइज' करते हैं। आखिर कितने अभिनेता ऐसे हैं जिनकी 'इमोशन' के विचार भी देखने वालों तक पहुँचें। एक तरह से हिन्दी फिल्मों में यह किसी अभिनेता का दर्शकों के साथ बिल्कुल नया रिश्ता है। इससे कोई फर्क नहीं पडता कि वे किसी कला फिल्म में काम कर रहे हैं या 'घायल' जैसी फिल्म में। घायल में उनकी भूमिका पूरी फिल्म को एक 'यथार्थ' का टच दे जाती है। यह कहना भी गलत नहीं होगा कि उनकी भूमिका में ही हमें उस व्यवस्था का विश्लेषण मिलता है। जहाँ एक ईमानदार पुलिस आफिसर भी कुछ नहीं कर सकता। मजाल है कि घायल के पुलिस इंस्पेक्टर को देखकर आपको कहीं 'अर्द्ध सत्य' का पुलिस इंस्पेक्टर याद आए। वास्तविकता तो यह है कि ओम पुरी ने 'अर्द्ध सत्य' में पुलिस इंस्पेक्टर को ऐसे बिम्ब दिए थे, जिससे कर्माशियल सिनेमा में जंजीर वाले पुलिस इंस्पेक्टर की मुद्राएँ बदल गई थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि ओम पुरी के दिए हुए रूप दूसरों के लिए रूढ़ियाँ बन गए। **दीक्षा** में नाना पाटेकर को कुल्हाड़ा चलाते देखकर आपको सद्गति का ओम पुरी याद आ जाएगा लेकिन ओम पुरी को देखकर शायद ही आपको लगे कि कहीं वह अपने पुराने कार्य को दुहरा रहे हैं। वरना 'अर्द्ध सत्य' के बाद मौका था कि वे पुलिस इंस्पेक्टर की भूमिका में व्यावसायिक सिनेमा की प्रापर्टी बन जाते।



फिल्म आक्रोश में ओम पुरी



यह ओम पुरी में ही क्षमता है कि वे किसी भी भूमिका के लिए 'इमोशन मैमोरी' सामूहिक जीवन में ढूंढ लें। **'तमस'** के बारे में उन्होंने एक इंटरव्यू में कहा था कि 'विभाजन' के लिए १९८४ के दंगों को उन्होंने 'इमोशन मैमोरी' के रूप में इस्तेमाल किया। निश्चय ही 'तमस' ओम पुरी की एक उल्लेखनीय फिल्म है। गोविन्द निहलानी की भी। पहले गोविन्द निहलानी की फिल्मों में किसी न किसी समस्या को लेकर बहस होती थी, लेकिन 'तमस' ने राष्ट्रव्यापी बहस को जन्म दिया। बल्कि फिल्म को जो उन्होंने 'बिम्ब' दिए उनसे भी इतिहास के एक कालखंड को अभिव्यक्त किया जा सकता है। यह बात 'तमस' के बारे में ही नहीं उनकी सभी भूमिकाओं के बारे में कही जा सकती हैं। यह अलग बात है कि 'नरसिम्हा' में उनके चरित्र को हम 'तार्किक परिणति' के रूप में नहीं देख सकते। वहाँ वह हाथ गायब नजर आता है, जो गिरकर टूटती हुई बोतलों को सीधा कर दे। अलबत्ता सुधीर मिश्रा की **'धारावी'** में उनका चरित्र जरूर अच्छा है। यहाँ भी लगता है कि वह सुधीर मिश्रा के 'गॉड फादर काम्पलेक्स' का शिकार हुआ है। क्योंकि फिल्म में उन्होंने ओम पुरी की भूमिका की बजाए ज्यादा जोर उन दृश्यों पर दिया है, जिनसे उनकी गॉड फादर ग्रंथि का पता चले। अगर आज **रवींद्र** धर्मराज वाली फिल्म **'चक्र'** देखें तो उसमें नसीर के चरित्र में वह टाइप नजर नहीं आता था, जो धारावी में आता है। लेकिन यहाँ भी ओम पुरी अपनी और भूमिकाओं की सीमाओं को तोड़ते हैं। उदाहरण के तौर पर मेरे एक समीक्षक मित्र शबाना के पहले 'मर्द' को छोड़कर ओम पुरी के पास आने का लाजिक यह देख रहे थे कि फिल्म में हीरोइन उसके स्ट्रांग चरित्र को आकर्षित हुई होगी, क्योंकि वह महत्वाकांक्षी है। जीवन में कुछ बनना चाहता है। लेकिन उस चरित्र की नपुंसकता उस पर उजागर होने लगती है, तो वह फिर अपने पहले मर्द के पास वापस जाने लगती है।

ओम पुरी की भूमिका की दृष्टि से यह 'चाक्रिकता' भी नई है क्योंकि 'धारावी' में उसका चरित्र एग्रो नहीं करता है। हम उसे फिर वहीं देखते है, जहाँ वह शुरू में था। फिर वही बड़ा आदमी बनने का सपना देख रहा है। उसने फेक्टरी के लिए जमीन भी देख ली है।

देखा जाए, तो यह ओम पुरी की एक कमजोर भूमिका है। एक तरह से ओम पुरी ने अपना सर्वश्रेष्ठ गोविन्द निहलानी के निर्देशन में ही दिया है। 'आक्रोश', 'अर्द्धसत्य' और 'तमस' इसके उदाहरण हैं। ये ऐसी फिल्में हैं, जिनमें वह महानायक के मिथ को तोड़ता है। या यों कहिए कि नायक को एक 'लाजिक' देता है। फिर भी यह नहीं लगता कि वह अभिनय कर रहा है।

● **प्रमुख फिल्में :** □ गोधूलि (१९७९) □ आक्रोश (१९८०), □ सद्गति, शोध (१९८१) □ अर्द्धसत्य, विजेता (१९८३) □ होली, स्पर्श, तरंग (१९८४) □ नासूर, पार (१९८५) □ न्यू दिल्ली टाइम्स (१९८६) □ मिर्च मसाला (१९८७) □ इलाका (१९८९) □ कर्मयोद्धा, नरसिहा (१९९१) □ रात (१९९२)। ■

# राजेश खन्ना
# ढल चुके सूरज का करिश्मा

**राजेश खन्ना जैसी लोकप्रियता शायद ही किसी अभिनेता को नसीब हुई हो। अपने 'मैनरिज्म' और गीत-संगीत की बदौलत राजेश बच्चे से लेकर बूढ़ों तक में समान रूप से लोकप्रिय थे। परदे पर रोमांटिक रहे राजेश परदे के पीछे भी रोमांस के मामले में किसी से कम नहीं हैं!**

**• सुरेश ताम्रकर**

सत्तर का दशक गीत-संगीत प्रधान रूमानी फिल्मों का दौर उस समय बीता नहीं था। राजकपूर, दिलीप कुमार और देव आनंद की त्रयी से लोग ऊब चुके थे। राजेंद्र कुमार, शम्मी कपूर और धर्मेन्द्र भी इस युग की युवा पीढ़ी को लुभा नहीं पा रहे थे। निर्माताओं को भी किसी नए चेहरे की तलाश थी। १९६६ में ऐसे निर्माताओं ने 'यूनाइटेड प्रोड्यूसर्स' नाम से एक संस्था बनाई और **जतिन खन्ना** नामक एक साधारण से चेहरे मोहरे वाले युवक को चुना। उसे नाम दिया **राजेश खन्ना**। १९६६ से १९७० तक राजेश खन्ना यूनाइटेड प्रोड्यूसर्स के साथ अनुबंधित रहे। एक हजार रुपए मासिक वेतन से उन्होंने अपने अभिनय जीवन की शुरूआत की। मगर १९६९ में **'आराधना'** की सफलता ने उन्हें आसमान पर बिठा दिया। राजेश खन्ना लाखों युवा दिलों के सपनों के राजा बन गए। दो रास्ते/बंधन/द ट्रेन/सच्चा झूठा/सफर/ कटी पतंग/ आन मिलो सजना/ आनंद/हाथी मेरे साथी/ जैसी फिल्मों की सफलता से राजेश सुपर स्टार बन गए। एक हजार रुपए मासिक पाने वाला यह युवक एक फिल्म के बारह लाख रुपए लेने लगा, जो उस



*फिल्म खामोशी में वहीदा रहमान और राजेश*

समय का सर्वाधिक पारिश्रमिक था।

जब शक्ति सामंत ने 'आराधना' की योजना बनाई तो उस समय की प्रसिद्ध अभिनेत्री शर्मिला टैगोर ने राजेश खन्ना जैसे नए युवक के साथ काम करने से इंकार कर दिया था। शक्ति सामंत के समझाने पर वह राजी हुई थी। इस फिल्म में राजेश ने शर्मिला के प्रेमी और पुत्र का डबल रोल किया था। आराधना १९६९ से अपना देश १९७२ तक राजेश ने बीस फिल्मों में काम किया और इनमें से तीन व्यावसायिक रूप से असफल हुई, खामोशी/महबूब की मेंहदी और छोटी बहू। **खामोशी** व्यावसायिक स्तर पर भले ही फ्लॉप हुई हो लेकिन हेमंत कुमार द्वारा निर्मित यह फिल्म राजेश और वहीदा के जीवंत अभिनय के लिए सदैव याद की जाएगी। राजेश ने इस फिल्म में एक मनोरोगी की भूमिका को बड़ी संजीदगी से निभाया था।

राजेश की पहली फिल्म थी जी.पी. सिप्पी की **'राज'** जिसमें उन्होंने एक चित्रकार की भूमिका अदा की। इसकी नायिका बबीता भी नई थी। लेकिन चेतन आनंद द्वारा निर्देशित **आखिरी खत** इससे एक वर्ष पूर्व १९६६ में रिलीज हुई इसलिए आखिरी खत उनकी पहली फिल्म मानी जाती है। आखिरी खत में राजेश एक मूर्तिकार बने थे। यह फिल्म तीन वर्ष के एक बच्चे बंटी पर केंद्रित प्रयोगवादी फिल्म थी, जो टिकट खिड़की पर असफल रही। राजेश खन्ना की आधी फिल्में व्यावसायिक तौर पर सफल हुई हैं, मगर जहाँ तक अभिनय का सवाल है, राजेश की सफलता को कम नहीं आँका जा सकता। उन्होंने पूरे देश में लोकप्रियता की लहर ऐसी दौड़ाई, जिसका सानी नहीं है।

अमिताभ और राजेश दोनों समकालीन हैं। दोनों को चेतन आनंद और के.ए. अब्बास जैसे फिल्म महारथियों ने परदे पर उतारा। राज, दिलीप और देव की त्रयी के बाद यूँ तो कई कलाकार आए और गए मगर, राजेश, अमिताभ दो ऐसे नाम हैं जो फिल्मी दुनिया

*अलग-अलग में एक होने का सुख : राजेश-टीना*



१५० वर्षों से आपके एवम्
आपके परिवार की सतत्
स्वास्थ्य सेवा में.... तैय्यबी

# शाही®

सेवन करें।

रहें,
हमेशा चुस्त,
तन्दूरुस्त एवं
निरोग।



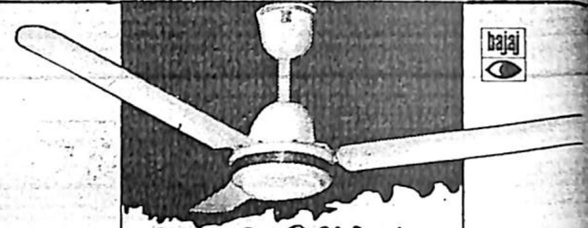




Vigilance

निर्माता ▷
**दि तैय्यबी दवाखाना युनानी (इन्दौर) प्रा.लि.**
५१, बोहरा बाजार, इन्दौर ▷ फोन : ३३३३४

शाखाएँ:
☐ महारानी रोड, इन्दौर ☐ जामा मस्जिद रोड, उज्जैन.






*बदलती पट्टियों के रंग*
*बजाज पंखों के संग...*

आखिरकार मिल ही गया ऐसा पंखा जो
घर-दीवार के रंग में ढल जाए. जी हाँ,
बजाज का पंखा.
इनकी अनोखी विशेषता - प्लास्टिक की
ऐसी रंगीन पट्टियाँ जिन्हें घर की दिवारों
के रंग और सजावट के अनुरुप बदल
सकें - जब जी चाहे.
कहिए? है ना एक और नई चीज़
बजाज के नए पंखों में!

**बजाज स्पेक्ट्रम**

सी लिं ग पं खा

शुभकामनाओं सहित......

# मधुरम् स्वीट्स

अन्य मिष्ठान्नों के अतिरिक्त
विशेष आकर्षण



* सोहन पपड़ी
* फेनी-घेवर
* मारवाड़ी लड्डू

27, न्यू पलासिया मार्केट, इंदौर (म.प्र.)

☎ : 5330 - 21378, 22081



के 'फिनोमिना' कहे जाते हैं। राजेश और अमिताभ ने इस 'मिथ' को भी तोड़ा कि केवल अच्छे चेहरे मोहरे वाले ही सफल स्टार हो सकते हैं। अस्सी के दशक में गीत-संगीत और रोमांस का दौर फीका पड़ा और सेक्स हिंसा के दौर ने जब अपने पाँव पसारे तो राजेश खन्ना 'मिसफिट' हो गए। अमिताभ ने समय की नब्ज को पहचानते हुए स्वयं को 'एंग्री यंग मेन' की भूमिका में ढाल लिया इसलिए वह आज भी लोकप्रिय और चलन में हैं वरना आनंद फिल्म में राजेश के सामने अमिताभ अभिनय में बौने ही साबित हुए थे।

राजेश की सबसे बड़ी खूबी है साधारण व्यक्तित्व और सहज हावभाव। गर्दन को टेढ़ा कर पलकों को झपकाने की उनकी विशेष अदाकारी बरबस दर्शकों का मन मोह लेती है। आम दर्शक जब उन्हें परदे पर देखता है, तो अपने ही बीच के किसी इंसान को पाता है। शायद इसीलिए बच्चे से लेकर बूढ़े तक हर वर्ग में उनके प्रशंसक हैं।

फिल्मों में आने से पूर्व राजेश खन्ना ने नाटकों में अभिनय किया। अपने प्रथम अभिनय की चर्चा वे आज भी बड़े रस लेकर सुनाते हैं। एक बार उन्हें एक नाटक में द्वारपाल की छोटी-सी भूमिका मिल गई। मंच पर सिर्फ एक डॉयलाग बोलना था- 'जो आज्ञा महाराज'। उन्होंने इसे सैकड़ों बार रट डाला। सोते-जागते, खाते-खेलते बस एक ही संवाद बोलते 'जो आज्ञा महाराज'। माँ अगर कहती काका (राजेश का बचपन का नाम) खाना तैयार है। जवाब में राजेश के मुँह से निकलता 'जो आज्ञा महाराज।' सड़क पर कहीं किसी से टकरा जाते तो बजाए माफ कीजिए के जो आज्ञा महाराज कह बैठते। लेकिन यही संवाद जब स्टेज पर बोलने का समय आया, तो धत्त तेरे की, मुँह से बोल ही नहीं फूटे। लेकिन राजेश है धुन के पक्के। पु.ल.

## कौन होगी मेरी माँ?

*यूनाइटेड प्रोड्यूसर्स के समक्ष राजेश खन्ना जब इंटरव्यू देने पहुँचे, तो टाइम्स ऑफ इंडिया बिल्डिंग में एक से एक नामी प्रोड्यूसर बैठे थे। सवालों की बौछार होने लगी। एक संवाद बोलने को कहा गया जो एक बेटा अपनी माँ से कहता है। राजेश का सवाल था- पहले यह बताइए फिल्म में उस बेटे की माँ कौन बनेगी? अचला सचदेव, दुर्गा खोटे, सुलोचना या ललिता पवार। इनमें से जो माँ का रोल करे उन्हीं के अनुसार मैं संवाद बोलूं। आखिर बेटे की शैली माँ से मेल खाती होनी चाहिए। इसके बाद उनका चयन हो गया।*

देशपांडे के नाटक 'कस्तूरीमृग' में उनका अभिनय देख कर प्रसिद्ध अभिनेत्री गीता बाली ने कहा था- 'देखना, एक दिन यह लड़का बहुत बड़ा कलाकार बनेगा।' और यह भविष्यवाणी सच हुई।

जब राजेश शिखर पर थे, तो रोज प्रशंसकों की थैला भर चिट्ठियाँ आतीं। इनमें अधिकांश होते लड़कियों के प्रेम पत्र। ये प्रेम पत्र भी सिर्फ हिन्दुस्तान भर से ही नहीं विदेशों से भी आते। एक बार डरबन (अफ्रीका) से एक लड़की ने लिखा- इसे रद्दी की टोकरी में डालने से पूर्व एक बार पढ़ जरूर लेना। इस नगर में तुम्हारी चाहने वाली बहुत हैं। शायद हिन्दुस्तान से अधिक। कोई लड़की लिखती अगर इस बार जवाब नहीं दिया तो जहर खाकर मर जाऊँगी। कई लड़कियों ने राजेश के चित्र वाले लाकेट पहने तो कई ने उसके नाम के गुदने अपने हाथों पर गुदवाए। स्कूल-कॉलेज, कॉफी हाउस हर जगह युवक-युवतियों के बीच बस एक ही नाम होता राजेश खन्ना। युवक पेंट पर गुरु कुर्ता पहन कर स्वयं को राजेश समझते। उन दिनों हर डेढ़ मिनट में राजेश के फोन की घंटी घन-घनाती और हर तीसरा फोन किसी लड़की का होता। निर्माता-निर्देशक अगर बात करना चाहें, तो सदैव लाइन इंगेज मिलती। बेचारे फोन के बजाए भाग कर राजेश के बंगले पर आते।

राजेश के बंगले आशीर्वाद की भी एक अलग ही कथा है। किसी समय इसमें एक

वोहरा परिवार रहता था। गांधीजी और नेहरूजी भी इसमें ठहरे थे। फिर आए निर्माता-निर्देशक सत्येन बोस। उन्होंने 'जागृति' बनाई, तो उस फिल्म की गोल्डन-जुबली मनी। बाद में यह बंगला भूत बंगले के नाम से बदनाम हो गया और सत्येन दा ने इसे छोड़ दिया। राजेंद्र कुमार ने इसे खरीदा और वे इस बंगले में रहते 'जुबिलीकुमार' कहलाए। जब वे नए बंगले में चले गए, तो राजेश ने इसे खरीद कर इसका नाम आशीर्वाद रखा। राजेश को इसका आशीर्वाद जरूर मिला।

राजेश खन्ना का जन्म २९ दिसंबर १९४२ को अमृतसर में हुआ था। पिता रेलवे में ठेकेदार थे, जो बाद में बंबई आकर बस गए। राजेश की स्कूल से कॉलेज तक शिक्षा बंबई में ही हुई। राजेश अपने पिता की इकलौती संतान है। डिम्पल से विवाह के पूर्व उनके रोमांस के चर्चे **अंजू महेन्द्रू** से चले और शादी के बाद जब डिम्पल से मनमुटाव हुआ तो कहते हैं टीना मुनीम उनके सर्वाधिक करीब रहीं और दोनों एक ही टूथब्रश से दाँत साफ करते हैं, ऐसे किस्से बयान हुए। राजेश आस्तिक हैं मगर अंधविश्वासी नहीं। वे दिल को अपना सबसे अच्छा दोस्त समझते हैं। उनका मत है कि दिल हमेशा सच्ची राह दिखाता है दिमाग तो खुराफातें करता रहता है।

राजेश खन्ना स्वभाव से एक जिंदादिल इंसान हैं। अपनी फिल्म आनंद, बावर्ची और अंदाज में उन्होंने ऐसे ही चरित्रों को बखूबी जिया है। बेकार की तड़क भड़क, दिखावा और काकटेल पार्टियों से उन्हें नफरत है। जहाँ तक संभव हो दूसरों की मदद करते हैं। एक बार उनका ड्रायवर उनके लिए मुसीबत बन गया। न चाहते हुए भी उसे नौकरी से निकालना पड़ा। लेकिन वह बेरोजगार न हो जाए इसलिए उसे टैक्सी खरीद कर दे दी। वे एक अच्छे बावर्ची और इलेक्ट्रीशियन भी हैं। घर के छोटे-मोटे काम फुरसत के क्षणों में स्वयं करने में उन्हें मजा आता है। बावर्ची फिल्म में अपनी भूमिका को शायद इसीलिए वे इतनी जीवंत बना पाए। उन्हें हमेशा नई-नई भूमिकाएँ करने का शौक है। इसलिए वे टाइप्ड नहीं बन पाए। अभिनय की खातिर दाढ़ी बढ़ाना, हाथ तुड़वाना, भूखे रहना, रात-रात भर रिहर्सल करना सब मंजूर है। जोखिम वाली भूमिकाएँ भी डुप्लीकेट से न करवा कर वे स्वयं करते हैं। चिनप्पा देवर ने जब 'हाथी मेरे साथी' की योजना बनाई तो बड़े-बड़े सभी कलाकार जानवरों के साथ काम करने का जोखिम उठाने से मना कर गए। तब राजेश को चुना गया। वे सहर्ष तैयार हो गए। हाथियों व शेरों के बीच निर्भय काम करते देख चिनप्पा देवर ने कहा था- 'बड़ा साहसी आदमी है। शूटिंग के दौरान जरा भी नहीं डरा।'

राजेश से जब पूछा गया तुम्हें डर नहीं लगता? तो वह हँस कर बोले- डर कैसा! मुझे मालूम है भगवान इतनी जल्दी अपने पास नहीं बुलाएगा। इस फिल्म से और भी तो न जाने कितनों की जिंदगी और भविष्य जुड़ा है।

अभिनय के क्षेत्र में अपने झंडे गाड़ने के बाद राजेश निर्माण के क्षेत्र में उतरे हैं। **जय शिव शंकर** और **पुलिस के पीछे पुलिस** उनकी दो तैयार फिल्में हैं। शक्ति राज फिल्म्स नाम से शक्ति सामंत के साथ उनकी वितरण संस्था भी है। आनंद, हाथी मेरे साथी और दस्तक का वितरण इसी के जरिए हुआ। असल में राजेश को वितरक बनाया ऋषि दा ने। ऋषिकेश मुखर्जी ने जब आनंद के लिए उन्हें अनुबंधित किया तो वे बोले राजेश जितना पारिश्रमिक तुम लेते हो, मैं तो नहीं दे सकता। मैं तुम्हें बंबई क्षेत्र में इस फिल्म के वितरण के अधिकार देता हूँ। राजेश ने सौदा मंजूर कर लिया। फिल्म निर्देशन के क्षेत्र में उतरने का फिलहाल राजेश का कोई इरादा नहीं है। वे कहते हैं निर्देशक अर्थात चौबीस घंटे की नौकरी। विचारधारा से राजेश कांग्रेसी हैं। कांग्रेस ने पिछले चुनाव में नई दिल्ली क्षेत्र से उन्हें आडवाणीजी के खिलाफ उतारा था और उन्होंने अच्छी टक्कर दी। बाद में इसी क्षेत्र से उपचुनाव में उनकी टक्कर शत्रुघ्न सिन्हा से होते-होते रह गई।

राजेश की सफलता के पीछे ऋषिकेश मुखर्जी/चितन आनंद/असित सेन/ जी.पी. सिप्पी/बासु भट्टाचार्य/ शक्ति सामंत/ राज खोसला जैसे निर्देशकों का हाथ तो है ही किशोर कुमार की आवाज का सबसे बड़ा योगदान है। देव आनंद के बाद किशोर का कंठ और राजेश के अभिनय की समरसता का सानी नहीं है। इसकी तुलना सिर्फ राजकपूर-मुकेश की अभिनय-आवाज जुगलबंदी से ही की जा सकती है। ■

☐ **प्रमुख फिल्में :** ○ आखरी खत ○ औरत ○ बहारों के सपने ○ राज (१९६७) ○ आराधना, बंधन, दो रास्ते, इत्तेफाक, खामोशी (१९६९) ○ सच्चा-झूठा, सफर, दि ट्रेन, आनंद, आन मिलो सजना, कटी पतंग (१९७०) ○ अंदाज, छोटी बहू, हाथी मेरे साथी, अमर प्रेम, दुश्मन (१९७१) ○ अनुराग, जोरू का गुलाम (१९७२) ○ आविष्कार, दाग, नमक हराम, राजा रानी (१९७३) ○ अजनबी, आपकी कसम, रोटी (१९७४) ○ प्रेम कहानी (१९७५) ○ महाचोर, महबूबा (१९७६) ○ अनुरोध, आशिक हूँ बहारों का, कर्म (१९७७) ○ अमरदीप (१९७९) ○ थोड़ी सी बेवफाई (१९८०) ○ दर्द, नौकरी (१९८१) ○ अशांति, धरम काँटा, राजपूत (१९८२) ○ अगर तुम न होते, अवतार, सौतन (१९८३) ○ आज का एम.एल.ए. राम अवतार, आवाज, मकसद (१९८४) ○ आखिर क्यों, अलग अलग, मास्टरजी (१९८५) अमृत (१९८६) ○ आवाम (१९८७)।

# जमीन से

**प्र**तिदिन हजारों किशोर घर से भाग कर फिल्मी सितारा बनने की चाह लिए बंबई आते हैं तथा इस चाह को संघर्ष की राह पर रौंदा जाता देखते हैं। फिर टूटे सपनों तथा भारी-भरकम निराशा की गठरी लादे वापस लौट जाते हैं। ऐसा ही घटा था **नसीरुद्दीन शाह** के साथ। सन् १९६८ में १८ साल की आयु का यह किशोर अजमेर से आया तथा विश्व का महानतम अभिनेता बनने का इरादा लेकर बंबई पहुँच गया। तीन माह तक निर्माताओं तथा स्टूडियो के बंद दरवाजों पर हसरत भरी निगाहें डालते हुए बेचारे को सपनों के भुरभुरेपन का अहसास शिद्दत से होने लगा। परदे पर आने का सपना फिल्म **'अमन'** में पूरा हुआ तथा सात रुपया मजदूरी बतौर जूनियर आर्टिस्ट मिली।

**☐ व्यावसायिक सिनेमा में नसीर की सफलता तिरछी टोपी वाले बनकर 'ओए-ओए' से कुछ इस कदर जमी है कि आज वे 'हीरो हीरालाल' हैं।**

इसके बाद घर वापसी की कहानी तथा दूसरी बार की बंबई यात्रा एक अलग अध्याय है। उच्च पदस्थ सरकारी अधिकारी के घर २० जुलाई १९५० को जन्मे नसीरुद्दीन की आँखों ने पहला नजारा राजस्थान की धरती, आकाश और प्रकृति का देखा। शैशव उत्तरप्रदेश के बाराबंकी (अवध) में कटा तथा बचपन नैनीताल के विख्यात अँगरेजी स्कूल सेंट जोसफ में बीता। यहीं पहली बार रंगमंच पर जाने का मौका मिला। झिझक, शर्म तथा घबराहट की अनुभूति तो हुई, मगर प्रसिद्धि और ख्याति की लालसा ने अभिनेता बनने की कामना को हवा दी। उन दिनों नैनीताल में ज्यॉफरी केण्डल अपना घुमंतू थिएटर शेक्सपीयराना लेकर आया करते थे। शेक्सपीयर के नाटकों को मंचित करते थे। स्कूल से बाहर आ कभी-कभी हॉलीवुड की फिल्में देखने का मौका मिल जाता था। ज्यॉफरी केण्डल (अभिनेत्री जेनिफर के पिता तथा शशिकपूर के ससुर) स्वयं कुशल अभिनेता थे। नसीर ने उनके सामने अभिनेता बनने की आकांक्षा प्रकट की, तब उन्होंने खुले दिल से आशीर्वाद दिया। इसी आशीर्वाद की पूँजी को साथ लेकर उन्होंने रंगमंच पर अभिनय करना शुरू किया। नैनीताल से वे अजमेर के सेण्ट एगनीज स्कूल में आए तथा अँगरेजी फिल्में देखने का चस्का परवान चढ़ने लगा। अभिनेता बनने की पहली असफल कोशिश यहीं से शुरू हुई।

घर वालों ने इस बार नसीर को समझा-

# जुड़ा महानायक : नसीरुद्दीन शाह

● लोकेन्द्र चतुर्वेदी



बुझाकर राजी किया कि वे पहले ग्रेजुएट हो जाएँ फिर अपनी मर्जी का कैरियर चुनें। इस प्रकार नैनीताल तथा अजमेर के बाद अलीगढ़ प्रवास प्रारंभ हुआ। अलीगढ़ में उनकी मुलाकात जाहिदा जैदी से हुई तथा आधुनिक अभिनय शैली से उनका पहला परिचय हुआ। अब तक 'किंग लीयर', 'शायलॉक' तथा 'मेकबेथ' की भूमिका कर स्वयं को महान अभिनेता समझने वाले नसीर को 'एब्सर्ड ड्रामा' तथा ऐसी ही अनेक नई अभिनय शैलियों की जानकारियाँ मिलीं। नसीर ने वास्तविकता को स्वीकारा तथा अहंकार का सिंहासन छोड़कर शिष्य भाव को अंगीकार कर लिया।

उसके बाद शुरू हुआ सीखने का व्यवस्थित सिलसिला दिल्ली के नेशनल स्कूल ऑव ड्रामा में प्रवेश के साथ। ज्यॉफरी केण्डल का आशीर्वाद तथा सक्रिय सहयोग उनके साथ उन दिनों भी रहा। इस जमाने में नसीर का वास्ता सिर्फ अँगरेजी नाटकों से रहता था। एन.एस. डी. के दिनों में अभिनय का व्यापक अनुभव प्राप्त किया तथा विभिन्न श्रेणी के दर्शकों की रुचि-अरुचि को करीब से देखा और समझा। तीन साल वे यहाँ रहे तथा अब्राहम अल्काजी जैसे कुशल शिक्षकों ने उनकी अभिनय प्रतिभा को तराशा। कई प्रस्तुतियों में उन्होंने प्रमुख भूमिकाएँ कीं तथा सशक्त अभिनेता के रूप में अपनी छवि बनाई। इस बीच वे 'टीन' के दायरे से निकल कर इक्कीस साल के समझदार युवक हो चुके थे। यह युवक पहुँचा फिल्मी अभिनय की पोथी पढ़ने पूना के फिल्म प्रशिक्षण संस्थान में।

इसी संस्थान में उनकी मुलाकात हुई बेंजामिन गिलानी तथा टॉम आल्टर से। १९७३ में 'ओटले' नामक नाट्य संस्था का तीनों ने मिलकर निर्माण किया। बंबई आने पर तीनों ने इस संस्था को पंजीकृत करवाया। परखा और 'निशांत' में उन्हें भूमिका मिली। इस प्रकार मंच पर अँगरेजी में धाराप्रवाह संवाद बोलने वाला एक कलाकार शुद्ध भारतीय भूमिका में कैमरे के सामने आया। 'निशांत' की भूमिका को सराहा सभी ने, दी जा रही रोजाना की गवाही को आत्मसात कर लिया था। रोमांटिक सुपर स्टार होने की भावना को दिल से बाहर निकाल कर उस खाली जगह में उत्कृष्ट अभिनेता बनने की चाह को बसा लिया। यथार्थ से साक्षात्कार के इस दौर में वे तथाकथित कला फिल्मों का खोखलापन तथा व्यावसायिक सिनेमा से मिलने वाली ठोस आमदनी के समीकरण भी समझ चुके थे। वे देख चुके थे कि असफल अभिनेता फिल्म तथा नाटक प्रशिक्षण संस्थानों में शिक्षक बन जाते हैं तथा व्यावसायिक फिल्मों में सफल न होने वाले सार्थक तथा कलात्मक फिल्मों का मुखौटा पहन कर

**नसीरुद्दीन शाह को फिल्म 'अमन' में अभिनय करने का पारिश्रमिक सिर्फ सात रुपए मिला था। बतौर एक्स्ट्रा। □ समांतर सिनेमा से जुड़कर नसीर ने अपने अभिनय को अंतरराष्ट्रीय स्तर तक पहुँचाया। फिर 'पार' के नौरंगिया को वेनिस फिल्म समारोह में सर्वोत्तम अभिनेता का सम्मान मिला।**

यहीं उनकी मुलाकात रत्ना से हुई, जिसने 'द लेसन' तथा 'द बीयर' जैसी नाट्य प्रस्तुतियों में नसीर का साथ दिया तथा बाद में जीवन-संगिनी बन गई।

जिन्दगी के इस नए दौर के साथ कैरियर का नया दौर भी शुरू हुआ। पूना फिल्म संस्थान के प्राचार्य गिरीश कर्नाड की सिफारिश पर श्याम बेनेगल ने उन्हें जाँचा- मगर दरवाजे पर निर्माताओं की भीड़ नहीं लगी। भीड़ तो दूर, श्याम के सिवाय किसी और ने दस्तक नहीं दी। धीरे-धीरे 'भूमिका', 'मंथन', 'गोधूलि', 'जुनून' आदि फिल्में मिलीं। फिर आई 'स्पर्श'। सराहना की मात्रा बढ़ती रही, मगर आर्थिक लाभ नहीं हुआ।

इस बीच नसीर ने अपने अनाकर्षक चेहरे तथा उस पर खुरदुरेपन के बारे में आईने द्वारा सरकारी मदद और इनामों के गलियारों में कटोरा लिए टहलते हैं। इसलिए उन्होंने अभिनय की पूजा की। उसे 'कला' या 'व्यवसाय' के कटघरों में कैद नहीं किया। सुनयना/ख्वाब/तजुर्बा आदि कमर्शियल खेमे की फिल्मों के साथ आक्रोश/अलबर्ट पिन्टो/ तथा भवनी भवाई में काम करते रहे। इस तरह वे एक अभिनेता के रूप में चर्चित तथा परिचित

होने लगे। शाह ने इन फिल्मों के जरिए अभिनय शिल्प की शैलियों को तराशा। गंभीर, हास्य, फूहड़, संजीदा, रोमांटिक भूमिकाओं के जरिए पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय समाज के दर्शकों मे तादात्म्य स्थापित कर लिया। सुर्खियाँ/ हम पाँच/प्यारा दोस्त/ आदि फिल्मों में वे ढिशुंग वाली भूमिकाओं में भी आए।

शाह का अभिनय कैरियर एक ओर मोड़ पर थमा था तथा उसके कदमों ने मुड़ने के लिए जुम्बिश भी की थी, मगर किस्मत ने अलग खेल रच डाला। रिचर्ड एटनबरो की फिल्म 'गाँधी' में प्रमुख भूमिका के लिए उनका नाम प्रस्तावित हुआ था। वे लंदन भी ले जाए गए तथा सभी कुछ लगभग तय हो गया था कि अचानक बेन किंग्सले का नाम आखिरी फैसले के रूप में आया। इसी तरह 'हीट एंड डस्ट' की भूमिका उनके पास आई, मगर उन्होंने स्वयं ठुकरा दिया। श्याम बेनेगल, सई परांजपे, सईद मिर्जा, मृणाल सेन, गोविन्द निहलानी जैसे निर्देशकों के साथ काम करते हुए वे अपने अभिनय पर धार करते रहे। उत्कृष्ट अभिनय के लिए पुरस्कारों एवं अवार्ड का दौर शुरू हो गया था। 'मंथन' में अभिनय के लिए उन्हें फिल्म फेयर का स्पेशल अवार्ड (१९७७) मिला। यही अवार्ड १९८० में 'आक्रोश' के लिए मिला। इसी वर्ष 'स्पर्श' में उत्कृष्ट अभिनय के कारण उन्हें राष्ट्रीय अवार्ड से सम्मानित किया गया। 'चक्र' में उत्तम अभिनय हेतु उन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का फिल्म फेयर अवार्ड (१९८१) मिला। यही अवार्ड १९८३ में मासूम के लिए मिला। राष्ट्रीय स्तर का यह असामान्य अदाकार अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर **'पार'** फिल्म से चमका। वेनिस के अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव में 'पार' की सशक्त भूमिका के लिए उन्हें पुरस्कृत किया गया। इस फिल्म में हरिजन नौरंगिया की भूमिका करने के लिए उन्हें देहाती शैली में बाल कटवाने पड़े तथा बारह किलो वजन कम करना पड़ा।

पात्र में स्वयं को डुबोने की क्षमता रखने वाले इस कलाकार को किसी खास छवि में बँधने से सख्त एतराज है। वे स्वयं कहते हैं–'इमेज बनाने के चक्कर में अभिनेता स्वयं को एक सीमित दायरे में बाँध लेता है। मंथन में मैंने निराश एंग्री यंगमेन जैसी भूमिका की थी। मासूम में भूमिका अलग थी। रूमानी भावुक भूमिकाओं में असफल रहा हूँ तथा इस असफलता को अपनी उपलब्धि मानता हूँ।' इसके बाद शाह ने घोषणा की–'अवार्ड बहुत कमा लिए। अब पैसा कमाऊँगा। इस घोषणा के साथ उन्होंने कमर्शियल फिल्मों में नए अंदाज के साथ प्रवेश किया। 'मान मर्यादा' का दुर्दांत डाकू। इस बार वे व्यावसायिक सिनेमा की नब्ज पहचान चुके थे। वास्तविक अभिनय के स्थान पर वे भव्य अभिनय करते हुए आए। अपनी पूर्व की गलती को स्वीकारते हुए उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा, ''सुनयना' में मैंने वास्तविकता के करीब आने की कोशिश की, मगर इस गली को 'मान मर्यादा' में नहीं दुहराया।'' 'कर्मा' में शाह ने अभिनय को व्यावसायिक पक्ष से ऊँचाई तक पहुँचाया। 'त्रिदेव' की 'ओए ओए' ने उन्हेंलोकप्रियता के प्रकाश स्तंभ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

भारतीय अभिनेताओं में बलराज साहनी/ मोतीलाल/ दिलीप कुमार/याकूब/अशोक कुमार/शम्मी कपूर/दिवानंद/जानीवाकर आदि को पसंद करने वाले इस नायक को आम जिन्दगी से जुड़े रहना ही अच्छा लगता है। हिन्दी के अतिरिक्त शाह ने बंगाली, कन्नड़ तथा गुजराती फिल्मों में भी अभिनय किया है। 'प्रतिदान' (बंगाली), गोधूलि (कन्नड़), भवनी भवाई (गुजराती) उनकी सफल फिल्में हैं। भारतीय फिल्मोद्योग के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशान्वित नसीर का कहना है 'अमिताभ बच्चन एक उत्तम अभिनेता हैं तथा उनके उत्कर्ष से यह सिद्ध हो गया है कि फिल्मोद्योग में अच्छे अभिनेताओं का सम्मान है। इसी श्रृंखला में ओमपुरी, अनुपम खेर तथा मैं भी हूँ। हमारा यहाँ आकर सफल होना इसी तथ्य का लक्षण है।' अभिनेता के रूप में नसीर की विशेषता का जिक्र करते हुए ओमपुरी का कहना है–'अभिनय करते भावनाओं एवं आवेग पर वे बेहतर ढंग से नियंत्रण रख सकते हैं।' टॉम आल्टर की दृष्टि में नसीर की विशेषता 'सहज एवं प्रवाहित अभिनय है।' पात्र में स्वयं को समाहित कर पाने की उनकी क्षमता का जिक्र करते हुए सईद मिर्जा ने कहा था, 'उसमें स्वयं को काठ के टुकड़े में समाहित कर सकते की क्षमता है।' स्वयं नसीर मानते हैं कि अभिनेता जब तक कलाकार रहता है, तब तक वह आम जिन्दगी और आम आदमी से जीवंत रिश्ता बनाए रख सकता है। जैसे ही वह 'स्टार' बनने लगता है, वैसे ही वह आम आदमी से अलग होकर अधिनायक बनने लगता है। शायद इसी वजह से उन्होंने कभी सितारा बनने की कोशिश नहीं की। उनकी इसी प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए सईद मिर्जा कहते हैं–'वह एक लोकतांत्रिक कलाकार है, एडाल्फ हिटलर नहीं।' इस लोकतांत्रिक कलाकार ने स्टार बनने के नुकसानों को भली प्रकार से समझ लिया था।

*बीयर के साथ चियर्स : शम्मीकपूर-नसीरुद्दीन*



इसीलिए एक बार कहा था कि अभिनेता निरंतर प्रगति करता है, मगर 'स्टार' की गति अवरुद्ध हो जाती है। इसीलिए नसीर ने अपनी गति को अवरुद्ध नहीं होने दिया। बड़े परदे से लेकर छोटे परदे तक अभिनेता के रूप में वे लाजवाब रहे। मिर्जा गालिब (टीवी सीरियल) के रूप में उन्होंने जो जीवंत अभिनय किया है वह अपने आप में एक ऐतिहासिक मिसाल बन गया है।

नसीर को वर्तमान राजनीति में घुसपैठ करने की तनिक भी तमन्ना नहीं है। वे अपने मौलिक विचारों से वर्तमान दुनिया के खून-खराबे का हल सोचते हुए कहते हैं कि यदि संसार में धर्म का अस्तित्व ही नहीं होता तब यह दुनिया ज्यादा बेहतर और ज्यादा खूबसूरत होती। ■

☐ **प्रमुख फिल्में:** *निशांत (१९७५) *मंथन (१९७६) *गोधूलि/जुनून/शायद (१९७९) *आक्रोश (१९८०) *अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है/चक्र/हम पाँच/हम से बढ़कर कौन/सजा ए मौत/तजुर्बा (१९८१) *आधारशिला/बिजुबान/प्यारा दोस्त/सितम (१९८२) *अर्द्ध सत्य/कथा/मण्डी/मासूम/वो सात दिन (१९८३) *जाने भी दो यारों/मोहन जोशी हाजिर हो/स्पर्श (१९८४) *गुलामी/मिसाल/पार (१९८५) *एक पल/कर्मा/शर्त (१९८६) *जलवा/मान मर्यादा/मिर्च मसाला (१९८७) *पेस्टनजी/त्रिकाल/जुल्म को जला दूँगा (१९८८) *अनंत यात्रा/खोज/त्रिदेव (१९८९) *हीरो हीरालाल (१९९०) *सौ करोड़ (१९९१)।



*सनम तेरी कसम (हिंदी)*

क्या सिर्फ फिल्मों की संख्या के आधार पर कमल हासन के अभिनय को इतना महिमामंडित किया जा रहा है। अगर सिर्फ ऐसा है, तो अनेक कलाकार गिनाए जा सकते हैं, जिन्होंने विभिन्न भारतीय भाषाओं में कमल हासन से कहीं अधिक फिल्मों में कार्य किया है। अगर महज संख्या नहीं तो फिर श्रेष्ठता का परिमाण क्या? वह है कमल हासन के अभिनय की नैसर्गिकता। अपने पात्र में पूरी तरह डूब जाने की क्षमता। नित नए मुखौटे बल की निर्भीकता। अपने-आप को किसी भी 'इमेज' में कैद न होने देने की स्वच्छंदता और हर बार एक नए रोल को चुनौती के रूप में स्वीकार करने की उत्कंठा।

कमल हासन के अभिनय को अगर सिर्फ एक शब्द में बयान करना हो, तो सबसे उपयुक्त शब्द है 'वर्सेटाइल'। भारतीय फिल्मों के विशेषकर हिन्दी फिल्मों के अधिकांश महानायकों में एक सामान्य कमजोरी कमोबेश सदैव रही है। इसे कमजोरी कहें अथवा 'लिमिटेशन' यह एक अलग चर्चा का विषय है लेकिन थोड़े से फिल्मी सफर के बाद ही लगभग हर नायक- महानायक एक विशिष्ट 'टाइपकास्ट इमेज' की गिरफ्त में चाहते या न चाहते हुए बँध जाता है।

इसका एक सीधा- सा उदाहरण है। अमिताभ बच्चन, दिलीप कुमार, राजेश खन्ना ने अपने दैदीप्यमान फिल्मी जीवन में अनेक पात्रों का रूप लिया है और बखूबी निभाया है। फिर भी अगर कोई कहे कि तुरंत अपने मस्तिष्क के दृश्य पटल पर अमिताभ की जो सबसे स्पष्ट छवि उभरती है, उसका उल्लेख

# कमाल के महानायक कमल हासन !

● जीतेन्द्र मुछाल

**आपको यकीन नहीं आएगा लेकिन यह सच है कि भारतीय सिनेमा की पन्द्रह भाषाओं में पिछले अस्सी साल में कमल हासन जैसा अभिनेता दूसरा नहीं है। स्वयं अमिताभ बच्चन ने कहा है कि कमल उनसे महान है, क्योंकि वे फिल्मों में काम करते हैं, जबकि कमल हासन फिल्मों से 'प्यार' करते हैं। बम्बइया सिनेमा की एक 'लॉबी' यह नहीं चाहती कि दक्षिण भारत का यह चमकीला सितारा उत्तर भारत के फिल्माकाश में जगमगाए। मगर हिन्दी सिनेमा के दर्शकों की नज़रें कमजोर क्यों हो गई हैं, जो खरे तथा खोटे का अंतर नहीं पहचान पाईं ?**

कोई भी कलाकार अभिनय- विधा के विशाल क्षितिज के चरमोत्कर्ष को उस वक्त छू लेता है, जब उसके अभिनय का रसास्वादन करता हुआ दर्शक यह भूल जाता है कि जो कुछ उसके सामने चल रहा है, वह महज 'फंतासी' है वास्तविक नहीं। अभिनय की यही नैसर्गिक अभिव्यक्ति उसकी सोलह कलाओं का उत्कृष्टतम स्वरूप है। यही वह शिखर है जिस पर अपने किरदार को निभाते हुए कलाकार उसमें इतना विलीन और तल्लीन हो जाता है कि किरदार और कलाकार एक हो जाते हैं। यही वह सपना है, जो हर कलाकार अपने दिल में सँजोए रखता है। यही वह स्तर है जहाँ 'जीरो' 'हीरो' बन जाता है और 'नायक' 'महानायक'। अपने विस्तृत एवं सम्पूर्ण अभिनय जीवन में अगर कोई कलाकार ऐसे कुछ चुनिंदा दृश्य भी निभा पाए तो वह अपने- आपको धन्य-धन्य समझता है। तो फिर अगर कोई ऐसे कलाकार का जिक्र आ जाए जिसके पूरे फिल्मी जीवन में कुछेक दृश्य ही ऐसे हों जो इस कसौटी पर खरे न उतरें तो फिर उसे क्या कहा जाए? जवाब है कमल हासन। पिछले तीन दशकों से भी अधिक समय से फिल्मों में अभिनयरत कमल हासन को अगर भारत का 'सार्वकालिक सर्वश्रेष्ठ अभिनेता' कहा जाए तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। अपनी उम्र के चालीसवें बसंत को पार करने तक कमल हासन सौ से अधिक तमिल फिल्मों को मिलाकर दो सौ से अधिक फिल्मों में अभिनय कर चुके हैं, जिनमें हिन्दी, मलयालम, तेलुगु व कन्नड़ भाषाओं की फिल्में शामिल हैं।

इसी क्षण मन में विचार कौंधता है कि

करें तो जवाब 'एंग्री यंगमैन' ही रहेगा। ठीक उसी तरह दिलीप कुमार अभिनय के बेताज बादशाह होने के बावजूद 'ट्रेजेडी किंग' और राजेश खन्ना 'रोमांटिक' की 'इमेज' में कैद हो गए। अब यही सवाल कमल हासन के बारे में पूछिए, जितने जवाब देने वाले, उतने जवाब हाजिर हो जाएँगे। कोई **'नायकन'** के वरदा दादा का जिक्र करेगा तो कोई **अप्पू राजा** के बौने का और कोई **एक दूजे के लिए** के प्रेमी का। **यही है इस कलाकार की वर्सेटाइलिटी' कि इसने अपने हर रोल को इतना जीवन्त कर दिया कि उसका हर रोल उसकी अलग पहचान हो गई।**

'मैं हर बार एक नया चेहरा पेश करने की कोशिश करता हूँ। हालाँकि मेरे हर परिवर्तन पर लोग डर कर पूछते हैं अब दर्शक कमल हासन को कैसे पहचानेंगे? तब मैं जवाब देता हूँ कि दर्शक एक किरदार को देखने आए हैं, कमल हासन को नहीं।' खुद कमल के ये उद्‌गार उनकी अभिनय-शैली की विवेचना कर देते हैं। परंतु क्या सिर्फ कहने भर से पात्र जीवन्त हो उठता है?

अपने अभिनय को वास्तविकता के करीब लाने के लिए कमल ने तैयारी में कभी कोई कसर नहीं छोड़ी है। पात्र की माँग के अनुसार उन्होंने अपना वजन घटाया है। बढ़ाया है।



*अप्पू राजा कमल*



*सागर संगमम् (तेलगु)*

बाल मुँडवाए हैं। शास्त्रीयै गायन, वादन और नृत्य में निपुणता हासिल की है। विभिन्न भाषाएँ सीखी हैं। 'वेन्ट्रोलोरिजम' (दूर तक ध्वनि संप्रेषण की कला) में महारत हासिल की है और न जाने क्या-क्या! अपने इस फितूर के बारे में कमल के विचार बिलकुल स्पष्ट हैं, मैं किसी फिल्म के लिए भूमिका के हिसाब से अपने चरित्र का कैसा भी मेकअप करवा सकता हूँ। अपने शरीर का डील-डौल कैसा भी बदल सकता हूँ और कोई भी कला-विद्या सीखने को तैयार हूँ। बस ख्वाइश सिर्फ यही है कि वह पात्र दर्शकों को पूर्णतः वास्तविक लगना चाहिए।'

यही जुनून है जिसने **सागर संगमम्** के पारंगत शास्त्रीय नर्तक, **राजा परवई** के अंधे वायलिन वादक, **कल्याण रामन** में प्रेतात्मा, **सिगप्पु राजक्कल** के विक्षिप्त हत्यारे और **मेयर साहब** के कुटिल अय्याश नेता जैसे अनेक पात्रों ने हर बार दर्शकों को वशीभूत कर दिया है। **पुष्पक, नायकन, अप्पूराजा** और **मेयर साहब** के बाद अब तो यह हाल है कि दर्शक कमल हासन के नाम से ही कुछ 'अलग' की चाह करने लगे हैं। लेकिन दूसरी ओर यह कलाकार है कि पात्र को 'जीवन्त' करने की खातिर कोई भी कीमत अदा करने को तैयार है। **'सागर संगमम्'** में बूढ़े व्यक्ति की आवाज में खराश का प्रभाव देने के लिए मैं घंटों बंद कमरे में चीखने का अभ्यास करता था। उससे आवाज में खराश तो आ गई, परंतु उससे हमेशा के लिए मेरे गले में आवाज की नली में स्वर- विकार रह गया है।'

ऐसे समर्पित कलाकार का जन्म तमिलनाडु के छोटे से शहर परमकुडी में एक आयंगार परिवार में हुआ। पेशे से वकील पिता डी.एस. श्रीनिवासन और माता राज्य लक्ष्मी के तीन पुत्र और एक पुत्री में कमल सबसे छोटे हैं। इसलिए सबसे दुलारे भी थे। अत्यन्त जोखिम भरा और अहम निर्णय लेते हुए कमल के पिता ने उन्हें प्राथमिक शाला के बजाए प्रसिद्ध गुरु टी.के. षणमुखम् के यहाँ गायन/ वादन/ नृत्य/ अभिनय सीखने भेज दिया। 'पिताजी के दोनों बड़े बेटे पढ़े-लिखे थे और उनकी बेटी गणित में बी.एस-सी. कर रही थी। वे चाहते थे, कि परिवार में कोई कलाकार हो, इसलिए एक तरह से जबरदस्ती मुझे इस प्रोफेशन में धकेल दिया।' अपने गुरु के यहाँ कमल ने शास्त्रीय नृत्य की गहन साधना की, 'नृत्य साइकल चलाना या टाइपिंग जैसा आसान नहीं है। उसमें पूरे शरीर पर नियंत्रण करना आना चाहिए।' नृत्य और शरीर संचालन की यही कड़ी साधना कमल के भावी फिल्मी जीवन का एक प्रमुख सहायक बन गई।

टी. षणमुखम् से शिक्षा प्राप्ति के बाद कमलहासन ने खुद अपनी एक 'डांस ट्रूप' तैयार की, और विभिन्न शहरों में कार्यक्रम भी दिए। परंतु पेट और रोजगार की खातिर उन्हें यह छोड़कर प्रसिद्ध नृत्य प्रशिक्षक थनगप्पन का सहायक बनना पड़ा। यहीं पर प्रसिद्ध तमिल निर्देशक के. बालचंदर की उन पर नजर पड़ी जिन्होंने उन्हें १८ वर्ष की उम्र में ही **अरंगेत्रम** फिर **सोलथ्यन नीनाकरण, मन्मथ लीलई** और **मनो चरित्र** में कमल हासन को लेकर निरंतर निखरते अभिनय का एक ऐसा सिलसिला शुरू कर दिया, जो आज तक अनवरत जारी है। वैसे कमल हासन ने अपनी जीवन की पहली फिल्म में अभिनय महज पाँच वर्ष की उम्र में तमिल फिल्म **कलाट्टू कन्नाम्मा** में किया था, जिसके लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ बाल कलाकार का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला।

तमिल के बाद मलयालम, तेलुगु, कन्नड आदि फिल्मों में अपनी अभिनय की पूरी धाक जमाने के बाद कमल की निगाहें फिल्मों के स्वर्ग, बंबई और हिन्दी फिल्म जगत की ओर मुड़ी। 'दक्षिण में बेहतरीन फिल्मों में काम करने के बावजूद मुझ पर 'क्षेत्रीय कलाकार' का ठप्पा लगा रहा। परंतु मैं तो सारे विश्व

का होना चाहता था, दुनिया के सर्वश्रेष्ठ फिल्मकारों के साथ कार्य करना चाहता था। उसका एक ही माध्यम था- हिन्दी सिनेमा। मैं जानता था कि हिन्दी सिनेमा की 'रीच' सबसे गहरी और पैनी है।'

कमल हासन का हिन्दी सिनेमा में पदार्पण अत्यंत धमाकेदार रहा। वर्ष १९८१ में रति अग्निहोत्री के साथ उनकी फिल्म **एक दूजे के लिए** ने चारों ओर इस कलाकार की चर्चा फैला दी। एक ऐसी प्रेम कथा पर आधारित फिल्म जिसमें प्रेमी युगल भाषा, धर्म, प्रांत और वर्ग की सीमा से परे सिर्फ वो मानवों के बीच आस्था और विश्वास के बंधन को लिए साथ-साथ जीते हैं और अंत में, साथ-साथ मर जाते हैं- ने सारे देश में तहलका मचा दिया था।

# कमल हासन
# मैं स्टार नहीं, अभिनेता हूँ

*जी हाँ, कमल हासन की नजरों में वे सदा ही एक अभिनेता थे, हैं और रहेंगे। ऐसे ही अन्य विषयों पर उनके विचार:*

## पहले गुरु

*अभिनय में मेरा पहला पाठ मुझे मेरे भाई चंद्र हासन ने दिया था, महज तीन वर्ष की उम्र में। उन्होंने ही मुझे कठिन संवाद बोलना सिखाया था।*

## उनका बचपन

*मुझे बड़ी खुशी है कि मेरा बचपन अलग-सा रहा। इससे मेरे विचारों पर बड़ा फर्क पड़ा और मैं कोई प्रचलित ढाँचे में नहीं ढला। मैंने छोटी उम्र में ही स्कूल छोड़ दिया था, इसलिए 'नौ से पाँच' वाली मेरी कभी लय नहीं रही।*

## जीवन-शैली

*मेरे ख्याल से आपके अंदर कुछ सीखने की इच्छा है, तो अपने आप आप सब कुछ सीख सकते हैं......'*

*मैं अब भी अधूरे वाक्य की तरह पूर्णता की तलाश में हूँ......*

*मैं शीर्ष पर अवश्य पहुँचना चाहता हूँ पर अपने समकक्षों को चुनौती देकर नहीं, वरन स्वयं अपने बल पर.......*

*मैं कमल हासन का सबसे पहला और बड़ा प्रशंसक और आलोचक हूँ। अगर मैं ही संतुष्ट नहीं हुआ अपने रोल से, तो फिर फिल्म अवश्य पिट जाएगी......*

*जब भी मुझे चुनौती मिलती है तो मेरा उत्साह दुगुना हो जाता है। मैं वह जरूर करना पसंद करता हूँ जो कि लोग करने से कतराते हैं......*

*सिनेमा का मतलब ही है कुछ अलग हटकर करना, कुछ 'रिस्क' उठाना। अगर आप सामान्य ही करना चाहते हैं, तो फिर घर बैठिए।*

## फिल्म प्रणेता

*मैं किसी भी ऐसे व्यक्ति से मिलने को सदा उत्सुक रहता हूँ जो फिल्मों के बारे में कुछ भी जानता हो। फिल्मों के बारे में पढ़ना, सुनना/ देखना इससे मेरा फिल्म-ज्ञान बढ़ा है। हिचकॉक की सायको फिल्म हर बार देखता हूँ, तो कोई नई चीज सामने आती है।*

*भारतीय कलाकारों में देव आनंद को बहुत चाहता हूँ, और उनके कई अंदाज, अदाएँ अपने पात्रों में पेश करने का भी प्रयास किया है।*

## हिन्दी फिल्मों में असफलता

*मैं शायद उनकी 'चलता है ठीक है' पद्धति को नहीं पचा पाया। दिन-दिन भर मेकअप रूम में इंतजार करना और फिर घर लौट जाना मुझे नहीं पसंद आया। दक्षिण भारतीय फिल्मकार इस व्यवसाय को भी इतनी ही संजीदगी और गंभीरता से लेते हैं, जितने अन्य किसी व्यवसाय को। समय की पाबंदी, 'क्रियेटिविटी', समर्पण और व्यावसायिकता जो दक्षिण भारत में देखने को मिलती है, बंबइया फिल्म उद्योग उससे कोसों दूर है।*

## दक्षिण भारतीय कलाकार

*अब किसी को मुझे दक्षिण भारत का कलाकार नहीं कहना चाहिए। उत्तर वाले मुझे अपना न मानकर मेरा अपमान करते हैं, क्योंकि मुझे देश के हर कोने से प्रेम है। मैं हमेशा ऐसा कलाकार बनना चाहता हूँ, जो कि देश के हर होने के लोगों की बोली बोल सके। यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि मैं बोली कितनी अच्छी तरह बोल पाता हूँ, पर मैं उनसे उन तक उनकी भाषा में पहुँचता तो हूँ। सभी कलाकारों को यह प्रयास करना चाहिए।*

## मेरी कमजोरी

*मैं हिंसा के दृश्यों में अभी महारत हासिल नहीं कर पाया हूँ। जो वास्तविक दर्द और पीड़ा उभर कर आना चाहिए, वह नहीं आ पाती है। जैसे हर कोई कलाकार का लक्ष्य रहता है एक बेहतरीन मरणसीन देने का, परंतु शायद ही कोई उसे 'वास्तविक' तौर पर कर पाया है।*

●जीतेंद्र मुछाल

इस आशातीत सफलता के बावजूद कमल हिन्दी सिनेमा में अपना विशिष्ट स्थान अर्जित नहीं कर पाए। पीछे मुड़कर देखें तो बंबइया सिनेमा के दुष्चक्रों ने कमल हासन को यहाँ स्वीकार न कर खुद ही नुकसान किया, कमल हासन का नहीं। कमल हासन ने **एक दूजे के लिए** के पश्चात् लगभग डेढ़ दर्जन हिन्दी फिल्मों में काम किया। जिसमें **सागर** के अलावा अधिकांश कमल ही की दक्षिण भारतीय फिल्मों का पुनर्निर्माण था। (मसलन **सदमा, ये तो कमाल हो गया, अप्पू राजा, मेयर साहब** आदि)।

वैसे यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि कमल हासन की कई सफल दक्षिण भारतीय फिल्मों का हिन्दी में उनके या अन्य कलाकारों के साथ पुनर्निर्माण किया गया, किन्तु उनमें से सफलता बहुत कम ही के हाथ लगी। इन फिल्मों की श्रेणी में **जरा-सी जिंदगी/ कोशिश/ ईश्वर/ गजब/** और **सोलहवां सावन** शामिल हैं।

काफी चर्चित फिल्म **सागर** में वैसे तो पूरे तौर पर कमल हासन का अभिनय बेजोड़ था, परंतु एक दृश्य रह- रहकर आँखों के आगे घूम जाता है। हिन्दी फिल्मों में दोस्त की खातिर प्यार की कुर्बानी की कहानी बीसियों 'फिल्मों' में दोहराई गई है, किन्तु एक पानी के ड्रम में से अपने मुँह पर पानी **छपाककर** दिल के दर्द और चेहरे के आँसुओं को उसी अंदाज में मुस्कराहट में बदलते हुए कमल का चेहरा भारतीय सिनेमा का सीमा- चिन्ह दृश्य है।



*एक दूजे के लिए : कमल-रति अग्निहोत्री*

वैसे तो कमल हासन की हर फिल्म ही अपने आप में विवेचनीय है परंतु सीमाओं को ध्यान में रखते हुए अगर सिर्फ उनकी पिछली चार बहुचर्चित फिल्मों का भी जिक्र करें तो उनकी अप्रतिम अदाकारी का अंदाज लगाया जा सकता है। सबसे पहले जिक्र उठता है फिल्म **नायकन** (तमिल) का जिसमें कमल हासन ने बंबई के तत्कालीन 'अण्डरवर्ल्ड बादशाह' वरदराजन मुदलियार के किरदार से मिलते- जुलते पात्र का अभिनय किया था। 'दलितों का मसीहा' और 'पैसे वालों का हैवान' बनकर कमल हासन ने वरदा दादा के जीवन की शुरूआत से अंत तक जो विलक्षण अभिनय किया है, वह भारतीय सिनेमा की धरोहर है। उसके बाद बनी फिल्म **पुष्पक विमान** जो कि किसी भी कलाकार के लिए एक टेढ़ी खीर थी। कारण था- फिल्म में 'डायलॉग' की अनुपस्थिति, यानी संवाद प्रधान इस युग में मूक फिल्म- कोई भी सुनकर विचार को हँसी में उड़ा देता। परंतु कमल हासन 'कोई' नहीं था। अमला के साथ

इस मूक फिल्म में कमल हासन ने अपने शारीरिक हाव-भाव के संचालन से ऐसा समां बांधा कि फिल्म के विभिन्न भाषाओं में पुर्ननिर्माण बेहद सफल रहे। इसके बाद आई **अपूर्व सहोदरगल** (तमिल) जिसमें कमल हासन ने तीन कलाकारों का पात्र निभाया। खास बात तो यह थी कि उसमें से एक बौना था। अब ५ फीट आठ इंच का मनुष्य पूरी फिल्म में बौना कैसे बन सकता है और फिर हर सामान्य गतिविधि में कैसे शरीक हो सकता है यह आज तक राज ही बना हुआ है। **'अप्पूराजा'** (अपूर्व का हिन्दी अनुवाद) का मेरा बौना 'रोल' बहुत ही सरल तकनीक का कमाल था। पर मैं इसे बताऊँगा नहीं, क्या कोई जादूगर अपनी जादू की चालाकी बताता है।



*करिश्मा कमल का!*

और गत वर्ष आई कमल की फिल्म **मेयर साहब** जिसमें एक कुटिल अय्याश नेता पर व्यंग्य कसते हुए उन्होंने सामाजिक व्यवस्था पर करारा तमाचा मारा है। हर एक फिल्म में कुछ 'नया' कमल हासन की यह शैली अब उनका परिचय चिन्ह बन गई है।

इतने विविध पात्रों को सजीव करने वाले कलाकार को पुरस्कार भी ढेरों प्राप्त हुए हैं। पद्मश्री से अलंकृत कमल हासन भारत के एकमात्र ऐसे अभिनेता हैं, जिन्हें सर्वाधिक १३ बार फिल्म फेयर पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। इनमें सबसे पहला मलयालय फिल्म **कन्या कुमारी** के लिए वर्ष १९७४ में मिला था, और हिन्दी में एकमात्र सागर फिल्म में अभिनय के लिए। वैसे उन्हें एक हिन्दी, दो मलयालय, छह तमिल, तीन तेलुगु, एक कन्नड़ ऐसे तेरह बार फिल्म फेयर पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। इस ऊँचाई का अंदाज़ इस तथ्य से और बेहतर लगता है कि दिलीप कुमार को सात बार सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार मिला है।

इसके अलावा कमल को दो बार सर्वश्रेष्ठ अभिनय का राष्ट्रीय पुरस्कार **मूंदरम पिरवई** (तमिल) और नायकन (तमिल) भी मिल चुका है। राष्ट्रीय पुरस्कारों में हासन परिवार का अनूठा ही कीतिमान है। कमल के सबसे बड़े भाई चारू हासन को तबरन कथे (कन्नड़) के लिए सर्वश्रेष्ठ अभिनेता और चारू की पुत्री (कमल की भतीजी) सुहासिनी को **सिंधु भैरवी** के लिए सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार मिल चुका है। वैसे कमल के मझौले भाई चन्द्र हासन भी प्रतिष्ठित कलाकार हैं।

अभिनय के अलावा कमल हासन ने अपनी स्वयं की फिल्म निर्माण संस्था राजकमल इंटरनेशनल भी शुरू की है, जिसका शुभारंभ कमल की सौवी तमिल फिल्म **राजा पीरवई** से हुआ था। उनकी बाद की स्व-निर्मित फिल्मों में **विक्रम, सथ्या, अपूर्व सहोदरगल** उल्लेखनीय हैं। कमल हासन के स्वयं के पारिवारिक जीवन का प्रारंभ सुप्रसिद्ध नृत्यांगना वाणी से उनके विवाह से हुआ था। सात वर्षों के प्रेम- संबंधों के बाद हुए इस विवाह के बाद वाणी ने अपने निजी नृत्य कैरियर पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया और अपनी पूरी जिंदगी कमल हासन के व्यक्तिगत और व्यावसायिक जीवन हेतु होम कर दी। किन्तु कमल हासन का ध्यान आकर्षित हुआ हिन्दी सिने तारिका सारिका की ओर। पहले-पहले तो उनके संबंध गुप्त ही रहे, किन्तु जब सारिका गर्भवती हुई और कमल उन्हें अपने साथ मद्रास ले आए तो बात ने बहुत तूल पकड़ लिया। सारिका को पुत्री प्राप्ति पर (कमल-वाणी की कोई संतान नहीं थी) कमल के पिता ने उसका नाम कमल की दिवंगत माता के नाम 'श्रुति' ही रखकर एक प्रकार से कमल- सारिका के संबंधों को स्वीकृति दे दी। उस समय तो कमल ने 'वाणी मेरी पत्नी और सारिका मेरी प्रेमिका' कहकर संबंधों का स्पष्टीकरण किया था, किन्तु दुहरी जिन्दगी ज्यादा दिन नहीं चल सकी। अंततः कमल को वाणी से तलाक लेना पड़ा और विगत वर्ष एक अन्यन्त सादे समारोह में उन्होंने सारिका से विधिवत् विवाह कर लिया। इस विवाह की विशेषता यह थी कि कमल- सारिका परिणय में बँधने की साक्षी उनकी दो पुत्रियाँ भी थीं। माता-पिता के विवाह में संतानों की उपस्थिति की अनूठी मिसाल।

पर कमल हासन जैसे अनूठे व्यक्तित्व के लिए तो कुछ भी असंभव नहीं है यहाँ तक कि उनके पिता और अभिनेता की भूमिका का समागम भी।

'मैं पिता के रूप में अपने हर कदम का ध्यान रखता हूँ। उसका मैं अभिनय करते समय उपयोग करना चाहूँगा ताकि पिता के मेरे पात्र में और वास्तविकता आ सके।' ऐसे अदाकार को, जिसके जीवन का हर पल 'अभिनय' के इर्द-गिर्द घूमता हो, दक्षिण भारत के एक और 'सुपर स्टार' रजनीकांत ने सही वर्णित किया है 'फिल्में मेरे जीवन का एक अंग है, किन्तु फिल्में कमल हासन का जीवन है।' कमल हासन ही के लिए अमिताभ ने कहा है, 'मैं तो फिल्मों में भूमिका भर अदा करता हूँ। कमल फिल्मों से दीवानगी की हद तक प्यार करते हैं। ऐसे अभिनेता के लिए खुद उनके पिता ने जो भविष्यवाणी की है, वह शायद सच ही निकलेगी 'कमल हासन को एक दिन सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का ऑस्कर अवश्य मिलेगा।' ■

# शताब्दी का अंतिम महानायक ?

# अमिताभ बच्चन

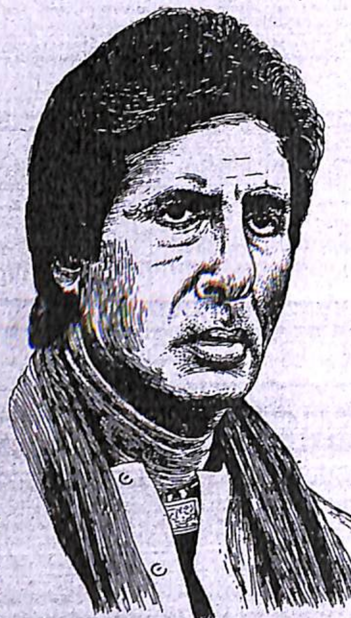
**● अमिताभ अब भी एक संभावना है क्योंकि फिल्मी दुनिया में प्रतिभाओं का अकाल हो गया है। इसलिए इस मरुस्थल की वे हरीतिमा हैं। लेकिन अमिताभ ने अर्जुन की तरह अपना गांडीव रख दिया है। सवाल सिर्फ यह है कि कृष्ण कहाँ है?**

**● जयप्रकाश चौकसे**

सिनेमा तकनीक में क्लोज-अप के आने के साथ ही सितारे का प्रादुर्भाव हुआ। सितारा उसे कहते हैं जो दर्शकों में अवर्णनीय उत्साह पैदा कर सके। सितारे के जादुई सम्मोहन के कारण खोजना बहुत कठिन हैं क्योंकि दर्शकों के अवचेतन में झाँकना संभव नहीं है। दर्शकों के मन के क्रुसिबल में अनजानी-सी रासायनिक क्रिया होती है और एक कलाकार का वह अवर्णनीय सम्मोहन पैदा होता है जिसके लिए दर्शक जान देने और जान लेने की बातें करने लगते हैं। जिस तरह प्रेम सभी परिभाषाओं से परे है, उसी तरह सितारे और दर्शक के रिश्ते भी विश्लेषण से ऊपर की चीज हैं। यह सच है कि व्यावसायिक सिनेमा का अर्थशास्त्र सितारों की आधारशिला पर निर्भर करता है क्योंकि सितारे ही अपने सम्मोहन से दर्शक को टिकट खिड़की तक खींच लाते हैं। सितारे ही दर्शकों में वह जुनून पैदा करते हैं जिसकी ऊर्जा से फिल्म उद्योग प्राणवान रहता है।

टॉकी के आने के बाद बहुत से सितारों ने फिल्म उद्योग को सँवारा, परंतु इन सितारों की आकाश-गंगा में पहला कॉमेट **अशोक कुमार** रहे। अशोक कुमार के पहले पृथ्वीराज/ सहगल/ चंद्रमोहन और अन्य सितारे अत्यंत लोकप्रिय रहे परंतु दर्शकों में अवर्णनीय उन्माद भरने वाले पहले सितारे अशोक कुमार ही हुए जिनकी फिल्म 'किस्मत' ने १९४३ में अनेक रिकॉर्ड बनाए। यह अजीब इत्तफाक है कि किस्मत फिल्म उद्योग की पहली फिल्म थी जिसमें केंद्रीय पात्र 'एन्टी हीरो' था और 'लॉस्ट एंड फाउंड' फार्मूले की पहली फिल्म होने का श्रेय भी किस्मत को है जिसे फार्मूले के आदि गुरु शशधर मुखर्जी ने बनाया था। तीस वर्ष बाद पुनः एन्टी हीरो के पात्र को सजीव किया **अमिताभ बच्चन** ने और वे सभी युगों के सितारों में सबसे लोकप्रिय सितारे माने गए। उन्हें पटकथा से ऊपर उठा हुआ सितारा भी माना गया।

अशोक कुमार और अमिताभ बच्चन के बीच के तीस वर्षों में दिलीप कुमार/ राजकपूर और देव आनंद की प्रतिभा तिकड़ी ने लगभग सभी सितारों को प्रभावित किया। राजकुमार/ राजेन्द्र कुमार और सुनील दत्त की तिकड़ी ने भी सफल पारियाँ खेलीं। शम्मी कपूर, धर्मेन्द्र और मनोज कुमार भी अत्यंत लोकप्रिय रहे। राजेश खन्ना के साथ पहली बार 'सुपर स्टार' शब्द सुनने को मिला परंतु राजेश का दौर बहुत लंबा नहीं रहा। सितारों से भरी इस आकाश-गंगा में अमिताभ का स्थान इसलिए भी अद्वितीय है कि उनके पहले का समाज बहुत सिनेमामय समाज नहीं था। राजकपूर और दिलीप के जमाने के लोग उन्माद को दबाने की शिक्षा में ढले थे और सड़कों पर खुलेआम प्रदर्शन एक अनसोची बात थी। **अशोक कुमार और अमिताभ ने अपने-अपने युगों के संदर्भ और सीमा में असीमित उन्माद दर्शकों में जगाया परंतु इस बात को स्वीकार करना होगा कि दोनों ने अपने युग के आक्रोश को अभिव्यक्त किया।** किस्मत में एक गुमशुदा बालक के चोर होने की कथा के ताने-बाने में देशभक्ति का गीत भी था- 'आज हिमालय ने फिर हमको ललकारा है'- यह सन् ४३ के आंदोलन का प्रभाव था। स्वतंत्रता संग्राम के उन शिखर दिनों में नवयुवकों की मुट्ठियाँ तनीं हुई थीं और गुलामी से पीड़ित मन में तीव्र इच्छा थी कि उसकी मुट्ठियाँ किसी की पीठ पर बरसें। किस्मत का एन्टी हीरो जब कानून अपने हाथ में लेता है, तो युवा वर्ग के दर्शकों को लगा कि वह उनके आक्रोश को अभिव्यक्त कर रहा है। युवा वर्ग दिलोजान से अशोक कुमार पर फिदा हो गया। आजादी के २४ बरस बाद की युवा पीढ़ी भी आक्रोश से भरी हुई थी क्योंकि उनके साथ भी वादाखिलाफी हुई थी और वे भी भीषण सामाजिक असमानता और आर्थिक अन्याय के शिकार थे। आजादी के बाद दिखाए गए सपने शीशे की तरह टूट गए थे और युवा वर्ग स्वप्न-भंग की क्रूरता को झेल रहा था। अमिताभ ने इसी युवा आक्रोश का प्रतिनिधित्व कर सितारे का सिंहासन पाया। अशोक कुमार की तरह अमिताभ ने भी कानून तोड़ा और समाज में पाखंड की दीवारों पर प्रहार किया। अशोक कुमार के जमाने के युवा आक्रोश में और अमिताभ के जमाने के युवा आक्रोश में बहुत अंदर है। अशोक के जमाने में विदेशी हुकूमत को भगाने और स्वतंत्रता पाने का उद्देश्य था और उद्देश्य की पवित्रता ने साधन को भी गरिमामय बना दिया था अर्थात् उस आक्रोश में कुछ मासूमियत थी, कुछ आदर्शवाद भी था। अमिताभ के जमाने का युवा-आक्रोश अत्यंत निर्मम था क्योंकि उन्हें विदेशी ताकत ने नहीं, बल्कि अपनों ने ठगा था और इस आक्रोश के पीछे निर्माण से ज्यादा विध्वंस की इच्छा थी और यह यथार्थवादी आक्रोश था। इसीलिए **यह आक्रोश हिंसा के घोड़े पर सवार होकर आया था और हर किस्म की रूमानियत के खिलाफ विद्रोह था।** यह उस युग की माँग थी कि राजेश खन्ना की रूमानियत को अपदस्थ किया जाए और स्वप्न-भंग की दशा में हर चॉकलेटी नाजुक चीज को तोड़ दिया जाए। अमिताभ के पहले के नायकों में एक किस्म की नजाकत थी परंतु हिंसा के घोड़े पर सवार अमिताभ ने सौंदर्य की परिभाषा ही बदल दी।



पुराने किसी मानदंड पर अमिताभ का व्यक्तित्व सितारे का परंपरागत व्यक्तित्व नहीं है- उसकी टाँगें उसके धड़ के अनुपात से ज्यादा लंबी हैं और एक कंधा दूसरे की तुलना में दबा हुआ और नाक-नक्श में अजीब-सा तीखापन है और आवाज में ऐसी कशिश, मानों बात गले से नहीं, बल्कि किसी प्यासी रूह से निकली हो।

आमतौर पर नायक सपनों का राजकुमार होता है, जो सफेद घोड़े पर सवार होकर नायिका को अपने साथ ले जाता है। सितारे अमिताभ का व्यक्तित्व सपनों के टूटे हुए काँच से बना था और सफेद घोड़े पर नहीं, वरन् घोड़े जैसी अपनी टाँगों पर सवार होकर, नायिका को अनदेखा करके गुजर जाता है और कभी नायिका को छूता भी हो, तो झँझोड़कर रख देता है। अमिताभ बच्चन की किसी भी फिल्म में (ऋषिकेश मुखर्जी की फिल्मों को छोड़कर) नायिका का कोई खास महत्व नहीं है। दीवार, शक्ति और कालिया की नायिकाएँ पराजित स्त्रियाँ हैं। राजकपूर की नायक प्रधान फिल्मों में भी नायिका प्रेरणा की स्रोत हैं, जीवनदायिनी शक्ति है। दिलीप के अभिनीत पात्र भी किसी नायिका के लिए तरसते हैं, देव आनंद के सभी पात्र प्रेम पुजारी हैं- **इतना ही नहीं, हिंदी फिल्मों के कई पुरुष पात्रों के व्यक्तित्व में नारी की कोमलता विद्यमान है,** परंतु अमिताभ की जीवन शक्ति सामाजिक अन्याय से उत्पन्न होती है और नायिका मात्र रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए है। **अमिताभ की फिल्मों में नायिका से अधिक महत्व माँ का होता है। अमिताभ ने हरिवंशजी को आदर किया है परंतु पूजा तो तेजी बच्चन की ही की है, कविताएँ बतौर शौक के लिखी हैं परंतु जीवन का जुझारूपन को तेजीजी से ही पाया है। इत्तफाक से उसके प्रिय लेखक जावेद के जीवन में भी माँ का महत्व और प्रभाव समान तीव्रता लिए हुए रहा है।**

सामाजिक अन्याय और आक्रोश की पृष्ठभूमि के अध्ययन में **इंदिरा गाँधी** को नहीं नकारा जा सकता। यक्ष के एक प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था कि राजा समय से बलवान होता है क्योंकि वह अपने काल की हर विधा को प्रभावित करता है। साधारण मनुष्य बहाव के साथ बहता है, परंतु राजा नदियों की दिशा बदल सकता है। नेहरू युग के प्रतिनिधि फिल्मकार राजकपूर, मेहबूब और विमल राय रहे हैं। शास्त्रीजी के मनोज कुमार तो इंदिरा गाँधी युग के प्रतिनिधि कलाकार अमिताभ रहे हैं। **इंदिराजी के व्यक्तित्व में जो लौह-तत्व था, उसी का एक भाग अमित के पात्रों में भी है।** इंदिराजी ने अपने जमाने की सभी परंपराओं को ध्वस्त किया। जीवन मूल्यों को बदला और स्वयं संविधान की प्रतीक बनीं- यहाँ तक कि आत्मा की आवाज पर पार्टी के प्रतिनिधि को भी परास्त करवाया। बंगलादेश की आजादी पर दुर्गा का अवतार कहलाईं। **अमिताभ के पात्र भी कहते हैं कि वे स्वयं अपने तईं कानून हैं और उनके परे कोई कानून नहीं (शहंशाह),** वह भरी अदालत में जज के सामने एक अपराधी की छाती में तलवार उतार देता है और उसे कोई सजा भी नहीं होती (अंधा कानून) और वह मंत्रिमंडल की बैठक में जन प्रतिनिधियों को गोली मार देता है (इंकलाब)। इंदिराजी अदालत में हारने के बाद सभी अदालतों को बर्खास्त करती हैं तो अमिताभ जिस चौराहे पर खड़ा होता है, वही जगह, बिना जिरह और वकीलों के, अदालत बन जाती है- (इंद्रजीत/अकेला)। यह भी अजीब इत्तफाक है कि आक्रोश के प्रतिनिधि कलाकार का राजनीति के प्रथम परिवार से दोस्ताना रहा है। **भारत में राजनीति की चौपाल और मनोरंजन के ठियों में कहीं कोई समानता जरूर है।**

अमिताभ की पहली आधा दर्जन फिल्में असफल रहीं और 'परवाना' नामक फिल्म में तो उसने खलनायक की भूमिका निभाई जबकि नवीन निश्चल उस फिल्म के नायक थे। बाद में आधा दर्जन फिल्में रुक गईं या उनमें से अमिताभ को हटाकर दूसरे नायक लिए गए जैसा कि मेला में संजय खान ने उनकी जगह ली जबकि उन दिनों वे टीपू भी नहीं थे। मनमोहन देसाई, जो बाद में उनके



*गंगा-जमना-सरस्वती में मिठुन और अमिताभ*

प्रिय निर्देशक रहे, ने उन्हें जुलाब लेने की सलाह दी थी ताकि कब्जियत दूर हो और खा-पीकर अंग भर सकें। **अमिताभ की आँखों में जो भूख मनमोहन ने देखी, वह भोजन की नहीं, असफलता और आक्रोश की प्रतीक थी।** जिस उद्योग के निर्णायकों को कागज पर लिखी इबारत पढ़ना नहीं आती, उन्हें आँखों की भाषा कैसे समझ में आ सकती थी। अमिताभ को 'जंजीर' की भूमिका इसलिए मिली कि देव आनंद को पटकथा में गीतों का अभाव लगा और राजकुमार को वह तेल

# फिर से याद आते हैं वे...

*मैं बांदा गया था। बहुत अच्छा लगा, गाँव। और मुझे एक चीज बुरी भी लगी। जब बाँदा में था, तब मैं छोटा था। उस समय मिट्टी का मकान था, रज्जन भाईसाहब का। बिजली नहीं थी, हाथ के पंखे थे, सड़कें सीमेंटेड नहीं थीं, बैलगाड़ी चलती थी उस समय, तब वह बड़ा खराब लगता था। लगता था गर्मी बहुत है साहब। हाथ से पंखा कर रहे हैं और बिजली नहीं है, लालटेन लिए घूम रहे हैं।*

*अब, जब मैं वहाँ गया, तो मैंने देखा कि सब कुछ बदल गया है। अच्छी पथरीली सीमेंटेड सड़कें बन गई हैं। मकान, जो मिट्टी का था, वह टूट गया है। सीमेंट के मकान बन गए हैं। वहाँ बिजली आ गई है। पंखे, एयर कंडीशनर ये सब चीजें भी लग गई हैं। आपसे सच कहता हूँ, मुझे बड़ा अफसोस हुआ वह सब देखकर क्योंकि मैं उस एक्सपेक्टेशन से गया था कि मैं फिर से एक ग्रामीण वातावरण देखूँगा।*

*तो यह एक बड़ा सर्किल होता है इंसान की जिंदगी में। दिल्ली, एक हैवेन सा लगा। वहाँ रहने के बाद और उससे भी बेहतर जगहों में, बंबई में रहने के बाद, अब मन करता है कि वापस जाएँ। मिट्टी की सड़कों पर पैदल चलकर बाँदा में जाना तीन-चार किलोमीटर, रोज सुबह केन नदी में नहाना, पैदल चलकर वापस आना। हाथ के पंखे से अपने आपको हवा करना, जमीन पर बैठकर खाना खाना। ये सब चीजें अब करने का बहुत मन करता है।*

# यादें दाढ़ी वाले साँप की

*गुलाबों की क्यारियों के पीछे दस-बारह नींबू के पेड़ थे और नींबू के पेड़ों के पीछे कोने में एक कूड़ा-करकट फेंकने की जगह थी, जहाँ पर मुझे अभी भी याद है, लोग कहते थे कि एक बहुत ही बूढ़ा साँप रहता है और कई बार लोगों ने उसे देखा भी था। माँ कहती थीं कि घर में एक ऐसा बूढ़ा साँप होना बहुत ही अच्छा शगुन होता है। अजीब-अजीब बातें बताते थे लोग साँपों के बारे में। उसके दाढ़ी भी है, वगैरह-वगैरह। मैंने कभी उस साँप को नहीं देखा। हालाँकि उस मकान में और इलाहाबाद में अक्सर साँप निकला करते थे और कई दफा मारे भी गए। लॉन के बीच में और पिछली तरफ एक गोल पांड (तालाब) था, जिसमें हम लोगों ने कमल लगाए हुए थे। एकाध दफा वहाँ जीवित मछलियाँ रखने की कोशिश की, लेकिन मछलियाँ तो कम रहीं, मेंढक वहाँ ज्यादा रहा करते थे। पांड के पीछे एक कच्ची-सी, पतली-सी पगडंडी जाया करती थी, जो कि नींबू के पेड़ों की तरफ घूम जाती थी। उसके पीछे हमने एक ऊँची फेन्स लगाई हुई थी। वहाँ पर महुए के पेड़ थे, जो कि हमारे कम्पाउंड में नहीं थे, लेकिन बगल में जो मुखर्जी रहा करते थे, उनके कम्पाउंड में थे। मगर जो महुआ गिरता था, वह हमारे ही कम्पाउंड में गिरता था, सफेद रंग का। महुए के पेड़ों के पीछे ही मुखर्जी साहब के हिस्से में उनके सर्वेन्ट्स क्वार्टर थे, जहाँ पर एक पहलवान रहा करता था। उस पहलवान को हम रोज देखा करते थे, वर्जिश करते हुए। कई दफा उससे मिलने भी गए। उसके हाथों में लकड़ी की बड़ी-बड़ी गदा किस्म की चीज रहती थी, जिसके साथ वह कसरत किया करता था।*



**वर्ष १९४३ : एक वर्ष के अमिताभ**



**वर्ष १९५२ : माँ तेजीजी, अमिताभ और अजिताभ**

**● प्रस्तुति : पुष्पा भारती**

पसंद नहीं था जो निर्देशक प्रकाश मेहरा लगाते थे।

दरअसल, सलीम-जावेद ने अमिताभ की सिफारिश की और उस समय की जब प्रकाश मेहरा स्थापित नायकों के रवैए से तंग थे और खतरा उठाने की उनकी जन्मजात प्रवृत्ति जोर मार रही थी। जिंदगी अफसानों से ज्यादा रोचक और अविश्वसनीय घटनाओं से भरी होती है। 'जंजीर' की सफलता ने अमिताभ को सितारा बना दिया और सलीम-जावेद की दीवार ने उन्हें सशक्त कलाकार और स्थायी सितारे के खिताब दिलाए। **मार्लिन ब्रेंडो की 'वॉटर फ्रंट' और दिलीप की 'गंगा-जमुना' की प्रेरणा से 'दीवार' की पटकथा लिखी गई थी** जिसका नायक अग्निपुंज है। उसका उठना, बैठना, चलना, सभी कुछ अज्ञात ऊर्जा से संचालित है। बचपन से उसने अन्याय और दुःख भोगा है और **यही है वह गंगोत्री जहाँ से आक्रोश की धारा बहती है।** लेखक और नायक दोनों ने उद्योग में असफलता और अपमान सहा था। वे सब सफल होने के लिए कसमसा रहे थे। केवल इतने ही व्यक्तिगत अनुभवों से अभिनय का अग्निपुंज नहीं उत्पन्न होता। कलाकार की प्रतिभा को सलाम करना जरूरी है। व्यक्तिगत जीवन में अमिताभ शांत स्वभाव के अंतर्मुखी व्यक्ति हैं। उन्हें शबनम नहीं कहा जा सकता तो अग्निपुंज भी नहीं माना जा सकता। अमिताभ सदैव अपने पिता की प्रतिभा से आतंकित रहे और उनके समकक्ष होने का उन्हें विचार भी नहीं आया। **तेजीपुत्र अमिताभ के मन में माँ के लिए और माँ के सामने कुछ कर गुजरने की तीव्र अभिलाषा थी और अभिलाषा की इस चिंगारी को 'दीवार' की माँ के चरित्र ने अपने आँचल से हवा दी और इस तरह अभिनय के अग्निपुंज का प्रादुर्भाव हुआ।** सामाजिक अन्याय की तत्कालीन परिस्थितियों ने इसमें अपने आक्रोश की पहचान पाई, **इसलिए दीवार का अफसाना तत्कालीन इतिहास का दस्तावेज बन गया।**

इस सफलता के बाद अमिताभ को अभिनय की वह तकनीक भी आ गई जिसकी मदद से वह फिल्म-दर-फिल्म अपने आपको पैना करते गए। उसने अपनी सफलता के इतिहास को दोहराया और हर प्रतिलिपि में कुछ स्वतंत्र पंक्तियाँ जोड़ते गए।

सलीम-जावेद की त्रिशूल में भी अन्याय से पीड़ित माँ अपने बेटे को एक शस्त्र की तरह पालती है जो सीधे जाकर स्वार्थी पिता के वैभव को नष्ट करता है। केंद्रीय विचार के इसी बिंदु का सुभाष घई नुमा संस्करण है 'राम-लखन'। फर्क इतना है कि माँ दो शस्त्रों को पालती है। त्रिशूल में अमिताभ माँ के दिए हुए धागे को बहुत कसकर गले में बाँधे रहता है ताकि पीड़ा हमेशा बनी रहे। यह जाने किसका करिश्मा है- लेखक, निर्देशक या स्वयं अभिनेता का? इस तरह की क्रिया से अमित की संज्ञा विशेषण में बदलने लगी। शोले का विजय एक लाचार, बिना बाँह वाले सभ्य व्यक्ति के युद्ध को अपना युद्ध बना लेता है।



रात के सन्नाटे में दूर कहीं किसी खिड़की के फ्रेम में जड़ी-सी युवा विधवा के लिए उसके मन में प्रेम जागता है- एक अनंत अनभिव्यक्त प्रेम। भैंसे पर सवार विजय विधवा को देखते ही कूद पड़ता है और प्रेम के भाव को गली के मोड़ पर छुपा देता है। इन कवितामय क्षणों ने शोले को महाकाव्य का दर्जा दिलाया। **अभिनय की यह सूक्ष्मता और सटलिटी किसी पटकथा के पन्नों पर नहीं लिखी होती- इसे तो कलाकार स्वयं पैदा करता है।** 'अमर अकबर एंथोनी' से अमिताभ ने हास्य तथा प्रेम का सहारा लिया और **आक्रोश के समानांतर यह नई धारा भी बहती रही** जिसका जन्म मुखर्जी की 'चुपके-चुपके' में हो चुका था परंतु व्यावसायिकता का भव्य कैनवास मनमोहन देसाई की देन है। इसी फिल्म के एक दृश्य में अपनी छवि से बात करने का दृश्य भी है जो मनमोहन ने राजकपूर की 'श्री-४२०' से लिया है। 'अमर' तक आते-आते अमिताभ के अभिनय में सहजता और स्वाभाविकता के गुण आ चुके थे और अपनी बेमिसाल आवाज के पूरे रेंज से वह वाकिफ हो चुका था।

'मुकद्दर का सिकंदर' देवदास और आवारा का प्रकाश मेहरा संस्करण है जिसमें बोतल उठाने वाले हाथ हथौड़ा बनकर दुश्मन पर बरसते भी हैं। तात्पर्य यह कि **अमिताभ देवदास बने या लावारिस बने या गोपाल (संगम) बने, उसकी आक्रोश वाली छवि के लिए कुछ दृश्य मूल पटकथा में चस्पा करना आवश्यक बन गया था।** छवि के साए ने छोटे-मोटे नुकसान पहुँचाना आरंभ कर दिया था।

जंजीर के पहले वाली असफल फिल्मों में अमिताभ ने कोई स्वतंत्र शैली विकसित नहीं की थी परंतु जंजीर के बाद आक्रोश की छवि के लिए उसने स्वयं की शैली विकसित की। इसी दौर की समानांतर धारा की हास्य या प्रेम कथाओं में उसने भावना की तीव्रता के सहारे अपने अभिनय को नई सीमाएँ दीं। **कभी-कभी, सिलसिला और दोस्ताना में पराजित प्रेमी की भूमिकाओं में भी आक्रोश से उसे मुक्ति नहीं मिली।**

**पहले अमिताभ एक ऐसे मानव के रूप में सामने आते थे, जो अपनी हिम्मत से मानवीय सीमाओं को विराटता प्रदान करता था। 'कुली' के बाद के उनके तमाम किरदार लगभग खुदा ही बन बैठे हैं। नतीजा सामने है- 'मर्द' के बाद की सभी फिल्में असफल रही हैं।**

'कुली' की शूटिंग की दुर्घटना ने अमिताभ का जीवन ही बदल दिया। उसने मौत से आँखें चार की थीं और जनता उसे कितना प्यार करती है- इसका भी उसे आभास हो गया था। इस अनुभव ने एक नई और सर्वथा अनपेक्षित दुर्घटना को जन्म दिया। उसके लेखकों ने अब ऐसे पात्रों की रचना की जो अपराजेय हैं और मौत से मसखरी करना उन्हें पसंद है। अग्निपथ में शत्रुओं के सामने छाती प्रस्तुत करता है और सैकड़ों गोलियों से भी नहीं मरता। **पहले अमिताभ एक ऐसे मानव के रूप में सामने आता था जो अपनी हिम्मत से मानव की सीमाओं को विराटता प्रदान करता था परंतु कुली के बाद के पात्र तो लगभग खुदा ही बन बैठे हैं।** अतः इन हालात में आम आदमी कैसे उससे अपना तारतम्य जोड़ता- **इसी कारण मर्द के बाद की सभी फिल्में असफल रहीं।** इस तीसरे दौर तक अमिताभ पटकथा से ऊपर उठता हुआ सितारा बन गया और उसका कद तथा मेहनताना फिल्म से भी विराट हो गया। जनता के भरपूर सहयोग के बाद भी आसमान को छूती हुई प्राइस वापस आई

> ● अशोक कुमार और अमिताभ ने अपने-अपने युगों के संदर्भ और सीमा में असीमित उन्माद दर्शकों में जगाया परंतु इस बात को स्वीकारना होगा कि उन्होंने अपने युग के आक्रोश को अभिव्यक्त किया।

नहीं। छवि ने ही मनुष्य को पराजित कर दिया।

अमिताभ की अभिनय प्रतिभा का पूरा दोहन नहीं हो पाया क्योंकि उसके युग में गुरुदत्त, मेहबूब या विमल रॉय की प्रतिभा के निर्देशक नहीं थे और एक समय ऐसा भी आया जब वह निर्देशकों का निर्देशक बन गया। उसकी छवि की विराटता और 'वन मेन इंडस्ट्री' की धारणा ने उसकी प्रतिभा का गला घोंट दिया। **अमिताभ अब भी एक संभावना हैं क्योंकि प्रतिभाहीनता के इस मरुस्थल में आज भी वे एकमात्र हरीतिमा हैं।** उद्योग के पहले सितारे अशोक कुमार से लेकर अंतिम और अन्यतम सितारे अमिताभ तक फिल्मों ने लंबी यात्रा तय की है और अपनी पहली शताब्दी के निकट, फिल्म उद्योग को टैक्नोलॉजी से महाभारत का समर लड़ना है, परंतु उसके अर्जुन (अमिताभ) ने हथियार डाल दिए हैं। कृष्ण! तुम कहाँ हो?

**■ प्रमुख फिल्में :** □ सात हिंदुस्तानी (१९६९) □ आनंद (१९७०) □ रेशमा और शेरा (१९७१) □ बंसी बिरजू/ एक नजर (१९७२) □ अभिमान/ नमक हराम/ सौदागर/ जंजीर (१९७३) □ बेनाम/ कसौटी/ मजबूर/ रोटी, कपड़ा और मकान (१९७४) □ चुपके-चुपके/ दीवार/ मिली/ शोले (१९७५) □ अदालत/ कभी-कभी (१९७६) □ आलाप/ अमर अकबर एन्थोनी/ परवरिश (१९७७) □ डॉन/ मुकद्दर का सिकंदर/ त्रिशूल (१९७८) □ काला पत्थर/ मि. नटवरलाल/ गोलमाल (१९७९) □ दोस्ताना/ शान (१९८०) □ बरसात की एक रात/ चश्मे बद्दूर/ कालिया/ लावारिस/ नसीब/ सिलसिला (१९८१) □ देशप्रेमी/ खुद्दार/ नमक हलाल/ शक्ति (१९८२) □ अंधा कानून/ कुली/ महान/ नास्तिक/ पुकार (१९८३) □ शराबी (१९८४) □ मर्द (१९८५) □ आखरी रास्ता (१९८६) □ जलवा (१९८७) □ शहंशाह/ गंगा जमना सरस्वती (१९८८) □ तूफान/ जादूगर/ मैं आजाद हूँ (१९८९) □ अग्निपथ/ आज का अर्जुन (१९९०) □ हम/ इंद्रजीत/ अजूबा/ अकेला (१९९१) □ खुदा गवाह (१९९२)

● प्रस्तुति : आदर्श गर्ग

# यहाँ से

*अमिताभ फिल्म 'खुदा गवाह' के बाद फिल्मों में काम नहीं करेंगे यह अफवाह सुनकर सहसा विश्वास नहीं होता—फिर भविष्य को किसने देखा और बाँधा है? कभी-कभी तो ऐसा होता है कि लाख चाहो यह नहीं करूँगा, वह नहीं करूँगा, परंतु भविष्य जो चाहता है करवा लेता है। इंसान का वश नहीं चलता। पेश हैं अमिताभ के विविध विचार—*

**'खुदा गवाह' भारत की सबसे महँगी फिल्मों में गिनी जाती है। अधिक लागत की अनेक फिल्में याद तो की जाती हैं, लेकिन सफल नहीं मानी जातीं—ऐसा क्यों होता है?**

किसी फिल्म की सफलता या असफलता का क्या मतलब होता है? सफलता फिल्म की मेरिट है उसकी गुणवत्ता है। वह निर्माण, निर्देशन, अभिनय आदि से संबंधित होती है। कभी-कभी बेहतरीन निर्देशन मार खा जाता है, तो कभी बेहतरीन अभिनय या फिल्म का कोई खास मुद्दा भी उसे सफल-असफल बना देता है, सबसे अधिक लागत वाली फिल्मों में आम आदमी की दिलचस्पी पहले से ही होती है। झाँसी की रानी क्यों फेल हुई? मुगल-ए-आजम क्यों सफल रही? मेरा नाम जोकर, पाकीजा, शोले, द बर्निंग ट्रेन, रजिया सुल्तान ये सभी अधिक लागत की फिल्में थीं। कुछ को जनता ने, दर्शकों ने पसंद किया, कुछ को नहीं। इस पसंद की बात छोड़ दें, तो आप असफल कही जाने वाली फिल्मों को सफल पाएँगे। लेकिन यह भौतिक दुनिया है। सफलता पैसे से भी मापी जाती है।

जो फिल्में बॉक्स ऑफिस हिट हुई वही सफल हुई—यह मापदंड कई बड़े फिल्म सम्राटों को निराश कर चुका है, पर फिल्म व्यवसाय समय के साथ बदल चुका है और आगे भी बदलेगा।

**'बदल चुका है' से आपका क्या मतलब है?**

पहले फिल्में सिल्वर जुबली मनाती थीं। एक-दो फिल्में डायमंड जुबली मना जाती थीं। आज सिल्वर जुबली की परिभाषा बदलने का समय आ गया है। आज फिल्में पाँच सप्ताह चल गई तो सफल फिल्मों में गिनी जाती हैं। कोई फिल्म तो तीन हफ्ते चलकर भी इतना पैसा कमा लेती है कि वह सफल फिल्म की श्रेणी में आ जाती है।

**तो क्या फिल्म की लागत दे जाना ही फिल्म की सफलता है?**

हर फिल्म निर्माता लाभ चाहता है परंतु लागत बड़ी चीज है। उसके बाद ही मुनाफा आता है। इतिहास गवाह है कि कुछ फिल्में लागत भी वसूल नहीं कर सकीं, हालाँकि अन्य दृष्टियों से वे सफल फिल्में थीं।

**क्या आप ऐसी कुछ फिल्मों का नाम बताएँगे?**

ओह! यह तो किसी फिल्म इतिहासकार या फिल्म समीक्षक से पूछ लीजिए। जो सच्चाई है वह सच्चाई ही रहेगी। विदेशों में भी ऐसी घटनाएँ हुई हैं। हर निर्देशक और

## चोरी चार आने की

*चारों तरफ उसकी ऊँची-ऊँची दीवारें थीं। कोई अंदर जा नहीं सकता था। कभी किसी ने उस रानी को देखा नहीं था और हम लोग बहुत उत्सुक रहते थे कि किसी तरह उस गेट के अंदर घुसकर, अंदर का जो माहौल है, वह देख सकें। बड़ी ही मिस्टीरियस सी (रहस्यमय) एक 'इमेज' थी उस मकान की। बड़ा ही रहस्य भरा माहौल होता था वहाँ का! गेट के बाहर काफी चौकीदार वगैरह घूमा करते थे। मुझे याद है कि हमने कई दफे कोशिश भी की कि अंदर घुस सकें और देख सकें कि इस गेट के पीछे क्या है, इस मकान में क्या है।*

*एकाध दफे उस चौकीदार ने कहा भी कि अगर तुम चार आने लाओ तो हम शायद तुम्हें गेट के अंदर जाने दें। तब मुझे, माँ की ड्रेसिंग टेबल याद आई थी, जिस पर एक छोटा सा डिब्बा रखा रहता था, जिसमें शायद वे कुछ चूड़ियाँ या कुछ इस तरह की छोटी-मोटी चीजें रखा करती थीं उसके अंदर थोड़ी-बहुत चेंज भी पड़ी रहती थी। मुझे याद है कि मैंने उसमें से पैसे चुराए थे और पकड़ा भी गया था। मार भी पड़ी थी। वैसे उस दरबान को पैसे दे देने के बावजूद हम लोग मकान के अंदर नहीं जा सके थे। यह एक बहुत बड़ा फ्रस्ट्रेशन रहा उस समय हमारे लिए, कि हम अंदर जाकर यह न देख सके कि यह रानी बाई या रानी बेतिया जो भी उसका नाम था, कौन है, कैसी है और न ही हम उससे मिल सके। कैसी होगी वह, जिसके लिए इतनी तरह-तरह की कहानियाँ हम सुना करते थे। आज तक मेरे लिए वह बहुत बड़ा इल्यूजन बना हुआ है, क्योंकि इलाहाबाद में उसके बाद तो जा नहीं सका और अब अगर मैं गया, तो काफी कुछ जो मुझे उस जमाने में क्लियर नहीं हुआ था, वह जाकर आज भी क्लियर करना चाहूँगा।*

● प्रस्तुति : पुष्पा भारती

# भी गुजरेगा कारवाँ!

एक होती है मंजिल। एक होता है लक्ष्य। परिवर्तन होना लाजिमी है। मैंने हृषिदा की फिल्में कीं। सलीम-जावेद की फिल्में कीं। लौटकर हृषिदा की फिल्में कीं। यह ८० के दशक की बात है। कुछ पत्रकारों ने मुझे मेरी नई फिल्मों के आधार पर 'एंग्री यंग मैन' कह दिया और मैं टाइप्ड बन गया। मैं सिर्फ एंग्री यंग मैन कभी नहीं रहा। उसके साथ

**इंटरव्यू : अमिताभ**

**रमेश निर्मल**

कलाकार का अपना दायरा होता है—अलग-अलग दायरा। सफलता का दायरा। जब जनता किसी की फिल्में बार-बार देखती है, तो यह सफलता का सबसे बड़ा लक्षण है।

**आप कितनी फिल्मों में काम कर चुके हैं?**

'खुदा गवाह' मेरी ८५ वीं फिल्म है। मैं



१९६९ से फिल्मों में हूँ। इस हिसाब से २२-२३ वर्षों में मेरी उपलब्धि कुछ कम नहीं रही। ख्वाजा अहमद अब्बास की **सात हिंदुस्तानी** से शुरू कर खुदा गवाह तक पहुँचा हूँ मैं। रेशमा और शेरा, आनंद, मिली, नमकहराम, चुपके-चुपके, अभिमान, बेमिसाल, जुर्माना, शोले, दीवार, शहंशाह, मैं आजाद हूँ, हम, जंजीर, अकेला, अग्निपथ आदि फिल्में मैंने की हैं। साल में लगभग तीन या चार फिल्में।

**सात हिंदुस्तानी और आनंद से जो छवि आपकी उभरी उसे आपने बनाए रखने की कोशिश नहीं की?**

यह सिर्फ मेरे हाथ में नहीं था। सलीम-जावेद की कहानियों की माँग कुछ और थी। उसके अनुसार मुझे अपने आपको गढ़ना पड़ा। मनमोहन देसाई और प्रकाश मेहरा के साथ की गई फिल्मों की माँग भी भिन्न थी। लावारिस, अमर अकबर एंथनी, नसीब, नमक हलाल को देखिए तो मेरी बात समझ में आ जाएगी। नए डायरेक्टर टीनू आनंद और मुकुल आनंद के साथ मैंने जो फिल्में की उनकी बात भी कुछ ऐसी थी कि मेरी पूर्व फिल्मों से वे अलग ही कही जाएँगी। खुदा गवाह का अपना रंग है।

**कहाँ-कहाँ से गुजरेगा कारवाँ, मैं नहीं कह सकता, पर इतना यकीन है कि यहाँ से भी गुजर जाएगा कारवाँ।**

**कारवाँ के गुजरने को आप परिवर्तन मानते हैं?**

और भी रहा हूँ। रही परिवर्तन की बात, वह तो हुआ है और होना है। पहले फिल्मों को कहानी प्रधान मानते थे आज वह तकनीक प्रधान हो गई हैं।

**लेकिन आपने कला फिल्मों में काम नहीं किया?**

यह विभाजन रेखा वास्तविक नहीं है। साहित्य के समान फिल्म में भी कला का नारा लगाया गया। मेरे पास भी अनेक प्रस्ताव आए ऐसी फिल्मों में काम करने के लिए पर बात नहीं बनी।



*अमिताभ बच्चन ने फिल्मों से सन्यास लेने का फिलहाल कोई संकेत नहीं किया है। इतना वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि ढलती उम्र के अनुसार फिल्मों में अपनी भूमिकाओं का चयन करेंगे। दूसरी पारी में यदि अमिताभ चरित्र नायक बनकर आते हैं, तो दर्शक का यह विश्वास टूटेगा नहीं कि सूरज अभी अस्त नहीं हुआ है।*

**क्या आप ऐसी फिल्मों में काम नहीं करना चाहते?**

काम करने में क्या संकोच?

**अशोक कुमार जैसे ज्येष्ठ कलाकार भी कहते हैं कि आप की फिल्मों का स्थायी भाव हिंसा है?**

हिंसा कहानी की माँग रही है। यह माँग हिंदी फिल्मों की उन कहानियों की माँग भी रही है जिनका निर्माण बहुत पहले किया गया था—जैसे संग्राम, इंस्पेक्टर, बंदिश, बाजी, गंगा जमना आदि। पर वे मेरी फिल्मों से भिन्न थीं।

**आपके एंग्री यंग मैन ने सबकी चाल ठीक कर दी?**

दर्शक ने, मैंने नहीं।

**हिंसा की यह गुलामी आपके सामने पूर्ण विराम तो नहीं लगा देगी?**

गुलामी, कैसी गुलामी, हिंसा की गुलामी? ये भी गढ़े हुए शब्द हैं। हर कलाकार की इमेज होती है वह जीती-जागती है। पर मैंने कहा न परिवर्तन शाश्वत नियम है।

**आप ५० साल के हो चुके हैं। वैसे भी आप शारीरिक दुर्घटना के बाद कई फिल्में कर चुकने पर, कुछ तो सोचते होंगे? प्रोडिगल सन की वापसी की उम्मीद कितनी है?**

यह भविष्य बताएगा। मैं न थका हूँ, न हारा हूँ।

**हम अतीत की ओर लौटें और भविष्य को तैयार होने दें?**

मतलब आप मेरे अतीत की बातें पूछना चाहते हैं, कितने ही लोग पूछ चुके हैं जो बीत गया वो बीत गया। कहाँ इलाहाबाद, जहाँ मेरा जन्म हुआ, कहाँ कलकत्ता और कहाँ बंबई। कुछ दिन मैंने दिल्ली में भी बिताए हैं। १९६९ से मैं बंबई का बन गया हूँ। कहते हैं जो बंबई आया वह बंबई का हो गया। मैं बंबई का ऋणी हूँ क्योंकि उसने मुझे बहुत कुछ दिया है जिसका बयान मैं नहीं कर सकता। वर्षों में मानूँ तो बंबई इलाहाबाद से बढ़ गई है। यहीं मेरे बच्चे हुए हैं। यहीं रहते हुए मुझे और जया को 'पद्मश्री' के खिताब मिले और बाबूजी को १९७० में 'पद्म भूषण।'

**कहते हैं बेटा बाप से बड़ा होता है?**

बड़ा हो तो बाप को खुशी होती है। मेरे बाबूजी की जो प्रतिष्ठा साहित्य में है वह चिरजीवी है, पर फिल्म स्टार को लोग भूल जाते हैं कल नहीं तो परसों। मेरी और बाबूजी की तुलना कैसी?

**आपका नामकरण सुमित्रानंदन पंत ने किया था?**

हाँ, वे मेरे घर आए थे इलाहाबाद में। वे



पिताजी के मित्र थे। वे मुझे अमिताभ बना गए। बचपन भी क्या होता है। स्कूली जीवन की कोई-कोई घटना आज भी दिमाग में कौंध जाती है। बाबूजी ने शेक्सपियर के आथेलो उपन्यास का रूपांतरण किया था। उसमें मैंने कैसियो का पार्ट निभाया था। स्नातक होने पर नौकरी की तलाश शुरू की। कलकत्ते में कोशिश की अपने छोटे भाई अजिताभ के साथ। फिर मैं उसी की और माँ की प्रेरणा से फिल्म की ओर मुड़ गया, पिताजी के मित्र ख्वाजा अहमद अब्बास ने मुझे 'सात हिंदुस्तानी' में काम करने का मौका दिया। फिर फिल्मी संघर्ष शुरू हुआ। लंबी टांगें, रंग रूप और आवाज। निर्माताओं के दफ्तरों के चक्कर, घंटों इंतजार। पर लोगों ने एक दिन मुझे सुपर स्टार बना दिया। अभिनेता बनने का सपना पूरा हुआ। इंडस्ट्री के शुभचिंतकों का सहयोग पाकर ही मैं अपने मुकद्दर का निर्माण कर सका हूँ।

**और वह भीषण दुर्घटना 'कुली' वाली दुर्घटना?**

आह! उसका पूर्वाभास **स्मिता पाटिल** के सपने से मुझे मिल चुका था फिर भी मैं उससे बच नहीं सका। जया ने मेरी बड़ी सेवा की। राजीव, सोनिया और इंदिराजी मुझे देखने आए। असीम स्नेह प्रकट किया। जया, बाबूजी, माँ और भाई ने मुझे बहुत संभाला और अंदर से टूटने नहीं दिया।

**और बोफोर्स?**

उस मामले में मुझे बहुत गुस्सा आया था, फिर आरोप लगाने वालों को मुँह की खानी पड़ी। यह सभी जानते हैं।

**संघर्ष आपकी प्रेरणा बना?**

संघर्ष हर व्यक्ति को तोड़ता है जो बच जाता है वह सिकंदर। उसके लिए संघर्ष प्रेरणा बन जाए तो आश्चर्य क्या? बाबूजी की एक पंक्ति है- 'है वह वक्षस्थल कहाँ?' जो साहसी है उसी की जीत है।

**जो डर गया वो मर गया?**

(ठठा कर हँसी) हाँ, संघर्ष से डरना नहीं चाहिए, यह मेरी माँ की सीख है।

**राजनीति से आपको चिढ़ क्यों हो गई है?**

चिढ़ की बात नहीं है—पसंद, नापसंद कहिए। यद्यपि नेहरू परिवार से मेरे परिवार की पुरानी मित्रता थी, है और रहेगी, फिर भी राजनीतिक स्तर पर वह कभी नहीं रही।

**यदि आपको ५० वर्ष से अधिक उम्र के पात्र की भूमिका दी जाए तो आप स्वीकार करेंगे?**

इससे भी अधिक उम्र वालों की भूमिका निभाई जा सकती है, तब रोमांस का अंदाज बदल जाएगा। निर्माता-निर्देशकों को भी कुछ हटकर फिल्म बनाने का मौका देना चाहिए।

**आपका बेटा अभिषेक फिल्मों में उतरेगा?**

वह चाहे तो मैं मना नहीं कर सकता। रही बात प्रतिभा की वह उसका काम ही बताएगा।

खण्ड-२

नायक

इतिहास और विकास

# भारतीय सिनेमा में नायक की परंपरा

महान यात्राएँ हमेशा एक छोटे से कदम से ही आरंभ होती है। किसे पता था कि मटर के दाने के अंकुरित होने से मटर के पौधे के जन्म लेने की कला, भारतीय सिनेमा के विशाल वट वृक्ष को जन्म दे देगी। **धुंडिराज गोविंद फालके** हमारे सर्वप्रथम फिल्मकार ही नहीं, प्रथम फिल्म सिद्धांतकार भी हैं। वे अपने कर्म और सोच से डेविड वार्क ग्रीफिथ के करीब ही पड़ते हैं लेकिन अपने विचारों से, सिनेमा के बारे में लगातार सोचते रहकर, उन्होंने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके, आइंस्टाइन को छूने की कोशिश भी की थी। यह हमारा सौभाग्य रहा कि भारत में सिनेमा के जन्म की कला, 'फिल्मकारऔर व्यापारी' से नहीं वरन् 'फिल्मकार और विचारक' से आरंभ होती है।

सन् १९१२ में, दादा साहब फालके

**● मनमोहन चड्ढा**

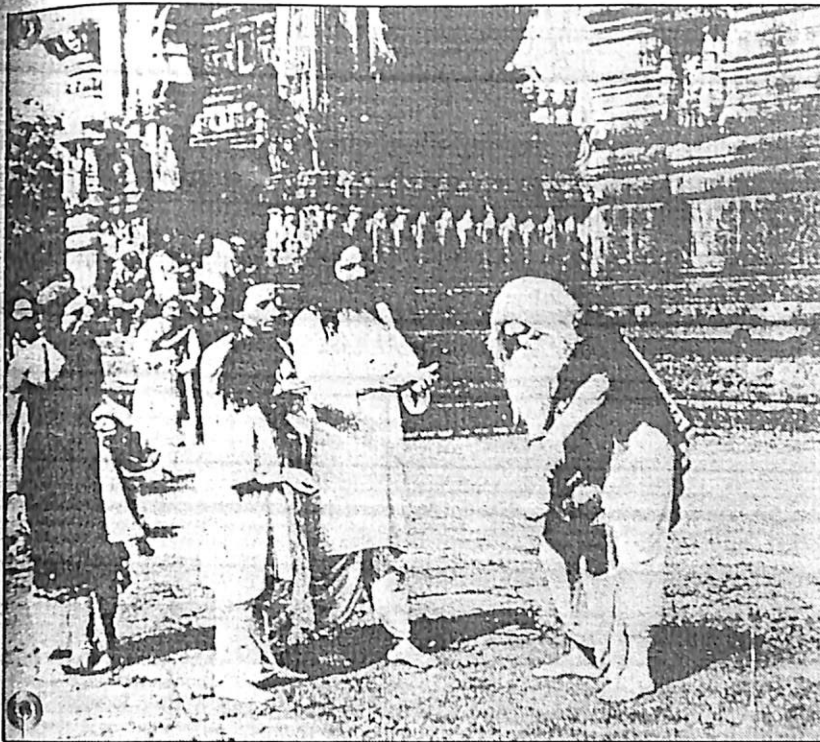
**'क्राइस्ट का जन्म'** देखने के बाद, जब अपनी पहली फिल्म बनाने के बारे में सोच रहे थे तब उन्हें लगा था कि कृष्ण ही इस देश के सिनेमा के सहज नायक हो सकते हैं। लेकिन व्यावहारिक ज्ञान और मित्रों की सलाह पर, उन्होंने 'राजा हरिश्चंद्र' विषय पर फिल्म बनाने का निर्णय लिया। उसी समय 'राजा हरिश्चंद्र' नाटक बंबई के रंगमंच पर भी लोकप्रिय बना हुआ था। फालके के सम्मुख इस नाटक का ढाँचा, पात्रों की वेशभूषा के मार्ग-दर्शन हेतु राजा रवि वर्मा के चित्र और चमत्कारों की सुघड़ प्रस्तुति हेतु अर्जित तकनीकी ज्ञान आदि सभी उपलब्ध थे।

फालके उसी समय यह भी जानते थे कि सीमित साधनों से कृष्ण के जीवन पर भव्य फिल्म बना पाना संभव नहीं है। पहली फिल्म से धन लाभ हो जाने के उपरांत उन्होंने कृष्ण के जीवन के विविध पक्षों को धीरे-धीरे उकेरना शुरू किया। चालीस वर्ष बाद जब **सत्यजित राय** अपनी पहली फिल्म बनाने के बारे में सोच रहे थे तब उन्होंने अपनी प्रथम विस्तृत पटकथा रवींद्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'घरे-बाइरे' पर लिखी थी। कृष्ण का विद्रोही चरित्र, अन्याय के प्रति विरोध की उनकी क्षमता-भले ही वह कंस का विरोध हो या दुर्योधन का- नैतिकता-अनैतिकता की उनकी निजी धारणाएँ, यह पात्र, भारतीय जीवन का यह महानायक, हमेशा हमारा आराध्य रहा है। कृष्ण के प्रति हमारा प्रेम अनन्य है। साथ ही हम यह भी भलीभाँति जानते हैं कि हमारा यथार्थ 'राजा हरिश्चंद्र' हैं।

सत्यजित राय ने अपनी पहली फिल्म 'घरे-बाइरे' नहीं बनाई। अपनी पहली फिल्म के लिए उन्होंने 'पाथेर-पांचाली' उपन्यास को चुना। उपन्यास के सैंकड़ों पात्रों और घटनाओं को छाँट दिया और एक सरल, सीधी दिल को छू लेने वाली फिल्म बनाई। इस फिल्म में, पिता बहुत दिनों तक शहर में रहने के बाद गाँव लौटकर अपना टूटा-फूटा घर देखता है। बरामदे में ही वह ट्रंक खोलकर धोती निकालता है। धोती पत्नी के हाथ में देकर, बेटी को याद करता है। पत्नी वहीं बैठकर रोने लगती है- पत्नी की फटी हुई धोती, बच्चे की मृत्यु और पिता की विवशता-'पाथेर पांचाली' के इस दृश्य ने दुनियाभर के दर्शकों को विचलित किया है। राजा हरिश्चंद्र' का रोल मॉडेल हमारे सिनेमा का अप्रतिम आविष्कार है। भारतीय फिल्मकार यह मानता रहा है कि सिनेमा को जीवन से सीधे जुड़ना चाहिए।

*दादा साहेब फालके : फिल्म पितामह*





*राजा हरिशचंद्र (१९१३)*

*नायक परंपरा का श्रीगणेश*

> **'सत्यकाम' का नायक तो फिर भी सीधे-सीधे 'हरिश्चंद्र' की परंपरा से ही आता है, लेकिन 'दीवार' का नायक आपको किस परंपरा से आया लगता है?**

यदि सिनेमाघर में बैठा दर्शक फिल्म के नायक में स्व का साक्षात्कार करने में सफल नहीं होगा, तो वह उस फिल्म को स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए सिनेमा के आरंभ से ही आदर्श नायक के साँचे को तैयार करने का काम अत्यंत गंभीरतापूर्वक किया गया।

फालके ने फिल्में बनाते समय एक अन्य गंभीर समस्या का सामना किया। इस समस्या से विश्व के किसी अन्य फिल्मकार को नहीं जूझना पड़ा। यह नितांत भारतीय समस्या थी। उन्हें अपनी फिल्म के लिए नायिका नहीं मिली। कोई भी स्त्री फिल्म में काम करने को राजी नहीं हुई। लेकिन उसी समय इसका समाधान भी मौजूद था। महाराष्ट्र का अत्यंत उन्नत उच्चकोटि का रंगमंच स्त्रियों के बगैर ही अपना काम चला रहा था। सन् १८९० से १९३५ तक बंबई और पुणे का रंगमंच अपनी गरिमा के शिखर पर था। इस रंगमंच के महानायक थे बाल गंधर्व। स्त्रियों की भूमिकाएँ निभाने में वे अप्रतिम थे। फालके को भी अपने नायक और नायिका का काम एक पुरुष से ही करवाना पड़ा। बाद में फिल्मों तथा नाटकों में अभिनय हेतु स्त्रियाँ तो उपलब्ध हो गईं। लेकिन इस बीच पुरुषों में स्त्री भाव की गहरी समझ विकसित हुई। पुरुष के स्त्रीरूप हो जाने, स्त्रैण भाव विकसित कर लेने से विकसित होने वाले मनोविज्ञान पर अभी काफी काम होना बाकी है। मराठी नाटककार सतीश आलेकर ने उस समय की स्थितियों का समाज के मानस पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित करते हुए एक अत्यंत उत्कृष्ट नाटक 'बेगम बर्वे' लिखा है।

भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में राधा भाव गहरा समाया हुआ है। विक्टोरियन तथा पश्चिमी मूल्य अब इस परंपरा को समाप्त करने में सफलता पाते प्रतीत होते हैं। स्वयं को समर्पित प्रेमिका और ईश्वर को प्रेमी पुरुष मानकर पूरा जीवन जी लेना तब इतना कठिन और असंभव नहीं था। आज की पीढ़ी को यह अनन्य भाव, सगुण भक्ति का यह रूप, असहनीय और अविश्वसनीय भी लग सकता है। लेकिन सन् १९३० से १९४८ तक के भारतीय सिनेमा और भारतीय समाज को इस तत्व ने एक सूत्र में बाँध रखा था।

इसी राधा भाव ने भारतीय सिनेमा को अभिनव आयाम दिया। अपने नायक का नितांत निजी मॉडेल (साँचा) भारतीय सिनेमा ने विकसित किया, जिस पर हमें गर्व होना चाहिए।

भारतीय सिनेमा के नायक की इस महान छवि का जन्म **'चंडीदास'** में संभव हुआ। युवती रामी धोबन कपड़े धोने में व्यस्त है, तभी उसे जल में पुरुष प्रतिबिंब दिखाई देता है। यही वह युवा संस्कृत पाठी ब्राह्मण है, जो प्रतिदिन इसी समय आकर रामी की जल में पड़ती परछाई देखता रहता है। रामी कपड़े समेट कर चलने लगती है। युवा ब्राह्मण उसके पीछे-पीछे आ रहा है। रामी रुक जाती है।

—'तुम इस तरह मुझे क्यों देखते रहते हो। तुम्हें पता नहीं यह कितना गलत है।'

युवा ब्राह्मण चुप रहता है।

—'क्यों आते हो तुम रोज यहाँ? कहो तो?'

—'मैं यहाँ प्रतिबिंब देखने आता हूँ।'

—'किस का प्रतिबिंब?'

—'तुम्हारा'

—'मेरा'- रामी धोबन पास आ जाती है, 'तुम मुझे देखना चाहते हो? भला तुम मुझमें ऐसा क्या पाते हो?'

—'मुझे नहीं मालूम, लेकिन तुम्हें देख लेना भर ही मेरे लिए बहुत है।' यह सुनकर रामी प्रेम से उन्मत्त हो जाती है।

सन् १९३२ की जिस दोपहर को **देवकी बोस** यह कथा **नितीन बोस** को सुना रहे थे, वह भारतीय रोमांटिक सिनेमा का चरम क्षण था। प्रतिबिंब या छाया मात्र देख कर स्वयं को खो देने वाले लोगों के प्रति यह एक आह्वान था।यह जानना भी जरूरी है कि तब तक भारतीय सिनेमा पर अमेरिकी तथा जर्मन सिनेमा का प्रभाव लक्षित होने लगा था। न्यू थिएटर्स ने भी व्यावसायिक दबावों के कारण 'मोहब्बत के आँसू' (१९३२), जिंदा लाश (३२) और यहूदी की लड़की (३३) बना डाली थी। लेकिन 'पूरन भगत' (३३) 'चंडीदास' (३४), 'देवदास' (३५) और 'विद्यापति' (१९३७) की सफलता ने इस नई मौलिक धारा के विकास को बल प्रदान किया।

कलकत्ता के न्यू थिएटर्स के साथ-साथ पूना

## नायक- महानायक?

*नायक कौन और महानायक कौन? यह एक विवादास्पद प्रश्न है और सतत चलने वाली बहस है, जो कभी किसी लक्ष्य पर नहीं पहुँचती। नायक- महानायक के बीच एक झीना और पारदर्शी परदा है। अपने समय के संघर्ष से जूझते, देश-काल और कला के क्षेत्र में जो इतिहास की धारा को बदलने में सफल हो जाते हैं, संभवतः वे ही जननायक हैं अथवा महानायक हैं। यहाँ प्रस्तुत नायक-महानायकों की यह सूची सम्पूर्ण न होकर उसका एक हिस्सा है। कोशिश यह रही है कि भारतीय सिनेमा के उन प्रमुख नायकों से सुधिपाठक परिचित हो सकें, जो फिल्माकाश में जगमगाए हैं। गुमनाम, कम प्रसिद्ध और इतर भाषाओं के नायकों को शामिल करने से संभव है लोकप्रिय सिनेमा के लोकप्रिय नायक आपको अनुपस्थित मिलें।*

का प्रभात स्टूडियो भी समर्पित नायक की छवि को समानांतर स्तर पर जीवंत रखने के सफल प्रयत्नों में जुटा था। शांताराम की 'धर्मात्मा' महाराष्ट्र के संत कवि एकनाथ के जीवन पर आधारित थी। दामले-फत्तेलाल द्वारा निर्देशित **'संत तुकाराम'** में मुख्य भूमिका विष्णुपंत पगनीस ने निभाई थी और 'धर्मात्मा' में बाल गंधर्व ने। ये दोनों अभिनेता रंगमंच पर कई बार स्त्रियों की भूमिकाएँ जी चुके थे। इन भूमिकाओं ने इनके भक्तिभाव को विशिष्ट चमक प्रदान की थी। ये फिल्में वर्ष भर तो चलती ही थीं, लोग इन्हें देखने मीलों दूर के गाँवों से पैदल चलकर आया करते थे।

यदि बंबई टॉकीज की फिल्मों को उनकी तकनीकी चमक के बावजूद हम अपना नहीं मान पाते, तो उसका विशेष कारण यही है कि समय बीतने के साथ-साथ उन फिल्मों का विदेशी प्रभाव और इन फिल्मों की भारतीयता की पहचान गहरी होती जा रही है। इसलिए उस समय के **अशोक कुमार** की तुलना में अपने सामयिक संदर्भों में कुंदनलाल सहगल दिन प्रतिदिन अधिक प्रामाणिक होते जाते हैं। अशोक कुमार द्वारा अभिनीत भूमिकाओं की प्रामाणिकता का दौर **किस्मत** से आरंभ होता है। जब वह नायक सामाजिक उपदेशात्मकता का मुलम्मा उतारकर निजी आग्रहों के लिए जीता है।

ढेरों उपदेश, और भाँति-भाँति की राजनीतिक लफ्फाजी, एक छोटे से निजी-सार्थक और प्रामाणिक कर्म के सम्मुख फीके पड़ जाते हैं। इसके अनेक सशक्त उदाहरण आज भी हम देख पाते हैं। समय बीतने के साथ-साथ वी. शांताराम का आदर्शवाद फीका पड़ रहा है। 'आदमी' और 'पड़ोसी' के सतहीपन की परिणति 'शकुंतला' की भव्यता में होती है। दूसरी ओर उन वर्षों में अपनी विनम्रता के कारण लगभग भुला दिए गए 'संत ज्ञानेश्वर' और 'संत तुकाराम' के रचयिता दामले-फत्तेलाल हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

वैष्णव भक्ति का राधा भाव ही हमारी फिल्मों की एकमात्र सच्चाई नहीं बना रहा। इनके साथ ही साथ क्षत्रिय भाव तथा वीर भाव भी अपने सीमित आयाम में क्रियाशील रहा। क्षत्रिय भाव का पूर्ण प्रस्फुटन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की फिल्मों में ही दृष्टिगोचर हो पाया लेकिन इसकी पहली झलक हमें **सोहराब मोदी** और **पृथ्वीराज कपूर** द्वारा अभिनीत फिल्मों में भी दिख जाती है।

सन् १९२० से हमारे सिनेमा का विकास आरंभ हुआ और इसी वर्ष भारतीय राजनीति के पटल पर एक नए नेता **मोहनदास करमचंद गाँधी** का उदय हुआ। सत्य, मातृ-भूमि से प्रेम, आस्तिकता और त्याग उनके आदर्श बने। अगले अट्ठाइस वर्षों तक यह व्यक्ति भारतीयों का हृदय सम्राट बना रहा। इसी दौरान भारतीय सिनेमा में अनेक ऐसी फिल्में बनीं, जहाँ निरंकुश राजाओं की भर्त्सना करने वाले वीर पैदा होते रहे।

**'अमृत मंथन'** (१९३२) का खलनायक एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी नजर हर चीज पर रहती है। उसकी अनुमति के बिना उस राज्य में राजा भी कुछ नहीं कर सकता। इस खलनायक की आँखों की भौहें भूरी हैं और पुतलियों का रंग इतना हल्का है कि नीले रंग या हरेपन का आभास हो। वह नरबलि का समर्थक है। उसे हराना या हटाना ही राजा तथा प्रजा का ध्येय है।

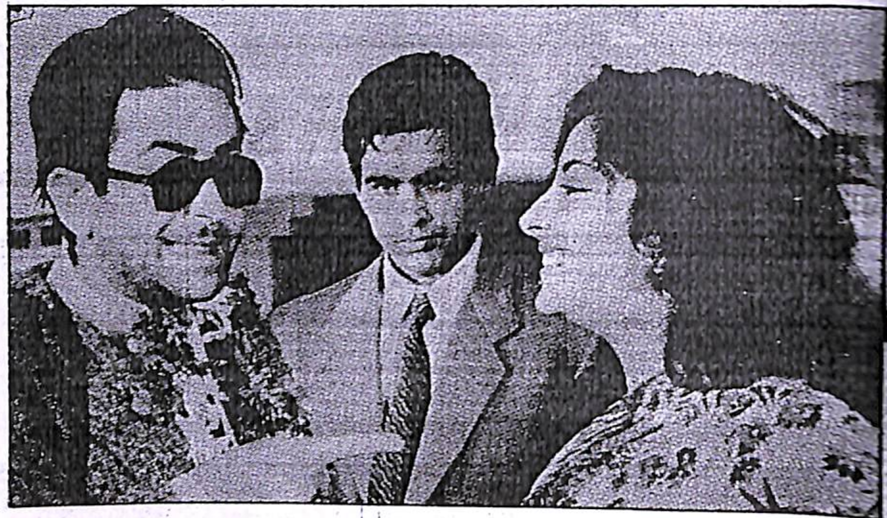
**'पृथ्वी वल्लभ'** (१९३७) का नायक सत्य की रक्षा के लिए बंदी बन सकता है और महारानी द्वारा कैद के दरवाजे खोल दिए जाने तथा चले जाने का आदेश पाकर भी बाहर नहीं जाता। वह चाहता है कि रानी भी उसके साथ चले।

इन फिल्मों की अधिकांश नायिकाएँ रानियाँ और राजकुमारियाँ हैं। वे क्रूर हैं लेकिन भोली भी। हम कब तक यह कहते रहेंगे कि भारतीय सिनेमा भारत के यथार्थ से कभी भी जुड़ा नहीं रहा है। प्रत्येक लोककथा, परीकथा तथा किंवदंती की भाँति इन कथाओं की अपनी सीमाएँ भी हैं परंतु इनकी उपेक्षा कर और इन्हें नकार कर हम अपने समाज को समझने की अत्यंत उपयोगी तथा सार्थक प्रक्रिया को ही दुत्कारते रहे हैं।

पराधीन भारत की इन फिल्मों का नायक अपने भोलेपन में हमेशा यही समझता रहा कि रानी उससे मुहब्बत करती है। जरा सोहराब मोदी को 'पृथ्वी वल्लभ' में सुनिए तो सही, जब वे चिर साम्राज्ञी, अमर ज्योति (१९३२) से मुगले आजम (१९६०) तक की महारानी, दुर्गा खोटे से कहते हैं, 'महारानी, तुम हमसे प्रेम करती हो, हम तुम से प्रेम करते हैं, तुम यह स्वीकार क्यों नहीं लेती।' इस आशय के शब्दों का निरंतर दोहराव क्या किसी सामाजिक सच्चाई को अभिव्यक्त नहीं करता।

भारतीय दर्शक इस नायक को सिर आँखों पर बैठा रहा था। यदि उस समय लाखों लोग महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आंदोलन के साथ थे, तो कई विद्रोह का रास्ता भी अपनाना चाहते थे। शायद लाखों लोग यह भी मानते थे कि इंग्लैंड की महारानी को इस देश से, इस देश के लोगों से, अपने सब्जेक्ट्स से सच्चा प्यार है।

इस मानसिकता को बदलने के प्रयास स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही शुरू हो पाए। १९४८ में महबूब खान की **'अंदाज'** में दो



**अंदाज (१९४८) : नायक-खलनायक भेद समाप्त**

नायक एक ही नायिका को पाना चाहते हैं। दोनों ही नायक हैं, काले और सफेद। नायक और खलनायक के भेद को समाप्त कर देने का यह पहला सार्थक प्रयत्न है। दोनों के ही व्यक्तिगत गुण पूरी फिल्म के दौरान उभरते हैं। पहला-गंभीर उदासीन स्वभाव का और अलग-थलग रहने वाला है तो दूसरा थोड़ा सा मसखरा। जीवन की व्यावहारिकताओं को समझकर अपने परिवेश से घुलमिल जाने वाला। इन दो महानायकों ने अपने इस किरदार को आखिर तक बहुत खूबी से निभाया। **दिलीपकुमार** ने बाद में कुछ हँसना-हँसाना भी शुरू किया। होली के गीतों में झूम कर नाचे भी, और अपनी मस्ती भरी चाल का जादू भी दिखाया। लेकिन **राजकपूर** की 'रमैया वस्ता वैया' की सफलता, अपने परिवेश में घुल जाने की, सबको अपना बना लेने और उनका विश्वास जीत लेने की ताकत अप्रतिम है।

राजकपूर की इस नायकीय छवि में दोस्ती की शुरूआत ही कबाड़ी, निर्धन लड़की (नरगिस) और केले बेचने वाली (ललिता पवार) से होती है। पिछले पैंतीस वर्षों में निर्धन लड़कियाँ और केले बेचने वालियाँ हमारी फिल्मों से गायब होती चली गईं। उनकी जगह अमीर, बिगड़ी हुई, पोशाक को जीवन का पर्याय मानने वाली, अश्लील लड़की ने ले ली। **'श्री ४२०'** का कबाड़ी परंपरा की रक्षा करता है। वह जरूरत पड़ने पर चीजें गिरवीं रखता है ताकि वे बहुमूल्य वस्तुएँ समय रहते वापस ली जा सकें। वह इस नए उभरते राष्ट्र की सामूहिक उपलब्धियों और धरोहर का रक्षक है। **'दिल'** (१९९१) तक पहुँचते-पहुँचते कबाड़ी एक घृणित पात्र में बदल जाता है। वह बताता है

राजकपूर का नायक तुरंत किसी को भी अपना मित्र बना लेता है। वह चना-मुरमुरा बाँट लेने का आमंत्रण दे देता है। दिलीप कुमार का कोई भी मित्र उससे आश्वस्त नहीं हो सकता कि वह वास्तव में मित्र है भी या नहीं। वहाँ 'तुम मुझे समझने की कोशिश क्यों नहीं करते' वाला अंदाज है। देव आनंद की दोस्ती का रंग-ढंग अलग है। वे दोस्त की बाँह मरोड़कर उसके कान में पूछते हैं- 'दोस्त, मुझे यह बताओ, तुम किस के कहने से मेरा पीछा कर रहे हो? कौन है तुम्हारा असली मालिक?'

कि हमारी धरोहर और परंपरा अब भीख के कटोरे में बदल गई है।

राजकपूर और अब्बास द्वारा रची गई कहानी अब पुरानी पड़ गई है। अब हमारे सिनेमा का कोई भी नायक लोगों से घुलमिल कर बात नहीं करता। सही मायने में उसे किसी से भी बात करने की फुर्सत ही नहीं है। हमारी सबसे बड़ी समस्या आपसी संवाद के पूरी तरह टूट जाने की समस्या है।

इस दौर में दिलीप कुमार, कम बात करने वाले परंतु चिंतनशील, संवाद कायम करने में समर्थ तथा इस समाज और संसार में अपनी सार्थक, उपयोगी, रचनात्मक भूमिका खोजने में व्याकुल युवक की छवि स्थापित कर पाने में पूर्णतया सफल रहे।

आत्मरत्, गहन, गंभीर पात्र को संपूर्णतया जी लेने के प्रयत्न ने दिलीपकुमार को टूटन के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया था। अगस्त १९५६ के फिल्मफेयर में दिलीपकुमार ने लिखा है, तीन रातों से मैं सोया नहीं था। लंदन के हाइड पार्क में घूम रहा था। जब मैंने हार्ले स्ट्रीट के प्रसिद्ध मनोविश्लेषक से सलाह लेने का निर्णय लिया।' मनोविश्लेषक ने दिलीप को सलाह दी कि वह भगवान पर भरोसा रखे और खुश रहे।' इस सलाह के बाद दिलीपकुमार ने अपनी नायक की छवि में परिवर्तन करने तथा हल्की-फुल्की भूमिकाएँ जीने का निर्णय लिया। इसी समय उन्होंने गुरुदत्त द्वारा निर्देशित 'प्यासा' में अभिनय करने से इंकार कर दिया था।

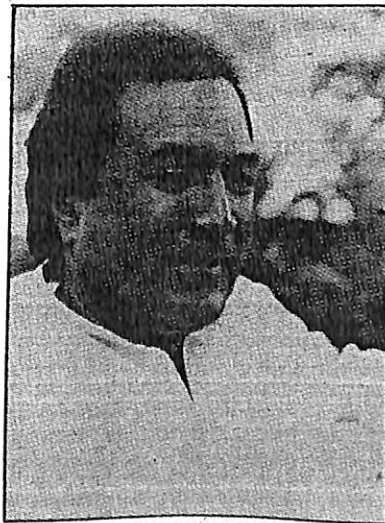
इतना गंभीर निर्णय ले लेने के बाद भी दिलीप कुमार अपने स्वभाव को नहीं बदल पाए। वे सब के बीच रहते हुए भी अजनबी बने रहने का अद्भुत आकर्षण प्रक्षेपित करते रहे। हम देख पाते हैं कि 'यहूदी' या 'यहूदी की लड़की' जैसे चिरपरिचित विषय को भी दिलीप कुमार अपने स्पर्श से नया आयाम दे देते हैं। यहूदी लड़की हान्ना की रक्षा कर के रोमन राजकुमार (दिलीप कुमार), यहूदी व्यापारी (सोहराब मोदी) का विश्वास जीत लेता है। यहाँ राजकुमार अपना परिचय यहूदी युवक के रूप में दे चुका है।

सामूहिक भोजन के अवसर पर यह युवक भी आमंत्रित है। अब तक उसे एजरा के पुत्र के रूप में स्वीकारा जा चुका है। लेकिन राजकुमार संस्कारवश रोटी बाँटकर खाने की प्रथा को स्वीकार नहीं कर पाता, वह रोटी के टुकड़े का अपना हिस्सा जमीन पर गिरा देता है। हान्ना (मीना कुमारी) यह देख लेती है और रोटी को रूमाल से ढँक कर उठा लेती है। यह दृश्य कथा को नया आयाम देता है। नायक का दुःख यही है कि वह चाह कर भी उनमें से एक नहीं हो सकता। रोटी बाँटकर खाने के दृश्य में दलित और ब्राह्मण का भेद अत्यंत स्पष्ट हो उठता है। दलितों से अपने प्रेम के बावजूद वह सवर्ण बना रहना चाहता है। यहीं उस के सामंती मूल्य भी आड़े आते हैं। जहाँ भोजन करना सामूहिक नहीं बल्कि नितांत निजी क्रिया है। इस दृश्य में दिलीप कुमार का अभिनय भावप्रवण हो उठता है क्योंकि अपनी छवि से ही वे इस भाव को छलकाने में समर्थ हैं कि वे जिनके बीच हैं उनमें से एक नहीं हैं। इस त्रासदी और अवसाद की पीड़ा को संप्रेषित करने में दिलीप कुमार पूर्णतया सफल रहे हैं।

यह समर्थ नायक अपनी इस बहुआयामी छबि को 'विधाता' तक अक्षुण्ण बनाए रख सका। 'सौदागर' में पूर्वी तथा पश्चिमी मूल्यों के दोस्ताना द्वंद्व तथा बुरे मूल्यों से संघर्ष में दोनों के ही खत्म हो जाने की कथा अपने मूल में ही बेहद कमजोर रही।

तीसरी सशक्त धारा को अपनी सुसज्जित केश रचना में समेटकर **देव आनंद** बहुत दूर तक ले गए। देव आनंद जिस धारा के प्रहरी बने उसकी शुरूआत **अशोक कुमार** द्वारा अभिनीत 'किस्मत' से १९४३ में हो चुकी थी।

*राजेश खन्ना : रेकार्ड तोड़ लोकप्रियता*



द्वितीय महायुद्ध भले ही भारत की धरती पर नहीं लड़ा गया, लेकिन युद्ध में काम आई रसद और जनशक्ति भारतीय ही थी। सन् १९३८ से १९४८ के बीच हुई मूल्य वृद्धि कल्पनातीत थी। देश विभाजन, लाखों लोगों के अपनी जड़ों से उखड़ने और पुनः जमने की कोशिशों ने मूल्यों की टूटन को और तेज कर दिया था।

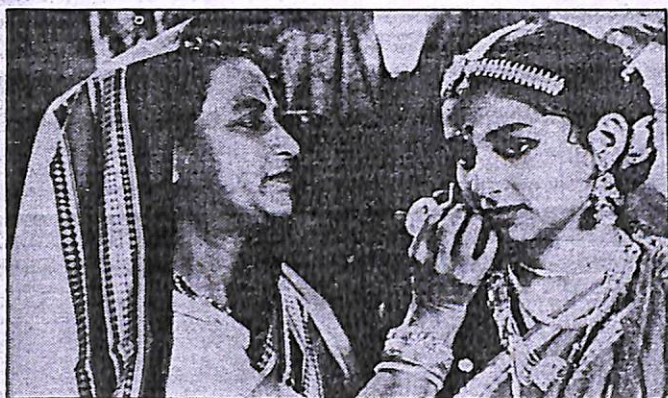
देश भर के कम्युनिस्ट यह मानते थे कि इस देश में ईमानदार रह कर जीवनयापन कर पाना संभव ही नहीं है, इसलिए अपराधकर्मी नायक इस व्यवस्था की ही अनिवार्य उपज है। जिस प्रकार आजकल फिल्म क्षेत्र में हम कुछ 'इंटलेक्चुअल' कहलाने वाले फिल्मकार देख पाते हैं, इसी प्रकार उस जमाने में बी.बी.सी. की नौकरी कर आने और इंग्लैंड में कुछ वर्ष बिता आने वाले चेतन आनंद, बलराज साहनी और किशोर साहू 'इंटलेक्चुअल' कहलाते थे। देव आनंद इनके आर्थिक स्रोत थे। 'जिद्दी' (१९४८) की सफलता ने देव आनंद को स्टार बना दिया था। गुरुदत्त और बलराज साहनी ने **'बाजी'** की पटकथा लिखी थी। ये सभी युवक उस समय छब्बीस- सत्ताइस वर्ष की आयु के थे। कुछ मौलिक कर पाने की बजाए, कुछ नया या चौंकाने वाला लिखकर तत्काल प्रसिद्धि पाने की व्यग्रता ही इनमें अधिक थी। 'बाजी' में वह सब कुछ है जिसके कारण हिन्दी सिनेमा को यथार्थ से कटा हुआ कहकर बदनाम किया जाता है।

दरअसल उस समय और माहौल में इस तलख कठोर नायक के आकर्षण को नकार पाना कठिन था। सन् १९३२ से १९४६ तक के पन्द्रह वर्षों में हॉलीवुड ने अत्यंत उत्तम फिल्में दी थीं। सन् १९३२ में वार्नर बंधुओं द्वारा निर्मित और मेर्विन ली रॉय द्वारा निर्देशित 'आयम ए फ्युजिटिव फ्रॉम द मेन गैंग' नाम की फिल्म आई थी। इस फिल्म में पाल मुनी नायक थे। सन् १९४६ में हॉवर्ड हॉक्स द्वारा निर्देशित 'द बिग स्लीप' नाम की फिल्म आई थी, जिसमें हंफरी बोगार्ट नायक थे। 'द बिग स्लीप' उपन्यास के लेखक थे रेमण्ड शैण्डलर। हॉलीवुड की फिल्मों के उस समय के लेखकों की सूची के कुछ चुनिंदा नाम हैं- मिकी स्पिलैन, रेमण्ड शैंडलर, इर्विंग शुलमैन, डेशिल हैमिट और ए.जे. क्रोनिन आदि।

राज खोसला, बलदेव राज चौपड़ा, चेतन आनंद, शक्ति सामंत, गुरुदत्त, किशोर साहू और विजय आनंद को इन लेखकों, उस समय बनी फिल्मों, तथा हॉलीवुड के नायकों की छबि ने अपनी गिरफ्त में ले लिया था। राज खोसला ने ए.जे. क्रोनिन के उपन्यास पर आधारित 'सी.आई.डी.' बनाई। विजय आनंद ने फ्रैंक कापरा की फिल्म 'इट हैपन्ड वन नाइट' पर 'नौ दो ग्यारह' बनाई। जल्दी ही अन्य निर्देशकों ने अमेरिकी गैंगस्टर और अमेरिकी वैस्टर्न को मिलाकर खिचड़ी फिल्में बनानीं शुरू कर दीं। लेकिन देव आनंद ने अपनी शैली नहीं छोड़ी और अंततः अपना स्थाई प्रभाव छोड़ने में सफल रहे।

राजकपूर का नायक तुरंत किसी को भी अपना मित्र बना लेता है और चना-मुरमुरा बाँट लेने का आमंत्रण दे देता है। दिलीप कुमार का कोई भी मित्र उससे आश्वस्त नहीं हो सकता कि वह वास्तव में मित्र है भी या नहीं। वहाँ 'तुम मुझे समझने की कोशिश क्यों नहीं करते' वाला अंदाज है। देव आनंद की दोस्ती का रंग-ढंग अलग है। वे दोस्त की बाँह मरोड़ कर उसके कान में पूछते हैं, 'दोस्त, मुझे ये बताओ, तुम किस के कहने से मेरा पीछा कर रहे हो? कौन है तुम्हारा असली मालिक?'

'चौदहवीं का चाँद' में भी मित्र के प्रति समर्पण का भाव है लेकिन वहाँ सरोकार कतई अलग हैं। देव आनंद और दिलीप कुमार दोनों को नकार कर हिन्दी सिनेमा के क्षितिज पर उभरे इस निर्देशक अभिनेता ने सिनेमा को महाकाव्यात्मक विस्तार और नायक को नई भारतीय छवि प्रदान की। गुरुदत्त ने देव आनंद और राज खोसला की दोस्ती को नकार कर साहिर लुधियानवी और अबरार अल्वी के साथ बैठना शुरू किया। हॉलीवुड के पैटर्न को नकार कर भारतीय सिनेमा का नितांत निजी मुहावरा विकसित किया। काल्पनिक, रोमांटिक कथा में आत्मकथा को पिरोकर अपने नायक को प्रामाणिकता प्रदान की। 'चौदहवीं का चाँद'/ प्यासा/ कागज़ के फूल/ साहिब बीबी और गुलाम को एक महाकाव्य की भाँति पढ़ पाना संभव है। प्रेम में सर्वस्व खोकर, प्रेम न पा सकने की यह रोमांटिक परिकल्पना नितांत निजी और भारतीय है। 'प्यासा' और 'कागज के फूल' का नायक 'साहिब बीबी और गुलाम' में अपना परम समर्पण नायिका के रूप में कर पाता है। भले ही अभिनेता गुरुदत्त इस फिल्म में भूतनाथ की भूमिका में उपस्थित है परंतु अपने नायकत्व को वह इस फिल्म की नायिका के रूप में ढाल देता है।



*अपूर संसार : सत्यजित राय का मानवीय व्यापार*

दस अक्टूबर १९६४ को गुरुदत्त का देहांत हुआ। उन्हीं दिनों 'संगम' में राज कपूर ने स्वयं को 'मैं क्या करूँ राम' कहलवाकर जवानों की बिरादरी से बाहर कर लिया और अपनी महत्वाकांक्षी फिल्म 'मेरा नाम जोकर' बनाने में जुट गए। दिलीप कुमार 'राम और श्याम' की सफलता और देव आनंद 'जानी मेरा नाम' (१९७१) की सफलता द्वारा यही कहते रहे, 'अभी तो मैं जवान हूँ।' वास्तव में लोग पचास वर्ष की आयु को छू रहे इन नायकों के रंग-ढंग देख कर तंग आ चुके थे। हिन्दी सिनेमा सही अर्थों में बड़ी बेसब्री से अपने नए नायक को खोज रहा था।

कैसे थे ये दस वर्ष? १९६२ में युद्ध की हार से अपमानित हो कर और १९६४ में अपने प्यारे नेता को खोकर, भारत किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति में खड़ा था। एक और युद्ध तथा जनवरी ६६ में शास्त्रीजी की मृत्यु के बाद तो विधवा की तरह छाती उघाड़कर रोना ही शेष बचा था। सन् ६७ और ६८ भयानक अकाल, राशन की दुकानों के बाहर लगी लंबी कतारों और अन्न के आयात हेतु दर-दर भटकने के वर्ष रहे हैं।

इन्हीं दिनों हिन्दी सिनेमा को अपना यह नया नायक मिला। हिन्दी भाषी प्रदेशों के युवाओं को एक सड़क छाप उपन्यासकार गुलशन नंदा ने अपनी ओर आकर्षित किया था। एक युवती गलत आदमी के हाथों में पड़ कर बर्बाद होते-होते बच जाती है या हो जाती है, अंततः एक युवक उसे स्वीकार लेता है। कहीं बहुत दूर, खूबसूरत वीरान वादी में फलों के बागों का मालिक करोड़पति सेठ रहता है, उसकी लड़की गर्भवती है, इस सेठ को एक दामाद की और इस युवती को एक अदद पति की सख्त जरूरत है। एक लाख प्रतियों के संस्करणों में निकलने वाले तुरंत मराठी और गुजराती में अनुवादित हो जाने वाले ये उपन्यास कहीं युवामन को छू रहे थे। लोकप्रिय साहित्य और समाज के संबंधों पर हमारे यहाँ कभी ढंग से सोचा ही नहीं गया। अब कहीं टेली सीरियलों 'हम लोग'/ 'रामायण'/ 'महाभारत'/ और 'चाणक्य' आदि की अपार सफलता और इन के प्रभावों को देखकर हमारे समाज वैज्ञानिक चौंकने लगे हैं। गुलशन नंदा हिन्दी के पहले अतिलोकप्रिय उपन्यासकार रहे हैं। **राजेश खन्ना** के नायकत्व के युग में तथा प्रेमपरक फिल्मों के उस दौर में, लेखक के रूप में गुलशन नंदा के महत्व को कम करके नहीं आँका जा सकता। प्रेम विभोर नायक की छबि को नंदा ने नई ऊँचाई पर पहुँचाया।

राम माहेश्वरी द्वारा निर्देशित 'नील कमल' (राजकुमार, वहीदा रहमान, मनोज कुमार), खिलौना (संजीव कुमार, मुमताज, दाग (राखी, राजेश खन्ना) उस जमाने की अत्यंत सफल फिल्में रही हैं। 'नीलकमल' का नायक अपनी प्रेमिका से मिलने के लिए और उसके साथ प्रेम के दो क्षणों की स्मृति को जीवंत बना लेने के लिए, जन्मों प्रतीक्षा करता है। 'नीलकमल' में होली के दृश्यों का फिल्मांकन और फलतः राजकुमार और वहीदा रहमान के दीर्घ हास्य दृश्य, एक ऐसी लय छेड़ देने में सफल रहा, जिस धुन को आप वर्षों बाद भी याद कर सकते हैं। 'खिलौना' ने एक ऐसे अभिनेता को प्रतिष्ठित किया जिसने मोतीलाल और बलराज साहनी की अभिनय परंपरा को जीवित रखते हुए, 'आँधी', 'मौसम' और 'त्रिशूल' में स्थाई छाप छोड़ी।

'दाग' राजेश खन्ना के अभिनय की सफलतम और श्रेष्ठतम फिल्म है। यही उसके नायकत्व का अंतिम छोर भी है। कहने का आशय यह है कि जहाँ दिलीप कुमार, राजकपूर और देव आनंद ने बरसों मेहनत कर अपने नायकों के साँचे तैयार किए, उन्हें स्थापित करने के लिए जमीन तैयार की वहीं राजेश खन्ना नाम के अभिनेता को ढला-ढलाया साँचा और तैयार जमीन मिली।

चेतन आनंद के निर्देशन में 'आखिरी खत' (१९६६) राजेश खन्ना की पहली फिल्म थी। सन् १९६९ पूरी तरह राजेश खन्ना का वर्ष रहा। इस वर्ष राजेश खन्ना द्वारा अभिनीत छहों फिल्में मील का पत्थर बन गईं। 'आराधना'/ 'दो रास्ते'/ 'बंधन'/ 'खामोशी'/ 'द ट्रेन' और 'इत्तफाक'। सन् १९७० में फिर 'सच्चा झूठा'/ 'सफर'/ 'कटी पतंग'/ 'आन मिलो सजना' और 'आनंद' बेहद सफल रहीं। १९७२ में फिर 'अमर प्रेम' /'दुश्मन'/ 'अपना देश'/ 'बावर्ची' सफल रहीं। अगले वर्षों में भी 'दाग' (१९७३), रोटी (१९७४), अमर दीप (१९७९), थोड़ी सी बेवफाई (१९८०) अवतार (१९८३) सफल रहीं लेकिन अभिनेता राजेश खन्ना का पतन होता गया। १९६६ के 'आखिरी खत' के रोमांटिक कलाकार- मूर्तिकार और 'बहारों के सपने' के रोमांटिक क्रांतिकारी की छवि १९७३ की 'दाग' तक ही अपना वर्चस्व कायम रख सकी।

सन् १९६६ से ७० के उन वर्षों में सम्मानित जीवन जीने की इच्छा ही एकमात्र लौकिक ध्येय रह गई थी। अन्न की कालाबाजारी के उस युग में शायद ऐसा पति या प्रेमी ही संतोष दे सकता था जो घर आते समय जलेबी या दोई का दोना ले आए, जो घर में अन्न की कमी न होने दे। 'बावर्ची' में यह भूख पूर्णतया मूर्त हो उठी थी।

सन् १९६९-७२ के दौरान हिन्दी की एक रंगीन साप्ताहिक-साहित्यिक पत्रिका की पाँच लाख प्रतियाँ प्रति सप्ताह बिक रही थीं। इस पत्रिका में लगातार राजेश खन्ना की लोकप्रियता पर लेख छपते थे। राष्ट्रीय स्तर पर किए गए सर्वेक्षणों द्वारा यह बताया जाता था कि कितनी ही युवतियाँ रोज सुबह राजेश खन्ना का नाम लेकर तुलसी को अर्घ्य देती हैं। रंगीन व्यावसायिक - साहित्यिक पत्रकारिता तथा रंगीन व्यावसायिक सिनेमा का यह भव्य मध्यमवर्गीय प्रेमालिंगन था। जहाँ एक नायक की छबि को आदर्श पति, प्रेमी, सीता के राम के रूप में तत्कालीन पढ़े-लिखे दिमागों में रोपने का प्रयत्न किया




# स्वाद के दो



...स्वाद

च
ट

**स्वाद आवला** - गुणभरा, प्राकृतिक विटामिन 'सी' युक्त, पाचन शक्ति बढाने वाला; और साथ ही पौष्टिक भी! आवले के साथ ही इसमें मिले हैं असरकारक अनारदाना, अजवान, धनिया, सौंठ इत्यादि। जो दें - लाजवाब स्वाद और बेहतरीन असर!
**स्वाद आवला** - हर उम्र में लाभदायक, आपके स्वास्थ्य का सहायक!







आप जो भी खाएं..

Ad-Venture

जा रहा था। पति पा लेने की इस असीम चाह ने भारतीय समाज में कई भयंकर विकृतियों को जन्म दिया। हिन्दी सिनेमा के अगले पड़ाव में रुग्ण मातृप्रेम को भी सम्माननीय स्थान दिलाने का प्रयत्न किया गया।

पति प्रेम की भी एक सीमा है। स्वतंत्रता और स्व-अभिव्यक्ति अधिक शक्तिशाली उत्प्रेरक हैं। वही कन्या जो पिया के घर की रानी बन कर खुश थी और बावर्ची का अन्नपूर्णा बनकर साथ निभा रही थी, 'अभी आते होंगे, अभी आएँगे वो' से ऊबकर सड़कों पर आ गई थी। 'जंजीर' की सड़कों पर नाच कर छुरियाँ तेज करने वाली नायिका ने यथार्थ जीवन और पर्दे पर एक नए नायक की छवि को प्रतिस्थापित किया। वह नायक जो अंततः भारतीय सिनेमा का महानायक बना।

**अमिताभ बच्चन** और सलीम, जावेद का गठबंधन, उनका कृतित्व, 'जंजीर' (१९७३) से 'शक्ति' (१९८२) तक चलने वाला यह महाआख्यान, गहन विश्लेषण तथा व्याख्या की माँग करता है। एक क्षण के लिए हम अपने मिथकीय प्रतीकों की ओर लौटें।

'राजा हरिश्चन्द्र' और 'राजा राम' के प्रतीक हमारे फिल्मकारों को हमेशा प्रिय रहे हैं। 'हरिश्चन्द्र' एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति के रूप में और राम एक आदर्श भाई तथा पुत्र के रूप में। ऋषिकेश मुखर्जी की 'सत्यकाम' तो जैसे हरिश्चन्द्र के भूमिका साँचे को ही सामने रखकर बनाई गई है। विश्वामित्र से लेकर चांडाल तक, पत्नी और पुत्र के निर्वासन से लेकर विश्वामित्र के हृदय- परिवर्तन तक। जाहिर है कि इस कथा को आधुनिक साँचे में ढालने का काम इतना आसान नहीं था। लेकिन 'सत्यकाम' फिल्म ने अभिनेता धर्मेंद्र को दर्शकों की नजरों में श्रद्धा का पात्र बना दिया। 'सत्यकाम' का नायक सत्यनिष्ठ, परम नैतिक और परम स्नेही है। वह अपनी पत्नी और पुत्र के लिए (जो वास्तव में उसके पत्नी और पुत्र नहीं है) अपने सिद्धांतों की बलि चढ़ाने को भी प्रस्तुत हो जाता है। इसी क्षण पत्नी 'इस समझौते से इंकार कर देती है। प्रकाश की यह यात्रा, यह संगति-दोष, पति से पत्नी तक साथ रहते रहते आ जाने वाले इस अद्भुत ज्ञान की छुअन को ऋषिकेश मुखर्जी ने बहुत अच्छी तरह फिल्माया है।

'सत्यकाम' का नायक तो फिर भी सीधे-सीधे 'हरिश्चन्द्र' की परंपरा से ही आता है लेकिन 'दीवार' का नायक आपको किस परंपरा से आया हुआ लगता है? क्या 'दीवार' का विजय सत्यनिष्ठ, आस्तिक और परम स्नेही नहीं है?

—'और रात के दस बजे जब तुम उस होटल से बाहर नहीं निकलोगे तो...'

—'मैं निकलूँगा'

सत्य, वचन पालन के प्रति दृढ़ निष्ठा, जैसे उस का कवच है।

—'माँ प्रसाद समझ कर देती है, तुम मिठाई समझ कर खा लिया करो।'

यह दोगलापन उसके स्वभाव से बाहर की चीज है। वह प्रसाद खाने से इंकार तो कर सकता है लेकिन एक बार प्रसाद स्वीकार लेने के बाद वह इसकी प्रतिबद्धता से इंकार नहीं कर सकता।

'दीवार' में अपने भाई की गोली से और 'शक्ति' में अपने पिता की गोली से मरने वाला यह पात्र, और इस भूमिका को जीने वाला अभिनेता हमारे सिनेमा का महानायक बना।

राम का प्रतीक भी लगातार हमारे साथ चलता रहा। 'आवारा' में राजकपूर ने इस प्रतीक का सटीक प्रयोग किया। 'धूल का फूल' में कुआँरी माँ ने एक न्यायाधीश की नैतिकता को ललकारा था। इस फिल्म के विषय ने लोगों को 'आवारा' से भी अधिक आकर्षित किया था। 'धूल का फूल' देश के कई सिनेमाघरों में वर्ष भर चलती रही थी। 'त्रिशूल' में भी हम 'धूल के फूल' की प्रतिच्छाया देख पाते हैं। 'त्रिशूल' में समय बदल गया है, अब स्त्री पति के पाँव छू कर वापस नहीं लौट आती। अब पति इस भूल का मूल्य प्राण देकर ही चुका सकता है। राजकपूर से अमिताभ बच्चन तक हमारा नायक कितना बदला है। इसे भी इन फिल्मों से जाना जा सकता है।

*पुष्पक विमान : कमल के अभिनय का कमाल*



सन् १९७६ तक आते-आते हमारे सिनेमा का इतिहास अपनी निर्विवाद उपस्थिति सिद्ध कर चुका था। अब प्रत्येक फिल्म को, स्वतंत्र इकाई मानकर भी और इतिहास का एक अंश मात्र मानकर भी देखना जरूरी होता जा रहा था। अब तक हमारे नायक की सशक्त परंपरा विकसित हो चुकी थी।

'दीवार' इसी परंपरा की सशक्ततम कड़ी है। 'दीवार' को 'मदर इंडिया' और 'गंगा जमना' को देखे बिना समझा ही नहीं जा सकता। जिसे कुछ फिल्म पत्रकार लापरवाही में नकल कह दिया करते हैं वास्तव में वे संदर्भ हैं। 'दीवार' का रचयिता जानता है कि 'मदर इंडिया' का आरंभ 'दीवार' के दर्शक को परंपरा से जोड़ देगा। यदि 'दीवार' में पुल और भाइयों के संवाद का प्रसंग अत्यंत लोकप्रिय बन पड़ा है तो इसी कारण कि वह 'गंगा जमना' की दो भाइयों की बातचीत और टूटन द्वारा संदर्भित संस्कारित है।

सलीम जावेद और अमिताभ बच्चन की संयुक्त उठान का 'शक्ति' अंतिम छोर है। पिता का हत्यारा हो जाना, पिता की हत्या कर देने की तैयारी का प्रारंभिक बिंदु है। 'शक्ति' से पहले ही गोविंद निहलानी 'अर्द्धसत्य' में इस सत्य को अभिव्यक्ति दे चुके थे कि पिता को रास्ते से हटा कर ही आगे बढ़ पाना संभव है।

*अनिल कपूर : संभावनाओं के द्वार पर*



सैकड़ों फिल्मों में से कोई एक युगबोध को नया स्वर प्रदान कर पाती है। वर्षों बाद आदित्य भट्टाचार्य की फिल्म 'राख' ने इस भाव को सही अभिव्यक्ति दी। 'राख' ही आमिर खान द्वारा अभिनीत पहली फिल्म है। 'राख' का ठंडा गुस्सा ही 'कयामत से कयामत तक' की जमीन तैयार करता है। यह विडंबना ही है कि व्यावसायिक माफिया के दबावों के कारण 'राख' उपेक्षित रह गई और 'क़यामत से कयामत तक' सुपरहिट कहलाई।

व्यक्तिगत जीवन में अपने विद्रोह तथा पिता की सत्ता के संपूर्ण नकार द्वारा आदित्य भट्टाचार्य और संजय दत्त युवा पीढ़ी के चहेते नायक बने हैं। साफ लग रहा है कि पिता की सत्ता के नकार और मूर्ति भंजन की प्रक्रिया आगे बढ़ेगी। सन् १९५५ से १९७५ तक इस देश के सब से नाजुक समय में इन पिताओं ने अपने भ्रष्ट आचरण द्वारा इस देश के भविष्य को प्रश्न चिन्हित कर दिया। आर्थर मिलर के 'ऑल माई संस' के पिता की भाँति अब हम प्रश्नों का उत्तर देने से इंकार नहीं कर सकते। शायद यह क्रांति मात्र रोमांटिक धरातल पर ही बनी न रहकर सामाजिक सत्य की जमीन पर भी अपनी जगह बना सकेगी। ■

## 'पद्मश्री' से दो बार इंकार

# सौमित्र चटर्जी

• गोपा चक्रवती

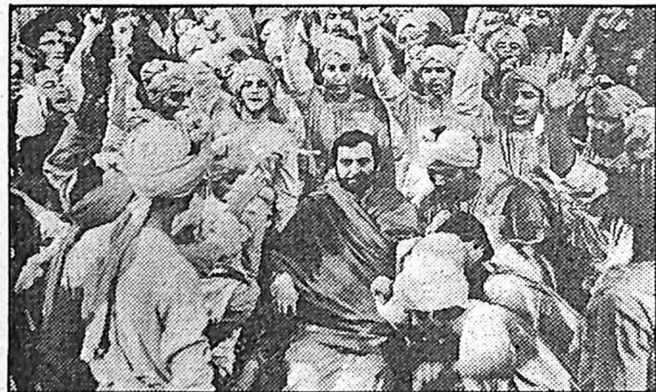
बंगला फिल्मों के सुदर्शन और रोमांटिक नायक **सौमित्र चटर्जी** का उदय **सत्यजित राय** की फिल्म **अपूर संसार** से हुआ था। उस समय वे एम.ए. की पढ़ाई जारी रखते हुए नाटकों में काम कर रहे थे। उन दिनों माणिक दा 'पाथेर पांचाली' के बाद 'अपराजितो' के अपु की तलाश कर रहे थे। उनके यूनिट के लोग नए-नए अभिनेता-अभिनेत्रियों को उनके सामने ला रहे थे। सौमित्र के एक मित्र प्रलय सेन गुप्त सत्यजित राय के प्रोडक्शन डायरेक्टर के सहायक थे। वे ही सौमित्र को माणिक दा के पास ले गए। उस समय फिल्मों के बारे में सौमित्र का ज्ञान बहुत सीमित था। इससे पहले 'पाथेर पांचाली' देख कर वे सत्यजित राय पर मुग्ध थे। माणिक दा से अपनी पहली मुलाकात की चर्चा चलने पर वे कहते हैं- मुझे अब भी वह मजेदार बात याद है। मेरे कमरे के अंदर प्रवेश करते ही माणिक दा ने मुझ पर एक पूरी नजर डाली और उसके बाद उनकी प्रतिक्रिया थी 'अपु के चरित्र के लिए आप तो बहुत लंबे हो गए।' तब तक मेरे साथ उनका कोई परिचय नहीं हुआ था। इस घटना ने मुझे झिंझोड़ दिया था। मुझे ऐसा लगा कि एक आदमी किस कदर अपने काम में डूबे रहने से इस तरह की बातें कर सकता है। उन्होंने मुझे देखते ही मन ही मन अपु के चरित्र के साथ मुझे मिला लिया था। 'अपराजितो' फिल्म के लिए सौमित्र का चयन नहीं हुआ।

'अपराजितो' के बाद सत्यजित राय ने इसका दूसरा भाग 'अपूर संसार' बनाने का निश्चय किया, जिसमें नायक के रूप में सौमित्र का चयन हुआ। इसके लिए सौमित्र जब सत्यजित राय से मिलने गए तो उन्होंने सबसे पहले उनसे यही पूछा,'क्या तुम अब भी फिल्मों में काम करने की इच्छा रखते हो।' सौमित्र के 'हाँ' कहने पर उन्होंने अपु के बाहरी एवं पारिवारिक जीवन के बारे में उन्हें विस्तार से समझाया।

'अपूर संसार' शुरू हुई थी सन १९५८ में। सौमित्र से उनकी यह बातचीत हुई थी सन् १९५७ में। उस समय सौमित्र आकाशवाणी में नौकरी कर रहे थे। सत्यजित राय के सिर्फ यह पूछने पर कि क्या आप यह नौकरी करेंगे? सौमित्र ने झट नौकरी छोड़ना तय कर लिया। इसके बाद सत्यजित राय ने 'अपूर संसार' की पटकथा की एक टाइप कापी उन्हें दी। उसे पढ़कर सौमित्र दिन-रात मेहनत कर अपने को अपु के चरित्र के लिए तैयार करने लगे। शूटिंग शुरू होने से पहले उनका स्क्रीन टेस्ट लिया गया। इस बारे में सौमित्र का कहना है 'उन्होंने जो स्क्रीन टेस्ट लिया था, मुझे ऐसा लगता है कि जैसे उन्हें इसकी कोई जरूरत नहीं थी। सिर्फ एक नए अभिनेता का उत्साह बढ़ाने के लिए उन्होंने ऐसा किया था, ताकि मैं कैमरे के सामने सहज होकर काम कर सकूँ।'

माणिक दा की २८ कथा फिल्मों में से सौमित्र चटर्जी ने १४ फिल्मों में काम किया है। सौमित्र के बारे में माणिक दा ने अपने एक साक्षात्कार में कहा था -'मैंने जिन किरदारों में सौमित्र को लिया है, वे सब उन पर बहुत खरे उतरे हैं। वे अत्यंत प्रतिभाशाली अभिनेता हैं। बंगला फिल्मों में उन जैसे अभिनेता का अभाव है। मैं जब भी किसी कहानी या उनके पात्रों के बारे में सोचता हूँ तब इस बात का भी ध्यान रखता हूँ कि सौमित्र इनमें से किस भूमिका के लिए एकदम उपयुक्त साबित होंगे। इसलिए अधिकांश फिल्मों में उनकी मौजूदगी अनिवार्य हो गई है।'

'अपूर संसार' ने उन्हें रातोंरात आशातीत लोकप्रियता दी थी। इसमें उनके काम की



भरपूर सराहना ही नहीं हुई, बल्कि इसके लिए उन्हें ढेर सारे पुरस्कार और सम्मान भी मिले। इसके साथ ही दूसरे निर्देशकों की फिल्मों में काम करने का एक सिलसिला भी शुरू हो गया। साठ के दशक के अंत तक तो वे **उत्तम कुमार** के प्रतिद्वंद्वी के रूप में उभरे थे। वैसे उत्तम कुमार के जबर्दस्त प्रतिद्वंद्वी के रूप में उनकी गणना कभी नहीं हुई। पर यही बात क्या कम थी कि उत्तम जैसे विशाल रेंज के अभिनेता के प्रतिद्वंद्वी के रूप में उन्हें रखा गया। फिर भी कई फिल्में ऐसी हैं, जिसमें उत्तम के साथ-साथ उनके अभिनय की भरपूर तारीफ हुई है। इसके लिए सलिल दत्त की सुपर हिट फिल्म **अपरिचित** को अच्छा उदाहरण माना जा सकता है। इसमें उत्तम के अभिनय का भरपूर जादू होने के बावजूद सौमित्र के अभिनय की भरपूर तारीफ हुई थी। इसके अलावा दोनों के साथ की फिल्में स्त्री/ देवदास/ झिंदेर बंदी भी उल्लेखनीय हैं। विभिन्न भूमिकाओं में अभिनय करके उन्हें दर्शकों की वाहवाही बहुत मिली। उनके हि[...] में ऐसी कोई असाधारण भूमिका नहीं अ[...] जो उन्हें नायक से महानायक बना स[...] सत्यजित राय की फिल्म 'अभिजान' में [...] कठोर ड्राइवर की भूमिका निभाकर वे का[...] चर्चित हुए, जो उनकी अभिनय यात्रा का [...] अपवाद है।

उन्होंने विभिन्न तरह के किरदारों को प[...] पर पेश किया है, पर यह एक विडंबना ही[...] कि किसी में भी उनके अभिनय की कोई ख[...] विविधता नजर नहीं आई। उनके अ[...] अभिनय से सजी कुछ उल्लेखनीय फिल्में[...] अपूर संसार/ सात पाके बांधा/ स्वयंव[...] अभिजान/ चारुलता/ अपरिचित/ गणदेव[...] समाप्ति /नानूमशाय / चेना अर्चना/ अश[...] संकेत/ अग्रदानी/ जयबाबा फेलूनाथ/ [...] बाईरे/ उर्वशी/ वसुंधरा/ आतंक/ को[...] देवदास/ स्त्री/ झिंदेर बंदी/ सुदित पाषा[...] अभिमन्यु। वैसे तो उन्होंने लगभग स[...] नायिकाओं के साथ काम किया, पर सं[...] राय के साथ उनकी जोड़ी खूब जमती थी।

उन्हें दो बार पद्मश्री की उपाधि [...] सम्मानित किया गया, पर हर बार उन्होंने [...] सम्मान ठुकरा दिया, पहली बार १९७० [...] तथा दूसरी बार १९९२ में उन्हें यह सम्म[...] दिया गया था। इस सम्मान के प्रति बेरुखी [...] वजह सौमित्र दा बताते हैं, मेरे लिए [...] पुरस्कार का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि पद्म[...] अपना सौन्दर्य बहुत दिनों पहले खो चुकी [...] इस पुरस्कार को देते समय योग्य-अयोग्य [...] विचार नहीं किया जाता। यह सम्मान ज[...] कुछ योग्य लोगों को दिया गया, वहीं अने[...] अयोग्य लोग भी इसे हथिया गए हैं।

अभिनय के साथ-साथ पढ़ने-लिखने [...] उन्हें शौक है। उनके इस शौक का जिक्र चल[...] पर वे कहते हैं- 'जहाँ किताब मनुष्य [...] सभ्यता का दर्पण है, मैं उसी किताबों [...] साम्राज्य का लक्ष्यहीन पाठक मात्र हूँ। पुस्त[...] हमारे लिए उतनी ही आवश्यक हैं जित[...] पानी/ हवा/ भोजन। पुस्तकें शुरू से ही मे[...] अच्छी मित्र रही हैं। रवींद्रनाथ के प्रति उनकी[...] अपार भक्ति उनकी बातों से झलकती [...] सौमित्र का कहना है 'देश से भी रवींद्रना[...] बड़े हैं।' सौमित्र दा के कई काव्यग्रंथ हैं। उनकी[...] पहली किताब 'जल प्रपातेर धारे दाड़ाव बो[...] सन् ७४ में प्रकाशित हुई थी।

**सुनील दत्त एक आदर्श अभिनेता भी हैं और आदर्श नेता भी। वे सफल नायक रहे हैं और उससे कहीं अधिक सफल पति। उनका दाम्पत्य जीवन अनुकरणीय है। उन्होंने राजनेता का चोला पहनकर समाज सेवा की है। पैसे और प्रसिद्धि के पीछे न भागते हुए भी वे हर दर्शक के दिल में प्रतिष्ठित हैं।**

# गुस्सैल नायक सुनील दत्त

● **दिलीप गुप्ते**



**उस** जमाने में दर्शक दिलीप-देव-राज के दीवाने थे। अशोक कुमार सीनियर अभिनेता का खिताब पा चुके थे। प्रदीप कुमार और भारत भूषण एक खास तरह के वर्ग में लोकप्रिय थे। यानी सभी परंपरागत नायक थे। आजादी के पहले के नायकों जैसे। आजादी के बाद नौजवान पीढ़ी की समस्याओं, उसकी मजबूरी को बताने वाले अभिनेता की सख्त जरूरत महसूस की गई। बुराई के सामने मजबूरन हथियार डालने वाले, निराश नवयुवक की भूमिका में परदे पर आए **सुनील दत्त।** अपनी पहली फिल्म **रेलवे प्लेटफार्म** (१९५५) में उन्होंने हिंदी फिल्मों के पहले एंग्री यंगमैन की भूमिका की। गुस्सैल नौजवान होने का अर्थ नथूने फैलाना या दो-चार को पटकना या खून बहाना नहीं होता। 'देख तेरे भगवान की हालत क्या हो गई इंसान' गाने वाले को गुस्सैल नहीं कहेंगे? अपनी बेकारी से तंग आकर अमीर लड़की से शादी करने के उसके निर्णय को उसकी मजबूरी नहीं कहेंगे? रेडियो सीलोन पर बलराज नाम से मशहूर आवाज का जादूगर पहली फिल्म 'रेलवे प्लेटफार्म' का यह नायक अभी तक के नायकों-महानायकों से अलग था। वह पेड़ों के चक्कर लगाकर प्रेमिका को नहीं रिझाता था। वह तलवार लेकर सामने वाले की गर्दन नहीं उड़ाता था। वह तंबूरा लेकर भगवान को याद नहीं करता था। वह हमारे समाज का था। 'कुन्दन' (१९५५) में यही गुस्सैल जवान अपने गुस्से को सही लाइन पर ले आया। वह भारत की आजादी के लिए नौजवानों को इकट्ठा करने लगा। इस बार उसका गुस्सा अपने देश की गुलामी पर था, साम्राज्यवाद पर था। कुछ और बरस बीतते-बीतते उसका गुस्सा पूँजीपतियों पर उतरा। मदर इंडिया (१९५७) में वह साहूकारों के खिलाफ बंदूक पकड़ता है। मगर किसी का खून नहीं बहाता। खून बहाता है 'मुझे जीने दो' (१९६३) में जिसमें वह डाकू बना है।

सुनील दत्त का चेहरा-मोहरा अपने समकालीनों से अलग है। उसमें मर्दानापन है। मगर यह मर्दानापन रूखा नहीं है। गुस्सा उसका स्थाई भाव नहीं है। इसीलिए सुनील दत्त ने हर तरह की भूमिकाएँ की हैं। यहाँ तक कि हास्य भूमिकाएँ भी। पड़ोसन (१९६८) में उनका हास्य अभिनेता का स्वरूप भी सामने आया। आज कोई यह फिल्म देखे तो उसे पता चलेगा कि अनिल कपूर का प्रेरणास्रोत कौन है। गुमराह (१९६३) में सुनील दत्त ने खलनायक की भूमिका की है मगर उस पात्र से नफरत नहीं होती। प्रेम में अंधा हो जाने की उसकी मजबूरी समझ में आती है। और खानदान (१९६५)! कोई भी अभिनेता लूले-लंगड़े की भूमिका करने को तैयार नहीं होता। ज्यादा से ज्यादा दृष्टिहीन बनता है। क्योंकि उसमें ग्लैमर का उपयोग हो सकता है। मगर सुनील दत्त ने न अपनी इमेज की परवाह की और न ही ग्लैमर की।

निर्माता-निर्देशक के रूप में भी सुनील दत्त ने खतरों से खेला है। एक पात्री फिल्म **यादें** का नाम दुनिया भर में अंकित हो चुका है। शुष्क रेगिस्तान में लैला-मजनूं टाइप की कहानी पर **रेशमा और शेरा** बनाने की हिम्मत सुनील दत्त में ही है। इस फिल्म की असफलता के बाद १८० अंश के कोण पर पहुँचकर नहले पे दहला बनाना भी सुनील दत्त के बलबूते की ही बात है।

एक इंसान के रूप में सुनील दत्त हीरा है। समाज सुधार कार्यों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने वाला कोई और नाम याद नहीं आता। चीन आक्रमण के बाद तो अजंता टूप लेकर बर्फीले प्रदेशों में सैनिकों का मनोरंजन करना और किसी के दिमाग में नहीं आया। जहाँ-जहाँ विपदा पड़ी, सुनील अपनी सेना लेकर वहाँ का दुःख कम करने पहुँचे। बाढ़पीड़ित हों या भूकम्पपीड़ित। 'दर्द का रिश्ता' का सारा लाभ उन्होंने कैंसर अस्पताल के लिए दान कर दिया। वह भी तब, जब वे पहले जैसे अमीर नहीं रहे। पुराणों में हमने पढ़ा है कि सावित्री ने सत्यवान को यमराज के पंजे से छुड़ाया। कलयुग में हमने देखा कि सत्यवान ने सावित्री को मौत के चंगुल से बचाया। सन् १९७९ में नरगिस मौत के जबड़े में थी मगर यह आधुनिक सत्यवान उन्हें छुड़ा लाया। और इसका पुरस्कार उन्हें 'शान' (१९८०) में मिला। इस फिल्म में सुनील दत्त की (ही) तारीफ हुई और फिल्म असफल हुई।

सुनील दत्त ने नए लोगों को बहुत मौके दिए हैं और अपनी दोस्ती निभाई है। अपने गांव के दोस्त बलदेव खोसा (दरार वाले) को कांग्रेस का टिकट ही नहीं दिलाया बल्कि विधानसभा में पहुँचाया भी।

समाज कार्यों की उपलब्धियों को ध्यान में रखकर उन्हें कांग्रेस का उम्मीदवार बनाया गया और हर बार वे भारी मतों से विजयी हुए हैं। वे मात्र सांसद हैं मगर बंबई में उनकी इज्जत किसी मंत्री से कम नहीं है। उन्होंने राजनीति को मिशन बनाया है कमीशन नहीं। सांसद के रूप मे उन्होंने लंबी पदयात्रा भी की है। यह यात्रा अपने उद्देश्य में सफल रही है। नशीली दवाओं के खिलाफ उनका आंदोलन पूरे भारत में इज्जत पा रहा है। राजनीति की काली कोठरी में रहकर भी उनका दामन साफ है। कोई भी व्यक्ति परिपूर्ण नहीं होता। किसी न किसी कोने में वह खाली होता है। मगर सुनील दत्त अभिनेता, निर्माता, निर्देशक, समाजसेवी, जननेता और इंसान के रूप में अपने हमपेशा लोगों से बहुत ऊँचे निकले हैं। उनके जैसे नायक तो उँगली पर गिनने बराबर भी नहीं हैं। ■

**■ प्रमुख फिल्में :** □ रेलवे प्लेटफार्म (१९५५) □ राजधानी (१९५६) □ मदर इंडिया (१९५७) □ दीदी/ इंसान जाग उठा (१९५९) □ एक फूल चार काँटे/ उसने कहा था (१९६०) □ छाया (१९६१) □ मैं चुप रहूँगी (१९६२) □ मुझे जीने दो/ गुमराह/ नर्तकी (१९६३) □ यादें (१९६४) □ खानदान/ वक्त (१९६५) □ गबन/ मेरा साया (१९६६) □ मेहरबान/ मिलन (१९६७) □ गौरी (१९६८) □ मेरी भाभी (१९६९) □ भाई-भाई (१९७०) □ रेशमा और शेरा (१९७१) □ हीरा (१९७३) □ छत्तीस घंटे (१९७४) □ नहले पे दहला (१९७६) □ शान (१९८०) □ दर्द का रिश्ता (१९८३) □ राजतिलक (१९८४) □ प्रतिज्ञाबद्ध (१९९१) □ ये आग कब बुझेगी (१९९१)।

● **प्रस्तुति : आदर्श गर्ग**

## गायक-नायक : सुरेन्द्र

# मद्धिम आवाज के मालिक

शम्भुनाथ मिश्र



यह विडम्बना नहीं तो और क्या है कि **सुरेन्द्र** की आवाज आजकल कहीं सुनाई नहीं पड़ती। सन् १९३६ से लेकर १९४८ तक का जमाना सुरेन्द्र का ही था। जब उनके गाए हुए गानों पर लोग झूम जाते थे। इतना ही नहीं, **कुन्दनलाल सहगल** और सुरेन्द्र को 'गायक-अभिनेता' माना जाता था। जबकि आज के न गाने वाले अभिनेता 'संगीत अभिनेता' कहे जाते हैं। जिनकी परीक्षा पार्श्व गायक के उधार सुर पर अपना ताल देने की होती है।

वह जमाना फिल्म जगत में गायक-अभिनेता-अभिनेत्रियों का जमाना था। यानी फिल्म कलाकारों के लिए गाना एक जरूरी शर्त थी। हालाँकि नौशाद के शब्दों में, 'उस जमाने में यह भी जरूरी नहीं था कि हर फिल्म आर्टिस्ट अच्छा गायक भी हो। ऐसे आर्टिस्टों से भी काम चल जाता था जो रोने की तरह गाने पर भी अपना पैदाईशी हक जता सकते थे।' लेकिन, इसके बावजूद सन तीस के दशक में कई बहुत ही बढ़िया आवाज और सुर वाले गायक अभिनेता- अभिनेत्रियों का फिल्मों में पदार्पण हुआ। जैसे **पंकज मलिक, के.सी. डे, पहाड़ी सान्याल, कुन्दनलाल सहगल, नूरजहाँ, काननबाला, उमादेवी**, आदि।

उसी जमाने की बात है। गायक अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के उस युग में सुरेन्द्र और फरहत जहाँ बिब्बो की जोड़ी वैसी ही हिट थी जैसी बाद में नरगिस और राजकपूर की जोड़ी हिट हुई। 'क्या मैं अन्दर आ सकती हूँ' जैसे सवाद से शुरू होने वाला सुरेन्द्र और बिब्बो का गीत **'तुम्हीं ने मुझको प्रेम सिखाया** आज श्रोताओं को हास्यास्पद लग सकता है मगर सन ३० के दशक में यह गीत लगभग हर संगीत प्रेमी की जुबान पर था। सुरेन्द्र और बिब्बो की जोडी ने 'रंगीला राजपूत' 'मायाजाल', 'शेरे परिस्तान', 'जागीरदार', 'मनमोहन,' 'डांयनामाइट', 'लेडीज ओनली,' 'ग्रामोफोन सिंगर,' और 'सेवा समाज,' में काफी नाम कमाया। यह जोड़ी १९४२ तक खासी मशहूर रही। सुरेन्द्र की मुमताज शांति के साथ 'चाँद चकोरी' नूरजहाँ के साथ 'अनमोल घड़ी' और मुनव्वर सुल्ताना के साथ 'ऐलान' तथा 'मेरी कहानी' भी काफी हिट रही।

सुरेन्द्र मध्यम आवाज में गाते थे। नूरजहाँ के साथ 'आवाज दे कहाँ है' तथा 'नदी किनारे बैठ के' उनके अत्यन्त लोकप्रिय गीत रहे। सन् १९४४ में संगीतकार खेमचन्द्र प्रकाश की फिल्म "भर्तृहरि" के संगीत से शास्त्रीय संगीत के पेचोखम को कम करके फिल्म संगीत को एक नई दिशा दी थी। इस फिल्म में सुरेन्द्र ने मुख्य भूमिका निभाई थी। उनका गाया गीत "भिक्षा दे दे मैया पिंगला" और "रे भँवरा मधुवन में" उस वक्त का हिट गीत तो था ही, आज लगभग ५० साल बाद भी यह गीत फिल्म संगीत की अनमोल निधि है।

'मुझको जीने का बहाना मिल गया, तुम मिले तो गोया जमाना खिल गया।' (फिल्म

मराठी फिल्मों के पहले लोकप्रिय नायक सितारे **गोविंदराव टेम्बे** का फिल्मों में अभिनय कैरियर तब शुरू हुआ, जब वे पचास वर्ष की उम्र पूरी कर चुके थे। गोविंदराव का जन्म ५ जून १८८१ को हुआ। कानूनी पढ़ाई पूरी करने के बाद वे वकील तथा सर्कस मैनेजर बने। काफी दिनों तक जामखंडी रियासत के नरेश के सेक्रेटरी के रूप में काम करते हुए वे एशियाई देशों में घूमे। संगीत के प्रति उन्हें गहरा लगाव था तथा हारमोनियम वादन में वे उस जमाने में हस्ती माने जाते थे।

इसके बाद सन् १९१२ से वे किर्लोस्कर नाटक मंडली के नाटकों में नायक के रूप में काम करने लगे। बाल गंधर्व नाटक मंडली में भी उन्होंने काम किया। १९१५ में उन्होंने शिवराज नाटक मंडली की स्थापना की। इस कंपनी ने हिंदी तथा मराठी में कई नाटकों को मंचित किया।

प्रभात फिल्म कंपनी ने जब बोलती फिल्मों का निर्माण शुरू किया तब गोविंदराव को तीन वर्ष की अवधि के लिए संगीत निर्देशक के रूप में अनुबंधित किया। इस फिल्म 'अयोध्या चा राजा' (राजा हरिश्चंद्र) में नायक की भूमिका के लिए गोले नामक अभिनेता को चुना गया था। अन्य कलाकारों में दुर्गा खोटे/ बाबूराव पेंढारकर/ निम्बालकर/ मास्टर विनायक आदि थे। रिहर्सल के दौरान गोले के प्रदर्शन से निर्देशक संतुष्ट नहीं हुए। अतः गोविंदराव को नायक की भूमिका हेतु राजी किया गया। काले बालों का विग पहनाकर उन्हें युवा बनाया गया। यह फिल्म सफल रही तथा गोविंदराव लोकप्रिय नायक के रूप में मराठी भाषी क्षेत्रों में प्रतिष्ठित हो गए।

इसके बाद मराठी एवं हिंदी में बनी फिल्म **माया मछिन्दर** में वे नायक बने। फिल्म पूरे भारत में सुपर हिट रही। संगीत निर्देशक के रूप में भी वे काम करते रहे। सिंहनाद तथा सैरन्ध्री का संगीत निर्देशन करने के बाद १९३३ में उन्होंने प्रभात से नाता तोड़ लिया।

देवकी बोस की फिल्म **सीता** में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका की। इसके बाद अभिनय छोड़कर वे पूरा समय संगीत निर्देशन को देने लगे। उषा/ राजमुकुट/ प्रतिभा/ सावकारी पाश/ दुर्गा खोटे की मराठी सौंगडी तथा हिंदी साथी में उन्होंने संगीत निर्देशक के रूप में काम किया। सन् १९३८ के बाद फिल्मों से नाता तोड़कर वे पूरा समय हारमोनियम वादन को देने लगे। हारमोनियम लोकप्रिय बनाने एवं प्रतिष्ठित वाद्य के रूप में प्रसिद्ध करने में उन्होंने उल्लेखनीय भूमिका अदा की है। सन् १९५५ में उनका निधन हुआ।

● **शशिकांत किणीकर**

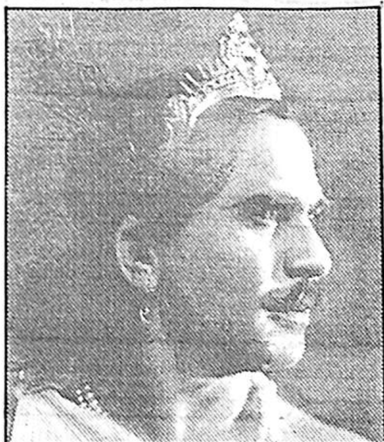
'गरीब', संगीत निर्देशक अनिल विश्वास), 'मुहब्बत की दुनिया है सबसे निराली, तसव्वुर में सब कुछ है पहलू है खाली,' 'पहली मुलाकात ही प्यार बन गई, मीठी नजर ही इश्क का इकरार बन गई।' (संगीत निर्देशक सज्जाद हुसैन), ''तेरी याद का दीपक जलता है दिन-रात मेरे वीराने में (फिल्म 'गवैया') जले न क्यों परवाना ('फिल्म अनोखी अदा') आदि उनकी अविस्मरणीय गजलें हैं। सुरेन्द्र की यादगार फिल्मों में 'मनमोहन' 'जीवन साथी', 'जागीरदार,' 'अनमोल घड़ी,' 'औरत,' 'गरीब,' 'जवानी,' 'भर्तृहरि,' 'अनोखी अदा' और 'गवैया' शामिल हैं।

लम्बे चौड़े कद के सुरेन्द्र का जन्म ११ नवम्बर, १९१० को पंजाब के बटाला गाँव में हुआ था। उन्होंने कला में स्नातक और कानून की डिग्री ली थी तथा अपने पूरे नाम सुरेन्द्र नाथ के आगे बी.ए.,एल.एल.बी. लिखा करते थे। सन् १९३६ में 'डेक्कन क्वीन' नामक फिल्म में उन्होंने हीरो की भूमिका की और १९५४ में 'गवैया' में प्रमुख भूमिका निभाने के बाद उन्होंने कुछ फिल्मों में छोटी-मोटी भूमिकाएँ निभाई।

सुरेन्द्र का दुर्भाग्य था कि वे सहगल के समकालीन रहे इसलिए वे उतने सफल गायक नहीं बन पाए। अभिनय की दुनिया में भी वे उतने आगे नहीं आ पाए क्योंकि उन्हीं के जमाने में अशोक कुमार, मोतीलाल जैसे धाकड़ अभिनेता उनसे कहीं आगे उभर कर आ गए। ■

## केशवराव दाते
# समकालीनों से अलग

● शशिकांत किणीकर



*प्रतिभा (१९३७) में केशवराव दाते*

जब हम भारतीय सिनेमा के इतिहास को देखते हैं, तो हमें **केशवराव दाते** की यादगार भूमिकाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। **''अमृत मंथन''** में राजगुरु, ''संत तुलसीदास'' में बटेश्वर, ''शेजारी'' में जिवाबा एवं वी. शांताराम की रंगीन फिल्म ''झनक झनक पायल'' में मंगल महाराज की भूमिकाएँ ऐसी ही चमकीली हैं।

केशवराव त्रिम्बक दाते का जन्म रत्नागिरी में सन् १८८९ को हुआ। १९३३ में फिल्मों में आने से पूर्व वे मराठी रंगमंच के प्रसिद्ध कलाकार हो गए थे। एक लंबे अरसे तक अनेक नाटकों में पुरुष और नारी पात्रों का अभिनय कर उन्होंने नाम और प्रसिद्धि अर्जित की। उनके पास ऐसी लगन और विश्वास था, जो उन्हें अपने अन्य समकालीन कलाकारों से अलग करता है।

फिल्मों में उनकी शुरूआत बाबूराव पेन्टर द्वारा निर्देशित एक मूक फिल्म **''वत्सला हरण''** में नारी पात्र की भूमिका से हुई। उनके साथ वी. शांताराम ने भी इसी फिल्म से अपना फिल्मी जीवन आरंभ किया। बाद में उन्होंने केशवराव दाते को अपनी फिल्मों में अभिनय का मौका दिया।

''अमृत मंथन'' (१९३४) में केशवराव दाते की राजगुरु की भूमिका उनके धार्मिक और अभिनय प्रिय होने के कारण यादगार हो गई। बाद में उन्होंने **''फिल्म सावकारी पाश''** (१९३६) में डाकू की भूमिका की व हिन्दी मराठी द्विभाषी फिल्म ''प्रतिभा'' (१९३७) में हीरो बने। ये दोनों फिल्में कला महर्षि बाबूराव पेन्टर द्वारा निर्देशित थीं। प्रभात फिल्म कंपनी ने उन्हें मराठी फिल्म ''कुंकू' एवं इसी फिल्म का हिन्दी रूपांतर ''दुनिया न माने'' (१९३७) में वृद्ध अनुभवी वकील काका साहेब की भूमिका दी। इन फिल्मों का निर्देशन वी. शांताराम ने किया था। फिल्म में उनका चुनाव युक्तिसंगत साबित हुआ और उनकी भूमिका को काफी सराहा गया। इसी के समान उन्होंने फिल्म ''संत तुलसीदास'' (१९३९) में भी कर्मठ बटेश्वर की अभूतपूर्व भूमिका निभाई। उनकी फिल्म **''उमाजी नाईक''** (१९३८) में देशभक्त की भूमिका भी काफी सराही गई। ''शेजारी'' (१९४२) में जिवाबा की उनकी भूमिका बहुत अधिक भावपूर्ण थी।

शांताराम के साथ उन्होंने प्रभात फिल्म कंपनी छोड़ दी और राजकमल कला मंदिर में कार्य आरंभ किया। जहाँ उन्होंने **''भक्तिचा माला''** (मराठी) और माली (हिन्दी) फिल्मों का सन् १९४४ में निर्देशन किया। उन्होंने राजकमल में स्टॉफ कलाकार के रूप में छोटी-बड़ी कई भूमिकाओं को निभाया। इसी दौरान उन्होंने मराठी फिल्म **''कुंकावचा धणी''** एवं **शारदा** में सन् १९५१ में अभिनय किया। उन्होंने 'राजकमल कला मंदिर' की फिल्मों में कार्य किया। अधिकतर भूमिकाएँ चरित्र अभिनेताओं की थीं। उनकी आखिरी फिल्म **लड़की सह्याद्रि की** (१९६६) थी। इसके बाद ७७ वर्ष की वृद्धावस्था में उनका देहांत हो गया।

● **प्रस्तुति : शशि गर्ग**

## गोविंदराव टेम्बे
# पचास की उम्र में नायक



*मराठी की पहली सवाक फिल्म अयोध्या चा राजा में दुर्गा खोटे और गोविंदराव टेम्बे*

With best compliments

from

M/s. Gluco Halite Pharmaceuticals,

C/o. Chaurasia Nursing Home,

Jail Road, Rewa (M.P.)

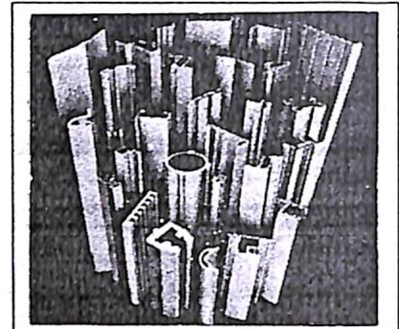
We manufacture quality drugs.:-

- Inj Dextrose 5%
- Inj Dextrose 10%
- Inj Sodium Chloride 0.9% & Dextrose 5%
- Inj Sodium Chloride 0.9%
- Soln A.C.D. A/B
- Inj Mannitol B.P. 10 % & 20%
- Inj Ringer Lactate
- Inj Amoegyl 100 mls (Metronidazol)
- Inj Glucolyte M
- Inj Glucolyte P
- Inj Glucolyte G
- Inj Glucolyte E
- Amoegyl - D

## REAP ON ALUMINIUM

A Sophisticated Extrusion Project of

3,000 MT Capacity



**ALUMINIUM SECTIONS**

For Multiple Applications in

Engineering, Housing, Transport, Hardware etc.

**PATNI ENGINEERING LIMITED**

Regd.Office : 19, M.T.Cloth Market, INDORE-452 002 (M.P.)

Factory : Plot 410, Sector 3, Indl. Area,

Pithampur Dist. Dhar (M.P.)

[ A UNIT OF PATNI GROUP OF COMPANIES ]

4 R- ADVTG.



## वह क्षण...
## आत्मविश्वास के परीक्षण का क्षण...
## 'गोल्डन गन' से उम्मीद का क्षण

जिंदगी का एक निर्णायक क्षण। सफलता और विफलता के बीच का क्षण। इसी क्षण में तो है, सब कुछ, पाया तो काफी कुछ, वरना सभी बेकार। ऐसे में एकाग्र होकर, स्थिति का अंदाज लेते हैं आप। मन में एक तनाव, उत्तेजनापूर्ण वातावरण तब मानो अचानक सभी रुक सा जाता है। धीमे से जादू का असर आप पर होने लगता है। वह शीतल नर्म और आरामदेह स्पर्श। भीतर से एक जबरदस्त आत्मविश्वास का एहसास। शुद्ध और उच्चकोटि कॉटन से बुने वस्त्र, मजबूत और टिकाऊ सिलाई का कमाल। दूसरे ही क्षण, एक उत्साहभरी लहर। और फिर 'वाह! वा!!' का शोर मन ही मन 'गोल्डन गन' को धन्यवाद देते हैं आप जो है आपके आत्मविश्वास का साथ।

Kavitha

गोल्डनगन



अन्डरविअर • बनियान

Marketed by : SANTANI GROUP Nagpur, Indore, Bombay, Delhi.

आत्मविश्वास का प्रतीक

जयराज

# कभी नहीं हारे

**स्वर कोकिला सरोजिनी नायडू के भतीजे जयराज ने साठ से अधिक साल और २०० से अधिक फिल्मों में अभिनय किया है। ऐतिहासिक चरित्रों को उन्होंने परदे पर बखूबी उतारा है।**



*फिल्म आल्हा उदल में जयराज और दरबारी*

**हैदराबाद** के प्रतिष्ठित एवं समृद्ध परिवार में जन्मे **जयराज** ने फिल्मी दुनिया में ६० वर्ष शान के साथ पूरे किए हैं। अपनी स्नातक शिक्षा पूरी कर जब वे अपने हाथों अपना भविष्य बनाने का इरादा लेकर बंबई आए तब उनका वास्ता संघर्षों तथा आपदाओं से पड़ा। सुगठित, ताकतवर काया तथा ठोस आत्मविश्वास ने उन्हें हर मुश्किल से जूझने में मदद की। उनकी पहली फिल्म थी मराठी साहित्यकार मामा वरेरकर द्वारा निर्मित स्पार्कलिंग यूथ। इस फिल्म में वे माधव काले के साथ सहनायक बने थे। नायक द्वारा किए जाने वाले सारे साहसिक स्टंट उन्हीं से करवाए गए थे। इसके बाद अगले वर्ष यानी १९३० में वे **रसीली रानी** नामक फिल्म के नायक बने। इस फिल्म की नायिका उस ज़माने की लोकप्रिय अभिनेत्री **माधुरी** थीं। यह फिल्म काफी सफल रही तथा जयराज को धड़ाधड़ फिल्में मिलने लगीं। मूक फिल्मों के जमाने में जेबुन्निसा के साथ उनकी जोड़ी काफी लोकप्रिय हुई थी।

बोलती फिल्मों का जमाना आने पर जयराज को शुरूआत में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा क्योंकि उन्हें गाना नहीं आता था। उन्होंने हिम्मत नहीं हारी तथा कंठ संगीत सीखने लगे। उनके संगीत गुरु बी.आर. देवधर ने अथक प्रयास कर भारत-जर्मन सहयोग से निर्मित हो रही फिल्म शिकारी में उन्हें प्रमुख भूमिका दिलवा दी। यह फिल्म सफल रही तथा जयराज को पतित पावन (अहिल्या उद्धार) में काम मिल गया। इसके बाद तो जयराज भारतीय फिल्मी दुनिया के दमकते सितारे बन गए। जयराज ने अपने युग के सभी प्रमुख निर्देशकों के साथ काम किया तथा सभी प्रमुख नायिकाओं के साथ वे नायक बने।

बॉम्बे टॉकीज द्वारा निर्मित एवं १९४५ में प्रदर्शित फिल्म 'प्रतिमा' का निर्देशन भी उन्होंने किया। इस फिल्म के नायक दिलीप कुमार तथा नायिका स्वर्णलता थीं। जयराज ने स्वयं भी १९५१ में 'सागर' नामक फिल्म का निर्माण किया। इस फिल्म की नायिका नर्गिस थीं तथा नायक वे स्वयं थे। रोमांटिक फिल्मों के नायक तो रहे ही, साथ ही उन्होंने कई फिल्मों में ऐतिहासिक महापुरुषों की भूमिका की। पृथ्वीराज चौहान/ अमरसिंह राठौर/ हैदर अली/ दुर्गादास/ टीपू सुल्तान/ चंद्रशेखर आजाद आदि ऐसी ही फिल्में थीं। एक सफल पिता की भूमिका यथार्थ जीवन में करते हुए जयराज ने २०० से अधिक फिल्मों में काम किया है। २८ सितंबर १९०९ को जन्मे सरोजिनी नायडू के भतीजे जयराज को उनकी सेवाओं के सम्मान स्वरूप भारत सरकार ने दादा फालके अवार्ड १९८० में प्रदान किया है।

● **पी.आर. जोशी**

■ **प्रमुख फिल्में :** □ ट्रम्प ऑफ लव (पहली और मूक फिल्म) □ भाभी □ राइफल गर्ल □ खिलौने □ स्वामी □ नई दुनिया □ नई कहानी □ शाहजहाँ □ पन्ना □ प्रेम संगीत □ हमारी बात □ राजपुतानी □ राजमुकुट □ पृथ्वीराज चौहान □ अमरसिंह राठौड़। ■

गायक नायक : पंकज मलिक

# चले पवन की चाल

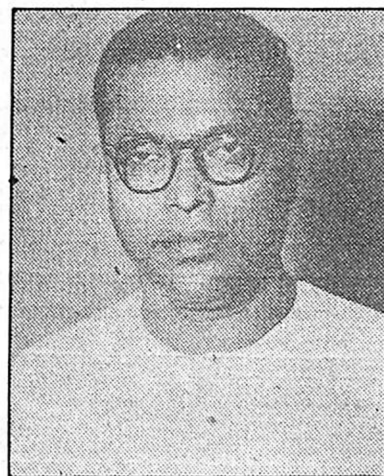
● **शम्भुनाथ मिश्र**

**पं**कज मलिक ऐसे गायक-अभिनेता- संगीत निर्देशक थे, जिन्होंने 'छुपो ना छुपो ना ओ प्यारी सजनिया' (माई सिस्टर) और 'दो नैना मतवारे तिहारे' जैसे लोकप्रिय गीत स्वयं गाने के बावजूद ढेर सारे हिट गीत अपने संगीत-निर्देशन में कुन्दन लाल सहगल से गवाए। न्यू थिएटर्स की अनेक फिल्मों का संगीत उन्होंने दिया। न्यू थिएटर्स की जिन फिल्मों का संगीत विशेष रूप से सराहा गया उनमें 'देवदास', 'चंडीदास', 'विद्यापति' के साथ ही पंकज मलिक की 'कपाल कुंडला' का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा।

फिल्में जब मूक हुआ करती थीं, तो रूपरंग और व्यक्तित्व महत्वपूर्ण हुआ करता था। लेकिन, सवाक युग में फिल्म संगीत ने जल्दी ही अपना विशिष्ट स्वरूप विकसित कर लिया था। जन साधारण फिल्मी गीत सहृदयता से अपनाने लगे थे। उस दौर में कुंदनलाल सहगल, पंकज मलिक, के.सी.डे, सुरेन्द्र और पहाड़ी सान्याल जैसे कलाकारों की माँग उनकी आवाज के लिए बढ़ी और उनके गाए गीत घर-घर गुनगुनाए जाने लगे।

उसी दौर में कलकत्ता के न्यू थिएटर्स ने ऐसे स्वर साधकों को अपनाया जिन्होंने फिल्म संगीत को अपनी अलग पहचान दी। इन संगीतकारों में रायचन्द्र बोराल, तिमिर बरन और के.सी.डे के साथ ही पंकज मलिक ने ऐसे सुगम संगीत की रचना की, जो शास्त्रीय संगीत की क्लिष्टता से मुक्त था और इतना सुगम एवं रसपूर्ण था जिसे दर्शकों ने सहज ही अपना लिया।

पंकज मलिक गृहस्थ आश्रम में रहने के बावजूद, संन्यासी की तरह जीवन बिताते थे। एक बार स्टूडियो में वे कोई धुन तैयार कर



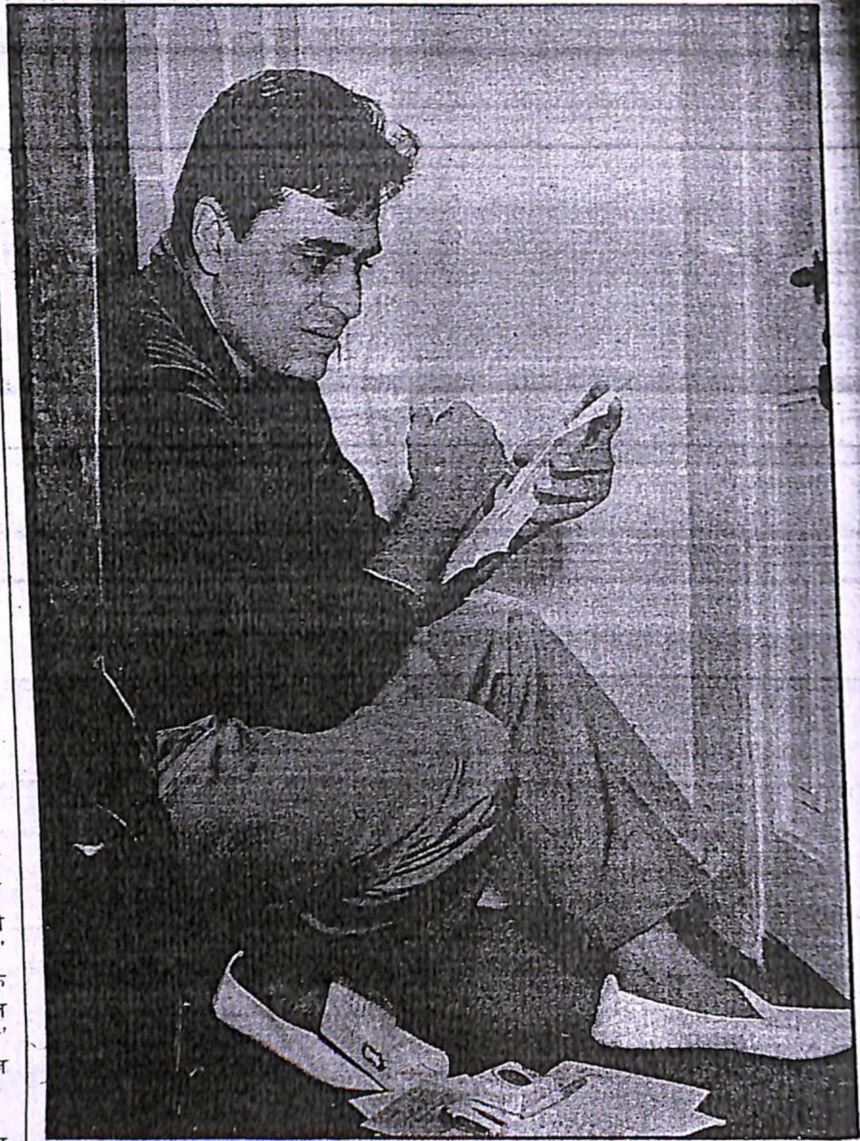
रहे थे, तभी कालेज के कुछ छात्र आए और उनसे जलसे में गाने का आग्रह किया। वे तुरंत तैयार हो गए। इसी बीच वहाँ उपस्थित के.सी. डे ने हस्तक्षेप करते हुए छात्रों से गायन के बदले उचित पारिश्रमिक देने पर जोर दिया। इस घटना से पंकज मलिक ने थोड़ी-बहुत दुनियादारी तो सीखी मगर अपने स्वर को कभी सोने की तराजू पर उन्होंने तौलने नहीं दिया।

, रवीन्द्र संगीत को मूर्त रूप देने में उन्होंने शास्त्रीय संगीत और लोक धुनों को पाश्चात्य संगीत से मिलाकर उसे एक बहुआयामी संगीत-पद्धति में बदल दिया। उनके संगीत-सफर की यह महान उपलब्धि मानी जाएगी कि रवीन्द्रनाथ टैगोर अपनी कहानी पर आधारित फिल्मों में ही अपने गीत दिया करते थे। मगर उन्होंने पंकज मलिक को ऐसी फिल्मों में भी अपने गीतों का उपयोग करने की अनुमति दी जिनकी कहानी उनकी नहीं थी। इन्हीं फिल्मों में, १९३७ में प्रमथेश बरुआ के निर्देशन में बनी फिल्म थी **'मुक्ति'** जिसका संगीत पंकज मलिक ने दिया था। इसी फिल्म से काननबाला कानन देवी बनीं और उन्होंने पहली बार रवीन्द्र संगीत (आज सबार रंगे मेशारे हषे) गाया।

काननदेवी के जीवन में अनेक नामी-गिरामी संगीतकार आए थे। मगर, उनका कहना था, "पंकज मलिक अत्यंत अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। गीतों को स्वरबद्ध करते समय शब्द और उनके शुद्ध उच्चारण की ओर वे विशेष ध्यान देते थे। साथ ही, गीत की भावना को भी बहाल रखने की सख्त हिदायत देते थे।" पंकज मलिक ओजस्वी और गंभीर आवाज के धनी थे। 'धरती माता' का शीर्षक गीत 'दुनिया रंग रंगीली बाबा दुनिया रंग रंगीली' सहगल और उमादेवी के साथ ही पंकज मलिक ने भी गाया था।

सन् १९०४ में कलकत्ता में जन्मे पंकज मलिक ने दुर्गादास बनर्जी से संगीत की शिक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने संगीत पर चार पुस्तकें भी लिखीं। चौहत्तर वर्ष की उम्र में १९ फरवरी १९७८ को उनका निधन हुआ। उन्होंने फिल्म 'डॉक्टर' में अभिनय किया था। कलकत्ता में १९२६ में आकाशवाणी का केन्द्र खुलने से लेकर १९७५ तक वे रेडियो पर हर रविवार की सुबह संगीत के पाठ प्रसारित करते रहे। महालया के दिन हर साल रेडियो से प्रसारित होने वाले लोकप्रिय कार्यक्रम 'महिषासुर मर्दिनी' के संगीत-निर्देशक भी पंकज मलिक ही थे। 'पद्मश्री' के अलावा उन्हें दादा साहब फालके पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था।

उनके प्रसिद्ध गीतों में 'चले पवन की चाल', 'आई बहार आई' (डॉक्टर), 'ये कौन आज आया सबेरे सबेरे' (नर्तकी), 'कौन देश है जाना बाबुल' ( मुक्ति) 'ये रातें, ये मौसम ये हँसना हँसाना, तेरे मंदिर का हूँ दीपक , "मैंने आज पिया" शामिल हैं। ■



# जुबली कुमार राजेन्द्रकुमार

एक जमाने में जुबली कुमार के नाम से मशहूर रहे **राजेन्द्र कुमार** अब फिल्म निर्माता हैं। अपनी नवीनतम फिल्म **फूल** उन्होंने अपने बेटे **कुमार गौरव** की नायक के रूप में वापसी की नीयत से बनाई है। इस बातचीत में राजेन्द्र कुमार अपने कैरियर के बारे में बतला रहे हैं।

■ **आपने अपने फिल्मी जीवन की शुरूआत कैसे की थी?**

□ मेरी सफल फिल्मों का सिलसिला **सूरज** के साथ शुरू हुआ और **मेरे मेहबूब** मेरी सबसे सफल फिल्म रही। नायक के रूप में मैंने कोई ५० फिल्मों में काम किया, जिनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय फिल्में हैं धूल का फूल/ अमन/ धरती/ आई मिलन की बेला/ अंजाना/ गोरा और काला/ संगम/ मेरा नाम जोकर। इन फिल्मों के द्वारा मुझे जो सराहना मिली उसका पता मुझे मेरे उन प्रशंसकों के लाखों पत्रों से चला जिन्हें इन फिल्मों में मेरा काम पसंद आया। बाद में मैंने अपने कारोबार में ध्यान देना शुरू कर दिया और फिल्मों में काम करना कम होता गया। फिल्म **लव स्टोरी** में भी मैंने एक प्रमुख भूमिका की थी।

■ **निर्माता बनने का फैसला आपने क्यों किया?**

□ जिन दिनों मैं अपने कारोबार में व्यस्त था, मिर्जा बंधु मेरे पास अपनी एक कहानी लेकर आए। वह फिल्म खूब चली और उससे प्रोत्साहित हो मैंने लवर्स/ नाम/ जुर्रत और अब फूल का निर्माण किया है जिसमें कुमार गौरव के साथ माधुरी दीक्षित हैं। यह ऐसे दो किशोरों की प्रेम कहानी है जो विपरी

**दरअसल, राजेन्द्र कुमार किस्मत के धनी हैं। दिलीप कुमार की नकल करते हुए नामी तारिकाओं के आँचल की छाँव में उनकी फिल्मों ने जुबलियाँ मनाई हैं। पूरा प्रकरण 'लड़े सिपाही और नाम सेनापति का' जैसा है।**

हालातों में पड जाते हैं तथा उनके माता-पिता भी उनके प्यार के विरुद्ध हैं। सुनील दत्त तथा मैंने खुद भी सिंगीतम श्रीनिवासराव द्वारा निर्देशित इस फिल्म में अभिनय किया है।

राजेन्द्र कुमार को लेकर किसी मौलिक अभिनेता की इमेज दिमाग में नहीं उभरती। दिलीप कुमार के अभिनय की उन्होंने इतनी नकल मारी कि उन्हें शेडो ऑफ दिलीप कुमार भी कहा गया। २० जुलाई १९२९ को जन्मे राजेन्द्र कुमार की पहली फिल्म जोगन थी। दिलीप-नरगिस की लाजवाब यह फिल्म राजेन्द्र कुमार को उभार नहीं पाई। देवेन्द्र गोयल की फिल्म वचन ने उन्हें पहचान दी।

दरअसल, राजेन्द्र कुमार किस्मत के धनी रहे। उन्हें मीना कुमारी, माला सिन्हा, बैजयंती माला, साधना, आशा पारिख, वहीदा रहमान तथा नरगिस जैसी तारिकाएँ मिलती रहीं, जिनके आँचल में मुँह छिपाकर और लंबे-लंबे हाथ हवा में उछालकर गीत गाते रहे। गीत-संगीत के स्वर्णिम दौर में राजेन्द्र कुमार जैसा 'पिलपिला अभिनेता' जुबलियाँ मनाकर अपनी सफलता के नगाड़े भले ही बजाता रहा हो, उनका अभिनय ऐसा नहीं रहा कि बाद की पीढ़ी उनकी नकल तक कर सके। राजेन्द्र कुमार के खाते में सिर्फ **संगम** एकमात्र फिल्म है, जिसमें वे अच्छे लगते हैं। वैसे संगम, राज कपूर-वैजयंती की फिल्म थी। ■

■ **प्रमुख फिल्में :** ☐ जोगन ☐ मदर इंडिया ☐ घर-संसार ☐ दिल एक मंदिर ☐ मेरे मेहबूब ☐ आई मिलन की बेला ☐ चिराग कहाँ रोशनी कहाँ ☐ संतान ☐ तलाक ☐ धूल का फूल ☐ संगम ☐ मेरा नाम जोकर। ☐ ससुराल ☐ आस का पंछी ☐ कानून ☐ घराना ☐ गहरा दाग

---

रघुवीर यादव

# भैंस चराने वाला नायक

**जबलपुर के रघुवीर यादव ने जीरो से हीरो बनने के लिए बहुत पापड़ बेले हैं। भैंस चराई। बैलगाड़ी चलाई। पान-बीड़ी की दुकान खोली, तो तमाम ग्राहक इतना माल उधार ले गए कि दुकान बंद हो गई। भोपाल में 'ताकत की दवा' और 'नामर्दी का इलाज' करने वाले डॉक्टर के यहाँ नौकरी की। मेहनत रंग लाई—मैसी साब, मुंगेरीलाल या मुल्ला नसरुद्दीन जैसे किरदारों का नाम है—रघुवीर यादव!**

जबलपुर के **रघुवीर यादव** को सन् १९८६ तक कोई नहीं जानता था। अचानक जब प्रदीप किशन की फिल्म **'मैसी साब'** की शीर्षक भूमिका के लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का रजत- मयूर पुरस्कार मिला तो खुद उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि जो कुछ हो रहा है वह वाकई हो रहा है। पंकज पाराशर की फिल्म **'आसमान से गिरा'** में एक बार फिर पूरी फिल्म को अपने कंधों पर संभालने वाले रघुवीर यादव ने अपनी प्रतिभा का भरपूर प्रदर्शन **मुंगेरीलाल के हसीन सपने** तथा अमाल अल्लाना के **'मौला नसरुद्दीन'** में भी किया है।

मंच और फिल्मों में सफलता का स्वाद चखने के पूर्व रघुवीर को भी वे सभी पापड़ बेलने पड़े तथा फाका मस्ती, भूख तथा अपमान के उन सभी दौरों से गुजरना पड़ा जिनसे अकसर इस लाइन में बड़े से बड़े कलाकारों को भी गुजरना पड़ा है। रघुवीर एक किसान के बेटे हैं और उनके पिता के खेतों में बैलगाड़ी हाँकते और हिंदी फिल्मों के गाने गुनगुनाना ही उन्हें सबसे ज्यादा पसंद था। लेकिन पिता ने उन्हें जब विज्ञान विषय लेकर पढ़ाई जारी रखने को कहा तो बोर्ड की परीक्षा तक ही किसी तरह गिरते पड़ते पहुँच गए। लेकिन परीक्षा में बैठने की हिम्मत न जुटा सके। घर से भागे और गायक कलाकारों की घुमक्कड़ कंपनी भोपाल थिएटर में शामिल हो झाँसी, ललितपुर के अलावा



टीकमगढ़, छतरपुर सहित सारे मध्यप्रदेश का दौरा किया। उस कंपनी की परंपरा यह थी कि जिसके पास भी पाँच सौ रु. एकत्र हो जाते थे वह अपनी अलग 'कंपनी' बना लेता था। रघुवीर ने मगर ऐसा नहीं किया। वे जबलपुर लौटे और एक अखबार में छोटी-मोटी नौकरी कर ली और ऊपर की कमाई के लिए पान-बीड़ी की दुकान खोल ली। दुकान उधार वालों के कारण चली नहीं और झूठे फर्जी विज्ञापन एकत्र कर अखबार में छपवा देने के कारण वहाँ से भागना पड़ा। कुछ रोज भोपाल में ताकत की दवा बेचने तथा नामर्दी का इलाज करने वाले एक डॉक्टर के साथ काम करने के बाद उन्होंने सोच लिया कि उनकी असली जगह थिएटर ही है। इस बीच वो पारसी थिएटर कंपनी में दाखिल हुए और फिर नई-नई जगहों पर नए दर्शकों के बीच तरह-तरह की भूमिकाएँ करते तथा गीत सुनाते। कहीं किसी ने बतलाया कि नेशनल स्कूल ऑव ड्रामा (एन.एस.डी.) शौकिया कलाकारों को छात्रवृत्ति देता है। कई दिन भूखे-प्यासे रह कर रवीन्द्र भवन के साइकल स्टैंड पर रातें गुजार कर उन्होंने 'बांड' की व्यवस्था की और यहीं से उनकी तकदीर ने चमकना शुरू किया।

एन.एस.डी. में रघुवीर यादव ने ढेरों नाटकों में प्रमुख भूमिकाएँ अदा कीं और लोगों को उनकी स्वयं-स्फूर्त अभिनय क्षमता का पता चला। चार्ली चैपलिन को रघुवीर अपना 'हीरो' मानते हैं। संगीत अब भी उनका पहला प्यार है तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का राष्ट्रीय पुरस्कार उन्हें अब एक बोझ लगता है, क्योंकि उनके दर्शकों की उम्मीदें अब बढ़ गई हैं। 'मैसी साब' के भोले भाले अपनी टूटी-फूटी अँगरेजी तथा ईसाई होने के कारण खुद को भी 'साहब' समझने वाले पात्र को जिस तरह उन्होंने सजीव बनाया उसे देख कर लगा था कि रघुवीर के अलावा इस पात्र को कोई अन्य अभिनेता नहीं जी सकता था। लेकिन मुंगेरी, मुल्ला नसरुद्दीन तथा आसमान से गिरा के बाद लगता है, रघुवीर यादव की सृजनशीलता की विविधता हमें भविष्य में भी कई सुखद आश्चर्यों का सामना करवाएगी।

● **अजय वर्मा**

# अदालत में नीलाम हुए मास्टर विट्ठल

**आप** शीर्षक पढ़कर चौंक गए होंगे- यह **मास्टर विट्ठल** कहाँ से टपक पड़ा? हो सकता है आप इसके नाम से भी परिचित न हों। यह दुर्भाग्य है कि मास्टर विट्ठल के इतिहास पर परदा पड़ गया है वरना ऐतिहासिक तथ्य बार-बार इसी बात की पुष्टि करते हैं कि मास्टर विट्ठल जैसा लोकप्रिय अभिनेता हमारी फिल्म इंडस्ट्री में अब तक कोई नहीं हुआ।

उस जैसा प्रतिभाशाली, सर्वगुण संपन्न और अपनी अभिनय कला से दर्शकों के मन को सम्मोहित करने वाला हीरो अब तक कोई नहीं हुआ। वह इमोशनल एवं रोमांटिक सीन करने में जितना प्रवीण था, उतना ही वह प्रवीण था धुआँधार फाइटिंग में। वह घुड़सवारी में जितना तेज था, उतना ही फुर्तीला था तलवारबाजी में। वह रूमानी हीरो था और साथ में रोमांचकारी भी। वह जितना कोमल था उतना ही शरीर से भरपूर और मांसल भी। वह अमिताभ बच्चन भी था और राजेश खन्ना भी। वह दिलीप कुमार भी था और राज कुमार भी। वह देव आनंद भी था और शत्रुघ्न सिन्हा भी। और इसी कारण वह सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि भरी अदालत में उसकी नीलामी की बोली लगी।

मास्टर विट्ठल भारत की पहली सवाक फिल्म **आलम आरा** का हीरो था। पर इसके पहले ही अनेक मूक फिल्मों में काम करके उसने ऐसी लोकप्रियता हासिल कर ली थी कि फिल्में बनाने वाली कंपनियों में उसके लिए बाजी लग गई थी।

यह सन् १९२०-२१ के जमाने की बात है जब महाराष्ट्र फिल्म कंपनी का बोलवाला था। उस फिल्म कंपनी के बैनर में बनने वाली फिल्मों में काम करने के लिए लोग नाटकों से धड़ाधड़ उसकी तरफ खिंचे चले आ रहे थे। उन लोगों में मास्टर विट्ठल भी एक था। वह स्टेज पर लड़की का पार्ट करते-करते विख्यात हो गया था। उसे उम्मीद थी कि आखिर एक दिन वह भी आएगा जब वह खुद मेकअप करके कैमरा के सामने खड़ा होकर आर्टिस्ट बनेगा और अंत में हीरो बनकर नाम कमाएगा। उसकी इच्छा पूरी हुई और नेताजी पालकर फिल्म में मेकअप करके छोटा सा कैरेक्टर रोल किया। फिर कल्याण खजाना में उसने सोलो डान्स किया। उसके बाद वह शारदा फिल्म कंपनी में काम करने लगा। इस कंपनी का निर्माण सन् १९२४ में नानूभाई देसाई ने भोगीलाल देवकी के साथ मिलकर किया था, जिसकी पहली फिल्म थी बाजीराव मस्तानी। इस फिल्म के राइटर डायरेक्टर थे भालजी पेंढारकर। फिल्म के निर्माण के दौरान ही कंपनी के मालिकों से भालजी का झगड़ा हो गया। भालजी अलग हो गए तो मास्टर विट्ठल का प्रभाव बढ़ गया। उसे उस कंपनी की दूसरी फिल्म 'रतन मंजरी' का हीरो बना दिया गया। इस कंपनी में हीरोइन जेबुन्निसा के साथ जोड़ी बनाकर उसने कई फिल्मों में काम करके नाम कमाया। वह लगातार तीन साल तक धड़ाधड़ काम करता रहा। उसकी तनख्वाह पचास रुपए से बढ़कर २०० रु. तक हो गई। उसकी लोकप्रियता का लाभ उठाने के लिए इम्पीरियल फिल्म कंपनी ने उसे ज्यादा पैसे का लोभ देकर उससे एग्रीमेंट कर लिया। इस कंपनी की फिल्म राम रहीम का शानदार मुहूर्त उसी पर हुआ। जब इस बात की भनक शारदा फिल्म कंपनी के मालिक नानूभाई देसाई के कानों में पड़ी तो उन्हें लगा, जैसे कोई उस कंपनी के खजाने को लूटकर ले जा रहा है। इस पर नानूभाई भागकर बंबई आए और मास्टर विट्ठल को बातों में लगाकर मोटर में बैठाकर पूना ले आए और उसे एक कमरे में बंद कर ताला लगा दिया। १५ दिनों तक मास्टर विट्ठल कमरे में बंद रहा। उसके लिए अच्छे खाने-पीने का पूरा बंदोबस्त था पर कमरे से बाहर निकलने की इजाजत नहीं थी। नानूभाई रात-दिन उसे समझाते रहे पर वह विवश था, क्योंकि उसने इम्पीरियल कंपनी वालों से एग्रीमेंट जो कर लिया था। जब वह एग्रीमेंट के अनुसार समय पर इम्पीरियल कंपनी की फिल्म में काम करने के लिए नहीं पहुँचा तो उस कंपनी ने उस पर तथा शारदा कंपनी पर अदालत में केस दायर कर दिया। इस तरह दो बड़ी कंपनियों में होड़ लग गई।

**● मास्टर विट्ठल जितने रूमानी नायक थे, उतने रोमांचकारी भी। घुड़सवारी और तलवारबाजी में वे प्रवीण थे। वे अमिताभ बच्चन भी थे और राजेश खन्ना भी। वे देव आनंद भी थे और शत्रुघ्न सिन्हा भी।**

**● दो कंपनियों की लड़ाई में जब भरी अदालत में उनकी नीलामी हुई, तो मोहम्मद अली जिन्ना ने उनकी पैरवी की थी।**

शारदा फिल्म कंपनी ने उस समय के विख्यात **वकील मुहम्मद अली जिन्ना** को अपनी ओर से खड़ा किया। इस पर इम्पीरियल कंपनी ने जिन्ना के मुकाबले में उन्हीं की तरह विख्यात वकील **मिस्टर कांगा** को खड़ा किया। अब आगे के दिलचस्प तमाशे का हाल उसी के मुख से सुनिए जो उसने अपनी मृत्यु से पहले एक इंटरव्यू में बताया था- 'अदालत में जिन्ना और कांगा ने बड़ी तेज जिरह की। उनकी जिरह खत्म होने पर जज ने अपना फैसला सुनाने के पहले मुझसे पूछा- किसके साथ काम करना चाहते हो? मैंने फौरन जवाब दिया- जो ज्यादा पैसा देगा उसके साथ। बस फिर क्या था। कोर्ट में सबके सामने मेरे नाम की नीलामी बोली शुरू हो गई। इम्पीरियल कंपनी वालों ने मुझ पर बोली लगाई ५०० रु.। तब शारदा



वालों की ओर से मुझ पर बोली लगी ५५० रु.। इस पर इम्पीरियल कंपनी ने उस बोली की रकम बढ़ाकर ६५० रु. की बोली लगाई। शारदा फिल्म कंपनी की अगली बोली लगी ७०० रु.। लेकिन इम्पीरियल कंपनी हर कीमत पर मुझे अपने पास रखना चाहती थी। उस कंपनी के मालिकों ने नीलामी की बोली बढ़ाकर ७५० रु. तक कर दी। इसके आगे शारदा खामोश हो गई और मुझे इम्पीरियल कंपनी के पास ही रहना पड़ा। इस नीलामी बोली में मुझे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि मेरी तनख्वाह अपने आप ५०० रु. से बढ़कर ७५० रु. हो गई।'

**● बद्रीप्रसाद जोशी**

मोहनलाल

# लाडले दर्शकों के



**के**रल का फिल्म उद्योग गत एक दशक से दो नायकों के इर्द-गिर्द घूम रहा है। **मोहनलाल** और मैमूटी। मोहनलाल ने अपनी पहली फिल्म तीनेत्तिम (१९७८) में एक सीधे-सादे बुद्धू से व्यक्ति की भूमिका की थी लेकिन वह फिल्म रिलीज नही हो पाई। उनकी फिल्म 'मानजिल कीरिन्जा पूकल' (१९८२) में उन्होंने खलनायक की भूमिका की और चूँकि यह फिल्म खूब सफल रही, आगे की काफी फिल्मों में उन्हें स्वाभाविक ही इसी तरह की भूमिकाएँ मिलती रहीं। मोहनलाल ने मलयालम फिल्मों के आम खलनायकों की नाटकीय परंपरा से हटकर अपनी भूमिकाओं को नया आयाम दिया। खलनायक के रूप में ही मोहनलाल धीरे-धीरे नायकों पर भी भारी पड़ने लगे और उनके संवादों पर तालियाँ नायक के संवादों से भी ज्यादा जोर से पीटी जाने लगीं।

मोहनलाल ने भले आदमी की पहली भूमिका नौकरी पर खाड़ी के देशों को जाने वाले लोगों की समस्या पर बनी फिल्म 'विजा' में की। हालांकि फिल्म में नायक श्रीनाथ थे। एक जोशीले, हर किसी की मदद करने वाले युवक के रूप में उन्हें खूब पसंद किया गया। उनके दरवाजे निर्माता- निर्देशकों की कतार तो लगने लगी लेकिन अब भी वे प्रतिनायक की ही भूमिकाएँ कर रहे हैं। नायक होते थे उस जमाने के सुपर स्टार मैमूटी। मोहनलाल को बड़ी सफलताएँ मिलनी शुरू हुई. उनके निर्देशक मित्र प्रियदर्शन की उन फिल्मों से जिनमें उन्होंने हास्य भूमिकाएँ की हैं। इन हास्य फिल्मों के जरिए वे पारिवारिक फिल्मों के शौकीनों, खासतौर से महिलाओं में लोकप्रिय हो गए।

मोहनलाल बहुमुखी प्रतिभाशाली अभिनेता हैं। वे डिस्को डांस भी कर लेते हैं तो एक्शन फिल्मों की मार-धाड़ भी उन्हें जँचती है। गंभीर भूमिकाओं में उनकी 'आहत गरूम' पाद मुद्रा, उनकी खुद की फिल्म ओकीपुरथ तथा टी.पी. बालगोपालन् एम.ए. जैसी फिल्में हैं। इनमें से अंतिम के लिए १९८७ में सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का राज्य पुरस्कार भी मिला है। उनकी खुद की फिल्म आर्यन ने उनके उन समीक्षकों को भी निरुत्तर कर दिया जो उन्हें गंभीर अभिनेता मानने को तैयार नहीं थे।

मोहनलाल की मिलनसारिता, विनम्रता तथा अजातशत्रुता का आलम यह है कि उन्होंने अपने ही प्रतिद्वंद्वी मैमूटी तथा निर्देशक आई.वी. शशि तथा अभिनेत्री सीमा के साथ फिल्म निर्माण कंपनी आरंभ की है। वे अपने हर छोटे-बड़े सहकर्मी को अन्ना (भाई) कहकर संबोधित करते हैं। कोई ताज्जुब नहीं कि उनके प्रशंसक उनको पूजते हैं। उनके लिए उपलब्धि का चरम क्षण वह था जब जी. अरविंदन जैसे निर्देशक ने उन्हें अपनी केरल और कलकत्ता की पृष्ठभूमि पर बनी फिल्म वास्तुंहारा में नायक की भूमिका प्रदान की। अपनी निर्माण संस्था 'चियर्ज' के झंडे तले वे कोई दस फिल्मों का निर्माण भी कर चुके हैं।

**(हेप)**

## जाल खम्भाटा

**जाल खम्भाटा** ने सेन्ट जेवियर कॉलेज बंबई से अँगरेजी साहित्य में एम.ए. की उपाधि ली थी। वे कुशाग्र विद्यार्थी तो थे ही, एक कुशल अभिनेता भी थे। शेक्सपीयर के नाटकों में अभिनय करते समय वे जितनी स्पष्ट, धाराप्रवाह एवं शुद्ध अँगरेजी बोलते थे वह अपने आप में विस्मयकारी रूप से कानों को सुखद लगती थी। नवल गाँधी की मूक फिल्म **सेक्रीफाइस** में उन्होंने **सुलोचना** तथा **जुबेदा** के साथ प्रभावशाली अभिनय किया था। अभिनेता के गुण उनमें पैतृक थें। पिता जहाँगीर खम्भाटा भी गुजराती नाटकों के विख्यात निर्माता निर्देशक एवं अभिनेता रहे हैं।

सन् १९३३ में वाडिया मूवीटोन की फिल्म **लाले चमन** में जाल को नायक के रूप में लिया गया। यह सवाक फिल्म समालोचकों एवं दर्शकों द्वारा काफी पसंद की गई। सन् १९३४ की १३ नवंबर को जाल ने वाडिया थिएट्रिकल्स के बैनर में एम्पायर थिएटर में शेक्सपीयर का नाटक हेमलेट प्रस्तुत किया। नायक वे स्वयं थे। जाल के अभिनय को देखकर बंबई हाईकोर्ट के तत्कालीन जज सर हेनरी इरविंग ने खुले शब्दों में कहा कि इतना सशक्त अभिनय उन्होंने ब्रिटेन में भी नहीं देखा था। इसके बाद जाल ने वाडिया मूवीटोन की कई स्टंट फिल्मों में नायक की भूमिका की। बाद में अभिनय का पेशा स्वेच्छा से छोड़कर वे स्कूल मास्टर की नौकरी स्वीकार कर कराची चले गए।

जे.बी.एच. वाडिया ने १९४१ में **राजनर्तकी** नामक फिल्म हिंदी, बंगाली एवं अँगरेजी भाषा में बनाने की योजना तैयार की। फिल्म के अँगरेजी संस्करण की महत्वपूर्ण भूमिका के लिए उन्होंने विशेष रूप से जाल को बुलवाया। वे मित्र का आग्रह स्वीकार कर कराची से बंबई आ गए तथा काम पूरा कर वापस कराची चले गए। इस फिल्म में राज पंडित की भूमिका उन्होंने जिस प्रभावशाली ढंग से की उसकी चर्चा वर्षों तक होती रही।

## डब्ल्यू.एम. खान दे दे खुदा के नाम पे...

*__भारतीय फिल्मों__ की विशिष्टता गीत और संगीत है। प्रथम बोलती फिल्म __आलम आरा__ से लेकर __हम__ तक कर्णप्रिय धुनों की अविस्मरणीय श्रृंखला ने भारतीय फिल्मों को विश्व में विशिष्ट दर्जा दिया है। इस गीत परंपरा की शुरूआत करने वाले नायक-गायक का नाम था __डब्ल्यू. एम. खान।__ मूक फिल्मों के युग से अपने कैरियर की शुरूआत करने वाले खान का ध्वनि परीक्षण आर्देशिर ईरानी ने किया तथा बढ़िया नतीजा आने पर उन्हें फिल्म आलम आरा में पाक फकीर की भूमिका दी गई। फिल्म का पहला गीत उन्हीं की आवाज में फिल्माया गया। इस गाने के बोल थे।*

***दे दे, खुदा के नाम पे प्यारे,***
***ताकत है गर देने की,***
***कुछ चाहे अगर तो माँग ले मुझसे***
***हिम्मत हो गर लेने की।***

*इस पहले गायक अभिनेता का निधन बंबई में सन् १९७४ में हो गया।*



□ राजकुमार के कहने से सहगल ने नहीं गाया मगर राह चलते एक धोबी के बेटे की शादी में शामिल होकर मस्ती से गाते रहे।

□ □ सहगल की उस्ताद एक वेश्या थी। उसकी मौत पर उन्होंने कंधा देकर 'गुरु-ऋण' से मुक्ति पाई थी।

## कुन्दनलाल सहगल

# देवलोक के शापित गंधर्व

● शम्भुनाथ मिश्र

'ऐसा कोई फनकार-ए-मुकम्मिल नहीं आया, नगमों का बरसता हुआ बादल नहीं आया, मौसिकी के माहिर तो बहुत आए हैं लेकिन दुनिया में कोई दूसरा सहगल नहीं आया'-यह बात मशहूर संगीत-निर्देशक **नौशाद** ने कही थी, जबकि सुविख्यात निर्देशक केदार शर्मा का कहना था कि 'सहगल वास्तविक जीवन में भी देवदास ही थे। अपने समय के सुपर स्टार। इस लाजवाब विभूति को कभी रत्ती भर अभिमान नहीं हुआ। उनके अधरों पर गीत और हृदय में दर्द विराजता था। वे ऐसे व्यक्ति थे जिनसे अनायास ही प्यार हो जाता था।'

इतने बड़े स्टार होने के बावजूद अगर, देवकी बोस उन्हें छोटा रोल निभाने को कहते तो वे खुशी से तैयार हो जाते। हाँ, स्वाभिमानी जरूर थे। मूडी भी थे। एक दफा की बात है एक प्रिंस ने उन्हें बुलाया और राजसी रोब में कहा कि तू फलाँ गाना मुझे सुना। बेकार का यह रोब स्वाभिमान पर चोट कर गया और उन्होंने गाने से मना कर दिया, कहा, 'मैं नहीं गाऊँगा।' अब तो सब परेशान कि भला यह भी कोई बात हुई। लोगों ने सहगल साहब को मनाने की बहुत कोशिश की, पर बेकार। वहाँ से लौटते समय सहगल साहब ने देखा कि एक धोबी के घर में हो-हल्ला हो रहा है। लोग मौज-मस्ती में हैं। पता चला कि उस धोबी के लड़के की शादी है। फिर क्या था, बिन बुलाए ही उस शादी में शामिल हो गए और वहाँ खूब जमकर गाया। तो यह है उस कलाकार की महानता।

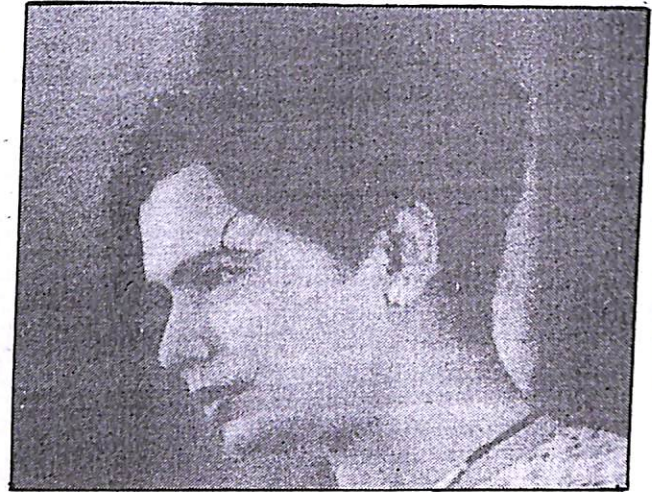
हाँ, सहगल ऐसे ही थे। **कुंदनलाल सहगल** नाम का गायक भले ही इस संसार में अब न मिले मगर उनकी आवाज हमेशा-हमेशा लोगों के दिलों में गूँजती रहेगी। हर साल अठारह जनवरी को सहगल की यादों के फूल मुस्कराते हैं, मगर पैंतालीस वर्ष बीत जाने के बाद भी सहगल के लिए कोई स्मारक क्यों नहीं बन सका, इस सच्चाई का एहसास उनकी आवाज के आशिकों को क्यों नहीं हो पाया, यह आश्चर्य का विषय है।

'अब जी के क्या करेंगे, जब दिल ही टूट गया', ऐ कातिबे तकदीर मुझे इतना बता दे', 'बालम आय बसो मेरे मन में', 'इक बंगला बने न्यारा', 'दुनिया में हूँ दुनिया का तलबगार नहीं हूँ' आदि कितने ही गीत हैं जिनमें यह बेमिसाल आवाज ढली है। यह आवाज बीते वक्त में खंडहरों की गूँज ही नहीं आने वाले वक्त की मीनारों पर भी उसी बुलंदी के साथ कायम रहेगी, जैसी कल थी, वैसी आज है।

अमर गायक सहगल का जन्म ११ अप्रैल १९०१ को जम्मू के पास नवांशहर में हुआ था। बचपन से ही वे अत्यंत भावुक तथा प्रकृति प्रेमी थे। उनके पिता अमरचंद सहगल काश्मीर स्टेट में ज्यूडिशियल अफसर थे। जालंधर में उनका बचपन बीता और वहीं उनकी आरम्भिक शिक्षा भी हुई। लेकिन लिखने-पढ़ने में उनका मन नहीं लगता था। उनके मकान के सामने ही एक वेश्या-गायिका रहती थी। उसके स्वरों से आकृष्ट होकर बालक कुन्दनलाल छज्जे पर खड़े होकर घरवालों से छिपकर उसका गाना सुना करते। सहगल ने इसी गायिका को जीवन-पर्यन्त अपना गुरु माना।

बात उस समय की है जब सहगल प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गए थे और कलकत्ता में रहते थे। बरसात की एक रात व भीगते हुए पैदल घूम रहे थे कि उन्हें वही कर्णप्रिय आवाज सुनाई दी- 'तपिश मोरे मन की कौन बुझाए।' लेकिन, गाने वाली बीच-बीच में खाँसती भी जाती थी। वे ऊपर पहुँचे, देखा वही बचपन वाली वेश्या-गायिका है, लाहौर वाली। उन्होंने अपनी वेश्या-गुरु के पैर छुए और इलाज के लिए दो हजार रुपए उसके चरणों पर रखकर चले आए। जब उसे पता चला कि आगंतुक स्वर-सम्राट सहगल थे तो वह खुशी से रो पड़ी। उसके मरने पर सहगल ने उसके जनाजे को कंधा देकर असीम गुरुभक्ति का परिचय दिया और बार-बार रोए।

एक और घटना उस समय की है जब सहगल फिल्म लाइन में नहीं आए थे और



## मुमताज अली

# नर्तक नायक

**विख्यात हास्य** अभिनेता महमूद तथा दिवंगत नर्तकी मीनू मुमताज के पिता **मुमताज अली** उन अनोखे अभिनेताओं में से थे जो ताल, थाप तथा गले के बल पर फिल्मों को बॉक्स आफिस पर हिट करने का दम रखते थे। मद्रास में जन्में इस महान नर्तक को नवाब अराकोट का संरक्षण प्राप्त था। फिल्म 'झूला' में उन्होंने स्वयं के ही गाए हुऐ गीत- 'मैं तो दिल्ली से दुल्हन लाया रे ये बाबूजी', जो अविस्मरणीय नृत्य नर्तकी शहज़ादी के साथ किया था, वह फिल्मी नृत्यों में ऐतिहासिक माना जाता है।

दक्षिण भारतीय नृत्य शैलियों में गहन प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद वे 'बॉम्बे टॉकीज' के म्युजिक विभाग में शामिल हो गए। **सरस्वती देवी** उन दिनों इस प्रतिष्ठान के संगीत विभाग की प्रमुख थीं। बाद में विख्यात बाँसुरीवादक **पन्नालाल घोष** ने उनका स्थान लिया तथा 'बसंत' फिल्म के संगीत निर्देशक बने। इस फिल्म में मुमताज अली अभिनेता/नर्तक/ गायक/ वादक/ सभी विधाओं एवं रूपों में सक्रिय रहे। उनका अभिनय काफी सराहा गया। नृत्य निर्देशक के रूप में वे फिल्मोद्योग में शीर्षस्थ स्थान पर पहुँच चुके थे। बॉम्बे टॉकीज के समापन के बाद वे फ्रीलांसर के रूप में नृत्य निर्देशन करने लगे। अमिय चक्रवर्ती की फिल्म **सीमा** में एक नृत्य दृश्य में सड़क पर हारमोनियम बजाते हुए नजर आए। इस गीत के बोल थे, 'हमें भी दे दो सहारा कि बेसहारा हैं हम।' इस फिल्म में यह दृश्य प्रभावशाली रहा। अपने बेटे महमूद की फिल्म कुँआरा बाप में उन्होंने एक छोटी सी भूमिका की थी।

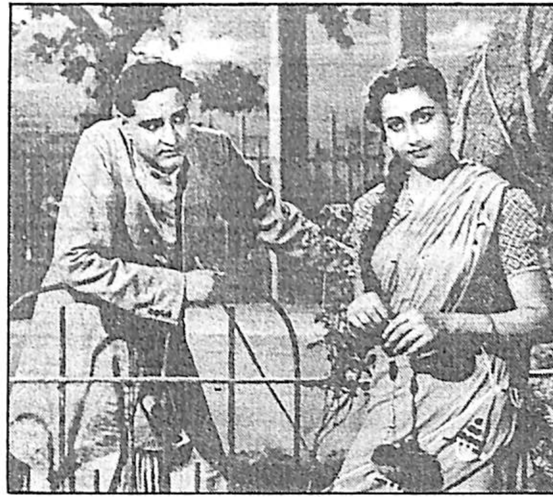
फेरी लगाकर साड़ियाँ बेचा करते थे। वे जितनी साड़ियाँ बेचते, उस हिसाब से उन्हें कमीशन मिलता। तेरह-चौदह साल की एक लड़की रोज उन्हें रोकती और एक खास साड़ी का दाम उनसे पूछती। इसी तरह कई दिन बीत गए। आखिर, एक दिन सहगल ने उससे पूछा,'क्या बात है? रोज तुम एक ही साड़ी की कीमत पूछती हो लेकिन खरीदती कभी नहीं?' यह सुनकर उस लड़की की आँखें भर आईं। उसने कहा,'मुझे यह साड़ी बहुत पसंद है। पर, हम गरीब हैं, पंद्रह रुपए की साड़ी कभी नहीं खरीद सकते।' उस जमाने में पंद्रह रुपए मायने रखते थे। सहगल ने वह साड़ी उस लड़की को थमा दी और व्यापारी को अपनी कमाई में से १५ रुपए भर दिए। वह दिन उनके उस काम का आखिरी दिन था। वे खुद मुसीबतजदा थे उन दिनों मगर उनकी भावना जिंदा थी।

सहगल की पढ़ाई आठवीं कक्षा से अधिक न हो पाई पर हर काम सीख लेने में वे बड़े चतुर थे। बचपन में, रामलीला में, सीता का अभिनय बड़े शौक से किया करते थे। गाने में तो बचपन से ही माहिर थे। उनके बड़े भाई को तपेदिक की बीमारी थी। पिताजी ने उनका मन बहलाने के लिए पैर का बाजा मँगवाया। अन्य बच्चे गाने-बजाने में न पड़ जाएँ इसलिए दरवाजा बंद कर दिया जाता था। लेकिन, सहगल सीढ़ियों पर बैठे दरवाजे पर कान दिए रहते और नई-नई धुनें निकालते। कुछ बड़े हुए तो रेलवे स्टेशन पर घड़ियाँ ठीक करने की नौकरी कर ली। स्टेशन मास्टर के घर आते-जाते रहने के कारण उन्हें अंग्रेजी का भी कुछ-कुछ अभ्यास हो गया था। उन दिनों भी उनके गाने की बड़ी शोहरत थी। वे रेलवे क्लबों में जाते और गाया करते।

कुछ समय बाद वे न्यू थिएटर्स के पंद्रह साल के अनुबंध पर कलकत्ता चले आए। इन्हीं दिनों उनका विवाह भी हुआ। सहगल की शुरूआती तीन फिल्में 'सुबह का सितारा', 'मुहब्बत के आँसू' और 'जिंदा लाश' आज अतीत की वस्तुएँ हैं। देवकी बोस के 'पूरन भगत' में साधु की एक छोटी-सी भूमिका में रायचंद बोराल के संगीत-निर्देशन में उनका गाया गीत 'राधे रानी दे डारो न बाँसुरी मोरी' इतना लोकप्रिय हुआ कि तुरंत ही उन्हें 'चंडीदास' में गायक की भूमिका मिल गई और उनके गाए हुए प्रेमगीत घर-घर गूँजने लगे। जो गीत सबसे लोकप्रिय हुआ, वह उमा शशि और सहगल का युगल-गीत 'प्रेम नगर में बनाऊँगी घर से तज के सब संसार' था। इसके बाद 'यहूदी की लड़की', 'रूपलेखा', 'डाकू मंसूर', 'कारवाने हयात' आदि कई फिल्में आईं।

फिर आई उनके जीवन की सर्वश्रेष्ठ फिल्म 'देवदास' जिसने उन्हें भारत का सर्वश्रेष्ठ फिल्मी अभिनेता तथा गायक बना दिया। 'बालम आय बसो मोरे मन में' और 'दुख के दिन अब बीतत नाहीं' गीतों में टूटे-फूटे खंडहर से निकलने वाली एक टीस भरी गूँज ने देखने-सुनने वालों का दिल पिघला-सा दिया था। केवल अभिनय से ही नहीं, देवदास के टूटे मन की निराशा को भी सहगल ने अपने स्वरों में जीवित कर दिया। सहगल ने सारे जमाने को अपनी मुट्ठी में समेट लिया और जमाना उन पर न्यौछावर हो उठा।

कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस बात से बहुत प्रभावित थे कि उनकी जो भी कविता सहगल ने गाई, उसमें निहित भाव की गहराई को अपनी आवाज में उतारने में सफल हुए। और सहगल, जिन्हें बंगला नहीं आती थी, बंगाली गीतों के अमर गायक बन गए। फिर, बंगाल में सहगली दौर शुरू हुआ। उन्हें लेकर 'धरती माता', 'करोड़पति', 'दुश्मन', 'धूपछाँव', 'लगन', 'जिन्दगी', 'माई सिस्टर', 'स्ट्रीट सिंगर' आदि फिल्में बनीं। इन फिल्मों के 'सो जा राजकुमारी', 'मैं क्या जानूँ क्या जादू है', 'दीवाना हूँ', 'बीन के झूठे पड़ गए तार' और 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाए' आदि गीतों में दर्द की जो तड़प सहगल ने भरी वह आज भी कहीं न कहीं मर्म को छू जाती है। सहगल को रायचंद बोराल, पंकज कुमार मलिक और तिमिर बरन जैसे संगीत-निर्देशक मिले जिन्होंने सहगल की आवाज की कशिश और मिठास को नई ऊँचाई प्रदान की।



*मेरी बहन फिल्म में सहगल और सुमित्रा देवी*

**□ □ □ गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं को गाकर सहगल तो अमर हो गए, वे कविताएँ आज भी बंगाल में गुनगुनाई जाती हैं।**

फिर, सहगल बंबई आ गए जहाँ उन्होंने 'शाहजहाँ', 'तानसेन', 'सूरदास', 'उमर खय्याम', 'भँवरा', 'कुरूक्षेत्र', 'परवाना' आदि फिल्मों में काम किया और संगीत-जगत को 'मधुकर श्याम हमारे चोर', 'निस दिन बरसत नैन हमारे', 'नैनहीन को राह दिखा प्रभु', 'जगमग जगमग दिया जलाओ', 'बाग लगा दूँ सजिनी', 'चाह बरबाद करेगी हमें मालूम न था', 'गम दिए मुस्तकिल कितना नाजुक है दिल', 'जब दिल ही टूट गया', जैसे अमर गीत मिले। इन सभी फिल्मों ने शानदार जुबलियाँ मनाईं।

'भक्त सूरदास' के भावपूर्ण एवं भक्तिरस में डूबे हुए गीत 'नैनहीन को राह दिखा प्रभु पग-पग ठोकर खाऊँ मैं' की सहगल ने चौदह बार रिकार्डिंग कराई, फिर भी पूरा संतोष न हुआ। अंत में, वे इतने दुखी हुए कि उनकी आँखें भर आईं। संगीत-निर्देशक ज्ञानदत्त की नजर जैसे ही उनके चेहरे पर पड़ी उन्होंने तुरंत आर्केस्ट्रा की ओर इशारा किया और वाद्य संगीत बजने लगा। सहगल रोते भी जाते और गाते भी जाते। अंतरा के उतार पर जैसे ही 'चलत-चलत गिर जाऊँ मैं' गा पाए थे कि फूट-फूट कर रोने लगे। संगीत बजता रहा, रिकार्डिंग होती रही। यह गाना जबर्दस्त हिट हुआ।

'शाहजहाँ' और 'परवाना' बनने के दौरान ही सहगल की तबियत बिगड़ने लगी थी, जो फिर संभली नहीं। जालंधर में १८ जनवरी १९४७ को सहगल ने आखिरी साँस ली। मौत से दो माह पहले से उन्होंने सूट पहनना छोड़ दिया था और छह माह पहले से श्मशान- भूमि जाने लगे थे। वहाँ कुत्तों को रोटियाँ डालते और हर शव के आगे सिर झुकाते। कहते, मौत को जरूर याद रखना चाहिए। मृत्यु से पाँच दिन पहले उन्होंने गुनगुनाना छोड़ दिया था। 'शाहजहाँ' उन्हीं दिनों रिलीज हुई थी और उसका गाना 'जब दिल ही टूट गया, हम जी के क्या करेंगे' आसमान की ऊँचाइयों को छूने लगा था।

सहगल की आवाज गजल और फिल्म संगीत तक ही सीमित नहीं था। गीत, भजन, बंगाली और पंजाबी गाने तथा शास्त्रीय रंग के गाने भी उन्होंने गाए। गालिब की गजलों को उन्होंने नया अंदाज दिया। गालिब के जीवन पर वे फिल्म बनाना चाहते थे। उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी।

संगीत में सहगल का कोई गुरु न था। उन्होंने जो भी सीखा, स्वयं सीखा। एक बार लोगों ने जिद की कि सहगल किसी उस्ताद से शास्त्रीय संगीत सीख लें। वे मान गए। एक बड़े ही नामी उस्ताद को लाया गया। तय हुआ कि उस्ताद रोज एक घंटा उन्हें सिखाया करेंगे। मगर, बाद में यह देखकर लोग ताज्जुब में पड़ गए कि सहगल उन उस्ताद को 'राधे रानी दे डारो न बंसुरी मोरी' गीत सिखा रहे हैं। उस्ताद सिखाने आए थे, उल्टे सीखने लगे।

शायद, सहगल 'किसी देवलोक के गंधर्व थे जिन्हें किसी शाप के कारण धरती पर आना पड़ा था।'

मास्टर विनायक

# लता-आशा के खोजकर्ता

● शशिकांत किणीकर

फिल्मों के बोलते युग के प्रारंभ में कई निपुण और कर्मठ प्रतिभाएँ फिल्मी दुनिया में आईं, जिन्होंने भारतीय फिल्म इतिहास को आकार दिया। **मास्टर विनायक** एक ऐसे ही व्यक्तित्व थे। अपने आदर्शवादी गुणों के द्वारा फिल्मी दुनिया को उन्होंने कई यादगार उपहार प्रदान किए।

सत्रह दिसबर १९०६ को कोल्हापुर में जन्मे मास्टर विनायक ने अपनी स्नातक शिक्षा कोल्हापुर में पाई। इसके बाद एक स्कूल में शिक्षक हो गए।

जब प्रभात फिल्म कंपनी ने सन् १९३१ में बोलती फिल्मों का निर्माण आरंभ किया, तो विनायक को अपनी पहली बोलती फिल्म **अयोध्या चा राजा** में नारद की भूमिका प्रदान की। रातों-रात इस हिंदी-मराठी द्वि-भाषी फिल्म द्वारा विनायक लोकप्रिय हो गए। कंपनी ने उन्हें अपनी अगली फिल्मों- अग्निकंकण और सिंहगढ़ में प्रमुख भूमिकाएँ प्रदान कीं। युवा विनायक ने केवल सत्ताइस वर्ष की आयु में प्रभात कंपनी की पहली रंगीन फिल्म सैरन्ध्री (१९३३) में एक वृद्ध व्यक्ति की भूमिका निभाई थी।

विनायक ने १९३४ में निर्देशन का कार्य आरंभ किया। महाराजा कोल्हापुर ने भालजी पेंढारकर, विनायक और बाबूराव पेंढारकर को कोल्हापुर सिनेटोन कंपनी बनाने में सहायता की। उनकी पहली फिल्म "विलासी ईश्वर" बनी। यह मराठी में बनने वाली पहली सामाजिक फिल्म थी। इसकी पटकथा प्रसिद्ध मराठी साहित्यकार मामा वरेरकर ने तैयार की थी। इसका विषय अनाथों को गोद लेने से संबंधित था। यह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर ज्यादा नहीं चली, क्योंकि यह समय से काफी आगे की सोच पर आधारित थी।

१९३६ में विनायक ने अपने भाई बाबूराव पेंढारकर और कैमरामैन पांडुरंग नाईक के साथ हंस पिक्चर्स की स्थापना की। इस संस्था की पहली फिल्म **"छाया"** थी जिसमें उन्होंने समाज की बुराइयों को उभारा था। इस फिल्म के बाद 'धर्मवीर' 'देवता' और 'अमृत' जैसी उद्देश्यपूर्ण फिल्में बनीं। इसी समय विनायक ने सामाजिक उपहास की फिल्में जैसे 'प्रेमवीर', 'ब्रह्मचारी', 'ब्राडीची बाटली', 'अर्द्धांगिनी', 'लग्न पाहवा करुण', 'सरकारी पाहुणे', आदि बनाई। १९३८ में विनायक ने शेक्सपीयर के प्रसिद्ध 'मैकबेथ' को मराठी परदे पर पेश किया। 'माझे बाल' (१९४३) विनायक के निर्देशन तथा विषय प्रस्तुति के लिहाज से सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में मानी जाती है।

विनायक ने 'गजाभाऊ' के निर्देशन के बाद जो द्वितीय विश्वयुद्ध पर आधारित थी, अपने प्रफुल्ल स्टूडियो की गतिविधियों को कोल्हापुर से बंबई स्थानांतरित कर दिया। यहाँ उन्होंने 'बड़ी माँ' (१९४५) का निर्देशन किया। यह एक बहुकलाकारों वाली फिल्म थी जिसमें नूरजहाँ, मीनाक्षी, सितारा देवी,



ईश्वरलाल, याकूब, लीला मिश्रा, दादा सालवी ने भूमिकाएँ की थीं। यह फिल्म सफल रही। 'बड़ी माँ' की अपार सफलता से प्रोत्साहित होकर विनायक ने अगला विषय 'महाभारत' को चुना।

'सुभद्रा' का निर्माण भी उन्होंने बड़े कलाकारों, महँगे सेट्स तथा बहुत अधिक लागत से करने का निश्चय किया। उन्होंने शांता आप्टे, ईश्वरलाल, याकूब, प्रेम अदीब, दादा सालवी, शांतारिन आदि कलाकारों से संपर्क कर बहुत खर्चीली फिल्म बनाई। दुर्भाग्य से बंबई के कलाकारों ने उन्हें सहयोग नहीं दिया। जिसके कारण खर्चा अधिक हुआ और परिणाम भी अच्छे नहीं मिले। फिल्म बॉक्स ऑफिस पर नहीं चली। विनायक को अपनी कंपनी बंद करनी पड़ी।

आगे के वर्षों में उन्होंने वी. शांताराम के राज कमल कला मंदिर के साथ मिलकर कार्य किया। 'डॉक्टर कोटनिस की अमर कहानी' में एक छोटा-सा रोल किया। फिल्म 'जीवन-यात्रा' का निर्देशन किया। जब वे 'मंदिर' फिल्म का निर्देशन कर रहे थे इसी बीच में १९ अगस्त १९४७ को इकतालीस वर्ष की आयु में बंबई में उनका देहांत हो गया।

फिल्म उद्योग मास्टर विनायक के योगदान का ऋणी है। उन्होंने फिल्मी दुनिया को न केवल कलात्मक व भावनात्मक शैली प्रदान की बल्कि वी. एस. खांडेकर, आचार्य पी.के. अत्रे, जी.एल. ठोकाल, एन. एस. फड़के, कवि यशवंत आदि से परिचित कराया। अपने डेढ़ दशक के फिल्मी जीवन में उन्होंने कई विचार दिए। फिल्मों का स्तर उठाने हेतु समाज से लड़े। इसी समय उन्होंने मराठी फिल्मों में हास्य युग का श्रीगणेश किया। मास्टर विनायक ने कई नए चेहरों को मौका दिया। उनमें शोभना समर्थ (विलासी ईश्वर), मीनाक्षी (ब्रह्मचारी), अनंत मराठे (छाया), राजा गोसावी (चिमुकला संसार) लता मंगेशकर (पहिली मंगलागौर) तथा आशा भोसले (माझे बाल) प्रमुख हैं। ■

गुलाम मुस्तफा दुर्रानी

# लारा लप्पा गायक-नायक

**जी. एम. दुर्रानी** अभिनेता, पार्श्वगायक तथा संगीत निर्देशक के रूप में बंबई की फिल्मी दुनिया में काफी प्रतिष्ठित स्थान तक पहुँच गए थे। जो लोकप्रियता रफी को प्राप्त हुई, अपने जमाने में दुर्रानी उससे कहीं ज्यादा लोकप्रिय थे। सन् १९१९ में पेशावर के पठान परिवार में जन्मे **गुलाम मुस्तफा दुर्रानी** १९३५ में बंबई आए। उनके मित्र इसाक शिकारपुरी की कोशिशों से वे काफी लोगों से मिले। पहली बार मिनर्वा कंपनी की फिल्म 'सइदे हवस' में सोहराब मोदी ने उन्हें अभिनय और गाने का मौका दिया। इसके बाद सन् १९४१ में फिल्म 'दर्शन' में उन्होंने संगीतकार नौशाद के निर्देशन में दो गीत गाए। इसी फिल्म की नायिका ज्योति से उनका विवाह भी हुआ। नौशाद की ही अगली फिल्म 'स्टेशन मास्टर' से दुर्रानी को लोकप्रियता मिली। इसके बाद 'मगरूर', मिर्जा साहिबाँ, 'उस पार' तथा 'दीदार' में उनके गाए हुए गाने बहुत लोकप्रिय हुए। फिल्म 'एक थी लड़की' का गाना लारालप्पा लारालप्पा, उन्हीं के द्वारा गाया गया था। सन् १९५६ में 'हम सब चोर हैं' फिल्म का गीत 'हमको हँसते देख जमाना जलता है' उन्होंने गाया था। अपने पूरे कैरियर में लगभग ५०० गीत गाने वाले इस कलाकार ने १९४० और १९४६ के बीच 'गुंजन' उपनाम से 'अँगूरी', 'धड़कन', 'किस्मत' आदि फिल्मों में संगीत निर्देशन भी किया। दुर्रानी के प्रयासों से ही मोहम्मद रफी और लता मंगेशकर को फिल्मों में अवसर मिला। यद्यपि दुर्रानी अभिनय के प्रति ज्यादा झुकाव नहीं रखते थे। जब भी उन्होंने अभिनय किया तब सशक्त अभिनय की छाप छोड़ी। दुर्रानी के अंतिम दिन बड़ी मुफलिसी में गुजरे। घर, गहने, कार और फर्नीचर बेचकर उन्हें गुजारा करना पड़ा। दाल-रोटी के लिए उन्होंने किराना-दुकान तक खोली थी। १९८२ में गायिका नूरजहाँ जब भारत आईं, तो उन्होंने १९४३ का हिट गीत- नींद हमारी ख्वाब तुम्हारे, कितने मीठे कितने प्यारे- उनके सामने एक समारोह में गाकर सुनाया। उनके दुखभरे जीवन की शायद यह सबसे सुखद यादगार थी।

● प्रस्तुतिः सरला

अनंत मराठे

# पतंग पकड़ो फिल्म मुफ्त में

अनंत मराठे का जन्म पूना में १७ सितंबर १९२९ को हुआ था। बड़े भाई राम मराठे की तरह वे भी पढ़ाई अधूरी छोड़कर पिता के साथ फिल्मों में कैरियर तलाशने बंबई आ गए। सबसे पहले उन्हें **'धर्म की देवी'** में बाल कलाकार के रूप में लड़की की भूमिका मिली। इसके बाद इंपीरियल फिल्म कंपनी में **सरला/ मदर इंडिया** तथा **किसान कन्या** में थोड़ी बड़ी भूमिकाएँ मिलीं। फिल्मों में अभिनय करने के साथ-साथ उन्हें पतंग बनाने का काम भी सौंपा गया।

खास छपे कागज की बनी पतंगें थिएटर से उड़ाई जाती थीं तथा आकाश में छोड़ी गई इन पतंगों को जो भी वापस थिएटर में जमा करवाता था: उसे 'मदर इंडिया' देखने के लिए मुफ्त पास मिलता था।

इंपीरियल के बाद अनंत ने सागर मूवीटोन तथा प्रकाश एवं मोहन स्टुडियो में कई फिल्मों में काम किया। इनमें हुकुम का इक्का/ हीरो नंबर एक / मिस्टर एक्स / बुलबुल -ए-बगदाद/ अनुराधा/ दीपक/ गीता प्रमुख हैं। सन १९४१-१९४२ में उन्होंने वी. शांताराम की फिल्म **रामशास्त्री** में रामशास्त्री की बचपन वाली भूमिका की। बाल कलाकार के रूप में आखिरी बार वे तारामती (१९४५) में आए। लगभग पचहत्तर फिल्मों में बाल कलाकार की भूमिका करने के बाद उन्हें प्रभात फिल्म कंपनी की **गोकुल** में नायक के रूप में लिया गया। नायिका थीं कमला कोटनीस। उन दिनों वे टॉप पर थे। देवानंद/ प्राण/ रहमान जैसे कलाकार उनके ठाठ देखकर ईर्ष्या करते थे।

नायक के रूप में उन्होंने लगभग एक सौ हिंदी फिल्मों में काम किया। ३० मराठी, २० गुजराती तथा कुछ राजस्थानी, तेलुगु एवं बंगला फिल्मों में भी वे आए। हिंदी की प्रमुख फिल्मों में बरखा/ बड़ा भाई हैं।

समय के अनुसार अनंत मराठे ने अपनी अभिनय शैली में परिवर्तन कर लिया। शिवभक्त में उन्होंने हास्यपूर्ण भूमिका की। केदार शर्मा की 'हमारी याद आएगी' में वे खलनायक बने।

सन् १९६२ में उन्हें 'जवाँई-माँझा भला' नामक फिल्म में उत्कृष्ट अभिनय के लिए अवार्ड मिला। मनोज कुमार की फिल्म शहीद में राजगुरु के रूप में उत्कृष्ट अभिनय करने पर उन्हें स्वर्गीय प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने सम्मानित किया।

अभिनय के साथ-साथ वे निर्देशन के क्षेत्र में भी उतरे। कुमार सेन समर्थ की फिल्म 'रुपयों की कहानी' में सहायक निर्देशक बने।

● शशिकांत किणीकर



सोहराब मोदी

# मिनर्वा का शेर

सोहराब मोदी ने अपने बड़े भाई रुस्तम के साथ मिलकर ग्वालियर के टाउन हॉल में अस्थायी सिनेमा १९१४ में चलाया, फिर टूरिंग सिनेमा लेकर कई वर्षों तक पूरे भारत का भ्रमण किया। १९२५ से ३३ तक एक थिएटर कंपनी चलाई, जिसके जरिए अनेक नाटक निर्देशित किए और उनमें अभिनय भी किया। यह सब शेक्सपियर के नाटकों का उर्दू अनुवाद था। १९३५ में अपने नाटकों की सफलता से प्रेरित होकर सोहराब मोदी ने अपनी फिल्म कंपनी प्रारंभ की। पहली फिल्म थी- खून का खून-शेक्सपियर के हैमलेट का रूपांतर।

सोहराब मोदी नाटक की दुनिया से संवाद अदायगी की एक खास अदा लेकर सिनेमा की दुनिया में आए और उस शैली को लोगों ने बहुत पसंद भी किया। उस शैली के अंतर्गत हर अक्षर को स्पष्टत: और जोर से उच्चारित करना शामिल था। **एक तरह से संवाद को मंत्र की गंभीरता से बोला जाता था।** चेहरे पर भाव का महत्व उतना नहीं था, जितना संवाद को सही वाणी देने का था। उनके द्वारा चुनी गई कहानियों के लिए भी यह आवश्यक था कि जोशीले संवाद प्रभावोत्पादक ढंग से बोले जाएँ। सोहराब मोदी ने तीन प्रकार के कथानक चुने *विश्व प्रसिद्ध नाटकों और उपन्यासों के रूपांतर जैसे कुंदन-लॉ

अनिल चटर्जी

# भद्र नायक

बंगला फिल्मों में **अनिल चटर्जी** का नाम आते ही एक ऐसे अभिनेता का अक्श उभरता है जिन्होंने कुछ खास तरह की भूमिकाओं के जरिए अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। एक ऐसी पहचान जिसे धूमिल करना शायद ही किसी दूसरे अभिनेता के लिए संभव है। अनिल चटर्जी का फिल्मों में प्रवेश सहायक निर्देशक के रूप में हुआ था। केवल पचास रुपए मासिक के वेतन में उन्होंने अपना यह काम शुरू किया। बतौर सहायक निर्देशक उन्होंने कई फिल्मों में काम किया है। इसलिए फिल्मों के निर्देशन का उनके पास भरपूर अनुभव है। फिर भी उन्होंने अपने स्वतंत्र निर्देशन में कोई फिल्म नहीं बनाई।

फिल्मों में सहायक निर्देशन करने के दौरान ही उन्होंने छोटी-छोटी भूमिकाएँ करनी शुरू कर दी थीं। शुरूआत चरित्र अभिनय से हुई। उसके बाद नायक बने। नायक की संक्षिप्त पारी खेलने के बाद एक अरसे से चरित्र अभिनय का रंग बिखेर रहे हैं। वैसे बतौर नायक उन्होंने सत्यजित राय की फिल्मों में भी काम किया। है। उन्होंने किसी योजना के तहत कभी भी अपने कैरियर की कोई रूपरेखा नहीं बनाई, इस वजह से नायक की भूमिका करते-करते ही वे चरित्रअभिनेता बनने के लिए भी तैयार हो गए।

अत्यंत सीधे-सादे स्वभाव और फिल्मी प्रपंच से दूर होने के कारण उनकी माँग ज्यादा नहीं बन पाई। उनकी इस कमजोरी का फायदा भी इंडस्ट्री ने भरपूर उठाया। अनिल चटर्जी की छवि रोमांटिक नायक की थी, पर कई विविधतापूर्ण भूमिकाएँ भी उनके हिस्से में आई हैं।

मिजरेबल्स पर आधारित थी. *ऐतिहासिक विषयों पर फिल्मे. *सामाजिक समस्याओ पर भाषणबाजी की फिल्मे जैसे डाइवोर्स. दौलत. समय बडा बलवान इत्यादि।

सोहराब मोदी का व्यक्तित्व अत्यत ओजस्वपूर्ण था और ऐतिहासिक फिल्मो मे वैभवपूर्ण पात्रों के अभिनय के लिए वे बहुत उपयुक्त व्यक्ति थे। शीशमहल मे उन्होने एक ऐसे सामंत का पात्र निभाया था, जो अपनी आन की खातिर सब कुछ खोने को तैयार है। ऐसे पात्रों को वे परदे पर जीवत कर देते थे, जो हालात के सामने लाचार होकर टूट जाए, परंतु अपने स्वाभिमान से सौदे नही करे। यह पारसी अभिनेता राजपूतानी आनबान और शान का जीता जागता उदाहरण था।

दरअसल, सोहराब मोदी का महत्व अभिनेता के बजाए फिल्मकार का अधिक है। ऐतिहासिक फिल्मों की परंपरा उनके साथ ही शुरू हुई और झांसी की रानी (१९५७) के फ्लॉप के साथ समाप्त हो गई। सोहराब मोदी इस फिल्म के बाद सदमे तथा घाटे से उबर नहीं पाए। उनसे सीख लेकर उतने बड़े पैमाने पर ऐतिहासिक फिल्म बनाने का साहस किसी ने नहीं किया।

सोहराब मोदी की कंपनी का बैनर था- मिनर्वा मूवीटोन, जिसके परदे पर आते ही शेर दहाड़ता था। स्वयं उनकी आवाज किसी शेर की दहाड से कम नहीं थी। सिकंदर, पृथ्वीवल्लभ, पुकार, राजहठ में उनके संवादों का आनंद दर्शक आज भी लेते हैं। ऊँची कद-काठी के सोहराब मोदी का व्यक्तित्व आकर्षक और सम्मोहक था। जब वे परदे पर प्रकट होते थे, तो सिनेमा हॉल में एक अतिरिक्त उत्तेजना की लहर दौड़ जाती थी।



# मास्टर निसार

सितारा जब आसमान में चमकता है तब सभी की आँखों को प्यारा लगता है। जब वह धरती पर गिरता है तब अपनी सारी चमक-दमक खोकर गुमनामी की धूल में मिल जाता है। ऐसा ही हाल हुआ था अपने जमाने के सर्वाधिक लोकप्रिय नायक **मास्टर निसार** का, जो गरीबी की दारुण व्यथा भोगते हुए १३ जुलाई १९८० को इस दुनिया से कूच कर गए।

सन् १९०१ में दिल्ली में जन्मे निसार अली का अभिनय कैरियर कलकत्ते के मदन थिएटर्स से शुरू हुआ था। मास्टर निसार का व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली था उतनी ही मीठी उनकी आवाज भी थी। अपने जमाने में सर्वाधिक पारिश्रमिक पाने वाले नायक के रूप में विख्यात निसार की पहली फिल्म **शीरी फरहाद** थी। इस फिल्म की नायिका विख्यात गायिका जहाँआरा कज्जन थीं। निसार की अन्य हिट फिल्मों में लैला मजनूं/ मतवाली मीरा/ शकुंतला/ इंद्रसभा/ बिल्वमंगल/ किसान कन्या/ गुले बकावली आदि प्रमुख हैं। जहाँआरा कज्जन के साथ वे आठ फिल्मों में नायक बनकर आए तथा सभी फिल्में हिट रहीं। इसके अतिरिक्त उनकी नायिकाओं में बिब्बो, सुलोचना (रूबी मायर्स), पद्मा देवी तथा जेबुन्निसा प्रमुख थीं। जेबुन्निसा से उन्होंने बाद में विवाह भी कर लिया था। मास्टर निसार वैसे तो काफी धार्मिक प्रवृत्ति के थे मगर सुंदरता उनकी कमजोरी थी। चार शादियाँ उन्होंने की तथा कई रोमांस प्रसंग भी उनके साथ जुड़े।

उनकी उम्र जब नायक बनने लायक न रही तब वे चरित्र अभिनेता के रूप में परदे पर आने लगे। सी.आई.डी./ लीडर/ बूटपॉलिश/ आजाद/ कोहिनूर/ चार दरवेश फिल्मों में उन्होंने काम किया है। आखिरी बार वे चोर हो तो ऐसा में काम पा सके थे। इस पुराने नायक के प्रति फिल्म उद्योग का रवैया काफी उपेक्षापूर्ण रहा। उन्हें न तो कोई सम्मान मिला और न ही किसी प्रकार की आर्थिक सहायता। सिर्फ सुनील दत्त ने उन्हें याद रखा तथा **मुझे जीने दो** के सिल्वर जुबिली समारोह में उन्हें मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था। कमाठीपुरा की खोली में दो वक्त की रोटी के लिए गैरों के मोहताज होकर इस नायक ने बुढ़ापा काटा तथा दुनिया को आखिरी सलाम कहा।

● **सरला**



निर्भीक, परोपकारी एवं व्यक्तित्व संपन्न किरदारों में उनके अभिनय का विस्तृत रेंज आसानी से देखने को मिल जाता है। उन जैसे प्रतिभा संपन्न अभिनेता को अपनी प्रतिभा को सही ढंग से पेश करने का मौका नहीं मिला। यह दुःख उन्हें भी है।

उन्हें इस बात का भी दुःख है कि सत्यजित राय, ऋत्विक घटक एवं तपन सिन्हा जैसे बड़े फिल्मकार जो उनकी अभिनय क्षमता से अच्छी तरह से वाकिफ थे, उन्होंने भी मुख्य भूमिकाओं में अभिनय करने का मौका नहीं दिया। ज्यादातर नायिका प्रधान फिल्मों में उन्हें काम मिला। पोस्ट मास्टर जैसी फिल्म में भी उनकी भूमिका को संक्षिप्त कर नायिका को ज्यादा अहमियत दी गई। महानगर में भी ऐसा ही हुआ। एकमात्र निर्जन सैकते में उन्हें प्रधान भूमिका मिली थी। इसके बाद जब वे चरित्र अभिनेता बने तो उन्हें ऐसे मौके भी कम मिलने लगे। इसकी एकमात्र वजह यह है कि इन दिनों बंगला फिल्मों का स्तर काफी नीचे गिर गया है। उन जैसे प्रतिभाशाली अभिनेता के लिए अब फिल्मों में कोई अच्छी भूमिका निकालनी मुश्किल हो गई है। अमोल पालेकर की हिंदी फिल्म **अनकही** में उन्होंने काम किया है। हिंदी टी.वी. धारावाहिक **नकाब** में भी उनकी मुख्य भूमिका थी, जिसकी तारीफ छोटे परदे के हर दर्शक ने की।

एक दौर ऐसा था जब उन्होंने ढेर सारी फिल्मों में काम किया था। लेकिन अपना सही पारिश्रमिक न माँग पाने की वजह से उनका शोषण हुआ। आज उनके पास घर, गाडी की बात तो दूर, बैंक बैलेंस भी इतना नहीं है कि वे बैठकर बाकी उम्र अपना गुजारा कर सकें। वे बताते हैं, मेरे पास घर नहीं है। बैंक बैलेंस नहीं है। एक गाडी थी पर उसका सही रख-रखाव न कर पाने की वजह से उसे भी बेच देना पड़ा। फिर भी अपने लाभ-हानि की परवाह न करके दूसरों के लिए काम करने का स्वभाव आज भी उनमें बरकरार है।

अनिल चटर्जी के अभिनय से सजी कुछ फिल्में हैं- अग्नि संस्कार/ निर्जन सैकते/ कांचेर स्वर्ग/ अमानुष/ देशबंधु चित्तरंजन/ महानगर/ राजा/ आशीर्वाद।

● **अवतार**

# हम दर्द के सुर में गाते हैं

**शम्भुनाथ मिश्र**



लगभग चवालीस साल पहले की बात है। कलकत्ता में पाँच साल रहकर अपनी कामयाबी के झंडे गाड़ने के बाद **तलत महमूद** बंबई आ गए थे। कलकत्ता में हिन्दी फिल्मों का बाजार खत्म हो रहा था। बंबई से बुलावा भी था। मुकेश की आवाज को पहली बार कामयाबी दिलाने वाले संगीतकार अनिल विश्वास के घर पर आयोजित संगीत-महफिल में तलत ने एक के बाद एक कई गजलें सुनाई थीं। उनकी गाई गजल को सुनकर **लता मंगेशकर** अचंभित रह गई थीं। किशोर कुमार ने कहा था, 'जब तक यह आवाज दुनिया में है तब तक गाने के लिए मुँह खोलने की हिम्मत मुझमें कहाँ होगी।'

सहगल के बाद के दौर में, तलत सबसे बेहतरीन गजल-गायक माने गए। उनकी आवाज में गजब का सोज था। उन्होंने उर्दू जुबान की नफासत और नजाकत को अपनी आवाज में बखूबी उतारा। उनकी गायकी सीधी-सादी थी जो आम श्रोता के दिल में गहरे उतर जाती थी।

तलत बचपन से ही सहगल के जबरदस्त फैन थे, लेकिन कभी उनकी नकल नहीं की। लखनऊ में उनके वालिद मंजूर महमूद की बिजली के सामान की दुकान थी। वे चाहते थे कि बेटा पढ़ाई-लिखाई करे और बड़ा होकर पुश्तैनी दुकान सँभाले। तलत ने मजबूरन अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में दाखिला भी लिया। मगर, पढ़ाई उन्हें रास नहीं आई। उनकी बुआ महलका बेगम ने तलत के गाने के शौक को हमेशा बढ़ावा दिया। उन्होंने अपने भाई को समझा-बुझा कर तलत को गायक बनने के लिए राजी कर लिया। तलत ने मौरिस संगीत कॉलेज में अपना नाम दर्ज कराया और संगीत की शिक्षा पूरी की। जल्दी ही उन्हें रेडियो पर गाने का कार्यक्रम मिलने लगा। छोटी-मोटी महफिलों में तो गाते ही थे।

उसी दौरान कलकत्ता की हिज मास्टर्स वायस कंपनी के लोग नए गायक-गायिकाओं की तलाश में लखनऊ आए। उन्होंने एक प्राइवेट महफिल में तलत को सुना और तलत को गाने के लिए साइन कर लिया। तलत १९४१ में कलकत्ता गए। सहगल भी वहीं थे। उसी साल उनके गानों का पहला रिकॉर्ड बाजार में आया-'**सब दिन एक समान नहीं था/ बन जाऊँगा क्या से क्या मैं इसका तो कुछ ध्यान नहीं था**' और '**तुम लोक-लाज से डरती थी।**'

तीन साल के अंतराल पर वे पुनः कलकत्ता पहुँचे। वहाँ कमल दास गुप्ता के संगीत निर्देशन में उन्होंने '**तस्वीर तेरी दिल मेरा बहला न सकेगी**' रिकॉर्ड कराया। जल्दी ही इस गाने के एक लाख रिकॉर्ड बिक गए और बीस साल की उम्र में तलत एक जानी-मानी हस्ती बन गए। पंकज मलिक की सिफारिश पर न्यू थिएटर्स ने उन्हें पाँच सौ रु. माहवार पर अपने यहाँ रख लिया। उन दिनों पी.सी. बरुआ, सहगल, पहाड़ी सान्याल, के.सी. डे, काननबाला जैसी हस्तियाँ न्यू थिएटर्स से जुड़ी हुई थीं। कलकत्ता में पाँच साल रहने के दौरान तलत ने **तपन कुमार** के नाम से सौ-डेढ़ सौ बंगला गाने गाए। बंगाल में उनके नाम की धूम-सी मच गई।

सहगल की तरह तलत भी गायक-अभिनेता बनना चाहते थे। उनके वालिद ने उन्हें एक्टिंग न करने की सख्त ताकीद की थी मगर तलत को एहसास था कि वे खूबसूरत हैं, लिहाजा वे परदे पर आना भी

---



## दत्तात्रय दामोदर दाब्के
## आदि-नायक

भारतीय सिनेमा के इतिहास में पहली फिल्म के रूप में **राजा हरिश्चंद्र** का जो महत्व है वैसा ही महत्व **दादा दाब्के** का है क्योंकि वे ही इस फिल्म के नायक थे। इस प्रकार वे भारतीय फिल्मों के **आदि नायक** हुए। महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के छोटे से गाँव असूद में जन्मे दत्तात्रय को अभिनय का शौक उस वक्त बंबई खींच लाया जब वे मैट्रिक में पढ़ रहे थे। बंबई आकर उन्हें पता चला कि दादा साहब फालके भारत की पहली चलती-फिरती फिल्म बनाने जा रहे हैं। इस योजना में सक्रिय हिस्सा लेने की आरजू लेकर वे नासिक जाकर दादा साहब से मिले। स्क्रीन टेस्ट में सफल होने के बाद कई उम्मीदवारों में से उनको हरिश्चंद्र की प्रमुख भूमिका के लिए चुना गया। इस फिल्म में काम करते हुए दादा साहब को लगा कि दाब्के में निर्देशन की क्षमता काफी है। अतः उन्हें अभिनय से हटाकर निर्देशन के क्षेत्र में ले लिया गया। पूरे पाँच वर्ष तक सहायक निर्देशक एवं छायांकन के काम को करते हुए निपुणता प्राप्त कर वे फालके से अलग हो गए।

इसके बाद १९२२ से उन्होंने कोहिनूर फिल्म कंपनी में कैमरामेन/ डायरेक्टर एवं सुपरवाइजर के रूप में नौकरी कर ली। इस प्रकार वे कई फिल्म कंपनियों में कैमरामेन एवं निर्देशक रहे। अभिनेता के रूप में फिल्मोद्योग में प्रवेश कर वे अपने युग के शीर्षस्थ फिल्मी छायाकार बने। ट्रिक फोटोग्राफी को उन्होंने नई दिशा दी। उनके योगदान का सही मूल्यांकन अब तक नहीं हुआ है। ■

चाहते थे। कलकत्ता में उन्होंने दो बंगला फिल्मों में अभिनय भी किया। पहली फिल्म थी **'राजलक्ष्मी'** और दूसरी **'समाप्ति'** ।

बंबई में उन्हें गाने का सबसे पहला मौका दिया अनिल विश्वास ने फिल्म **'आरज़ू'** मे जिसके हीरो दिलीप कुमार थे। इसी में तलत ने अपना लोकप्रिय गीत **' ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल जहाँ कोई न हो'** गाया जिसने श्रोताओं पर जादू-सा कर दिया। उनकी दूसरी उल्लेखनीय फिल्म थी नौशाद की 'बाबुल' जिसमें कुल बारह गाने थे और सभी लोकप्रियता के हिसाब से एक -दूसरे से बढ़-चढ़कर थे। इस फिल्म में तलत ने अपनी मधुर रेशमी आवाज में **'मेरा जीवन -साथी बिछड़ गया'** तथा **'हुस्नवालों को ना दिल दो ये मिटा देते हैं'** जैसे गीत गाकर फिल्म-संगीत पर अपना सुरीला आधिपत्य जमा लिया। फिर, वह भी समय आया जब फिल्मों में तलत ही तलत छाए रहे।

वह फिल्म-संगीत का एक सुनहरा युग था। उस युग में अनिल विश्वास, श्याम सुंदर, विनोद, सी. रामचंद्र, नौशाद, सज्जाद हुसैन, गुलाम मोहम्मद, सचिन देव बर्मन,ख़य्याम, सलिल चौधरी, मदन मोहन, रोशन, शंकर जयकिशन जैसे संगीतकारों ने फिल्म संगीत को नया आयाम दिया। तलत ने दिलीप कुमार, शम्मी कपूर, देव आनंद, राजकपूर से लेकर शांताराम, सुनील दत्त तक के लिए पार्श्व-गायन किया। उनके उस दौर के लोकप्रिय गानों में 'मोहब्बत ही न जो समझे' (परछाई), 'शुक्रिया ऐ प्यार तेरा' (आराम), 'मेरी याद में तुम न आंसू बहाना' (मदहोश), 'ये हवा ये रात ये चांदनी' (संगदिल), 'ऐ मेरे दिल कहीं और चल' (दाग), 'जाएँ तो जाएँ कहाँ' (टैक्सी ड्राइवर), 'तस्वीर बनाता हूँ तस्वीर नही बनती'(बारादरी), 'प्यार पर बस तो नहीं', 'रात ने क्या-क्या ख़्वाब दिखाए' (एक गाँव की कहानी), 'ऐ गमे दिल क्या करूँ' (ठोकर), 'जलते हैं जिसके लिए' (सुजाता), 'जिन्दगी देने वाले सुन', 'जो खुशी से चोट खाए' (दिले नादान), 'सब कुछ लुटा के होश में' (एक साल), 'इतना न मुझसे तू प्यार बढ़ा' ( छाया ) शामिल हैं।

इन फिल्मों के अलावा 'तराना'/ 'कामिनी'/ 'दोराहा'/ 'राखी'/ 'रागरंग'/ 'शबिस्तान'/ 'पगले'/ 'कमल के फूल'/ 'अदा'/ 'वफा'/ 'बेवफा'/ 'भाई-बहन'/ 'हमारी शान' / 'अंबर'/ 'कवि'/ 'दायरा'/ 'निगाहे करम' और एक भोजपुरी फिल्म के लिए भी उन्होंने गाने गाए।

तलत के गाए ज्यादा गीत दर्द-प्रधान रहे हैं। ये ज्यादा लोकप्रिय भी हुए-' 'ऐ मेरी जिंदगी तुझे ढूँढूँ कहाँ', 'मेरा करार ले जा मुझे बेकरार कर जा', 'मेरा प्यार मुझे लौटा दो', 'सीने में सुलगते हैं अरमाँ,' 'फिर वही शाम वही गम वही तन्हाई है,' 'रो-रो बीता जीवन सारा', 'ऐसे टूटे तार कि मेरे गीत अधूरे रह गए' 'मितवा नहीं आए', 'शामे गम की कसम', 'हैं सबसे मधुर वो गीत जिन्हें हम दर्द के सुर में गाते हैं,' 'दो-चार कदम जब मंजिल थी, किस्मत ने ठोकर खाई है।'

बंबई में जब वे राजकपूर, देव आनंद को अपने गीत परदे पर गाते देखते तो उन्हें लगता कि वे लफ्जों की अदायगी ज्यादा अच्छी कर सकते हैं। उन्होंने फिल्मों में अभिनय की ठान ली और 'दिले नादान'/ 'वारिस'/ 'डाक बाबू' / 'एक गाँव की कहानी'/ 'सोने की चिड़िया' / 'रफ्तार'/ 'लालारुख'/ 'दिवाली की रात' आदि कुल नौ फिल्मों में काम किया। उनकी नायिकाओं में सुरैया, नूतन, माला सिन्हा, मिस कंवल आदि शामिल थीं। लेकिन सभी फिल्में कमोबेश बुरी तरह असफल साबित हुईं। उन्हें खुद भी महसूस हुआ कि वे अच्छे अभिनेता नहीं बन सकते क्योंकि वे कैमरे के सामने नर्वस हो जाते थे। **'दिवाली की रात'** उनकी आखिरी फिल्म थी।

जब फिल्म संगीत का ट्रेंड बदलना शुरू हुआ तो तलत ने धीरे-धीरे फिल्मों में गाना छोड़ दिया। फिर, उन्होंने स्टेज पर कार्यक्रम देना शुरू किया, आज भी दे रहे हैं। १९९२ में **'पद्‌म भूषण'** से अलंकृत तलत ने ढेरों विदेश-यात्राएँ की हैं, ढेर सारे पुरस्कार जीते हैं। उनकी जिन्दगी में सुकून है। उन्हें किसी से कोई शिकायत नहीं। कहते हैं, 'जिन्दगी ने जो कुछ मुझे दिया है उससे और अधिक की तमन्ना नहीं।' ■

---

सैयद हसन अली

# नायक परंपरा के पहले कुमार

**फिल्मी सितारों** का जिक्र होते ही ज्यादातर कुमारों के नाम दुहराए जाते हैं। दिलीप कुमार/ अशोक कुमार/ राज कुमार/ राजेन्द्र कुमार आदि फिल्मी दुनिया में छाए रहे। कुमारों की इस कड़ी को शुरू करने वाले शुद्ध **कुमार** का असली नाम था **सैयद हसन अली**। लखनऊ के नवाबी घराने में २३ सितंबर १९०३ को जन्मे हसन अली को बचपन से ही फिल्मों में काम करने की तमन्ना थी। इसीलिए पढ़ाई अधूरी छोड़कर वे बंबई चले आए। काफी संघर्ष करने के बाद उन्हें देवकी बोस की फिल्म शेडो ऑफ डेथ में छोटी सी भूमिका मिली। देवकी बोस इस युवक से बहुत प्रभावित हुए। न्यू थिएटर्स की फिल्मों में कुमार को काम मिलने लगा। सन् १९३० में **पूरन भगत** में प्रमुख भूमिका मिली और हसन रातों-रात स्टार बन गए। इन्हीं दिनों देवकी बोस ने उन्हें **कुमार** नाम दिया। इसके बाद ४५ साल के लंबे कैरियर में ६ फुट २ इंच के इस खूबसूरत मर्दाने नायक ने परदे पर विभिन्न भूमिकाओं में दर्शकों का हृदय जीत लिया। १०० से भी अधिक फिल्मों में नायक की भूमिका करने वाले कुमार को अपने जमाने का सर्वाधिक रोमांटिक नायक माना जाता था। उनकी तुलना **गैरी कूपर, रुडाल्फ वेलन्टिनो** तथा **जेम्स स्टीवार्ड** से की जाती थी। पूरन भगत/ यहूदी की लड़की/ भलाई/ अल हिलाल/ वतन/ सुहाग/ महामाया/ ठोकर आदि उनके द्वारा अभिनीत उल्लेखनीय फिल्में हैं। कुमार ने निर्माता के तौर पर काम करने का फैसला किया तथा नए कलाकारों, तकनीशियनों, गायकों एवं संगीतकारों को प्रोत्साहन देने के लिए सिल्वर फिल्म्स की स्थापना की। देवर, आपबीती, धुन आदि फिल्मों का निर्माण किया। सन् १९४८ से १९६६ तक वे चरित्र अभिनेता के रूप में परदे पर आते रहे। भारत में उनकी आखिरी फिल्म रात और दिन थी। इसके बाद उन्होंने पाकिस्तान जाने का फैसला किया। पत्नी तथा चारों बच्चे भारत में ही रहने के पक्षधर थे। अतः कुमार पत्नी प्रमिला एवं बच्चों को छोड़कर पाकिस्तान चले गए। पाकिस्तान में उन्होंने तौबा• सनम नामक फिल्म बनाई जो हिट रही। इसके बाद स्वास्थ्य खराब रहने के कारण वे निर्माण का काम छोड़कर चरित्र अभिनेता के रूप में काम करने लगे। सन् १९७५ में वे भारत लौटे तथा भारत में ही बसने का निश्चय किया। जुलाई १९८१ में उनका निधन हो गया।



■ **प्रमुख फिल्में :** □ अनोखी मोहब्बत/ शहर का जादू (१९३४) □ धर्म की देवी/ सागर (१९३५) □ पोस्टमन/ वतन (१९३८) □ नदी किनारे (१९३९) □ लक्ष्मी/ सुहाग (१९४०) □ मधुसूदन/ ताजमहल (१९४१) □ दिल्लगी (१९४२) □ नसीब (१९४५) □ देवर (१९४६) □ दूसरी शादी (१९४७) □ आपबीती (१९४८) □ मजबूरी (१९५४)। ■

गायक नायक: कृष्णचंद्र डे

# मन की आँखें खोल

● शम्भुनाथ मिश्र

बात सन् १९३५ की है। न्यू थिएटर्स, कलकत्ता ने एक फिल्म बनाई थी 'देवदास'। इसके नायक थे कुंदनलाल सहगल। इसमें पी.सी. बरुआ, जमुना के अलावा गायक **कृष्णचंद्र डे** अर्थात के.सी. डे ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। फिल्म के कैमरामैन थे विमल राय। गीत केदार शर्मा ने लिखे थे और संगीत दिया था तिमिर बरन ने। इस फिल्म के संगीत में सीमित संख्या में वाद्य यंत्रों का उपयोग किया गया था। प्रमुखता थी बाँसुरी, वायलिन और क्लारनेट की। 'देवदास' में, सहगल के गाए गीत 'बालम आय बसो मोरे मन में' का प्रभाव दर्शकों के मन से हटे, इससे पहले ही एक और गीत 'मत भूल मुसाफिर तुझे जाना ही पड़ेगा' शुरू हो जाता है। यह गीत फिल्म में सूत्रधार का भी काम करता है। इस गीत को भिखारी की भूमिका निभाते हुए के.सी. डे. ने गाया था। फिल्म-संगीत को एक ऐतिहासिक मोड़ देने का श्रेय 'देवदास' को जाता है।

सन् १९३१ से १९३५ के बीच गायक कलाकारों के साथ फिल्मोद्योग में संगीतकारों का भी आगमन होने लगा था। यह वह दौर था जब परंपराएँ जन्म ले रही थीं। नाटक-नौटंकी और तमाशों से प्रभावित फिल्म संगीत अपनी अलग पहचान बनाने में लगा था। इस दौर में न्यू थिएटर्स ने सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। रायचंद बोराल, तिमिर बरन, पंकज मलिक और के.सी.डे जैसे गायक-संगीतकारों ने फिल्म संगीत को लोकप्रिय बनाने में सार्थक प्रयास किए।

'बाबा मन की आँखें खोल' के लोकप्रिय गायक के.सी. डे दृष्टिहीन थे। उन्होंने 'तेरी गठरी में लागा चोर मुसाफिर जाग जरा' गीत गाया था। कुछ लोगों का कहना है कि वे जन्मांध थे जबकि कुछ के अनुसार, पतंगबाजी के शौक में सूरज की तेज रोशनी ने उनकी आँखों की ज्योति छीन ली थी। दृष्टिहीन होने के बावजूद उन्होंने संगीत की साधना नहीं छोड़ी और बादल खाँ, करामतुल्ला खाँ तथा यावर खाँ से उन्होंने संगीत की तालीम ली।

गायन के अलावा अभिनय में भी उनकी रुचि थी। फिल्म 'पूरन भगत' के गीत 'क्या कारण है रोने का' से उन्हें काफी लोकप्रियता मिली। वे आजीवन अविवाहित रहे और कलकत्ता में 'देवदास', 'धूपछाँव', 'मंजिल', 'माया', 'विद्यापति', 'धरतीमाता', 'आँधी' तथा 'मीनाश्री' आदि फिल्मों से गायन-अभिनय में जुड़े रहे। उनके प्रसिद्ध गीतों में 'जाओ-जाओ ए मेरे साधु', 'अंधे की लाठी' (धूपछाँव)', 'पनघट के कन्हैया' (विद्यापति) और 'न आया मन का मीत' (देवदास) शामिल हैं।

के.सी. डे, मन्ना डे के चाचा थे, उन्होंने ही मन्ना डे के पिता की इच्छा के विरुद्ध उन्हें वकील न बनाकर अपना शिष्य बनाया था और गायन में बाकायदा प्रशिक्षित किया था। जब मन्ना डे स्काटिश चर्च कॉलेज में पढ़ते थे तो एक संगीत प्रतियोगिता में गाने के लिए वे अपने कॉलेज से चुने गए। मगर, के.सी. डे ने उन्हें प्रतियोगिता में भाग लेने से मना कर दिया। बाद में, मन्ना डे के दोस्तों के आग्रह पर, उन्होंने एक महीने में ही अपने भतीजे को संगीत की विभिन्न विधाओं में पारंगत बना दिया। नतीजा यह हुआ कि मन्ना डे को निर्धारित दस पद्धतियों में से नौ में प्रथम और आधुनिक बंगला संगीत में द्वितीय पुरस्कार मिला।

यह वही के.सी.डे थे जिनकी आवाज डी.वी.पलुस्कर और कुंदनलाल सहगल के साथ-साथ वर्षों तक घरों में ग्रामोफोन रिकार्डों से गूँजा करती थी। ■



विष्णुपंत पागनीस

# परदे का संत

विष्णुपंत पागनीस एक ऐसे भाग्यशाली कलाकार थे जिन्होंने प्रभात फिल्म कंपनी की फिल्म **'संत तुकाराम'** से अपार सफलता पाई और लोकप्रिय हुए।

एक नवंबर सन् १८९२ को कर्नाटक राज्य के चिकोड़ी स्थान पर एक मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मे 'विष्णुपंत पागनीस' ने अपना बाल्यकाल जमाखंडी (कर्नाटक) के महाराजा के मार्गदर्शन में बिताया। यहीं पर शास्त्रीय-संगीत की बारीकियों को समझा।

उन्होंने मराठी रंगमंच पर अपनी किशोरावस्था में पदार्पण किया एवं नारी पात्र को अभिनीत किया। एक बार हैदराबाद में उन्होंने राधा का अभिनय किया तथा यह इतना प्रभावशाली हुआ कि थिएटर के दर्शक उन्हें महिला समझ कर उनका अपहरण करने की योजना बनाने लगे थे। जब वे राधा का अभिनय करते थे, तो इतना प्रभावशाली होता कि लोग उन पर सोने के सिक्कों की वर्षा करते थे।

किन्हीं कारणोंवश उनकी नाटक कंपनी अलग हो गई और पागनीस सन् १९२१ में कोल्हापुर में महाराष्ट्र फिल्म कंपनी में सम्मिलित हो गए और वहाँ उन्होंने 'वत्सलाहरण' में एक नारी पात्र का अभिनय किया। इस पात्र के अभिनय ने उन्हें मूक



# एस.बी. नायमपल्ली

एस.बी. **नायमपल्ली** ने बंबई के फिल्म उद्योग में अपने उत्कृष्ट अभिनय का परचम तब फहराया जब मूक फिल्मों का युग था। जब परदे पर तस्वीर के साथ आवाज का संगम हुआ तब भी यह परचम शान से लहराता रहा। बंबई में रहने वाले नायमपल्ली ने अभिनेता के तौर पर सन् १९२९ में इम्पीरियल स्टूडियो में नौकरी शुरू की थी। उनकी पहली फिल्म थी 'वस्ल की रात'। इस फिल्म में वे नायक थे। नायिका बनी थी **जिल्लो बाई।** निर्देशक थे पी.वाई. अटेकर। अगली फिल्म गौरी बाला (१९३०) थी। नायमपल्ली की तीसरी फिल्म नूरजहाँ थी। इजरा मीर द्वारा निर्देशित इस फिल्म में कुछ संवाद भी थे। नायमपल्ली ने इसमें शहजादा सलीम की भूमिका की थी। हिंदी एवं अँगरेजी दोनों ही भाषाओं में इस फिल्म का चौथाई हिस्सा सवाक था। पहली पूरी बोलती फिल्म **आलम आरा** (१९३१) भी इसी वर्ष निर्मित हुई थी।

सवाक फिल्मों के युग में नायमपल्ली ने, सागर फिल्म्स की जरीना (१९३२), सैरे परिस्तान (१९३४), कालकूट (१९३५) तथा ज़िगारू (१९३६) में काम किया। अभिनय के बाद वे निर्माण के क्षेत्र में उतरे तथा लगभग ३५ वृत्तचित्रों का निर्माण किया। उनके द्वारा निर्मित कार्टून फिल्म को १९७० में राष्ट्रीय अवार्ड मिला। अभिनेता के रूप में नायमपल्ली की आखिरी फिल्म 'जिस देश में गंगा बहती है' थी। इसमें वे डाकू सरदार के रूप में आए थे।

सिनेमा में अभिनय जारी रखने हेतु उत्साहित नहीं किया और उन्होंने कंपनी छोड़ दी। बंबई के एक म्युनिसिपल स्कूल में छः रुपए प्रतिमाह पर संगीत शिक्षक की नौकरी कर ली। उनका जीवन खुशियों से भरपूर था फिर भी अल्प वेतन के कारण जीवन कई बार कष्टप्रद बन गया।

सन १९३६ में उन्होंने प्रभात फिल्म कंपनी में कार्य आरंभ किया और **संत तुकाराम** के जीवन का जीवंत अभिनय परदे पर अभिनीत किया। उन्होंने यह अभिनय इतनी सादगी और उत्साह के साथ अभिनीत किया कि पूरे महाराष्ट्र में वह रातोंरात प्रसिद्ध हो गए। यह फिल्म सिर्फ मराठी में बनाई गई थी इसलिए 'तुकाराम' की तस्वीर महाराष्ट्र के अधिकतर घरों में लटकाई जाने लगीं। सन् १९३६ में 'वेनिस फिल्मोत्सव' में संसार की चुनी गई तीन फिल्मों में से यह भी एक फिल्म थी।

तुकाराम की अत्यधिक लोकप्रियता के कारण रणजीत फिल्म कंपनी ने उन्हें एक मराठी-हिंदी द्विभाषी फिल्म में **संत तुलसीदास** (१९३९) का अभिनय करने का काम सौंपा। कुछ मराठी कलाकारों जैसे -बसंती/ राम मराठे/ लीला चिटणीस/ के. दाते/ दीक्षित/ वंदोपंत सोहनी आदि के साथ फिल्म का निर्देशन जयंत देसाई ने किया था। संगीत स्वयं पागनीस का था। आर्केस्ट्रा का संचालन ज्ञानदत्त ने किया था। तुकाराम के समान ही यह फिल्म भी अत्यधिक सफल रही और पागनीस ने हिंदी फिल्म संसार में भी अपना नाम कमाया।

इसके बाद प्रकाश पिक्चर्स की फिल्म 'नरसी भगत (निर्देशक विजय भट्ट) में पागनीस ने एक गुजराती संत नरसी भगत का अभिनय किया। फिल्म की नायिका दुर्गा खोटे थीं। इस फिल्म में शंकर व्यास की संगीत धुनों को पागनीस के गाए गीतों ने लोकप्रिय बनाया।

सिरको प्रोडक्शन ने सन १९४३ में पागनीस को महात्मा विदुर की मुख्य भूमिका दी। इस फिल्म में भी पागनीस और दुर्गा खोटे की जोड़ी ने कार्य किया। इस फिल्म के अधिकतर कलाकार हिंदी और मराठी के थे। महात्मा विदुर को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। महात्मा विदुर अद्वितीय संत व्यक्ति विष्णुपंत पागनीस की अंतिम फिल्म थी क्योंकि इसके तुरंत बाद ३ अक्टूबर १९४३ को अस्वस्थता के कारण उनका देहांत हो गया।

पागनीस ने एक बहुत ही असामान्य जीवन जिया। वे एक सीधे-सादे व्यक्ति थे। उन्होंने कभी भी किसी को खाली हाथ नहीं लौटाया। वे ईश्वर में विश्वास रखते थे। आध्यात्मिक पुस्तकों जैसे भागवत, ज्ञानेश्वरी और तुकाराम की कविताओं को पढ़ने के शौकीन थे। प्रतिवर्ष पंढरपुर जाते और वहाँ विट्ठल की प्रार्थनाएँ गाते। विभिन्न महाराजाओं के निमंत्रण पर वे केवल भजन गाते थे। उन्होंने अपने संगीत को कभी सस्ता नहीं बनाया। हमेशा मानवीय मूल्यों का आदर किया।

**● प्रस्तुतिः शशि गर्ग**




# राम मराठे

*राम मराठे का जन्म २५ अक्टूबर १९२४ को पूना में हुआ था। पिता एक बोर्डिंग हाउस चलाया करते थे। आर्थिक कठिनाइयों के कारण राम मराठे को चौथी कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़कर फिल्मों में काम खोजना पड़ा। नाना साहब सरपोतदार ने निर्देशक हीरेन बोस से सिफारिश कर उन्हें बाल कलाकार के रूप में **'धर्म की देवी'** (१९३५) में काम दिलवाया। मधुर कंठ तथा सहज अभिनय के कारण लोगों ने उन्हें काफी पसंद किया। देवकी बोस ने अपनी फिल्म **'जीवन नाटक'** (१९३५) में उन्हें महत्वपूर्ण भूमिका दी।*

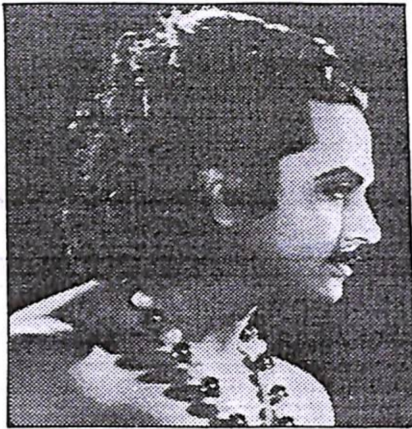
*इसके बाद तो उन्हें धड़ाधड़ फिल्में मिलने लगीं। विजय सिंह की 'संत तुलसी दास'/ 'नरसी भगत'/ तथा मेहबूब द्वारा निर्देशित 'जागीरदार'/ मनमोहन'/ तथा 'डेक्कन क्वीन' बाल कलाकार के रूप में उनकी सफल फिल्में रही हैं।*

*राम मराठे को बाल कलाकार के रूप में नायक की भूमिका उन्हें प्रभात फिल्म की **'गोपाल कृष्ण'** में मिली। हिन्दी-मराठी में बनी इस फिल्म की नायिका शांता आप्टे थीं। यह फिल्म हिट रही। इसके बाद मानुस (मराठी)/ 'आदमी' (हिन्दी)/ 'नदी किनारे'/ तथा 'ताजमहल' (१९४१) में वे बाल कलाकार के रूप में आए।*

*इसके बाद उनका फिल्मी कैरियर लगभग समाप्त हो गया। सत्रह वर्ष के अंतराल के बाद वे मराठी फिल्म 'लोकशायर अनंतपाणि' (१९५८) में आए। इस बीच वे शास्त्रीय संगीत के महान गायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। रंगमंच पर भी उन्होंने अपनी अभिनय प्रतिभा के जौहर दिखाए। सन् १९९१ में उनका निधन हो गया।* **(शकि)**

शाहू मोडक

# उनतीस बार कृष्ण



**फि**ल्मी सितारों की तस्वीरों वाले कैलेण्डरों की लोकप्रियता आज पूरे देश में है। विभिन्न मुद्राओं में नायक-नायिकाओं की तस्वीरों के दिनों और तारीखों का हिसाब दीवारों पर लटका हुआ दिखाई देना आम बात है। सभी इन कैलेण्डरों को देखते हैं मगर शायद ही किसी को मालूम हो कि फिल्मी

● **शशिकांत किणीकर**

सितारों की तस्वीरों वाले रंगीन कैलेण्डरों का प्रचलन साठ वर्ष पूर्व शुरू हुआ था तथा पहले ऐसे रंगीन कैलेण्डर पर कृष्ण की भूमिका करने वाले बाल सितारे शाहू मोडक की तस्वीर छपी थी।

अहमदनगर (महाराष्ट्र) के ईसाई परिवार में पच्चीस अप्रैल १९१९ को जन्मे शाहू मोडक को कृष्ण की भूमिका के लिए भालजी पेंढारकर ने चुना था। पूना की सरस्वती सिनेटोन की फिल्म **'श्याम सुंदर'** का निर्देशन करते समय बाल कृष्ण की भूमिका के लिए उन्हें चुना गया। यह फिल्म हिट रही तथा एक ही टॉकीज में लगातार पच्चीस सप्ताह चलने वाली पहली बोलती फिल्म के रूप में इसने कीर्तिमान बनाया। अगली फिल्म **'आवारा शहजादा'** (१९३३) में शाहू मोडक ने डबल रोल कर भारतीय सिनेमा में डबल रोल की परंपरा का सूत्रपात किया।

इन दो फिल्मों के बाद उन्होंने सरस्वती सिनेटोन छोड़कर महालक्ष्मी सिनेटोन से रिश्ता जोड़ा तथा बंबई आ गए। बंबई में आकर वे बाल कृष्ण बने तथा उनकी नायिका हुई जुबैदा। फिल्म थी **'नंद के लाल'**।

उन दिनों नायक के लिए गायक होना जरूरी था। शाहू मोडक ने शास्त्रीय संगीत सीखा। वे अच्छे गायक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। इसके बाद बालक के स्थान पर वे युवा भूमिकाओं में आने लगे। सेवासदन (१९३४), हिन्द महिला (१९३६) तथा होनहार (१९३६) उनकी सफल फिल्में रहीं। शाहू मोडक ने अपने समय के सभी प्रतिष्ठित हिन्दी, मराठी फिल्म निर्देशकों के साथ काम किया है। वी. शांताराम की 'आदमी', विजय भट्ट की 'राम राज्य' एवं भरत मिलाप, ए.आर. कारदार की 'कानून', देवकी बोस की 'मेघदूत', गजानन जागीरदार की 'वसंत सेना', दादा गुंजाल की 'दुल्हन', राजा ठाकुर की 'मी तुलसी तुझया आँगनी', मोहन सिंहा की 'श्री कृष्णार्जुन युद्ध', उनकी प्रमुख फिल्में रही हैं। चार दशक के फिल्मी कैरियर में उन्होंने विभिन्न भाषाओं की एक सौ पचहत्तर फिल्मों में काम किया। कृष्ण के रूप में वे उनतीस बार परदे पर आए।

धार्मिक फिल्मों में काम करते-करते उनका झुकाव आध्यात्म की ओर हुआ तथा वे दार्शनिक चिंतक, विचारक एवं शोधक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। अमेरिका के येल विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र पर उनकी व्याख्यानमाला १९७६ में आयोजित हुई थी।

---

बाबा साहेब नांदरेकर

# नारी गुणों के नायक

**बा**बा साहेब नांदरेकर, का जन्म सन १९१० में सांगली तहसील के गाँव नांदेड़ में हुआ। उन्होंने अपनी स्कूली शिक्षा कोल्हापुर में प्राप्त की। अपने अध्ययनकाल में वे रंगमंच के नाटकों में भाग लेते थे। इनकी पहचान विष्णुपंत दामले ने बनाई, जो कि उस समय कोल्हापुर में महाराष्ट्र फिल्म कंपनी में कार्य करते थे।

सन १९२८ में दामले और फत्तेलाल ने एक मूक फिल्म 'कर्ण-प्रबल योद्धा' बनाई तो नांदरेकर को एक छोटी-सी भूमिका दी गई। नांदरेकर अपनी भूमिका में सफल रहे। उन्हें अन्य फिल्मों - लंका (१९३०), दूशान की रात (१९३१) एवं किस्मत (१९३२) में कार्य करने का मौका मिला। ये सभी मूक फिल्में थीं जो महाराष्ट्र फिल्म कंपनी द्वारा कोल्हापुर में बनाई गई थीं।

इसी समय बाबा साहेब सरदार बाला साहेब यादव के संपर्क में आए। जिन्होंने इस सुंदर और जवान युवक को कुछ भूमिकाएँ देने का वायदा किया। जब बाला साहेब यादव ने सन १९३१ में अपनी छत्रपति सिनेटोन नामक फिल्म कंपनी बनाई तो फिल्म **'मराठियातिल दूही'** में एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। यह फिल्म १९३२ में रिलीज हुई तथा इसे कुछ सफलता मिली। नांदरेकर का नाम धीरे-धीरे लोकप्रिय होने लगा। उन्होंने छत्रपति सिनेटोन द्वारा सन् १९३३ में निर्मित हिंदी-मराठी द्विभाषी फिल्म 'कुरुक्षेत्र' में भी काम किया।

उनके कार्य से प्रभावित होकर दामले एवं फत्तेलाल ने अपनी धार्मिक फिल्म 'संत तुकाराम' (१९३६) में उन्हें शिवाजी की भूमिका करने का मौका दिया। इस फिल्म की सफलता से नांदरेकर बहुत लोकप्रिय हो गए। उन्हें स्टार माना जाने लगा। उन्हें एक और सफलता मिली जब उन्हें वी. शांताराम ने अपनी फिल्म 'अमर ज्योति' में एक महत्वपूर्ण भूमिका दी। इस फिल्म की नायिका अनुभवी गायिका शांता आप्टे थीं। इस फिल्म के बाद नांदरेकर कला जगत के शिखर पर पहुँच गए।

उनकी प्रसिद्धि को देखते हुए 'जनरल फिल्म कंपनी' ने अपनी फिल्मों में उन्हें मुख्य भूमिकाएँ प्रदान कीं। वे फिल्म बागबान में नायक बने। उस समय उनके साथ नायिकाएँ विमला कुमारी एवं सितारा थीं। फिल्म का निर्देशन ए.आर. कारदार ने किया। यह फिल्म बहुत ही लोकप्रिय हुई। इसी वर्ष इसी कंपनी की मराठी फिल्म : चंद्रराव मोरे में भी काम किया। फिल्म में नई तारिका 'जयश्री' ने नायिका की भूमिका निभाई (जो बाद में श्रीमती वी. शांताराम बनीं) यह बात सन १९३८ की है।

**बागबान** की सफलता ने नांदरेकर को नई ऊँचाइयों पर पहुँचाया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय फिल्म निगम ने उन्हें अपनी फिल्मों कैदी (१९४०) और चित्रलेखा (१९४१) में अभिनय करने हेतु कलकत्ता आमंत्रित किया। दोनों फिल्में नामी सितारों से भरी थीं - रमोला, मेहताब, मोनिका देसाई, वास्ती, ज्ञानी, लीला मिश्रा आदि। इस फिल्म से अपना फिल्मी जीवन शुरू करने वाले भारत भूषण उनके साथी कलाकार थे। दोनों फिल्में बहुत सफल रहीं साथ ही नांदरेकर अखिल भारतीय स्तर के कलाकार बन गए।

भालजी पेंढारकर द्वारा सन् १९४० में निर्देशित इन दो फिल्मों 'अलख निरंजन' (हिन्दी) तथा गोरखनाथ (मराठी) में भी उन्होंने कार्य किया।

सन १९४२ में उन्होंने चार फिल्मों में काम किया। जिनमें 'गोराकुंभा', 'सावल्या तंडेल' मराठी वहीं 'मामाजी,' 'दुनिया तुम्हारी है', हिंदी फिल्में थीं। नांदरेकर का फिल्मी जीवन अल्पायु में ही अल्प बीमारी से एकाएक सन १९४३ में मृत्यु हो जाने से समाप्त हो गया।

एक हीरो के बतौर नांदरेकर बहुत सुंदर थे। अभिनय की दृष्टि से उनमें नारीत्व के अधिक गुण थे। उनका हिंदी-उर्दू ज्ञान सीमित था। ■

देशभक्ति मनोज कुमार के लिए महज एक फिल्मी फ़ार्मूला रही है। दक्षिण भारतीय नायकों से उधार ली हुई उनकी 'छवि' 'टिकाऊ-बिकाऊ' नहीं हो सकी और पौरस की सेना की तरह वे अपने हाथियों के पैरों तले कुचल गए। देश की धरती से सोना उगलवाने का उनका सपना आज कीचड़ से लयपथ है।

# मनोज कुमार
# आधे चेहरे की कामयाबी

● जयप्रकाश चौकसे



*पूरब और पश्चिम : सायरा बानो के साथ*

हरिकृष्ण गोस्वामी एक्टर बनने का सपना लिए बंबई पहुँचे। उन्हीं दिनों पंजाब से **धर्मेंद्र** भी अपनी किस्मत आजमाने आए हुए थे। स्टूडियो-दर-स्टूडियो खाक छानते हुए दोनों अक्सर कहीं न कहीं टकरा जाते थे। लेखराज भाखड़ी की फिल्म **फैशन** में मनोज ने फकीर की छोटी-सी भूमिका की और छोटी-छोटी भूमिकाओं का दौर चलने लगा। नायक के रूप में पहली फिल्म थी **'काँच की गुड़िया'** परंतु स्टार के रूप में कदम जमे **'हरियाली और रास्ता'** से। प्रारंभ के इन वर्षों में हरिकृष्ण गोस्वामी अर्थात **मनोज कुमार** ने फिल्म लेखन और निर्माण की बारीकियों का अध्ययन किया क्योंकि उनकी महत्वाकांक्षा थी फिल्मकार बनने की। 'गुमनाम' में मनोज के अभिनय की प्रशंसा हुई।

१९५७ से १९६७ तक मनोजकुमार ने कई फिल्मों में अभिनय किया परंतु कोई शैली विशेष उभरकर सामने नहीं आई। इतना तो स्पष्ट था कि दिलीपकुमार का बहुत गहरा प्रभाव है। मनोज के जीवन में नया मोड़ उस समय आया जब सीताराम शर्मा और लेखराज उनसे अनुरोध करने आए कि वे उनकी फिल्म **'शहीद'** में अभिनय करें, जो भगतसिंह के जीवन की कथा है। मनोज ने सीताराम की लिखी पटकथा पढ़ी और बहुत प्रभावित हुए। उन्हीं दिनों गुलशन बावरा भी इस दल में आ मिला। सीताराम शर्मा ने अपने विषय पर बहुत खोज की थी। मनोज कुमार ने सारे नोट्स पढ़े और पटकथा दुबारा लिखी गई। शहीद टीम-वर्क का नतीजा था और फिल्म अत्यंत सफल रही। शहीद के निर्माण के समय मनोज ने अपनी स्वतंत्र अभिनय शैली विकसित की। मनोज की सूरत भगतसिंह से कतई नहीं मिलती थी, अतः प्रोफाइल शॉट्स लिए और कहीं मनोज ने अपना चेहरा भी ढँक लिया परंतु शैली के रूप में यह प्रारंभ मात्र था। **शहीद की कामयाबी से चतुर बामन मनोज को यह समझ में आ गया कि देशभक्ति सफल फिल्मों का सच्चा फार्मूला हो सकती है और उपकार में उन्होंने 'जय जवान जय किसान' के नारे को नकद में बदल लिया।** इसी फिल्म के निर्माण काल में उन्होंने अपने हाथ से आधा चेहरा ढाँककर काम करना शुरू किया और जनता को यह अदा भा गई। अगर मनोज कुमार सफल और कुशल निर्देशक नहीं होते, तो अभिनेता मनोज कुमार एक मामूली से दौर के बाद गुमनामी के अँधेरे में खो जाते क्योंकि दिलीपकुमार की नकल कर कोई बहुत दूर तक नहीं जा सकता। निर्देशक मनोज ने अभिनेता मनोज की कमजोरियों को न केवल छुपाया बल्कि कुछ कमजोरियों को ताकत में बदल दिया। इस काम में लेखक मनोज कुमार ने निर्देशक और अभिनेता दोनों की बहुत सहायता की।

मनोज कुमार ने अत्यंत कुशलता से ऐसे आदमी की छवि गढ़ी जो अपने देश से प्यार करता है। शराब नहीं पीता। शाकाहारी है और अपनी नायिका के साथ शारीरिक दूरी बनाए रखता है। रोटी कपड़ा और मकान में नायिका बरसात में गा रही है परंतु नायक दूर सुरक्षित जगह में खड़ा है। उसने इस चतुराई से अपनी ब्रह्मचारी छवि को गढ़ा कि परंपरावादी भोले दर्शकों को उनकी बात पर यकीन आ गया। उन्होंने अपनी फिल्मों में नारी शरीर का खूब प्रदर्शन किया परंतु नायक ने दूरी बनाए रखी। **'क्रांति'** में जहाज पर बरसात हो रही है- रस्सियों में जकड़ी हेमा अत्यंत मादक ढंग से अपने को छुड़ाने का स्वांग कर रही हैं। मनोज व्यक्तिगत जीवन में हमेशा बहुत गोपनीय ढंग से पीते रहे परंतु पिता की मृत्यु के बाद जब उन्होंने खुले आम पीना शुरू किया तो **छवि का छलावा खत्म**

**प्रमुख फिल्में :** □ काँच की गुड़िया/रेशमी रूमाल/अपना बना के देखो (१९६१) □ बनारसी ठग/ डॉ. विद्या/ शादी (१९६२) □ घर बसा के देखो (१९६३) □ अपने हुए पराए □ फूलों की सेज/ वो कौन थी (१९६४) □ गुमनाम/ शहीद (१९६५) □ दो बदन/ सावन की घटा (१९६६) □ अनिता/ पत्थर के सनम/ उपकार (१९६८) □ आदमी/ नील कमल (१९६८) □ साजन (१९६९) □ मेरा नाम जोकर/ पहचान/ पूरब और पश्चिम (१९७०) □ बलिदान (१९७१) □ बेईमान (१९७२) □ रोटी, कपड़ा और मकान (१९७४) □ संन्यासी (१९७५) □ क्रांति (१९८१) □ कलयुग और रामायण (१९८७) □ क्लर्क/ संतोष (१९८९)।

● प्रस्तुति : आदर्श गर्ग

और फिल्में पिट गईं।

सफल निर्माता-निर्देशक बनने के बाद मनोज ने अपने 'डमी' निर्माता सोहनलाल कँवर के साथ पहचान, बेईमान और संन्यासी फिल्में बनाईं और मदन मोहला के साथ दस नंबरी। इन फिल्मों में मनोज कुमार अत्यंत सहज हैं और भांति-भांति की फन्तासी आजमाते हैं। मसलन संन्यासी में मध्यांतर तक वे ब्रह्मचारी की छवि में है जिसे मेनकानुमा हेमा डिगाना चाहती है। मध्यांतर के बाद वे रॉबिनहुड हैं जो अमीरों को लूटता है। कुछ हिस्से में बांड नुमा गिमिक्स भी हैं। पहचान में वे गवई गांव का भोला ब्रह्मचारी है, जो शहर आकर शहर वालों के खोखलेपन को उजागर करता है। यह फिल्म मूल्यहीनता पर गंभीर चिंतन नहीं होकर फूहड़ नारेबाजी मात्र है। जो कथानक किसी गंभीर फिल्मकार के हाथ जागते रहो हो सकता था, वह मनोज के हाथों 'पोंगा पंडित' की तरह सतही हास्य होकर रह गया।

मनोज ने सारा जीवन दिलीप बनने की कोशिश की परंतु 'आदमी' में जब पहली बार दिलीप से सामना हुआ, तो उन्हें अपनी सीमाओं का अहसास हुआ। आदमी में दिलीप ने यह तरीका अपनाया कि रिहर्सल में वे देख लेते थे कि मनोज कितना दिलीपनुमा है और फिर 'टेक' में वे स्वयं अपने हाव-भाव बदल लेते थे ताकि फिल्म दो दिलीप कुमारों की नहीं लगकर दो जुदा शैली के अभिनेताओं की लगे। क्रांति में भी दिलीप को अपने अस्वाभाविक 'क्लोन' से बचना पड़ा।

मनोज की संवाद अदायगी पर भी दिलीप का असर है परंतु दिलीप की तरह मनोज का मॉडुलेशन पर अधिकार नहीं है। मनोज के पास दिलीप का 'बेस' भी नहीं है और धीमें बोलते समय ये उच्चारण की स्पष्टता को कायम नहीं रख पाते। दिलीप भारतीय नृत्य में पारंगत हैं, मनोज के पास 'दो उल्टे पाँव' हैं अर्थात वे नाच नहीं सकते परंतु दिग्दर्शक मनोज गीतों के चित्रांकन में पारंगत हैं और अत्यंत कुशलता से अपनी लयहीनता को छुपा लेते हैं।

मनोज कुमार ने गुमनाम, वह कौन थी, शहीद और शोर में अच्छा अभिनय किया है और इन फिल्मों को अपने पूर्व निर्धारित हाव-भाव से बचाया है। शहीद उनकी श्रेष्ठतम फिल्म है। शोर की भूमिका अद्भुत थी जिसमें एक बाप अपने बेटे के बहरेपन को दूर करने के लिए अपनी जान की बाजी लगाता है। जब बेटा बोलने लगता है तो बाप सुन नहीं पाता। इस ओ'हेनरीनुमा कहानी में अभिनय की गुंजाइश थी और मनोज ने काफी हद तक न्याय भी किया है।

दरअसल मनोज एक अत्यंत बुद्धिमान व्यक्ति हैं जिसने अपने अभिनय की अत्यंत सीमित प्रतिभा को अपने निर्देशक की क्षमता से ऐसा सँवारा कि वे हमेशा सफल अभिनेता रहे। **'क्लर्क'** में जैसे ही निर्देशक ने दम तोड़ा, नायक का भ्रम भी खत्म हो गया है। ■

**किशोर कुमार ने अपने अभिनय से परिस्थितिजन्य हास्य को जिया। इसके लिए उन्हें किसी दूसरे चरित्र में उतरने की जरूरत नहीं पड़ी। अपने जबर्दस्त 'सेंस ऑफ टाइमिंग' और सबसे बढ़कर अपने 'इम्प्रोवाइजेशन' से वे हर शॉट, हर सीन, हर एक्शन को अपने रंग में रंग लेते थे। यह अपने आप में एक 'मैथड' था। एक स्कूल था, जो अपनी पहचान नहीं पा सका।**

# अनोखे और अनुपम किशोर कुमार

● विनोद तिवारी

खूबसूरत बंगले के शानदार ड्राइंग रूम की नक्काशीदार मजबूत दीवार पर किए गए नए पेन्ट के शेड में कहीं पर बाल भर फर्क रह गया था। इनकम टैक्स विभाग की ओर से छापा मारने आए लोगों में से किसी को उसे देखकर शक हो गया। बंगले के मालिक, बेजोड़ कलाकार किशोर कुमार के देखते-देखते सारी दीवार उधेड़कर रख दी गई। कहीं इसके अंदर तो माल नहीं छिपा रखा है? कीमती सोफे पर बैठे किशोर कुमार मुस्कुराते रहे तो शक को एक और अनुमान मिला- ये इतने इत्मीनान से सोफे पर क्यों बैठे हैं? उन्हें उठाकर सोफा चिथड़े-चिथड़े कर डाला गया। यह बात और है कि अंदर से खोटी अठन्नी तक बरामद नहीं हुई।

'कहाँ छिपा रखा है माल?' आयकर अधिकारी ने फिर झिड़की दी 'सच-सच बता दो...।'

'सच-सच बता दूँ?' किशोर कुमार ने जैसे उसी की नकल की। फिर राज खोलते हुए फुसफुसाए- 'वहाँ, सामने नारियल के उस झाड़ पर, पत्तों के बीच पड़ी है पोटली...।'

तुरंत आदमी पेड़ पर चढ़ाया गया, लेकिन पोटली होती, तो मिलती न। अधिकारी फिर गुर्राया- 'मजाक करते हो हमारे साथ?'

किशोर कुमार के तथाकथित पागलपन के वाकयों में एक वाकया यह भी सुनाया जाता है। इसी तरह। अधूरा...। मुझे किशोर कुमार ने खुद यह वाकया सुनाया था, पूरा। मैंने ऑफिसर से कहा- 'जनाब, आपने दीवारें खोद-खोदकर घर बरबाद कर दिया और मैं चुप रहा क्या वह मजाक था? आपने कीमती फर्नीचर की दुर्गति कर दी, मैं फिर भी चुप रहा। क्या वह भी मजाक था? आप मेरा ही माल मुझसे छीन ले जाने के लिए पूछ रहे हैं कहाँ रखा है माल? मुझे तो आपसे बड़ा मजाकिया कोई दूसरा नहीं मिला। मैं आपसे क्या मजाक करूँगा?'

तो ये थे किशोर कुमार। गंभीरतम परिस्थितियों में भी हास्य ढूँढ लेने वाले। हास्य के जरिए गंभीरतम बात कह जाने की कला जानने वाले जीनियस। और जीनियसों को एक विशेषण तो सदा ही मिला है- सिरफिरा। सचमुच, वे सिरफिरे न होते तो सिर्फ एक्टिंग में अपने आप को सीमित रखते। एक विशिष्ट इमेज बनाते। सीरियोकॉमिक हीरो की जिस जगह के वे एकमात्र और एकछत्र बादशाह थे, उसे कायम रखने के लिए सचेष्ट रहते। फिल्म चले न चले। एक्टिंग का पैसा लेते और ऐश करते। लेकिन एक्टिंग का लुभावना संसार उन्होंने खुद त्याग दिया। स्टार या सुपर स्टार कभी ऐसा करते हैं? इसीलिए वे सुपर स्टार नहीं हुए। ये सीमाएँ उन्हें घेर नहीं सकीं।



*चिकी-चिकी बम-बम: किशोर कुमार*

**एक्टिंग** में उनके सुपर स्टार न बन पाने को दूसरी नजर से भी देखा जा सकता है। देखा ही जाता है। दो नावों पर एक साथ सवार व्यक्ति लंबी रेस नहीं जीत सकता। वे गायक और अभिनेता दोनों अच्छे थे इसमें शक नहीं लेकिन जब तक एक्टिंग को छोड़ पार्श्वगायन में रम नहीं गए, सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सके। इस बारे में किशोर के अपने मन में कोई द्वंद्व नहीं था। यह बात उन्होंने हमेशा स्पष्ट रखी कि उनका फर्स्ट लव गायन ही है।

एक्टिंग नहीं। एक्टिंग उनके लिए सिर्फ शौक की चीज थी, कैरियर की नहीं। इसीलिए वे उसके आकर्षण को सहज ही झटक भी पाए।

अभिनय के प्रति पूरी तरह समर्पित न होते हुए भी वे नामी नायकों की श्रेणी में कैसे आ गए और कैसे हर बड़ी हीरोइन के साथ उन्हें हीरो लेने की होड़ निर्माताओं में लगी रही? क्यों उनसे किसी भी तरह कम न माने जाने वाले अभिनेता **मेहमूद** ऐसी प्रतिष्ठा नहीं पा सके? अपने जमाने में मेहमूद किसी सुपर स्टार से कम नहीं थे। फिल्म में उनका होना ही फिल्म की सफलता की गारंटी माना जाता था। मुझे याद है, उन दिनों कुछ फिल्मों में उनके काम करने की एक ही शर्त होती थी- पारिश्रमिक हीरो से १ हजार रु. ज्यादा होना चाहिए। मेहमूद की यह शर्त भी निर्माताओं ने मानी लेकिन फिर भी मेहमूद को हीरो वाली प्रतिष्ठा नहीं मिली जबकि किशोर कुमार सहज ही हीरो स्वीकार कर लिए गए। यह भी याद रह जाने वाली बात है कि चरित्र चित्रण में मेहमूद किशोर से कहीं आगे थे।

इस फर्क को समझने के लिए यह बात स्पष्ट करना जरूरी है कि किशोर कुमार कॉमेडियन नहीं थे। अभिनय कला में जो सैकड़ों रंग हैं, उनके बीच उचित विभाजन रेखा खींच सकना एक तो वैसे ही मुश्किल काम है, दूसरे हमारे यहाँ इसकी कोशिश भी नहीं की जाती। कॉमेडियन और नक्काल, नक्काल और जोकर, जोकर और बहुरूपिए के बीच जबर्दस्त अंतर है। लेकिन इसके बावजूद हमारे यहाँ इन सभी को एक ही श्रेणी में गिना जाता है- कॉमेडियन। किशोर कुमार का दुर्भाग्य यह रहा कि उन्हें भी सदा इन्हीं सब श्रेणियों में से कोई एक गिना जाता रहा क्योंकि सीरियोकॉमिक हीरो का कॉन्सेप्ट ही हमारे यहाँ स्वीकार नहीं हुआ है। हमारे यहाँ का दर्शक और उसकी वजह से निर्देशक यह बात सोच ही नहीं पाते कि हास्य के जरिए भी कोई गंभीर बात कही जा सकती है। जो हँसता-हँसाता रहे, वह भला सीरियस बात कैसे कर सकता है? यहाँ तो जब तक कोई मुँह लटकाए, दाढ़ी बढ़ाए न बैठे उसे गंभीरता से लिया ही नहीं जाता। और यह सब तब जब समाज में ऐसे चरित्र अक्सर मिलते हैं जो हँसते-हँसते समस्याओं की हल करते चलते हैं। वे विद्वान और सामान्य मनोविज्ञान को जानने वाले, दोनों ही होते हैं। वहाँ हम उन्हें स्वीकार सकते हैं, फिल्मों में ही नहीं क्योंकि हँसना-हँसाना हम लोगों ने एक हल्का काम मान रखा है। सेंस ऑफ ह्यूमर जिसे विदेशों में व्यक्तित्व का अहम् गुण माना जाता है, हमारे यहाँ हल्केपन की निशानी है। फिर भला किशोर कुमार को सुपर स्टार कैसे मान लिया जाता?

यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना जरूरी है। यह शंका सहज ही उठाई जा सकती है कि एक्टर का सेंस ऑफ ह्यूमर में क्या योगदान होगा? वह बोलेगा तो वही जो उसे लिखकर दिया जाएगा, बताया जाएगा। पढ़ने में यह बात सही लग सकती है लेकिन फर्क संवाद अदायगी के समय पता चलता है। सेंस ऑफ ह्यूमर का सेंस ऑफ टाइमिंग के साथ गहरा संबंध है। बात कैसे, कहाँ पर जोर देकर, कहाँ रुककर किस एक्शन के साथ कही गई, उसी से सारा फर्क हो जाता है। सेंस ऑफ टाइमिंग ही हर अभिनेता के बस की बात नहीं, फिर उसमें ह्यूमर भी जोड़ सकना तो मुश्किल कला है। शायद इसीलिए किसी अभिनेता ने उसे पूरा अपनाकर अपना स्टाइल बनाने की बात नहीं सोची।

सेंस ऑफ ह्यूमर की बात अगर थोड़ी बहुत स्वीकार की भी गई तो उसे हीरो के स्वभाव का एक छोटा सा हिस्सा बनाकर छोड़ दिया गया, क्योंकि हीरो तो सर्वगुण संपन्न ही होना था, पूरे नौ रसों का संतुलित संगम। इसलिए भी सीरियोकॉमिक हीरो को हिंदुस्तानी सिनेमा में प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी। वह कॉमेडियन से ऊपर नहीं उठ सका। किशोर कुमार भी इसीलिए धीरे-धीरे टाइप्ड मान लिए गए।

मैं किस किस्म के हीरो की बात कह रहा हूँ इसे थोड़ा और विस्तार से बताए बिना किशोर कुमार के अभिनय की समुचित समीक्षा नहीं की जा सकती। आज की पीढ़ी के बहुत से दर्शकों ने किशोर कुमार के अभिनय वाली फिल्में नहीं भी देखी होंगी। लेकिन अच्छे सिनेमा के प्रेमी कमल हासन की फिल्में मिस नहीं करते। कमल हासन कॉमेडियन नहीं हैं लेकिन जीवन के दुःख, दर्द, अभाव, आशाओं और निराशाओं को उन्होंने हास्य के जरिए जिस खूबी से व्यक्त किया है उसे देखकर अमिताभ बच्चन जैसे अभिनेता ने भी स्वीकार किया कि 'कमल हासन को छू सकना मेरे बस की बात नहीं।' जिन्हें उनकी सदमा फिल्म याद होगी वे उसके क्लाइमेक्स पर एक ही समय पर हँसे और रोए होंगे। इस दृश्य में प्रकटत: कमल हासन बंदर का सा मुँह बनाते हैं, वैसी ही हरकतें करते हैं, गुलाटियाँ खाते हैं लेकिन अंदर से उनका दिल जार-जार रो रहा है क्योंकि जिस श्रीदेवी को उन्होंने चाहा, प्यार किया, आज याददाश्त पलट जाने की वजह से वही न उन्हें पहचान रही है और न उनकी उन हरकतों को, जिन पर वह हँसते-हँसते लोटपोट हो जाया करती थीं। ध्यान रखने की बात है, कमल हासन यहाँ कोई कॉमेडी नहीं कर रहे। वे जीवन के कुछ अद्भुत क्षणों को फिर जी लेने की कोशिश कर रहे हैं और सिर्फ इसलिए हँस रहे हैं कि कभी यही क्षण विनोदपूर्ण हुआ करते थे। अब चूँकि सारे प्रयत्न निष्फल हो रहे हैं तो वे साथ-साथ रो भी रहे हैं। भावनाओं का इतना सशक्त, गंगा जमनी चित्रण परंपरागत, सर्वगुण संपन्न हीरो के बस की बात नहीं। उसे तो कोई सीरियोकॉमिक अभिनेता ही निभा सकता है।

किशोर कुमार ने अपने अभिनय जीवन में ऐसे ही चरित्र जिए हैं। जिंदगी के खिलवाड़ों को हँसी में घोलकर सह जाना सिखाया है। यहीं पर वे **जॉनी वॉकर** की लोकप्रियता या मेहमूद की प्रतिभा से कहीं ऊँचे खड़े दिखाई देते हैं। मेहमूद को अपनी अभिनय शक्ति के प्रदर्शन के लिए किसी दक्षिण भारतीय चोटी लुंगीधारी कट्टर ब्राह्मण, किसी हैदराबादी रिक्शे वाले, किसी मानसिक रूप से अविकसित वयस्क चरित्र की, उसकी वेशभूषा की, उसके हावभावों की जरूरत पड़ती रही। किशोर ने अपने अभिनय से परिस्थितिजन्य हास्य को जिया। इसके लिए उन्हें किसी दूसरे चरित्र में उतरने की जरूरत नहीं पड़ी। अपने क्रिया कलापों से, अपने जबर्दस्त सेंस ऑफ टाइमिंग से अपने रिएक्शनों और सबसे बढ़कर अपने इम्प्रोवाइजेशन से वे हर शॉट, हर सीन, हर एक्शन को अपने अलग रंग से रंगते रहे। मैं फिर दोहराना चाहूँगा, यह रंग मात्र कॉमेडी का नहीं था। यह अपने आप में एक मैथड था, एक स्कूल जो अपनी सही पहचान नहीं पा सका। वैसे ही जैसे कमल हासन जैसा अद्वितीय कलाकार हिंदी फिल्मों में सही पहचान नहीं पा सका। लेकिन इन कलाकारों को कोई सुपर स्टार न भी कहे तो क्या? क्या वे कभी ऐसे विशेषणों के मोहताज रहे हैं?



*हमको हँसते देख जमाना जलता है- किशोर*

अभिनय में यह जज्बा सहज ही पैदा नहीं होता। इसके लिए मानवीय भावनाओं का, विभिन्न स्थितियों में एक ही व्यक्ति के बदले जाते रंगों का, क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का गहन अध्ययन चाहिए। आमतौर पर लोगों से दूर-दूर रहने वाले किशोर कुमार के पास कहाँ से आया यह अध्ययन, यह अनुभव?

'अनुभवों ने ही तो मुझे दुनिया से दूर-दूर रहना सिखाया', उन्होंने एक बार बताया था। 'इतनी बनावट, इतना दिखावा है दुनिया में कि जैसे बस मुखौटे ही मुखौटे रह गए हैं। असली चेहरे का पता ही नहीं लगता। इन्सान को सोचो कुछ, वह निकलता कुछ और है। हर किसी को अपने स्वार्थ से मतलब है। इन स्वार्थियों ने ही मुझे सबसे ज्यादा सिखाया है। इंसान पर हँसना भी, इंसान पर रोना भी।'

जीवन के अनेक तल्ख अनुभव उन्हें बंबई आने के बाद ही हुए और वे भी खासतौर पर भरपूर पैसा कमा लेने के बाद। पैसे के साथ कटुताएँ जुड़ी ही हुई हैं। वरना इसके पहले का टाइम, खंडवा और इंदौर में बिताया हुआ समय उनकी सुखद यादों में से था। यही था वह समय जब सुंदर,सहृदय, संस्कारशील मानवीय भावनाओं से उनका परिचय हुआ था। तब लोगों के बीच घुलमिलकर बैठना, उनकी सुनना, अपनी सुनाना उन्हें भी पसंद था। अभावों, आशंकाओं, निराशाओं और जीवन से संघर्ष की प्रबल मानवीय प्रवृत्तियों से भी इसी जन साधारण ने उनका निकट परिचय कराया। अपने अनुभवों और भावनाओं को अभिनय में कैसे ढाला जाता है इसकी गंभीर समझ उनमें पैदा हुई बॉम्बे टॉकीज के दिनों में, जहाँ समर्थ निर्देशकों, लेखकों, अभिनेताओं सभी का साथ उन्हें मिला।

**किशोर कुमार** की अभिनय यात्रा शुरू हुई थी फिल्म **जिद्दी** से, जो बॉम्बे टॉकीज ने बनाई थी। यह फिल्म १९४८ में प्रदर्शित हुई थी। वे इसमें हीरो नहीं थे, सिर्फ एक छोटी सी भूमिका की थी उन्होंने और पहला पार्श्व गीत गाया था हीरो देव आनंद के लिए 'मरने की दुआएँ क्यों माँगूँ, जीने की तमन्ना कौन करे...' इस फिल्म के निर्देशक थे शाहिद लतीफ। बॉम्बे टॉकीज के उन दिनों में किशोर के पास ज्यादा काम तो होता नहीं था, वे अपने सेंस ऑफ ह्यूमर से (कॉमेडी से नहीं) स्टाफ के सभी सदस्यों के लिए मनोरंजन का मसाला जुटाते रहते थे।

यह जबर्दस्त सेंस ऑफ ह्यूमर उनमें कहाँ से आया? इस बारे में बातचीत करते हुए उन्होंने एक बार बताया था कि गंभीर बात को हँसी में मिलाकर, उसे इंसान के सहने योग्य बनाकर पेश करने की कला उन्होंने अपने पिताजी से सीखी। सीखी क्या, बल्कि उत्तराधिकार में पाई। उनके पिता वकील थे। लोगों से बात उगलवाना और अच्छे-बुरे फैसले के लिए उन्हें तैयार करना उनका पेशा था। दूसरे वकीलों के डराने-धमकाने वाले स्टाइल के सर्वथा विपरीत वे झूठ को हँसी में इस तरह पेश करते थे कि झूठा शर्म से पानी-पानी हो जाए या बात जाकर सीधे उसके दिल में लगे।

## तैयारी पक्की रखो!

*किशोर कुमार का रिश्ता इंदौर से बहुत गहरा रहा है। क्रिश्चियन महाविद्यालय के छात्र के रूप में उन्होंने अपने विनोदप्रिय व्यक्तित्व एवं अपनी गायकी को जी भर कर तराशा था। जब प्रोफेसर साहब क्लास में नहीं होते थे तब वे कक्षा में दोस्तों को जमाकर गाने सुनाया करते थे। एक दिन ऐसी ही कार्यक्रम चल रहा था। गाना समाप्त होने के बाद वाह-वाही के समवेत स्वरों में एक प्रोफेसर की आवाज भी गूँज उठी। प्रोफेसर की प्रशंसा से किशोर को जितनी खुशी हुई, उससे कहीं ज्यादा डर लगा। यह डर तब और भी बढ़ गया जब वे पीरियड लिए बिना ही वापस लौट गए और सीधे प्राचार्य के कमरे में जा घुसे। अगले दिन जब वे क्लास में आए तब उन्होंने सबसे पहले किशोर को अपने पास बुलाया और एक रुक्का उनके हाथ में थमाते हुए बोले- 'यह आदेश प्राचार्य महोदय का है तथा इसका पालन करना अनिवार्य है।' किशोर ने धड़कते दिल से उस पुर्जे को पढ़ा, उसमें लिखा था- 'मि. किशोर, तैयारी पक्की रखो, सालाना जलसे में तुम्हें गाना गाना है।'*

● **सरला**

*बंदी में किशोर बड़े भैया अशोक कुमार के साथ*



जाने-अनजाने ही किशोर कुमार को इस कला की बारीकियाँ समझ आने लगीं। बात कहने का यह ढंग पहले उन्होंने शौकिया अपनाया। बाद में वह स्वभाव ही बन गया। शाहिद लतीफ ने इस विशेषता को पहचाना। 'जिद्दी' में तो खैर किशोर ने सिर्फ माली का जरा सा रोल किया था, लेकिन जब उन्होंने किशोर को बुजदिल के लिए साइन करना चाहा तो किशोर ने उन्हें टालने के लिए अजब-अजब हरकतें करनी शुरू कर दीं क्योंकि वे एक्टिंग करना ही नहीं चाहते थे। लेकिन ये अजीब, बेतुकी हरकतें सभी को इतनी मजेदार लगी कि सहज स्वीकार कर ली गई। १९५२ में आई **छम छमा छम** में उनकी स्टाइल पर दर्शकों की पसंद की मुहर भी लग गई। हालाँकि इसके पहले उनकी एक फिल्म और आई थी **आंदोलन** (१९५१) जिसका निर्देशन फणी मजूमदार ने किया था लेकिन किशोर की पहचान बनी 'छम छमा छम' से ही। फिर तो फरेब, लड़की, मिस माला, नौकरी एक के बाद एक फिल्म आती चली गई और जिन्दगी की परेशानियों से जूझ रहे, टूटते रहे दर्शकों को इन फिल्मों का मस्तमौला हीरो किशोर तनावों, दुःखों से राहत दिलाता चला गया।

मात्र अजीब हरकतें ही इन फिल्मों का आकर्षण नहीं थीं। वे तो सिर्फ माध्यम थीं कोई गंभीर बात कहने का। इन फिल्मों का हीरो कितना ही बेफिक्र क्यों न दिखाई दे, इंसान के दिल का दुखता कोना वह अवश्य झलका जाता। नौकरी और मुसाफिर जैसी फिल्मों में बेरोजगार युवक के दर्द को भी उतनी ही सहज अभिव्यक्ति दी थी उन्होंने जितनी सहजता से हँसाने में सफल हुए थे। दर्शकों के दिल तक पहुँची ये फिल्म तभी तो न्यू दिल्ली, भाई-भाई और आशा गोल्डन जुबली तक जा पहुँचीं। किशोर कुमार को हीरो लेकर बनी और सिल्वर जुबली हिट साबित हुई फिल्मों में तो कई नाम हैं- अधिकार/ चलती का नाम गाड़ी/ लड़की/ पहली झलक/ प्यार किए जा/ दिल्ली का ठग/ इल्जाम/ चंदन/ बेवकूफ और शरारत।

सन् १९५१ से लेकर १९७३ तक चली उनकी अविराम अभिनय यात्रा 'प्यार दीवाना' के बाद केवल अपनी ही फिल्मों के लिए सीमित हो गई। लगभग एक से ही रोल दोहराते-दोहराते वे तंग आने लगे थे। इनमें से सभी फिल्मों में उनकी भूमिकाएँ वैसी थी भी नहीं जो उन्हें कॉमेडियन से ऊँचा कोई दर्जा दे पातीं। अनेक बड़े नायकों के साथ भी उन्होंने अभिनय किया जिनमें अशोक कुमार भी एक थे। अशोक कुमार खुद स्वीकार करते हैं- 'उसके साथ काम करते हुए मुझे कई बार यह अहसास होता था कि वह मुझसे कहीं बेहतर एक्टर है।' दादामुनि की इस बात से अन्य अभिनेताओं की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।



*एक और मुसीबत: किशोर-मधुबाला*

**कोई फिल्म** जानदार बने, इसके लिए सिर्फ अच्छा अभिनेता या अच्छी अभिनेत्री ही पर्याप्त नहीं। समर्थ लेखक और समझदार निर्देशक के साथ-साथ संवेदनशील दर्शकों का होना भी एक आवश्यक और बड़ी शर्त है। यह शर्त हमारे देश में पूरी नहीं होती। शिक्षा के अभाव, गरीबी और फिल्म जैसी सशक्त कला के प्रति सुसंस्कारों के अभाव की वजह से यहाँ फिल्मों में फूहड़ता ज्यादा चलती है। संवेदनशीलता सिर के ऊपर से निकल जाती है, फिर चाहे वह हास्य में हो, रोमांस में हो या जीवन के किसी और रंग के चित्रण में हो। और जब यह फूहड़ता फिल्म की सफलता की आवश्यक शर्त बन जाए तो कलाकार फस्ट्रेट हो जाते हैं। उन्हें या तो फिल्मों से अलग ही हो जाना पड़ता है या प्रतिष्ठा पाने के लिए समझौते करने पड़ते हैं क्योंकि यह कोशिश तो हर किसी की रहती है कि वह अपनी किन्हीं खास फिल्मों के लिए सदा-सदा पहचाना जाता रहे। फिल्मकार के रूप में यह छटपटाहट किशोर कुमार के प्रयत्नों में सदा नजर आती रही है। उन्हें अपने ऊपर यह विश्वास था कि अभिनेता के तौर पर वे उससे कहीं आगे जा सकते हैं जितना कुछ कर दिखा चुके हैं। लेकिन उसके लिए उन्हें मनपसंद लेखक और मनपसंद निर्देशक नहीं मिले। या शायद वे स्वयं किसी लेखक, किसी निर्देशक को अपने मन की बात समझा नहीं सके और इसीलिए स्वयं निर्माता, निर्देशक, लेखक और अभिनेता सभी कुछ बन बैठे। 'दूर गगन की छाँव में' ने यह तो प्रमाणित किया कि वे सिर्फ कॉमेडियन नहीं हैं जैसा उन्हें माना जाता रहा है। उनके गंभीर अभिनय और उनकी फिल्म, दोनों की प्रशंसा भी हुई लेकिन लोकप्रियता का अभाव रह गया।

तब से लेकर उनकी अंतिम फिल्म तक में उनकी उत्कट कोशिश और कई लक्ष्य एक साथ साध लेने की कोशिशों से उत्पन्न उलझाव दोनों ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होते रहे। एक ओर वे 'बढ़ती का नाम दाढ़ी' के जरिए 'चलती का नाम गाड़ी' जैसी लोकप्रियता को दोहराने का प्रयत्न करते दिखाई दिए तो दूसरी ओर 'दूर वादियों में कहीं' में उन्होंने गंभीर फिल्म, गंभीर अभिनय का फिर से सहारा लिया। कभी उन्होंने राजेश खन्ना और अमिताभ बच्चन जैसे सुपर स्टार्स की लोकप्रियता का सहारा लेने की कोशिश की तो कभी पुत्र अमित को स्टार बनाने के प्रयत्न (शाबास डैडी) में लगे दिखे।

इन सभी में अपनी असफलता के बावजूद किशोर कुमार हारे नहीं थे। जो मनहूस शाम उन्हें लील गई, उसी की सुबह उन्होंने अपने बुने कई सुहाने सपने एक-डेढ़ घंटे तक मुझे सुनाए थे। इनमें एक सपना उस फिल्म का भी था जिसकी योजना पर वे उसी शाम डेनी के साथ विस्तृत विचार विमर्श करना चाहते थे। पूरी फिल्म सिर्फ दो पात्रों को लेकर बनाने का इरादा था उनका। कहीं बहुत ऊँचाई पर बसे कस्बे में इन दो चरित्रों के साथ शूटिंग होनी थी जिनमें से एक का अभिनय करते डैनी और एक का वे खुद। उन्हें विश्वास था कि अपने ही लेखन निर्देशन में इसे बनाकर वे फिल्म कला की वे नई ऊँचाइयाँ छूने में समर्थ हो सकेंगे जिनके लिए वे सदा छटपटाते रहे हैं।

काश! ऐसा हो पाता। ■

■ **प्रमुख फिल्में :** ☐ शिकारी (१९४६) ☐ आंदोलन (१९५१) ☐ छम छमा छम (१९५२) ☐ अधिकार (१९५४) ☐ इल्जाम/ मिस माला/ नौकरी/ पहली झलक (१९५४) ☐ बाप रे बाप/ चार पैसे (१९५५) ☐ मद भरे नैन/ भागमभाग/ भाई-भाई/ नया अंदाज/ पैसा ही पैसा (१९५६) ☐ आशा/ मिस मेरी/ मुसाफिर (१९५७) ☐ दिल्ली का ठग/ चलती का नाम गाड़ी (१९५८) ☐ शरारत (१९५९) ☐ बेवकूफ/ महलों के ख्वाब (१९६०) ☐ झुमरू (१९६१) ☐ हाफ टिकट/ रंगोली (१९६२) ☐ दूर गगन की छाँव में (१९६४) ☐ प्यार किए जा (१९६६) ☐ पड़ोसन/ दो दूनी चार (१९६९) ☐ दूर का राही (१९७०) ☐ शाबास डैडी (१९८०)।

● **प्रस्तुति आदर्श गर्ग**

# प्रमथेश बरूआ अभिनय के राजकुमार

● गोपा चक्रवर्ती

बंगला फिल्में जब बोलने लगी, तब इसके शुरूआती दौर में अरसे तक जीवंत अभिनय की अद्‌भुत मिसाल पेश करने वाले एकमात्र अभिनेता का नाम था **प्रमथेश बरूआ**। वे सुदर्शन व्यक्तित्व के धनी थे। बरूआ के संबंध में एक बार कानन देवी ने कहा था- 'यह उनके व्यक्तित्व का अद्‌भुत जादू ही था कि उनके सहकर्मी हमेशा उनसे सहमे-सहमे रहते थे। उनकी गाड़ी स्टूडियो के सामने आते ही पूरे स्टूडियो का माहौल बदल जाता था।' वैसे अमूमन प्रमथेश बरूआ नायक की भूमिका ही निभाया करते थे। व्यक्तित्व, सुन्दरता तथा अभिनय के मामले में उत्तम कुमार के अलावा आज तक कोई दूसरा अभिनेता उनके समकक्ष नहीं पहुँच पाया है। वे एक अच्छे अभिनेता के साथ-साथ एक अच्छे निर्देशक भी थे। उनके खुद के निर्देशन में बनी 'देवदास' में उनका अभिनय चरम था। यह एक सुपरहिट फिल्म थी। इसका अभिनय पक्ष, निर्देशन, फोटोग्राफी सभी उत्कृष्ट थे। शायद यही वजह थी कि शरतचन्द्र की 'देवदास' इससे अच्छी कभी नहीं बन सकी। ऐसा सोचकर ही बहुत दिनों तक किसी ने इसे फिल्माने की कोशिश नहीं की थी। इसके वर्षों बाद पचास के दशक में विमल राय ने हिंदी में एवं सत्तर के दशक में अभिनेता-निर्देशक दिलीप राय ने बंगला में 'देवदास' उपन्यास को फिल्माया था। विमलराय की देवदास अच्छी बनी थी। उसने दिलीप कुमार के अभिनय का विस्तृत रेंज प्रस्तुत किया था। दूसरी तरफ बंगाल में बनी 'देवदास' में सौमित्र का अभिनय तो कहीं से भी चर्चा के घेरे में नहीं आया।



*फिल्म रजत जयंती मेंदिका और बरुआ*

देवदास के अलावा उनके अभिनय से सजी दूसरी उल्लेखनीय फिल्में हैं:- मुक्ति/रजत जयंती/ अधिकार/ गृहदाह/ शोप मुक्ति/ शेष उत्तर आदि। 'मुक्ति' फिल्म में उन्होंने काननबाला के साथ अभिनय किया था।

बंगला में अच्छे फिल्म निर्माता के रूप में प्रमथेश बरूआ को याद किया जाता है। फ्लैशबैक, टेलीपैथी एफेक्ट, प्रतीकों का प्रयोग, सूर्य की रोशनी के बदले इलैक्ट्रिक लाइट से फिल्मांकन आदि कलाकौशल का प्रयोग उन्होंने ही सर्वप्रथम किया था। उन्हें प्रयोगाचार्य की उपाधि भी मिली थी। वैसे उस समय पौराणिक और ऐतिहासिक फिल्मों का ही जोर था। इसके बावजूद उन्होंने चुन-चुन कर सामाजिक और पारिवारिक समस्यामूलक फिल्में बनाई। उनके द्वारा निर्देशित फिल्में हैं- बेंगल (१९३२), रूपरेखा (१९३४), देवदास (१९३५), गृहदाह (१९३६), माया (१९३६), मुक्ति (१९३७), अधिकार (१९३९), रजत जयंती (१९३९), शापमुक्ति (१९४०), मायेर प्राण (१९४१), उत्तरायण (१९४१), शेष उत्तर (१९४२), चांदेर कलंड (१९४४), अग्रगामी (१९४६), 'माया कानन' नाम की एक फिल्म भी वे बना रहे थे, जो पूरी नहीं हो पाई थी। सत्यजित दा की महान कृति 'पाथेर पांचाली' के जन्म के तीस साल बाद भी उनके द्वारा निर्देशित 'मुक्ति' को देखकर ऐसा लगा था कि फिल्म में बंगला फिल्म के अधिकांश निर्देशक प्रमथेश बरूआ की तरह अच्छी तरह उत्तीर्ण नहीं हो पाए हैं। एक आकर्षक कहानी, चुस्त पटकथा, प्रतीकों का सुन्दर उपयोग, अभिनय में कोई नाटकीयता नहीं, उच्च दर्जे का छायांकन, अद्‌भुत टेकनीक, कंठ संगीत का सुन्दर प्रयोग और इन सबसे ऊपर कविगुरु की कहानी, सच 'मुक्ति' जैसी फिल्म बंगला में आज कितने निर्देशक बना सकते हैं, इसमें अब भी संदेह है। उनके प्रति तत्कालीन लोगों की गंभीर श्रद्धा और स्नेह आज के कलाकारों के लिए एक दुर्लभ चीज हो गई है। अपनी कुछ फिल्मों का छायांकन भी उन्होंने किया था, जैसे शेष उत्तर, शाप मुक्ति, उत्तरायण। उस समय के कुछ दर्शकों की संयुक्त प्रतिक्रिया पर गौर कीजिए। ,बरूआ की फिल्म देखते समय कहानी की निर्भरता भूली नहीं जा सकती। यह बात शुरू में ही जेहन में रहती थी कि निर्देशक एक कहानी को अत्यंत कुशल ढंग से एक के बाद एक दृश्य में सजाकर बोलते जा रहे हैं। शायद इसीलिए लोग उन्हें राजकुमार प्रमथेश कहकर बुलाते थे। ■

---

चंद्रमोहन

# नीली आँखों के जादूगर

सवाक् फिल्मों के आरंभ में नायकों की जो पहली बहार आई उसमें नीली आँखों वाला प्रतिभाशाली नायक था **चंद्रमोहन**। वी. शांताराम की फिल्म अमृत मंथन (१९३४) बंबई में उनतीस सप्ताह तक चली थी। उसके नायक भी चंद्रमोहन थे। अपना भरापूरा शरीर, ऊँची कद-काठी तथा नीली आँखों की नीली रोशनी के जरिए चंद्रमोहन अपने पात्र में जान डाल देते थे। उनके नाम से दर्शक फिल्म देखने जाया करते थे। तकदीर (१९४३) तथा शहीद (१९४८) में वे क्रमश: मोतीलाल तथा दिलीप कुमार के पिता बने थे। दोनों पिताओं को दर्शकों की सराहना मिली थी। १९३९ में बनी सोहराब मोदी की फिल्म **पुकार** में उन्होंने जहाँगीर की न्यायप्रियता को साकार किया था।

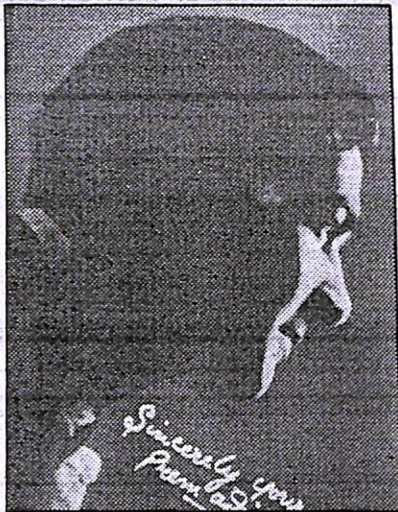
अपने अभिनय में सहजता और स्वाभाविकता चंद्रमोहन की विशेषताएँ थीं। महबूब खान की फिल्म रोटी में उन्होंने शोषक पूँजीपति के रोल को कुछ इस तरह किया था कि दर्शक देखते ही रह गए थे। उनकी रौबीली आवाज उनके किरदार को अतिरिक्त ताकत देती थी। फिल्मों में अभिनय के अलावा उन्हें रेस खेलने और पार्टियाँ देने का शौक था। शराब पीने में खूब पैसा बहाया। उनके अंतिम दिन गरीबी और दुःख में बीते थे।

● **प्रमुख फिल्में:** □ अमृत मंथन □ पुकार □ रोटी □ तकदीर □ हुमायूँ □ रामबाण □ शहीद □ झँकार □ द्रौपदी □ पन्नादाई □ गीता □ फैशन □ उस पार

● **शशि शर्मा**

प्रेम अदीब

# रजतपट के श्रीराम




● धर्मेन्द्र गौड़

सन् १९३४-३५ में इंदौर निवासी मोहन सिन्हा (अभिनेत्री विद्या सिन्हा के नाना) के सिर पर फिल्मों का भूत सवार हुआ था। वे इंदौर-नरेश की अच्छी-खासी नौकरी छोड़कर बंबई पहुँचे और अपने एक मित्र के सहयोग से फिल्म निर्माण में लग गए। कंपनी का नाम रखा श्रीकृष्ण सिनेटोन। अपनी पहली सवाक फिल्म 'फैशनेबिल इंडिया' का निर्देशन किया। इसके नायक राघवेंद्र शुक्ला और खलनायक ओ.के. दर (स्वर्गीय अभिनेता जीवन) थे। उस जमाने की बेहतरीन कॉमेडी थी। पेट्रोल खत्म हो जाने पर काशीवासी पं. बद्रीप्रसाद ने मोटर में भांग डालकर दर्शकों को सातवें आसमान से बंबई की सैर कराई थी। जीवन ने मफलर लपेटने के ही एक दर्जन तरीके प्रस्तुत किए थे, जो रातों-रात फैशन बन कर छा गए।

पौराणिक फिल्मों में श्रीराम का चरित्र उजागर करने वाले प्रेम अदीब से मेरी जान-पहचान लखनऊ से थी। सुलतानपुर (उत्तरप्रदेश) के एक प्रतिष्ठित काश्मीरी ब्राह्मण परिवार में जन्मे **प्रेम अदीब** का व्यक्तित्व निहायत साफ-सुथरा, आकर्षक था। मैंने और प्रेम अदीब ने 'फैशनेबिल इंडिया' एक साथ देखी थी। लखनऊ के जगत सिनेमा में चार-चार आने खर्च करके सबसे आगे बैंच पर बैठकर।

प्रेम अदीब को फिल्मों का चस्का ऐसा लगा कि सीधा टिकट कटाया बंबई का। निर्देशक मोहन सिन्हा ने उस खूबसूरत नौजवान को हाथोंहाथ लिया और १९३६ में निर्मित अपनी दो फिल्मों 'रोमांटिक इंडिया' तथा 'इंडस्ट्रियल इंडिया' में नायक की भूमिका प्रदान की। इनमें भी खलनायक जीवन ही थे। दोनों ही फिल्मों को आशातीत सफलता मिली और प्रेम अदीब चल निकले।

उस जमाने में प्रकाश पिक्चर्स का बड़ा नाम था। संस्था के सर्वेसर्वा थे दो सगे भाई-शंकरभाई भट्ट और विजय भट्ट। उनके पास जयंत (अभिनेता अमजद खाँ के पिता) जैसे हीरो थे और शोभना समर्थ (नूतन और तनूजा की माँ), सरदार अख्तर, रत्नमाला, दुर्गा खोटे जैसी हीरोइनें। निर्देशक विजय भट्ट ने प्रेम अदीब की क्षमता आँकी और सात सौ रुपए मासिक वेतन पर उनसे लंबा एग्रीमेंट साइन करा लिया। प्रकाश के बैनर से प्रेम अदीब की पहली फिल्म '**भरत मिलाप**' का निर्माण हुआ। श्रीराम की भूमिका में प्रेम अदीब के अभिनय को काफी सराहना मिली। फिल्म खूब चली। फिर निर्माण हुआ 'स्टेशन मास्टर' का। इस फिल्म में प्रेम अदीब के अलावा अन्य सितारे थे- रत्नमाला, जीवन, जगदीश सेठी। निर्देशन था चिमनभाई लुहार का और संगीत दिया था नौशाद ने। यह फिल्म भी खूब चली।

१९४३ के शुरू में प्रेम अदीब के जीवन की सर्वश्रेष्ठ फिल्म **रामराज्य** का श्रीगणेश हुआ, जिसमें श्रीराम की भूमिका में उन्होंने प्राण फूँके थे। इस चलचित्र की स्क्रिप्ट मराठी के सुविख्यात लेखक ओंधकर ने तैयार की थी। स्क्रीन प्ले, सिनेरियो, डॉयलाग तक उन्हीं ने लिखे थे।। गानों के लिए सिचुएशनें पैदा की थीं। यहाँ तक कि किस एंगिल से कौन-सा शॉट लेना है, लिखकर स्वर्ग सिधारे थे। विजय भट्ट पढ़ते ही मोहित हो गए। स्टार-कास्ट में बड़ी

**प्रेम अदीब अभिनीत फिल्म 'रामराज्य' को इस बात का श्रेय है कि उसे गाँधीजी ने देखा था।**

ही बारीकी से चुनाव किया गया था। शोभना समर्थ, पं. बद्रीप्रसाद, मधुसूदन, राम मराठे, प्रांडेय और कृष्णकांत का। शंकरराव व्यास के संगीत, अमीर कर्नाटकी की मधुर स्वर लहरी और कनु देसाई की कला ने 'रामराज्य' में चार चाँद लगाए थे।

फिल्म बनकर तैयार भी नहीं हुई थी, कि प्रकाश पिक्चर्स के 'प्रोजेक्शन थिएटर' में उसके 'रश प्रिंट' देखने के लिए ही डिस्ट्रीब्यूटरों के 'क्यू' लग जाते थे। जब तैयार हुई तो शंकरभाई भट्ट और विजय भट्ट ने वितरकों को अपनी मनमानी शर्तों पर अधिकार बेचे थे। रिलीज होने पर तो 'रामराज्य' ने ऐसी धूम मचाई कि सभी पिछले रिकॉर्ड तोड़ कर रख दिए। जहाँ भी लगी वर्षों चली। विजय भट्ट ने समस्त भारत में कामयाबी के झंडे गाड़ दिए। मालिक मालामाल हो गए, मगर प्रेम अदीब को मिला वही सात सौ रुपए मासिक वेतन। उन दिनों उनके पास कार भी नहीं थी (बाद में एक सेकिण्ड हैण्ड खरीदी थी)। अंधेरी स्थित स्टुडियो से अंधेरी में ही अपने घर 'बिजली कॉटेज', मर्जबान रोड, तक दो किलोमीटर का फासला पैदल तय करते थे और विजय भट्ट अपनी गाड़ी में बैठकर बगल से सर्र-से निकल जाते थे। यह बात स्वयं प्रेम अदीब ने ही मुझे बताई थी।

सन् १९४३ में ब्रिटिश गुप्तचर संस्था 'फ़ोर्स वन-श्री-सिक्स' के अंतर्गत मेरी नियुक्ति कलकत्ता में थी। 'रामराज्य' ने वहाँ भी धूम मचा रखी थी। इसके सुमधुर गाने 'भारत की इक सन्नारी की हम कथा सुनाते हैं' तथा

---

त्रिलोक कपूर

# शिवशंकर भोले-भाले

त्रिलोक कपूर हिंदी फिल्मों के शिव, भोले बाबा, 'भगवान'। ४६ साल हो गए उन्हें फिल्मों में आए। डेढ़ सौ से भी ज्यादा फिल्में की। कलकत्ता में उन्होंने फिल्मों में प्रवेश किया था २७ जनवरी १९३३ को।

वैसे तो वे क्रांतिकारी थे। जब अँगरेजी सरकार का दमनचक्र बहुत भयानक हो उठा, तो पृथ्वीराज कपूर ने उन्हें अपने पास बंबई बुला लिया। 'चार दरवेश' पहली फिल्म थी। उसमें एक दरवेश का रोल उन्हें मिला था। फिर हेमचंद के मुख्य सहायक के रूप में निर्देशन का कार्य सीखा।

चुनौतियाँ स्वीकार करना उनका शौक रहा है। धार्मिक फिल्में उनके लिए चुनौती थीं। लोग देवताओं की भूमिका देने को तैयार ही नहीं थे। प्रभात ने साइन किया। फिर रिजेक्ट कर दिया। यह एक और चुनौती थी। उन्होंने 'कृष्णार्जुन युद्ध' में कृष्ण की भूमिका निभाकर ही दम लिया।

त्रिलोक कपूर और निरुपारॉय की जोड़ी शंकर-पार्वती के रूप में बेहद लोकप्रिय हुई थी। हरहर महादेव फिल्म के बाद तो उनकी तस्वीरों की घरों में पूजा तक होने लगी थी। बाजार उनके कैलेण्डरों से पटा था। उनकी प्रमुख फिल्में हैं– □ चार दरवेश (१९३३) □ सीता (१९३४) □ धूप-छाँव (१९३५) □ अछूत (१९४०) □ आँख की शर्म (१९४३) □ आईना (१९४४) □ नल दमयंती/श्री कृष्णार्जुन युद्ध (१९४५) □ मिर्जा साहिबाँ (१९४७) □ अलख निरंजन/ हरहर महादेव (१९५०) □ श्री गणेश जन्म (१९५१) □ आनंद भवन/ राजरत्न (१९५३) □ चक्रधारी/शिव-रात्रि (१९५४) □ जय महादेव (१९५५) □ भक्त राज (१९६०) कच्चे धागे और नहले पे दहला।

● शशि शर्मा

'आओ री सखी आज मंगल गाओ री' तो मुझे आज ४९ वर्षों बाद भी याद है। 'रामराज्य' के गाने बरबस कोकिलकंठी अमीरबाई कर्नाटकी की याद तरोताजा कर देते हैं। 'देवदास' के बाद मैंने सर्वाधिक इसी फिल्म को देखा। 'रामराज्य' ने मुझे इतना रुलाया, जितना जीवन में कभी नहीं रोया-माँ-बाप-भाई-बहन की मृत्यु पर भी नहीं।

जनवरी १९४४ में जब बंबई में तैनाती हुई, 'रामराज्य' की वहाँ भी धूम मची हुई थी। प्रेम अदीब का घर से निकलना दूभर हो गया था। उनके लाख समझाने-बुझाने के बावजूद औरत-मर्द उन्हें बीच रास्ते में ही रोक कर उनके पैर छूने लगते थे। घर पर भी देर रात तक जमाव रहता था। उनके दरवाजे सभी के लिए खुले थे। उनके आशीर्वाद के सभी भूखे थे। वे किसी को निराश भी नहीं करते थे। साक्षात श्रीराम की मुद्रा में कंधे तक ऊँचा दाहिना हाथ लाकर सबको आशीर्वाद देते थे। बड़े ही प्रेम से। कहते भी थे-'भावना से कर्तव्य ऊँचा है'। बड़ा ही सरल स्वभाव था उनका। छलकपट से कोसों दूर।

प्रकाश पिक्चर्स से अनुबंध समाप्त होते ही प्रेम अदीब ने स्वयं अपनी फिल्म निर्माण संस्था खड़ी की। नाम रखा 'प्रेम पिक्चर्स'। 'कुसुम' और 'देहाती' के अलावा पं. चंद्रमोहन वाटल की प्रमुख भूमिका में 'राम विवाह' का निर्माण किया, लेकिन लागत भी नहीं निकली। आखिरकार, कंपनी बंद कर देनी पड़ी। प्रेम अदीब के कोई संतान नहीं थी। उन्हें बुढ़ापे का सुख नहीं मिला। श्रीराम ने उन्हें जल्दी अपने पास बुला लिया। ■

महिपाल

## नवरंगी नायक


फिल्म सूरत में महिपाल

धार्मिक फिल्मों के लिए यदि नायिकाओं में सबसे ज्यादा नाम जब अनिता गुहा व निरुपा राॅय का लिया जाता है, तो नायकों में अभिभट्टाचार्य व भारत भूषण जैसे नायकों के साथ महिपाल का नाम याद रखा जाना भी जरूरी हो जाता है। पचास व साठ के मध्य दशक में महिपाल का फिल्मों में प्रवेश हुआ। जब संगीतकार एस.एन. त्रिपाठी की १९५२ में बेहद लोकप्रियता बढ़ी तब उन्हीं के संगीत में सजी 'अलाउद्दीन के जादुई चिराग' फिल्म ने महिपाल के नाम को प्रकाशमान किया। इस फिल्म में महिपाल के साथ नायिका थीं-मीनाकुमारी। पौराणिक एवं धार्मिक फिल्मों के लिए जहाँ अनिता गुहा ने महिपाल का साथ दिया, वहीं महिपाल की मुख्य नायिकाएँ चित्रा एवं शकीला रहीं। उस समय स्टंट फिल्मों का दौर था। धार्मिक फिल्मों में महिपाल की लोकप्रियता होमी वाडिया की फिल्म 'संपूर्ण रामायण' (१९६१) एवं कण-कण में भगवान के प्रदर्शन पर शिखर पर थी। इसके पूर्व वी. शांताराम द्वारा निर्मित कलात्मक फिल्म नवरंग (१९५९) में दरबारी राजकवि 'नवरंगी' की भूमिका को महिपाल ने अविस्मरणीय बनाया। १९६३ में निर्मित 'पारसमणि' जैसी अपार लोकप्रिय फिल्म के भी वे नायक रहे। इस फिल्म में उनकी नायिका थी- गीतांजलि। चित्रा के साथ वे फिल्म 'चोर बाजार (१९५४), अलादीन का बेटा, खुल जा सिमसिम, सुल्तान-ए-आलम व शाही आलम' में नायक रहे। अलीबाबा चालीस चोर (१९५४), गुल बहार व लालपरी में महिपाल की नायिका शकीला रही। सुनहरी नागिन भी उनकी एक मुख्य फिल्म थी।

● **प्रकाश शर्मा**

दीनशॉ बिलिमोरिया

## लाल केले के गाँव का नायक



यदि आप बंबई से फ्रंटियर मेल द्वारा कभी सूरत जाएँ, तो रास्ते में समुद्र तट के निकट एक छोटा-सा स्टेशन मिलेगा बिलिमोरा। हरी और पीली छाल के केले तो आपने खाए ही होंगे। बिलिमोरा का मशहूर है लाल छाल का केला। इतना सुगंधित और मीठा की होंठ चिपकने लगें। यहीं एक संभ्रांत पारसी परिवार में दो भाइयों **एड्डी बिलिमोरिया** और **दीनशॉ बिलिमोरिया** का जन्म हुआ था। सूरत-शक्ल से एड्डी बिलकुल अँगरेज लगते थे, जबकि दीनशॉ का रंग कुछ साँवला था। तीखापन अधिक था दीनशॉ. के चेहरे पर। उनका जन्म १९०७ में हुआ था।

फिल्मों में वह मूक युग था। तब फिल्में बोलती नहीं थीं। सन् १९२६ में चौपाटी से कुछ ही पहले केनेडी ब्रिज (बंबई) के निकट इंपीरियल फिल्म कंपनी का उदय हुआ था। इसके सर्वेसर्वा थे खान बहादुर आर्देशिर मारवान ईरानी। मूक-युग से टॉकी-युग तक उन्होंने इस संस्था को बुलंदी पर पहुँचाया था।

आज से ५५-६० वर्ष पहले इंपीरियल फिल्म कंपनी की फिल्में जहाँ भी चलतीं; खासी धूम मचाती थीं। डी. बिलीमोरिया और सुलोचना की सुंदर एवं आकर्षक जोड़ी देखने के लिए दर्शक दूर-दूर से आते थे। टिकट खिड़की पर पैसा बरसता था, जबकि दरें होती थीं दो आने से एक रुपए के आसपास।

डी. बिलिमोरिया बहुत सभ्य, सुसंस्कृत और विवेकी थे। उनके अभिनय में आधुनिकता का पुट था। विलक्षण तीक्ष्णता थी। टॉकी युग में उनकी सबसे ज्यादा पसंद आई मुझे 'डाकू की लड़की', 'अनारकली', 'दो घड़ी की मौज', 'किसान कन्या', 'इंदिरा एम.ए.', और 'बंबई की बिल्ली'। इनमें केवल 'किसान कन्या' की नायिका थीं पद्मादेवी, शेष की सुलोचना। इन सभी फिल्मों में डी. बिलिमोरिया का अभिनय आज भी बेमिसाल है।

मूक-युग में तो ठीक था, लेकिन टॉकी-युग में वे अपने गलत उच्चारण के कारण ज्यादा नहीं चल पाए। 'दो घड़ी की मौज' में ही देखिए, वे पुलिस को 'पोलिस' कहते हैं। शुरू से अंत तक। उन्हें भी पूरा-पूरा अहसास था अपनी इस कमजोरी का। तभी तो 'साउंड रिकार्डिंग' की लाइन पकड़ी, जिससे उन्हें बेहद लगाव था। उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। आपको सुखद आश्चर्य होगा यह जानकर कि सन् १९६३ में 'बंदिनी' जैसी उच्च कोटि की फिल्म का ध्वनि संकलन डी. बिलिमोरिया ने ही किया था। इस महान कलाकार का निधन ६५ वर्ष की आयु में हृदय गति रुक जाने के कारण १३ फरवरी १९७२ को हुआ।

● **धर्मेन्द्र गौड़**

# हिमांशु राय

भारतीय सिनेमा को स्थापित कर उसका विकास करने वालों में **हिमांशु राय** का नाम अनिवार्य रूप से उल्लेखनीय है। हिमांशु राय फिल्मकार होने के अलावा अभिनेता भी थे उनके द्वारा जो फिल्में बनाई गई, उनकी प्रसिद्धि विदेशों तक गई थी। उनकी मूक फिल्म 'द लाइट ऑफ एशिया,' को इंग्लैंड के सम्राट तथा साम्राज्ञी ने देखा था। यह फिल्म वहाँ नौ महीने तक चली और अच्छा व्यापार किया। इस फिल्म में गौतम बुद्ध की भूमिका हिमांशु राय ने और यशोधरा का रोल आंग्ल भारतीय सीता देवी ने निभाया था। द लाइट ऑफ एशिया की सफलता से प्रेरित होकर ताजमहल बनाने वाले शिल्पी शिराज के जीवन पर १९२७ में **शिराज** नामक फिल्म बनाई और हिमांशु राय स्वयं नायक बने। इनाक्षी रामाराव मुमताज महल बनी थीं। इस फिल्म का निर्देशन फ्रांज आस्टेन ने किया था।

ए थ्रो ऑफ डायस के निर्माण के दौरान हिमांशु राय खूबसूरत देविका रानी के संपर्क में आए। वे उन दिनों इंग्लैंड में फिल्म के कला पक्ष का प्रशिक्षण ले रही थीं। दोनों का विवाह हुआ। सामान्य कद काठी के हिमांशु राय दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने सवाक् फिल्मों के शुरू होते ही 'कर्म' नामक फिल्म बनाई। उसकी भारी सफलता और लोकप्रियता ने मलाड में बाम्बे टॉकिज की नींव रखी। इस बैनर तले बनी फिल्मों ने भारतीय सिनेमा का एक इतिहास रचा है। कर्म फिल्म की जो बुकलेट प्रकाशित हुई थी उसकी भूमिका **सरोजिनी नायडू** ने लिखी थी। बाम्बे टॉकिज से मुंशी प्रेमचंद, कवि नरेंद्र शर्मा, शाहिद लतीफ, इस्मत चुगताई, निरंजन पाल, ज्ञान मुखर्जी, कवि प्रदीप, गोपालसिंह नेपाली जैसी हस्तियाँ जुड़ी रहीं और उसके पीछे हिमांशु राय का व्यक्तित्व रहा है। १९४० में हिमांशु राय का निधन हो गया। उनका फिल्म माध्यम के प्रति समर्पण और अनुशासन आज भी याद किया जाता है।

● **सरला**

बाल गंधर्व

# नारी भूमिकाओं का गायक-नायक

मराठी रंगमंच तथा फिल्मों के गायक-नायक बाल गंधर्व का जन्म २६ जून १८८८ को हुआ था। सत्रह वर्ष की आयु से ही उन्होंने रंगमंच पर नारी पात्रों का अभिनय करना शुरू कर दिया था। उनकी लोकप्रियता तथा ख्याति लगातार बढ़ती गई तथा सन् १९१३ में उन्होंने स्वयं की नाटक कंपनी खोल ली। उनके गायन एवं अभिनय की इतनी धूम थी कि बंबई के गुजराती व्यापारी थिएटर में कुर्सियों की पूरी कतार ही पहले से आरक्षित करवा लेते थे। चालीस वर्ष की आयु के बाद भी उनका बदन छरहरा तथा चेहरे से यौवन झरता था। जब रंगमंच के प्रति लोगों का आकर्षण कम होने लगा तब वे फिल्मों की ओर झुके। वी. शांताराम की प्रभात फिल्म्स के साथ अनुबंधित हो गए। उनकी पहली फिल्म **संत एकनाथ** के जीवन पर बनी। **'धर्मात्मा'** नाम से प्रदर्शित हुई इस फिल्म के गीत बहुत लोकप्रिय हुए। इसके पूर्व बाल गंधर्व ने सदैव नारी पात्रों की भूमिका की थी। प्रशंसकों के बीच उनका मर्दाना अभिनय पच नहीं पाया। उन्होंने शांतारामजी से आग्रह किया कि वे सिर्फ नारी पात्रों की ही भूमिका करेंगे। उम्र के ४७वें वर्ष में एक पुरुष द्वारा ऐसा आग्रह किया जाना शांताराम को अटपटा लगा। इस मुद्दे पर उन्होंने प्रभात से अपना रिश्ता तोड़ लिया। दो वर्ष बाद वे रॉयल सिनेमा कोल्हापुर की प्रस्तुति स्वयंवर में **रुक्मिणी** के रूप में आए। इसके बाद उनकी फिल्म **'अमृतसिद्धि'** भी काफी सफल रही। उनकी फिल्म **'साध्वी मीराबाई'** को पर्याप्त सफलता न मिल पाई।

**नारायण श्रीपद राजहंस,** बाल गंधर्व का असली नाम था। सुगठित देह वाले, इस अमृतकंठी अभिनेता ने भारतीय फिल्मों में नारी पात्रों का जितना जीवंत अभिनय किया है वह विश्व में एक अनोखी मिसाल है।

*बाल गंधर्व : वास्तविक जीवन में और रंगमंच पर नारी रूप में*





**मलयालम और तमिल फिल्मों के बाद मैमूटी अब हिंदी फिल्म 'धरती पुत्र' में आ रहे हैं। मलयाली सिनेमा के सुपर स्टार होते हुए भी वे हवाबाज अभिनेता नहीं हैं।**

मैमूटी

# बिकाऊ सितारा

इस समय मैमूटी केरल के सबसे बिकाऊ स्टार हैं। सन् १९८० में 'विल्कान ओंडू स्वप्नगाल' फिल्म में एक बड़-बोले पियक्कड़ की भूमिका में अपना प्रथम प्रवेश करने के बाद दस वर्ष की अवधि में मैमूटी ने लगभग दो-सवा दो सौ फिल्मों में अभिनय करते हुए न केवल खुद को मलयालम फिल्मों के सुपर स्टार के रूप में स्थापित किया है बल्कि शुद्ध व्यावसायिक तथा कुछ अलग हटकर, कलात्मक ढंग की फिल्मों में भी उन्होंने अच्छा खासा संतुलन बना रखा है।

मैमूटी का खुद का कहना है कि उनकी सफलता का आकलन उनकी फिल्मों की संख्या



के आधार पर करना उचित नहीं होगा। सिनेमा एक धंधा होने के नाते उन्हें उसके व्यापारिक पक्ष पर भी ध्यान देना होता है। लेकिन अदूर गोपालकृष्ण, के. जी. जॉर्ज तथा आई.वी. शशि जैसे निर्देशकों की जिन फिल्मों में उन्होंने अभिनय किया है उन्हें टिकट खिड़की पर सफल होने के बावजूद पूरी तरह से फार्मूला फिल्में नहीं कहा जा सकता। मसलन के.जी. जॉर्ज की फिल्म **यवनिका** एक अपराध डिटेक्टिव कथा थी लेकिन उसमें कोई नाच-गानों वाले स्वप्न दृश्य या मारा-मारी नहीं थी। मैमूटी ने इसमें केंद्रीय जाँच अधिकारी की भूमिका की थी। यही स्थिति उनकी १९८८ में प्रदर्शित हुई बेहद सफल फिल्म 'सी.बी.आई.

# कवि-शायर

● विट्ठल त्रिवेदी

**मे**रठ के विख्यात वकील मोतीलाल अग्रवाल के घर जन्मे **भारत भूषण** का स्वभाव बचपन से ही विद्रोही था। इसी विद्रोही स्वभाव के कारण उनकी पटरी अपने आर्यसमाजी पिता के साथ नहीं बैठी। वे घर छोड़कर नानी के पास अलीगढ़ आ गए। किताबी पढ़ाई के साथ वे संगीत की शिक्षा भी लेते रहे। ग्रेजुएट होकर आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र से जुड़ गए। आकाशवाणी उन्हें बाँध नहीं सकी। फिल्मों में काम करने की लालसा उन्हें बंबई ले आई। यहाँ वे मेहबूब तथा अन्य फिल्मी हस्तियों से मिले। काम नहीं मिला। इस बीच उनकी मुलाकात कलकत्ते से आए रामेश्वर शर्मा नामक व्यक्ति से हुई जिसने उन्हें कलकत्ते आकर **'भक्त कबीर'** नामक फिल्म में काशी के राजकुमार की भूमिका हेतु प्रस्ताव किया। साठ रुपए माहवार पर मामला तय हुआ। भारत भूषण कलकत्ते आ गए। फिल्म में कबीर की भूमिका पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर को दी गई थी। इस महान संगीतकार का कुछ मुद्दों पर निर्माता से विवाद हो गया। उन्होंने फिल्म छोड़ दी। भारत भूषण भी निराशा तथा बेकारी से तंग आकर घर लौट आए। अचानक एक दिन उन्हें तार से कलकत्ते आने का बुलावा मिला तथा पता चला कि वे इस फिल्म में मुख्य भूमिका के लिए चुन लिए गए हैं। इस प्रकार शुरू हुई उनकी फिल्म यात्रा। यह फिल्म सफल रही। भारत भूषण को उत्तम अभिनय के लिए सराहा गया। इसके बाद वे फिल्म **'भाईचारा'** के नायक बने। यह फिल्म आर्थिक कठिनाइयों के कारण पूरी न हो सकी।

विभाजन तथा साम्प्रदायिक दंगों के कारण वे बंबई आकर अपना भविष्य तलाशने लगे। यहाँ काफी संघर्ष के बाद उन्हें केदार शर्मा की फिल्म **सुहागरात** (१९४८) में नायक की भूमिका मिली। नायिका थी गीताबाली। इसके बाद वे चकोरी (१९४९) में नलिनी जयवंत के नायक बने। इस बीच उनके भाई आर. चन्द्रा ने फिल्म निर्माता के रूप में 'बेबस' (१९५०) का निर्माण किया। भारत भूषण के साथ पूर्णिमा को नायिका के रूप में लिया। यह फिल्म फ्लॉप हो गई। भारत भूषण ने बाद में 'ठेस', 'जन्माष्टमी', 'आँखें' आदि फिल्मों में काम किया।

निर्माता-निर्देशक विजय भट्ट ने विख्यात गायक 'बैजू-बावरा' पर फिल्म निर्माण का फैसला किया। नायिका के रूप में नरगिस से प्रस्ताव किया गया, मगर अन्यत्र व्यस्त रहने के कारण मीना कुमारी को नायिका बनाया गया। सन १९५२ में प्रदर्शित यह फिल्म सुपर हिट रही। संगीतकार नौशाद की रचनाओं ने उसे अमर बना दिया। बाद 'चैतन्य महाप्रभु' तथा विमल राय की 'माँ' ने भारत भूषण को टॉप स्टार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। 'चैतन्य महाप्रभु' में उत्कृष्ट अभिनय के लिए उन्हें फिल्म फेयर अवार्ड से सम्मानित किया गया।

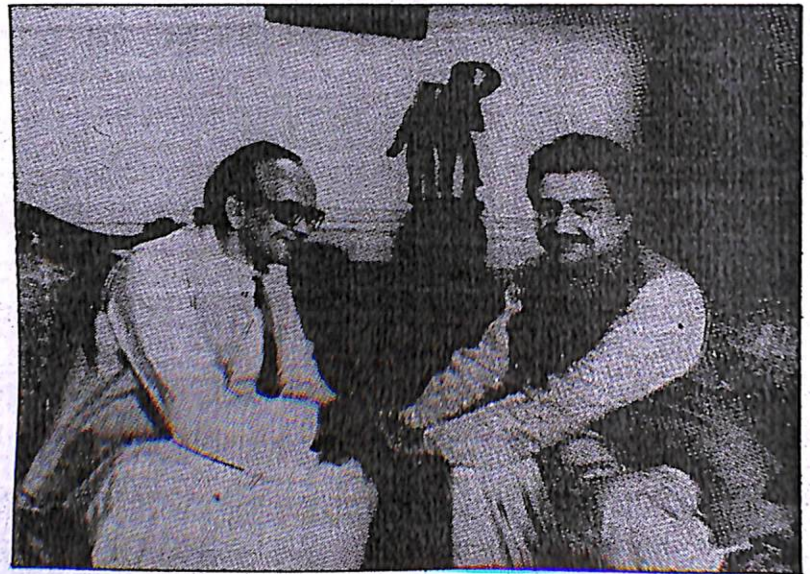
उसके बाद भारत भूषण ने श्री विश्व भारती फिल्म्स की स्थापना की तथा 'मीनार' (१९५४) का निर्माण किया। यह फिल्म फ्लॉप हो गई। इसी दौरान **मिर्जा** गालिब (१९५४) प्रदर्शित हुई। इसमें नायिका के रूप में सुरैया थी। इस फिल्म को राष्ट्रपति का अवार्ड मिला। निर्माता के रूप में भारत भूषण की बाद की फिल्में बसंत बहार (१९५६) तथा बरसात की रात (१९६०) हिट रहीं। इसके बाद उनका कैरियर ढलान पर आ गया। नायक के रूप में जहाँआरा (१९६४) उनकी आखिरी फिल्म रही।

उसके बाद भारत भूषण चरित्र अभिनेता के रूप में परदे पर आते रहे। दूरदर्शन पर प्रसारित कई धारावाहिकों में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिकाएँ कीं। हिन्दी फिल्मों के अतिरिक्त उन्होंने गुजराती, भोजपुरी तथा पंजाबी फिल्मों में भी अभिनय किया। पिछले दिनों उनका निधन हो गया।

---

■ **प्रमुख फिल्में:** □ भक्त कबीर/ भाईचारा □ सुहागरात (१९४८) □ चकोरी (१९४९) □ बेबस (१९५०) □ ठेस/ जन्माष्टमी/ आँखें/ सगाई (१९५१) □ दानापानी/ फरमाईश/ लड़की/ पहली शादी/ श्री चैतन्य महाप्रभु (१९५३)

*भारत भूषण और अरविंद देशपाण्डे : ससुराल*



---

डायरी कुरूपु' की थी। यह भी अपराध अन्वेषण कथा होने के बावजूद मारपीट और नाच-गानों से मुक्त थी।

मैमूटी ने निर्देशक आई.वी. शशि के साथ 'तृष्णा' (साधु कृष्णदास), 'अक्षरागाल' (जयदेवन के रूप में अपना सर्वश्रेष्ठ अभिनय), 'अनुबंधन' (शिक्षक) जैसी फिल्मों में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। उन्हीं के निर्देशन में उन्हें सर्वश्रेष्ठ सहायक अभिनेता तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेता के राज्य पुरस्कार क्रमशः 'अहिंसा' और 'अदियोमिकल' फिल्मों में मिले हैं।

मैमूटी को अपने काम से सबसे ज्यादा संतोष बशीर की साठ के दशक में लिखी गई कहानी 'मथिलुकल' (दीवार) पर आधारित तथा निर्देशक अदूर गोपालकृष्ण की फिल्म में एक कैदी की भूमिका करते हुए प्राप्त हुआ। अदूर को इस फिल्म के लिए सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का १९९० का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला था। जेल-जीवन पर आधारित इस कहानी को फिल्माकर अदूर ने बतला दिया कि सिनेमा साहित्य को कितनी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत कर सकता है। निर्देशक जोशी की फिल्म 'नायर साहब' (१९८९) को पूरी तरह मैमूटी की फिल्म कहा जा सकता है जिसमें उन्होंने एक ऐसे आर्मी अफसर की भूमिका की है जो बड़ी सख्ती से नए रंगरूटों को प्रशिक्षित करता है।

मैमूटी ने कुछ तमिल फिल्मों में भी अभिनय किया है तथा उनकी कुछ मलयालम फिल्में तमिलनाडु में अच्छी चली भी हैं लेकिन फिलहाल खुद उनके कथनानुसार ही वे तमिल या हिंदी फिल्मों में बहुत सफल होने की उम्मीद नहीं रखते। उनकी विनम्रता का एक और प्रमाण यह है कि वे नहीं मानते कि केरल में उनके इतने ज्यादा प्रशंसक हैं, जो केवल उनके नाम पर कोई फिल्म चला ले जाएँ। उनकी फिल्म में कहानी, निर्देशन तथा अन्य बातों का अच्छा होना भी वे आवश्यक मानते हैं और इसीलिए अपनी फिल्मों के निर्माण के दौरान उसके हर विभाग पर अपनी नजर रखते हैं। यह ठीक भी है। किसी भी सुपर स्टार का उसकी खुद की प्रतिष्ठा और फिल्म की व्यावसायिक सफलता के बारे में चिंतित रहना स्वाभाविक है। ■

□ औरत तेरी यही कहानी/ कवि/ मिर्जा गालिब (१९५४) □ बसंत बहार (१९५६) □ चम्पाकली/ गेट वे ऑव इंडिया (१९५७) □ फागुन/ सम्राट चन्द्रगुप्त/ सोहनी महिवाल/ (१९५८) □ कवि कालिदास/ रानी रूपमती/ सावन (१९५९) □ अंगुलीमाल/ बरसात की रात/ घूँघट (१९६०) ग्यारह हजार लड़कियाँ/ संगीत सम्राट तानसेन (१९६२) □ जहाँआरा/ चाँदी की दीवार (१९६४) □ नूरजहाँ (१९६७) □ घर संसार/ सिंहासन (१९८६)

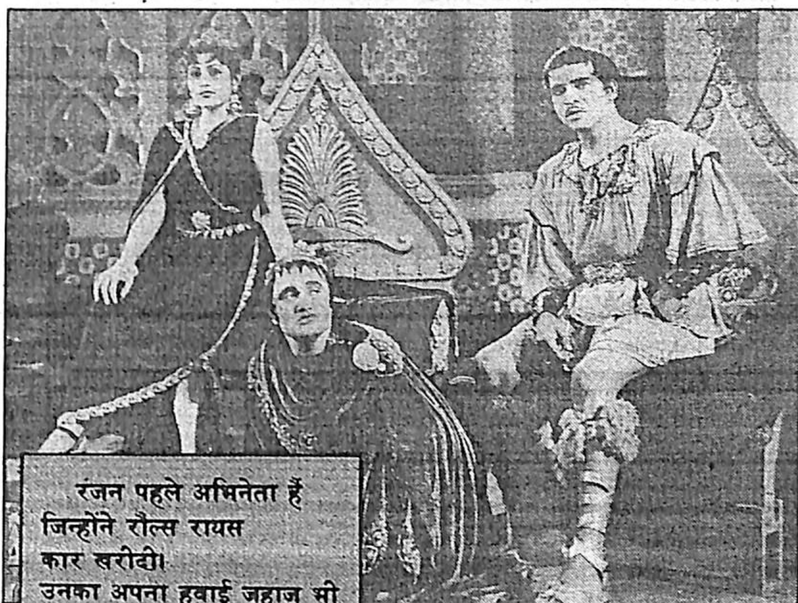
● प्रस्तुति : आदर्श गर्ग

ई. बिलिमोरिया

## गेट कीपर से नायक

पूना के पास फौजी छावनी किरकी में सन् १९०० में जन्मे एडी. बिलमोरिया की तमन्ना थी रेलवे इंजन में फायरमेन बनना। इसी तमन्ना को पूरी करने के लिए वे स्कूली पढ़ाई अधूरी छोड़कर अपने दादा के पास इगतपुरी आ गए। दो वर्ष तक फायरमेन के तौर पर कड़ी मेहनत करते-करते वे बीमार हो गए। इलाज के लिए बंबई गए। यहाँ उन्हें फिल्म देखने का चस्का लगा। इसी चस्के ने फायरमेन की नौकरी छुड़वाकर उन्हें किरकी के सिनेमाघर का गेटकीपर बना दिया। गेटकीपरी करने के साथ-साथ वे प्रोजेक्टर मशीन चलाना भी सीखने लगे। 'गेट' से 'प्रोजेक्शन रूम' में घुसे। इसके बाद बंबई आकर वे विभिन्न सिनेमाघरों में ऑपरेटर बन गए। छोटा भाई दीनशॉ भी बंबई आ गया था। वह इंपीरियल फिल्म कंपनी में काम कर रहा था। भाई से मिलने वे अक्सर इंपीरियल जाया करते थे। वहीं उनको निर्देशक आर.एस. चौधरी ने देखा तथा फिल्म 'पंजाब मेल' में छोटी-सी भूमिका दी। उनका अभिनय अच्छा रहा। एक सौ पचास रुपए माहवार पर वे अभिनेता के रूप में काम करने लगे।

'वेनिशिंग होप्स' नामक फिल्म में पहली बार उन्हें नायक की भूमिका मिली। इसके बाद सन् १९२९ में वे इम्पीरियल छोड़कर रणजीत मूविटोन में आ गए। यहाँ 'बीलवेड रोग' उनकी पहली फिल्म थी जिसमें नायिका पुतली थी। सवाक फिल्मों के युग में 'भुतहा महल' उनकी पहली फिल्म थी। बाद में वे 'कीमती आँसू/ विश्वमोहिनी/ तूफान मेल/ तूफानी तरुणी आदि फिल्मों में आए। सन् १९३८ तक नायक की भूमिकाएँ करने के बाद वे १९४० से चरित्र अभिनेता के रूप में परदे पर आने लगे तथा यह क्रम १९४८ तक चला इसके बाद वे गुमनामी के अंधेरे में खो गए। एडी. ने भारतीय फिल्मों में काउबॉय नायकों की परंपरा का सूत्रपात किया। स्टण्ट फिल्मों को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सन् १९४८ में बनी फिल्म **आपबीती** में उन्हें चरित्र अभिनेता की भूमिका मिली मगर बाद में वे जूनियर आर्टिस्ट के रूप में आने लगे। ■



*बागी सिपाही में मधुबाला, ओमप्रकाश और रंजन*

**रंजन पहले अभिनेता हैं जिन्होंने रौल्स रायस कार खरीदी। उनका अपना हवाई जहाज भी था। वे नृत्य निर्देशक, संगीत निर्देशक, कला निर्देशक, एक्शन डायरेक्टर, मेकअपमेन और बेहतरीन तलवारबाज भी थे। उन्होंने पत्रकारिता की। जादू दिखाया। होटल चलाई और चित्रकारी की।**

रंजन

## जीनियस नायक

जब कभी भारतीय फिल्म उद्योग के इतिहास में सुपर स्टार परंपरा की जड़ें तलाश करने की कोशिश की जाएगी तब नतीजा **रंजन** के नाम की शक्ल में निकलेगा। रंजन पहले फिल्मी स्टार थे जिन्होंने 'रौल्स रायस' कार खरीदी थी। कारों के बाद उनका शौक हवाई जहाज पर केंद्रित हुआ। भारतीय अभिनेताओं में वे पहले लाइसेंसशुदा वायुयान चालक बने तथा स्वयं 'टाइगर मॉथ' मॉडल का वायुयान खरीद कर उसे उड़ाने लगे।

यदि इस विलक्षण सितारे का बचपन देखें तब सहसा विश्वास ही न कर पाएँगे कि किसी बच्चे से इस सीमा तक श्रम करवाया जा सकता है। २ मार्च १९१८ को आर.एन. शर्मा (दक्षिण भारत में सर्मा) के घर जन्मे रंजन अनचाहे अतिथि थे, क्योंकि माँ तीन बेटों के बाद बेटी चाहती थी। पिता बेटे को 'संगीत विद्वान' बनाना चाहते थे। इसीलिए सात वर्ष की उम्र से ही उनको वायलिन की शिक्षा दी जाने लगी। साथ ही कथकली नृत्य का प्रशिक्षण भी जारी हो गया। बालक के हृदय में अन्य बच्चों के साथ स्कूल जाकर पढ़ने की भी इच्छा थी। पिता ने इसी शर्त पर अनुमति दी कि प्रतिदिन चार घंटे का वायलिन वादन जारी रहेगा। स्कूल से लौटकर वे वायलिन का चार घंटे अभ्यास करते। आधी रात को होमवर्क पूरा करते। इसके बाद रात एक बजे कथकली के प्रशिक्षक आकर तीन घंटे तक नृत्य सिखाते। सुबह चार बजे सोने का मौका मिलता। बमुश्किल चार-पाँच घंटे की नींद के बाद स्कूल की तैयारी शुरू हो जाती।

कड़े अनुशासन में बिताए गए इस विलक्षण बचपन ने संगीत के डिप्लोमा के साथ कैशोर्य में कदम रखा तथा सन् १९३८ में लॉयला कॉलेज से भौतिकशास्त्र में स्नातक की उपाधि प्राप्त कर ली। इसके बाद वे विज्ञान में स्नातकोत्तर पढ़ाई के बारे में सोचने लगे। इसी बीच पारिवारिक मित्र तथा फिल्म निर्माता आचार्य की नजर उन पर पड़ी। उन्होंने इस सुदर्शन युवक के सामने फिल्मों में अभिनय का प्रस्ताव रखा। पिता को राजी किया। फिर शुरू हुई सुपर स्टार की यशयात्रा। 'रिश्य सिंगर' नामक फिल्म में रंजन पहली बार आए। इस तमिल फिल्म की नायिका वसुंधरा (वैजयन्तीमाला की माँ) थी। फिल्म हिट रही। अगली फिल्म 'नारडार' भी हिट हुई। इसके बाद उनका परिचय जैमिनी के वासन से हुआ। रंजन की सलाह से **'चंद्रलेखा'** का निर्माण हुआ। इसमें रंजन ने नायक के दुष्ट भाई शशांक की भूमिका की थी। किंतु फिल्म में रंजत मात्र अभिनेता नहीं, बल्कि नृत्य संयोजक/संगीत निर्देशक/कला निर्देशक/एक्शन डायरेक्टर तथा मैकअप सलाहकार की भूमिका भी पृष्ठभूमि में कर रहे थे। फिल्म का विख्यात नगाड़ा नृत्य उन्हीं के द्वारा संयोजित किया गया था। फिल्मों में 'विग' लगाने की परंपरा इसी फिल्म से रंजन के द्वारा ही शुरू की गई थी। फिल्म में तलवारबाजी तथा

कलाबाजी के दृश्य फिल्माए जाते थे। इन दृश्यों के लिए रंजन ने गुपचुप एक प्रशिक्षक की तलाश की तथा कुछ सप्ताहों के प्रशिक्षण के बाद शूटिंग के दौरान अपने कमाल दिखाकर निर्माता वासन को चकित कर दिया। इसी दौरान अमेरिका के विख्यात रॉकफेलर केंद्र से रंजन को कलाकार के रूप में प्रदर्शन हेतु आमंत्रित किया गया। वासन ने उन्हें नहीं जाने दिया। इसके बाद रंजन का उदय दक्षिण भारत के सुपर सितारे के रूप में हुआ तथा यश की चमक बंबई के फिल्म उद्योग को भी चौंधियाने लगी। रंजन पत्रकारिता में आए तथा हिंदी एवं तमिल में प्रकाशित होने वाली 'नाट्यम' एवं 'इंडियन डांस' नामक पत्रिकाओं के संपादक बने। नृत्य प्रशिक्षण के लिए उन्होंने एक स्कूल खोला। वाद्ययंत्रों की दुकान खोली। होटल उद्योग में 'रंजन्स होटल' नामक एक शानदार होटल खोला। उन्होंने जादू भी सीखा। संगीत उनका प्रिय विषय था। वे निरंतर संगीत पर शोध करते रहे। इस हेतु उन्हें मद्रास विश्वविद्यालय तथा अमेरिका के रॉकफेलर संस्थान से शोधवृत्ति भी मिली। सिर्फ यही नहीं वे एक चित्रकार के रूप में भी चर्चित हुए।

फिल्मी कैरियर के बाद वे अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ अधिकांश समय अमेरिका में ही बिताने लगे। अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में उनके व्याख्यान आयोजित किए जाते थे। न्यूयार्क में ही सितंबर १९८३ में उनका निधन हुआ। **(लोच)**

समित भंज

## विवादास्पद नायक

बंगाली फिल्मों में **'अपन जन'** का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस फिल्म के मुख्य पात्र 'छेनो' को मिली लोकप्रियता ने सिनेमा की कई पुरानी मान्यताओं को झूठा साबित कर दिया। दरअसल यह चरित्र एक बेरोजगार युवक पर आधारित था, जो सामाजिक विद्रूपताओं से तंग आकर बुरा आदमी बन जाता है। कुछ-कुछ विलेननुमा होने के बावजूद 'छेनो' के चरित्र ने दर्शकों की सहानुभूति अर्जित करते हुए बंगाल में एक विचारोत्तेजक बहस की शुरूआत कर दी। जिसके कारण 'छेनो' की भूमिका निभाने वाले कलाकार **'समित भंज'** अपनी पहली ही फिल्म से विवादास्पद अभिनेता के रूप में प्रसिद्ध हो गए। विवादास्पद इसलिए कि 'छेनो' के चरित्र को जिस शिद्दत के साथ उन्होंने अभिनीत किया था, उसे कुछ समीक्षकों ने बुराई की तरफ उकसाने वाला माना। बहरहाल दर्शकों की राय इसके विपरीत थी, वे समित के दीवाने हो गए।

आश्चर्य की बात है कि बेतहाशा लोकप्रियता के बावजूद 'अपन जन' के बाद समित भंज को कई दिनों तक बेकार बैठना पड़ा। दरअसल निर्माता उनकी छवि को लेकर सशंकित थे। समित को न नायक कहा जा सकता था न खलनायक। इस विचित्र स्थिति के चलते 'समित' दर्शकों की नजर में तो 'सितारे' बन चुके थे, लेकिन उनकी जेब में फूटी कौड़ी भी नहीं थी। आखिर सत्यजित राय समित भंज की मदद के लिए आगे आए और उन्होंने अपनी फिल्म **'अरण्येर दिन रात्रि'** में समित को अवसर दिया। सत्यजित राय की फिल्म के कलाकार का ठप्पा लग जाने के बाद समित का कैरियर आगे बढ़ सका। आज वे बंगला फिल्मों के एक स्थापित कलाकार बन चुके हैं उनकी खूबी है कि उन्होंने ज्यादातर जटिल चरित्रों को ही परदे पर साकार किया है। ■

गोपी

## मलयालम सिनेमा का ईमानदार नायक

फिल्म 'आघात' में ट्रेड यूनियन नेता के रूप में अभिनय करने वाले गोपी की यह पहली हिन्दी फिल्म थी। इससे पूर्व गोपी चालीस से अधिक मलयालम फिल्मों में अभिनय कर चुके थे। अदूर गोपालकृष्णन की फिल्म 'कोदीयेत्तम' (१९७७) जब प्रदर्शित हुई इस फिल्म में गोपी को अभिनय के लिए प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुए। मूलतः रंगमंच कलाकार गोपी ने दस वर्षों तक मलयालम नाट्य मंडली में काम किया। फिल्मों में उन्हें लाने का श्रेय अदूर गोपालकृष्णन् को है, जो १९७२ में इन्हें 'स्वयंवरम्' नामक फिल्म में पहली बार पर्दे पर लाए थे। अभिनय गोपी के लिए व्यवसाय कम और मिशन ज्यादा रहा है। वे बहुत सावधानी के साथ अपनी भूमिका का चुनाव करते हैं। गोपी ने स्वयं को किसी खास छवि में बाँधने से सदैव इंकार किया। उन्हें विविध पात्रों की भूमिका करते रहना ही ज्यादा अच्छा लगता है। वे निर्माता और निर्देशक भी बने किंतु इस रूप में सफल नहीं हो पाए। एक अभिनेता के रूप में उनमें निहित संभावनाओं का अब तक पूर्ण उपयोग नहीं हो पाया है। उनमें निहित प्रतिभा का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उनके द्वारा अभिनीत अधिकांश मलयालम फिल्में फिल्म समारोह के लिए चुनी गई तथा गोपी को फिल्मफेयर एवं अन्य कई पुरस्कार श्रेष्ठ अभिनय के लिए प्राप्त होते रहे। गोपी मलयालम सिनेमा के ऐसे अकेले अभिनेता हैं, जिन्होंने फिल्मों में विविध भूमिकाएँ निभाई हैं। उनकी खूबी यह है कि वे हर फिल्म में नए गोपी दिखाई देते हैं। हर रोल पर उनका जबरदस्त कंट्रोल रहता है।

● **सरला**

शशि कपूर

## लहरों के राजहंस

पृथ्वीराज कपूर के सबसे छोटे पुत्र **शशि कपूर** का जन्म १८ मार्च १९३८ को हुआ दूसरे विश्व युद्ध के ठीक एक साल पहले। राजकपूर की पहली फिल्म 'आग' में शशि ने राजकपूर के बचपन की भूमिका निभाई। यह भूमिका एक-दो मिनट की नहीं अच्छी-खासी पंद्रह मिनट की थी। 'आवारा' में भी राजकपूर के बचपन की भूमिका शशि ने निभाई और इसके लिए उन्हें बहुत सराहा गया। राजकपूर की फिल्मों में बचपन महज खानापूर्ति नहीं होता बल्कि पटकथा का ठोस आधार होता है। जोकर के लड़कपन का भाग तो सौ मिनट का था। कई लोग पृथ्वी थिएटर से आर.के. आए थे परंतु शशि आर.के. से पृथ्वी थिएटर गए और वहाँ से कैंडल परिवार के शेक्सपीयर थिएटर के साथ बहुत से नगरों का भ्रमण किया। सलीके से अँगरेजी बोलने के कारण शेक्सपीयर नाटकों में अभिनय किया। इसी दौरे में जेनीफर कैंडल से प्रेम हुआ और विवाह किया। अँगरेजी कवि टेनिसन की प्रसिद्ध पंक्तियों (द ट्वेन शेल नेवर मीट) को झूठा सिद्ध किया-पूर्व और पश्चिम के इस मिलन ने!

विवाह के बाद धन की आवश्यकता हुई, इसलिए शशि ने फिल्मों में प्रवेश किया। 'चार दीवारी' उनकी पहली फिल्म थी जिसे उस जमाने की कला फिल्म मानना चाहिए। यह सन् '६० की बात है। इस्माइल मर्चेंट और जेम्स आइवरी ने शशि कपूर को नायक लेकर अँगरेज़ी भाषा में **'द हाऊस होल्डर'** बनाई, जिसे बहुत सराहा गया परंतु हिन्दी व्यावसायिक सिनेमा ने शशि को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उनके पास न राजकपूर का व्यक्तित्व था और न ही शम्मी की अदाएँ। उसे अँगरेज कपूर माना गया। बहुत ही आर्थिक तंगी के दिन थे। शशि ने प्रयत्न जारी रखे और 'जब-जब फूल खिले' से उसे हिन्दी व्यावसायिक सिनेमा ने स्वीकार किया। १९६५ में अँगरेजी भाषा की फिल्म 'शेक्सपीयर वाला' में प्रमुख भूमिका निभाई। अंतरराष्ट्रीय महोत्सव में फिल्म को सराहा गया। १९६८ में अमेरिकन फिल्म 'प्रिटी पोली' में शशि को बहुत सराहा गया। भाटिया की फिल्म 'कन्यादान' भी सफल रही और 'चोर मचाए शोर' से शशि अग्रणी सितारा हो गए। हिन्दी फिल्मों में व्यस्त होने के बाद भी शशि ने १९७० में 'बॉम्बे टॉकीज' में काम किया। इस तरह उन्होंने हिन्दी फिल्मों के साथ पश्चिम की अँगरेजी फिल्मों में भी काम जारी रखा। १९७३ में कोनरेड रुक्स की विवादास्पद फिल्म 'सिद्धार्थ' में भी

काम किया। १९७३ से १९८३ तक शशि कपूर बंबई के व्यस्ततम सितारे थे और एक दिन में पांच शिफ्टों में काम करते थे अर्थात सुबह सात बजे से रात के दो बजे तक। इसी दौर में उन्होंने राजकपूर की सत्यम् शिवम् सुंदरम् में भी नायक की भूमिका निभाई और 'टैक्सी सितारा' कहलाए। शशि कपूर ने अभिनय से बहुत धन कमाया और अच्छे कार्यों में लगाया। उन्होंने पृथ्वी थिएटर का निर्माण कर पिता का ऋण चुकाया। पृथ्वी ट्रस्ट के द्वारा कैंसर के इलाज के लिए लोगों की सहायता की और स्वयं की निर्माण संस्था के अंतर्गत कलात्मक फिल्मों का निर्माण किया जैसे— जुनून/ कलयुग/ ३६ चौरंगी लेन/ विजेता और उत्सव। पृथ्वीराज ने पृथ्वी थिएटर में अनेक प्रतिभाओं को पनपाया, ठीक उसी तरह शशि ने अपनी कला फिल्मों और पृथ्वी थिएटर के द्वारा प्रतिभा को आश्रय और अवसर दिए। कुछ नाम गिनाए जा सकते हैं- कुलभूषण खरबंदा/ शफी इनामदार/सुषमा सेठ/ रीमा लागू/ सुषमा पाठक/ अमरीश पुरी/ नीना गुप्ता/गोविंद निहलानी। पृथ्वी थिएटर के कारण ही ओमपुरी और नसीर जैसे लोगों को नाटक करने के अवसर मिले। श्याम बैनेगल और गिरीश कर्नाड को बड़े बजट मुहैया कराए ताकि कला फिल्में कम बजट के दायरे से निकलकर व्यावसायिक सिनेमा का कैनवास प्राप्त कर सकें।

१९८३ में शशि ने 'हीट एंड डस्ट' में काम किया और ८७ में 'सैमी एंड रोजी' को अमेरिका के मुख्य बाजार में भव्य पैमाने पर प्रदर्शन का अवसर मिला। 'द डिसीवर्स' में भी शशि ने अच्छी भूमिका निभाई। इस्माइल मर्चेंट की नवीनतम फिल्म **इन कस्टडी** में केंद्रीय पात्र की भूमिका करने वाले हैं। शशि ने सत्यजित राय प्रोडक्शन के टी.वी. सीरियल में भी अभिनय किया। हिन्दी फिल्म न्यू दिल्ली टाइम्स में अभिनय के लिए उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। अमिताभ के साथ लगभग ग्यारह फिल्मों में बड़े भाई की



*शशि कपूर और अमरीश पुरी*

भूमिका निभाई जिसमें 'दीवार' तथा 'कभी-कभी' में सीमित अवसर के बाद भी शशि कपूर ने भावपूर्ण अभिनय किया। 'सिलसिला' में छोटी-सी भूमिका में भी उन्होंने वही प्रभाव छोड़ा, जो राजेश खन्ना ने अंदाज में किया था।

शशि कपूर ने कभी मल्टीस्टार से परहेज नहीं किया। उनका कहना है कि शशि कपूर आलू है जिसे अन्य किसी भी सब्जी या गोश्त के साथ बनाया जा सकता है। सच तो यह है कि शशि कपूर कभी फिल्मी दुनिया की राजनीति में नहीं रहे और सभी बड़े संस्थानों ने उन्हें सहर्ष लिया। बी.आर. चोपड़ा की धर्मपुत्र और वक्त में काम किया। बिमल राय की प्रेम पत्र, अमिताभ के साथ ढेरों फिल्में कीं, राजेश खन्ना की अलग-अलग, सुभाष घई की गौतम- गोविंदा, सुबोध मुखर्जी की 'अभिनेत्री' और शर्मीली में अभिनय किया। फिल्म अजूबा से उन्होंने निर्देशन के क्षेत्र में भी कदम रखा है। शशि कपूर ने अपने दो प्रसिद्ध भाइयों और वटवृक्ष जैसे पापा पृथ्वीराज के होते हुए भी अपनी स्वतंत्र शैली का विकास किया। उनके अभिनय में राजकपूर की तरह अनुभूति की तीव्रता नहीं थी। शम्मी की तरह पूरे शरीर को अग्नि पुंज नहीं बनाया और न ही पिता की तरह राजसी पात्र किए परंतु सहज सरल स्वाभाविक अभिनय द्वारा करोड़ों को मोह लिया। उनका अभिनय शांत, मंथर गति से बहती नदी की तरह था जिसने कभी किनारे नहीं तोड़े और न ही जलप्रपात बनाए। उसकी लहर से उसकी गहराई का अंदाजा नहीं होता।

● **जयप्रकाश चौकसे**

---

मोहन गोखले

# रजतपट का कस्तूरी-मृग

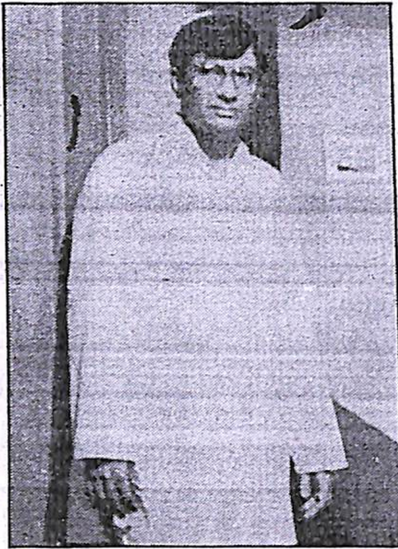


एक अदद सुंदर-सुशील-सर्वगुण संपन्न भारतीय दुलहनियाँ की तलाश में निकला अमेरिका पलट नौजवान- 'मि. योगी!' रहन-सहन: फर्स्ट क्लास। शक्ल-सूरत: सेकंड क्लास। कद-काठी: सप्लीमेंट्री। यह लेखा-जोखा उस चरित्र का है, जिसे छोटे परदे पर साकार करने वाले कलाकार **'मोहन गोखले'** दर्शकों की निगाह में अव्वल साबित हुए। टी.वी. सीरियल 'मि. योगी' में अभिनय का कमाल दिखाकर उन्होंने जो ख्याति अर्जित की, वह बिरलों को ही मिल पाती है। ३८ वर्षीय मोहन गोखले ने कैरियर की शुरूआत १५ साल पहले रंगमंच से की थी। पुणे के फर्ग्युसन कॉलेज से स्नातक उपाधि लेने के बाद वे रंगकर्म से जुड़ गए। उनके पिता उन्हें अपनी तरह पत्रकार बनाना चाहते थे। जब्बार पटेल और सतीश आलेकर जैसे धुरंधर रंगकर्मियों के सान्निध्य में रहकर 'मोहन' का झुकाव अदाकारी की तरफ बढ़ता गया।

मोहन गोखले का पहला नाटक था 'कस्तूरी मृग'। श्रीराम लागू द्वारा निर्देशित इस नाटक को काफी प्रसिद्धि मिली। मोहन रातों-रात एक काबिल रंगमंचीय अभिनेता के रूप में स्थापित हो गए। कई मराठी और हिन्दी नाटकों में काम करने के बाद उन्हें फिल्मों में अभिनय का मौका केतन मेहता की गुजराती फिल्म **'भवनी भवाई'** से मिला। फिर 'हंगामा बाम्बे स्टाइल/ मोहन जोशी हाजिर हो/ स्पर्श/ मिर्च मसाला/ हीरो हीरालाल फिल्मों के जरिए वे दर्शकों से रूबरू होते रहे। जापानी निर्देशक कुरोसावा और बंगाल के ऋत्विक घटक को अपना आदर्श मानने वाले मोहन गोखले ने बीस मराठी फिल्मों में भी काम किया है। उन्होंने तीन बार महाराष्ट्र सरकार द्वारा दिया जाने वाला 'श्रेष्ठ अभिनेता' पुरस्कार पाया है।

विजय आनंद

# आनंदरहित विजय



**बा**त शायद १९५४ की है- दिल्ली में अखिल भारतीय विश्वविद्यालयों का यूथ फेस्टीवल चल रहा था। नाटक प्रतिस्पर्धा में **विजय आनंद** नाटक लेकर आए थे और जज थे अभिनेता प्रेमनाथ। नाटक की कथा थी कि पर्दे के पीछे नाटक कैसे तैयार करते हैं और एक दृश्य में निर्देशक बने विजय आनंद दर्शकों की आखरी दीर्घा तक जाते हैं और वहाँ से अपने पात्रों को जोर से बोलने का निर्देश देते हैं। दर्शकों की प्रतिक्रिया का विवरण भी देते हैं। नाटक में नाटक का यह दृश्य अत्यंत लोकप्रिय हुआ था। विजय आनंद निर्देशक भी थे और निर्देशक की भूमिका भी की थी। प्रेमनाथ ने उन्हें दोनों पुरस्कार दिए। उस समय प्रेमनाथ चोटी के सितारे थे। लगभग १६ वर्ष बाद विजय आनंद ने प्रेमनाथ को 'जॉनी मेरा नाम' में एक अत्यंत लोकप्रिय भूमिका दी। उस समय प्रेमनाथ के सितारे गर्दिश में थे और वे वनवास काट रहे थे।

इन सोलह वर्षों के बीच बहुत कुछ घटित हुआ। आनंद बंधुओं में विजय सबसे अधिक अध्ययनशील थे। चेतन आनंद को एक प्रतिभाशाली निर्देशक माना जाता था और उनकी फिल्म नीचा नगर को अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव में सराहा गया था। सितारा बनते ही देव आनंद ने नवकेतन निर्माण संस्था का श्रीगणेश किया और चेतन के निर्देशन में टैक्सी ड्रायवर बनाई। विजय ने नवकेतन के हर विभाग में फिल्म निर्माण की शिक्षा ली और **'नौ दो ग्यारह'** से अपना फिल्मी जीवन प्रारंभ किया। यहाँ से **गाइड** तक देव और विजय की टीम सफल रही। इसके बाद देव आनंद ने निर्देशन के क्षेत्र में कदम बढ़ाना शुरू किया और विजय आनंद ने अभिनय के क्षेत्र में। विजय आनंद की निर्माता की हैसियत से पहली फिल्म थी 'तेरे मेरे सपने', जिसमें उसने एक महत्वपूर्ण भूमिका थी। विजय आनंद मेडिकल क्षेत्र के अन्याय और गाँवों में सहूलियतों के अभाव के कारण उत्पन्न नैराश्य में शराबी हो जाता है। देव आनंद उसी गाँव में आकर उसे नैराश्य के दलदल से बाहर निकालता है। देव की पत्नी प्रसव प्रक्रिया में मरते-मरते बचती है और देव, आदर्श को छोड़कर पैसा कमाने के लिए शहर आते हैं। देव को धन और यश मिलता है, परंतु वह पथभ्रष्ट हो जाता है। विजय गाँव से शहर आकर देव का पुनरुद्धार करता है। इस फिल्म में विजय आनंद ने बहुत सधा हुआ अभिनय किया था। उसकी हर अदा कम्प्यूटर द्वारा नपी-तुली लगती थी। इस तरह का अंडर प्ले केवल अमेरिकन एक्टर ही करते हैं।

विजय आनंद ने दूसरा महत्वपूर्ण रोल किया 'मैं तुलसी तेरे आँगन की' में। एक ठाकुर का दर्प और उसका प्यार सजीव हो उठा इस भूमिका में। विजय आनंद की प्रतिभा का सही विकास नहीं हो पाया, क्योंकि 'तेरे मेरे सपने' और तुलसी की तरह अभिनेता को मौका देने वाली फिल्में बहुत कम बनती हैं। विजय आनंद ने 'चोर-चोर', 'डबल क्रॉस', 'छुपा रुस्तम' और 'घुँघरू की आवाज' में अभिनय किया, परंतु पटकथा की कमियाँ उनकी प्रतिभा को ले डूबीं। उधर देव आनंद को निर्देशन के क्षेत्र में कोई सफलता नहीं मिली। ऐसा लगता है मानो 'गाइड' के 'कुंभ' में ये दोनों प्रतिभाशाली भाई जुदा हुए जो अब तक नहीं मिले हैं।

# विद्रोही नायक : शम्मी कपूर

पृथ्वीराज के दूसरे पुत्र **शम्मी कपूर** ने 'रेल का डिब्बा' (१९५३) नामक फिल्म से अपनी अभिनय यात्रा प्रारंभ की। उद्योग के विशेषज्ञों ने राजकपूर के छोटे भाई को डिब्बा कहना शुरू किया क्योंकि प्रारंभिक दौर की सभी फिल्में असफल रही जिसमें जीवन ज्योति/ ठोकर/ गुल सनोवर और लैला मजनूं जैसी कथाएँ भी शामिल थी। कपूर परिवार के इस युवक को सफलता का गुरुमंत्र दिया शशधर मुखर्जी ने। फिल्म थी- 'तुमसा नहीं देखा' (१९५७) और निर्देशक थे नासिर हुसैन। शशधर ने शम्मी से उनकी मूँछें साफ करवाईं और संजीदा शम्मी को उछल-कूद की भूमिका में प्रस्तुत किया। शशधर ऐसे जादूगर थे कि आदमी से बंदर का और बंदर से आदमी का काम करवाते थे। शशधर मुखर्जी की परम मित्र थीं नसीम बानू, जिनकी बेटी सायरा बानू के साथ शम्मी कपूर को लेकर सुबोध मुखर्जी ने **जंगली** फिल्म बनाई और **देश भर के सिनेमा घरों में 'याहू' सफलता के शंखनाद की तरह गूँज उठा।** शशधर के प्रचार विभाग ने शम्मी को रिबेल स्टार का खिताब दिया और बाबूराव पटेल ने कहा कि 'ए रिबेल विदाऊट ए कॉज' - मकसद विहीन विद्रोही।

दरअसल, शम्मी कपूर अपने पिता और भाई की ख्याति से आतंकित थे और यह भी जानते थे कि उनके क्षेत्र में उनसे आगे निकलना संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने लिए नई राह खोजी और उस पर थिरकते हुए कलाबाजियाँ खाते हुए चल पड़े। इस राह पर आलोचकों के रोड़े थे, विद्वानों की फब्तियाँ थीं और प्रतिद्वंद्वी कलाकारों की आहें थीं। यह सत्य है कि बहुत से कलाकारों ने शम्मी कपूर के अंदाज को दोहराने के प्रयास किए, परंतु कोई भी सफल नहीं हुआ। अलबत्ता कई फ्रेक्चर हुए। स्वयं शम्मी कपूर ने अपनी जोखिम भरी कलाबाजियों में कई बार अपनी हड्डियाँ तुड़वा लीं। वह पहला कलाकार था जिसने डुप्लीकेट का प्रयोग करने से इंकार किया और जोखिम भरे दृश्य स्वयं किए। मजे की बात यह है कि आमतौर पर कलाकारों को एक्शन दृश्य में डुप्लीकेट लेने पड़ते हैं परंतु शम्मी के नृत्य-दृश्य खतरों से भरे होते थे।

अभिनेता शम्मी कपूर का व्यक्तित्व अपने पिता और भाई की शैली के विरुद्ध प्रतिक्रिया से बना था और वे अपने प्रत्येक अंग के संचालन से प्रभाव उत्पन्न करते थे। किफायत से अंग संचालन शम्मी की शैली का भाग नहीं था। अतिरेकपूर्ण अंग संचालन से वे मस्ती का अलख जगाते थे। अमिताभ की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य यह था कि उसने अपने युग के असंतोष को अभिव्यक्त किया और युवा आक्रोश का प्रतिनिधि कलाकार बना परंतु शम्मी कपूर के जमाने में युवा वर्ग मस्ती के माहौल की उपज था और शम्मी कपूर ने उस युवा उमंग का प्रतिनिधित्व किया। **यह भी एक अजीब बात है कि शम्मी कपूर के जमाने के समझदार दर्शक वर्ग ने उस समय**





*फिल्म जंगली में शम्मी कपूर-सायरा बानो*

**उनकी उछलकूद को नकारा, परंतु एक दशक बाद उन्हें शम्मी कपूर की शैली में बहुत आनंद आया।** वीडियो युग में शम्मी की शैली का पुनः स्वागत हुआ और उनकी लोकप्रियता ने पीढ़ियों की छलाँग लगा दी।

शम्मी कपूर की शैली में सबसे सशक्त पक्ष था उनका स्वस्फूर्त अभिनय। उनकी कलाबाजियों में प्रयास नहीं था। उनके शरीर में रिदम के प्रति स्वाभाविक रुझान था, जिसके कारण उनके द्वारा अभिनीत गीत आज भी लोकप्रिय हैं। उमंग और उत्साह के प्रतीक पात्रों के साथ ही शम्मी कपूर ने 'ब्रह्मचारी' जैसी सशक्त भूमिकाओं में भी अपनी पूरी ऊर्जा के साथ काम किया। इसी अद्भुत ऊर्जा की अभिव्यक्ति के लिए शंकर जयकिशन ने कुछ खास गतिशील गानों की रचना भी की है। शम्मी की शैली ने अपने युग

**● यदि शम्मी कपूर जोर से चीखकर 'याहू' नहीं करते तो पापा पृथ्वीराज और भैया राजकपूर की छाया में गुम हो जाते। मुख्य धारा के विपरीत बहकर उन्होंने अपनी पहचान कायम की है।**

के निर्देशकों और संगीतकारों को भी प्रभावित किया।

एक नायक के रूप में 'अंदाज' उनकी आखिरी फिल्म थी जिसमें राजेश खन्ना ने छोटा सा रोल किया था- जिसे दर्शकों ने बहुत पसंद किया। **अतः राजेश के दौर का प्रारंभ और शम्मी के दौर का अंत एक साथ हुआ।** चरित्र अभिनेता के रूप में शम्मी कपूर की दूसरी पारी १९७९ में 'हरजाई' से शुरू हुई। विधाता में शम्मी कपूर ने दिलीप के मित्र के रूप में अद्भुत अभिनय किया और एक संवाद अनेक बार अनेक तरह से बोलकर दर्शकों को मोह लिया। वह संवाद था- यह सब तो ठीक है, पर ये बता कि तू इतना अमीर कैसे हुआ?' इन साधारण शब्दों में शम्मी कपूर ने अपनी अदायगी से जादू जैसा असर पैदा किया। शम्मी कपूर की दूसरी पारी में उन्होंने कई चुनौतीपूर्ण भूमिकाएँ निभाई हैं। 'प्रेमरोग' में बड़े राजा ठाकुर का वह दृश्य याद कीजिए जब उदारमना ठाकुर अपने आश्रित विद्रोही

**● महिला-दर्शकों को शम्मी कपूर की फिल्में गुदगुदाती हैं और 'गुफा मानव' की तरह झिंझोड़कर रख देती हैं। यही वजह है कि शम्मी कभी जंगली, कभी जानवर, कभी बदतमीज और कभी 'पगला कहीं का' बनकर आते रहे और मन बहलाते रहे।**

के सामने संधि प्रस्ताव रखते हैं और ठुकराए जाने पर कहते हैं कि 'ईश्वर करे, इस धर्मयुद्ध में तुम जीतो और हम हारें।' इसी फिल्म के अंत में अपने लम्पट समधी की हत्या करके शम्मी कपूर कहते हैं- 'वीरेन्द्र प्रतापसिंह तुम्हारा अपराध तो स्वयं भगवान राम भी क्षमा नहीं करते क्योंकि जो व्यक्ति अपने भाई की पत्नी पर बुरी नीयत रखे, बाली की तरह उसका वध किया जाना चाहिए।' शम्मी के विषय में राजकपूर ने कहा था- **'याहू' की छवि वाला शम्मी मेरे काम का नहीं था परंतु प्रेमरोग में जब भी शम्मी का दृश्य आता है, परदा मानो दैदीप्त हो जाता है।**

शम्मी कपूर ने उछलकूद की नई शैली से अपने पैर जमाए थे और अपने पिता तथा भाई के रास्ते के विपरीत गए परंतु अपनी दूसरी पारी में परंपरागत राह पर लौट आए और गंभीर भूमिकाओं को निष्ठा से निभाया। अर्थात् पहली पारी में सिर्फ शरीर था और दूसरी में सिर्फ आत्मा। शम्मी कपूर की विद्रोह की छवि उनके व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन के विपरीत थी परंतु सफलता की इस छवि को बनाए रखने के लिए शम्मी कपूर ने बहुत कड़ी मेहनत की और इसी कारण वे बहुत जल्दी ही थक गए। १९५७ में पहली सफलता मिली थी, परंतु वे १९६१ में जंगली से ही सुपर स्टार बने और केवल दस वर्ष बाद १९७१ में बतौर नायक उनकी आखिरी फिल्म अंदाज प्रदर्शित हुई। हिंदी रजतपट के दूसरे सितारे दशकों तक अपना जादू जगाए रखे हैं। राजकपूर १९४५ से १९७० तक नायक रहे हैं और दिलीप कुमार तथा धर्मेन्द्र ने भी लंबी पारियाँ खेली हैं। शम्मी कपूर के अभिनय में इतनी अधिक ऊर्जा की आवश्यकता थी कि वे दोनों ओर से जलने वाली मोमबत्ती की तरह थे। उनका अभिनय काल आग का दरिया नहीं था, वे स्वयं अग्निपुंज की तरह अभिनय के आकाश से गुजरे, एक कमिट की तरह। अपनी दूसरी पारी में वे शांत रस में दीर्घकालीन खिलाड़ी सिद्ध हुए। शायद शम्मी कपूर को यह बात मालूम थी कि **भटकोगे बेबात कहाँ, लौटोगे अपनी हर यात्रा के बाद यहाँ और पृथ्वी से छिटककर गिरा अग्निपुंज लौटकर पृथ्वी के पास वापस आ गया। आज के शम्मी कपूर कल के पृथ्वीराज की तरह दिखते हैं।**

शम्मी कपूर की छवि ने मध्यम वर्ग के दर्शकों को अचंभित कर दिया क्योंकि उनके पहले और उनके बाद के सभी सितारों ने अपनी लोकप्रियता का आधार मध्यम वर्ग को ही बनाया था। शम्मी की अदाओं ने युवा वर्ग और निचले वर्ग के दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित किया। शम्मी का बेबाक व्यवहार मध्यम वर्ग को उद्दंडता से भरा लगा। इसी तरह महिला दर्शकों को भी शम्मी की फिल्मों ने परेशान किया क्योंकि परदे पर उनका महिलाओं से व्यवहार केवमैन की तरह था जो शरीर को झिंझोड़कर रख देता है। उनकी फिल्मों के नाम भी ऐसे ही थे- जंगली, बदतमीज, पगला कहीं का इत्यादि। **दरअसल, महिलाएँ ऐसे पुरुष को केवल अपनी फन्तासी में देखना पसंद करती हैं-** उन्हें सबके सामने अपना प्रिय अभिनेता कहना **मानो कोई गुनाह स्वीकार करना है** या मन की गाँठ को जनता के सामने खोलना है। अतः मध्यम वर्ग की महिलाओं के लिए शम्मी कपूर की फिल्में छुपकर देखने की चीज थी। उस युग के नैतिक मूल्य कुछ और ही थे। आज की महिलाएँ बेझिझक शम्मी की फिल्मों के कैसेट बुलाकर देखती हैं।

अगर भारतीय फिल्मों में अभिनेताओं की परंपरा को लोकप्रिय गीतमाला मान लें तो शम्मी कपूर का दशक 'रॉक एन रोल' का तीव्रगति वाला गीत मानना होगा जिसे आप पसंद या नापसंद करें, परंतु आप उसे अनसुना नहीं कर सकते क्योंकि वह आपको अचंभित कर देता है। ■




■ **प्रमुख फिल्में :** ☐ रेल का डिब्बा/ गुल सनोवर/ ठोकर/ लैला मजनूँ/ जीवन ज्योति (१९५३) ☐ चोर बाजार/ शमा परवाना (१९५४) ☐ डाकू/ मिस कोकाकोला/ ताँगे वाली (१९५५) ☐ हम सब चोर हैं/ रंगीन रातें (१९५६) ☐ कॉफी हाउस/ तुमसा नहीं देखा (१९५७) ☐ दिल देके देखो (१९५९) ☐ उजाला (१९६०) ☐ जंगली (१९६१) ☐ दिल तेरा दीवाना (१९६२) ☐ ब्लफ मास्टर/ प्यार किया तो डरना क्या (१९६३) ☐ राजकुमार (१९६४) ☐ जानवर (१९६५) ☐ बदतमीज/ तीसरी मंजिल (१९६६) ☐ ब्रह्मचारी (१९६८) ☐ पगला कहीं का (१९७०) ☐ अंदाज (१९७१) ☐ मनोरंजन/ परवरिश (१९७७) ☐ विधाता/ प्रेम रोग (१९८२) ☐ बेताब (१९८३) ☐ हुकूमत (१९८७) ☐ बँटवारा/ दाता (१९८९)।

# अभिनय के शिखर-पुरुष

**फि**ल्म इतिहास का जिक्र किया जाए और **गुरुदत्त** का जिक्र न हो यह हो ही नहीं सकता। गुरुदत्त ने अपने समय के सिनेमा में भविष्य की फिल्मों का निर्माण किया था। जिसे आज हम कला फिल्म या समान्तर सिनेमा के नाम से जानते हैं उसकी नींव में गुरुदत्त की **प्यासा** और **'कागज के फूल'** जैसी फिल्में अवश्य मिलेंगी। दरअसल गुरुदत्त ने सिनेमा की अपनी अलग भाषा गढ़ ली थी। उनका कैमरा, उनका प्रकाश संयोजन, उनकी फिल्म तकनीक छोटे से छोटे दृश्य में अलग से पहचानी जा सकती थी। गुरुदत्त के खाते में भले ही फिल्मों की संख्या सैकड़ों तक न पहुँची हो लेकिन विषय, तकनीक और अभिनय तक के मामले में गुरुदत्त की फिल्मों ने दिशा निर्धारित की है। जिन दिनों गुरुदत्त फिल्मों में सक्रिय हुए थे, उन दिनों फिल्मी सितारों के 'मैनरिज्म' का जमाना था। सभी सितारों के अपने-अपने अंदाज थे। ऐसे में गुरुदत्त ने फिल्म को निर्देशक का माध्यम सिद्ध कर दिखाया।

उन्होंने कला फिल्मों के विषयों को लोकप्रियता की संभावनाओं के साथ इस तरह सैल्यूलाइड पर उतारा था कि कई समीक्षकों ने गुरुदत्त की तुलना जाने माने फिल्मकार **ऋत्विक घटक** तक से की है। लेकिन यहाँ यह भी सच है कि निर्देशक गुरुदत्त की तुलना में अभिनेता गुरुदत्त का कद कम ही ठहरता है। दरअसल अपनी आत्मकथ्य परक फिल्मों के लिए गुरुदत्त को एक ऐसे अभिनेता की जरूरत थी, जो सब कुछ वैसा करता जाए जैसा कि निर्देशक गुरुदत्त चाहते थे इसके लिए उन्हें अपने से बेहतर अभिनेता नहीं मिला। लिहाजा गुरुदत्त ने परदे पर अभिनय भी किया। फिर भी 'प्यासा', कागज के फूल और साहब बीबी और गुलाम जैसी यथार्थवादी फिल्मों में अभिनेता गुरुदत्त के होते हुए भी निर्देशक गुरुदत्त ही हावी थे।

बतौर अभिनेता गुरुदत्त को अपनी सीमाओं का भी ठीक-ठीक अंदाजा था तभी तो १९५४ में 'आरपार' और १९५५ में मिस्टर एंड मिसेज ५५ में रोमांटिक हीरो होने के बावजूद गुरुदत्त ने जब 'सी.आई.डी.' बनाई तो खुद निर्देशक रहे और नायक बनाया देव आनंद को। फिल्म खूब चली लेकिन जल्दी ही गंभीर सिनेमा की ओर मुड़ गए। उनके भीतर का निर्देशक उनके व्यक्तित्व पर भी हावी हो गया। उन्होंने १९५७ में प्यासा/ १९५९ में कागज के फूल और १९६२ में साहब बीबी और गुलाम जैसी फिल्में बनाईं जो भारतीय फिल्मों के इतिहास में मील का पत्थर साबित हुई हैं।

गुरुदत्त ने बतौर अभिनेता फिल्मों में जो अभिनय किया वह एक परंपरा की तरह हिन्दी फिल्मों में लंबे समय तक जीवित रहेगा। अभिनेता गुरुदत्त को बलराज साहनी जैसे सहज अभिनेता श्रेणी में रखा जा सकता है लेकिन बतौर रोमांटिक हीरो वे अशोक कुमार और देव आनंद के बीच में कहीं टिकते हैं। आरपार का नायक गुरुदत्त निश्चय ही देव आनंद की शैली के आसपास का नायक दिखाई देता है लेकिन यही अभिनेता 'कागज के फूल' और 'प्यासा' में अभिनय की उन ऊँचाइयों को छू लेता है जो गुरुदत्त को बतौर अभिनेता महत्वपूर्ण बना देती है।

यह कहा जा सकता है कि संजीव कुमार ने गुरुदत्त की अभिनय परंपरा को न सिर्फ जीवित रखा वरन बहुत आगे तक ले गए। आज भी यदि फिल्मों में गुरुदत्त की अभिनय परंपरा एक 'अंडर करंट' की तरह दिखाई देती है, तो इसका एक कारण यह भी है कि गुरुदत्त मानते थे कि अभिनय भी एक शास्त्र है। उनके ही शब्दों में -हमें महसूस होता है कि हिन्दी फिल्मों में कुशल अभिनेता पर्याप्त संख्या में नहीं है। किसी चरित्र को अच्छी तरह से समझने के लिए शिक्षा के अच्छे संस्कार आवश्यक होते हैं। लेकिन बहुत कलाकारों में ये संस्कार नहीं हैं। फिल्म अभिनेता को विस्तृत भावानुभव के क्षेत्र में अभिव्यक्ति करनी होती है और अपनी प्रस्तुति को अधिक यथार्थ भी बनाना होता है। शायद यही वजह है कि जब भी कोई कलाकार यथार्थ के करीब पहुँचता है, तो वह गुरुदत्त की परंपरा का निर्वाह करता हुआ महसूस होता है।

गुरुदत्त ने फिल्म को निर्देशक का माध्यम स्वीकार करने के बावजूद फिल्मों में अपने अभिनय को पर्याप्त गंभीरता से लिया था। अपनी सामान्य कद-काठी और चेहरे मोहरे



का उन्होंने यथा समय सशक्त अभिनय के लिए बहुत सही और सटीक इस्तेमाल किया।

गुरुदत्त को उनकी फिल्मों के गीत-संगीत के लिए अलग पहचान मिली थी। रफी और गीतादत्त की आवाजों में सचिन देव बर्मन का नशीला संगीत आज भी गुरुदत्त की कई फिल्मों के लिए दर्शक जुटाता है। 'ए लो में हारी पिया' और 'ये दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है' जैसे गीत गुरुदत्त की सर्वथा अलग छवि हमारी यादों में उभारते हैं। गुरुदत्त का मानना था कि आने वाले दिनों में भी बहुत सारी फिल्मों से सारे के सारे गाने हटा देना संभव नहीं होगा क्योंकि हमारा दर्शक मूलतः संगीत का चाहने वाला होता है। संगीत भारतीयों के दैनंदिन जीवन का अनिवार्य अंश है। फिर भी यह सच है कि कई कमजोर निर्देशक फिल्म का मूल्य बढ़ाने के लिए जोरदार संगीत पर निर्भर करते हैं। शायद यही वजह थी कि ईश्वर से कभी कुछ न माँगने वाले गुरुदत्त ने वहीदा रहमान से एक फिल्म की कामयाबी के लिए प्रार्थना

## गुरुदत्त की हत्या की गई थी?

**भा**रतीय फिल्म निर्माण में ऐतिहासिक भूमिका अदा करने वाले फिल्मकार गुरुदत्त की मृत्यु आज तक रहस्य बनी हुई है। ९ अक्टूबर १९६४ की रात हुई इस मौत को शुरू में आत्महत्या निरूपित किया गया तथा कहा गया कि इस आत्महत्या के पीछे पत्नी **गीता दत्त** से अनबन तथा नायिका **वहीदा रहमान** से भावनात्मक लगाव प्रमुख कारण था। इन कारणों को आधारहीन बताते हुए उनके बेटे **तरुण दत्त** ने पिता की मृत्यु के तेईस साल बाद एक बयान जारी कर सबको चौंका दिया था। इस बयान के अनुसार गुरुदत्त ने आत्महत्या नहीं की थी बल्कि किन्हीं अज्ञात हत्यारों ने उनकी हत्या कर दी थी। बकौल तरुण दत्त, उनकी माँ गीता दत्त और गुरुदत्त के बीच तनाव समाप्त हो चुका था। वहीदा रहमान से संबंध लगभग टूट चुके थे। उस रात दत्त साहब ने माला सिन्हा को फोन कर अगली फिल्म की शूटिंग की योजना भी बनाई थी। फ्लैट पर उसी रात अबरार अल्वी तथा आयकर के वकील उनसे मिलने आए थे। तरुण दत्त का कहना है कि उनके पिता को खबर दी गई थी कि आयकर विभाग का छापा पड़ने वाला है। इसलिए कई भारी-भारी बक्से और विदेशी व्यवसाय से संबंधित फाइलें बाहर भेजी गई थीं। वे बक्से और फाइलें कभी वापस लौट कर नहीं आईं। इस स्थिति में यही प्रतीत होता है कि धन के लालच में की गई इस हत्या को किन्हीं कुटिल तत्वों ने कुशलतापूर्वक आत्महत्या का रूप दे दिया।

● सरला

अनंत नाग

## अंतहीन

अनंत नाग का नाम एक सुना हुआ नाम भर है। सुना हुआ इसलिए कि जिन फिल्मों में अनंत नाग ने अभिनय किया है, वे फिल्में चालू भाषा में 'ऑव बीट' कही जाती हैं।

विराट दर्शक समुदाय 'ऑव बीट' फिल्मों के बारे में सुनता तो है लेकिन पहचानता नहीं है क्योंकि 'ऑव बीट' फिल्में उन तक पहुँचती नहीं हैं। लेकिन अनंत नाग पहचाने भी जाते हैं और उनकी अपनी पहचान भी है।

कन्नड़ भाषी दर्शकों के सामने अनंत नाग का अर्थ एक विद्रोही व्यक्तित्व है। यह विद्रोही व्यक्तित्व विराट समुदाय के बीच अपनी चार प्रदर्शित हिंदी फिल्मों- 'अंकुर', 'निशांत', 'मथन' और 'भूमिका' (चारों के निर्देशक श्याम बेनेगल) के बावजूद जाना-पहचाना-अनजाना है। 'कन्नेश्वर रामा' और 'कोंडूरा' अनंत नाग की दो और हिंदी फिल्में हैं। 'कन्नेश्वर रामा' (निर्देशक एम.एस. सथ्यू) और 'कोंडूरा' (निर्देशक श्याम बेनेगल) में एक समानता है कि दोनों द्विभाषी फिल्में हैं। 'कन्नेश्वर रामा' कन्नड़ और हिंदी में और 'कोंडूरा' तेलुगु में 'अनुग्रहम' के नाम से जानी जाती हैं। 'कन्नेश्वर रामा' कन्नड़ के दर्शकों को बता चुकी है कि 'हंस गीते' का गायक क्रूर डाकू का अभिनय भी उतनी ही सहजता से कर लेता है, जितनी सहजता से अभिनेता अनंत नाग नेता अनंत नाग बनकर मजदूर संगठनों का काम कर लेते हैं।

अनंत नाग का नाम श्याम बेनेगल की 'अंकुर' से अंकुरित हुआ। लेकिन रंगमंच अभिनेता अनंत नाग के रजतपट पर पहुँचने का संकल्प कन्नड़ फिल्म 'संकल्प' के माध्यम से 'अंकुर' के प्रदर्शन के पूर्व १९७२ में ही पूरा हो चुका था। १९७२ और ७७ की पांच वर्ष की अवधि में अनंत नाग ने हिंदी की ऊपर लिखी छह फिल्मों के अतिरिक्त कन्नड़ की आठ फिल्मों 'संकल्प', 'हंस गीते', 'कन्नेश्वर रामा', 'देवर कण', 'अनुरूप', 'कन्नेमुख' और 'प्रेम ज्वाले' में काम किया। 'प्रेम लेखलू' और 'अनुग्रहम्' उनकी तेलुगु फिल्में हैं।

ऐसा कहा सुना माना जाना जाता है कि अनंत नाग कन्नड़ फिल्मों के स्थापित सितारे हैं और हिंदी फिल्मों के अत्यंत ही प्रतिभाशाली अभिनेता। अनंत नाग की अनंत अभिनय क्षमता का अनुभव सिर्फ वही कर पाते हैं जिन्होंने 'हंस गीते', 'कन्नेश्वर रामा' और 'कोंडूरा' देखी है। 'अंकुर', 'निशांत', 'मंथन' और 'भूमिका' के अनंत नाग अलग-अलग चरित्रों का निर्वाह करते हैं।

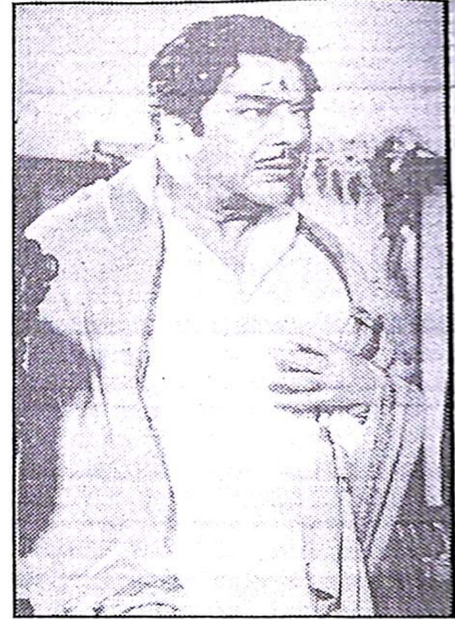
'अंकुर' का जमींदार पुत्र, जिसमें कोमलता, कायरता और क्रूरता है, की घबराहट और परेशानी को प्रकट करने वाले अनंत नाग 'निशांत' में क्रूर काम विकृति युक्त जमींदार के छोटे भाई हैं, तो 'मंथन' में मनचले युवक जो गाँव से घबराए हुए हैं। 'भूमिका' में वे एक फिल्मी हीरो के रूप में हैं। और खूब हैं। लेकिन 'कोंडूरा' अनंत नाग के अभिनय का सबसे बड़ा प्रतिमान है। अभिनेत्री रेखा के साथ वे मंगल सूत्र फिल्म में आ चुके हैं, जिसकी शूटिंग उज्जैन में भी हुई थी। उनके बड़े भाई शंकर नाग निर्देशक तथा अभिनेता रहे हैं। पिछले वर्ष कार दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई।

● **शशि शर्मा**

करने को कहा था। यह फिल्म थी बी.आर. फिल्म्स की 'कानून'। उनका कहना था 'कोई है जो बगैर गीतों के फिल्म बनाने की कोशिश कर रहा है। यह अगर कामयाब हो गया, तो दूसरा कोई एक कदम और आगे बढ़ा पाएगा।' यह बात गुरुदत्त ने कही थी जो स्वयं गीतों को फिल्माने में लाजवाब माने जाते थे।

अपनी प्रयोगधर्मिता के लिए पहचान बनाने वाले गुरुदत्त ने अपनी विशिष्ट तकनीक ईजाद कर ली थी। उन्होंने कागज के फूल के रूप में पहली भारतीय श्वेत श्याम सिनेमा स्कोप फिल्म बनाई। बहुत ही कम फिल्मों के निर्माण, निर्देशन और अभिनय के जरिए गुरुदत्त अपने आप में अलग संस्थान बन गए थे। उनका मानना था कि किसी भी कलाकार को सालभर में एक दो से अधिक फिल्मों में काम नहीं करना चाहिए। यही वजह थी कि उनकी फिल्मों की फेहरिस्त बहुत लंबी नहीं थी। इसका एक और कारण यह भी था कि यह विलक्षण निर्देशक और बेहतरीन अभिनेता बहुत जल्दी हमारे बीच से चला गया। चालीस की उम्र पार करते न करते गुरुदत्त दुनिया से रुखसत हो गए। उनकी मौत पर टिप्पणी करते हुए गुरुदत्त की 'चौदहवीं का चाँद' वहीदा रहमान ने एक साक्षात्कार में कहा था 'उन्होंने आत्मनाश को स्वीकार किया। उनकी मौत दुर्घटना होगी पर मैं जानती हूँ कि वह उसे चाहते थे। उन्हें उसका आकर्षण था। आखिर वह उन्हें मिल गई। मैं दिल से चाहती थी कि उन्हें बचा सकूँ मैं नहीं तो कोई और पर उन्हें बचाया नहीं जा सका।'

इस तरह गुरुदत्त दुनिया छोड़ गए। इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि उन्होंने जिन फिल्मों में अभिनय की ऊँचाइयों को छुआ उनमें वे निर्देशक के रूप में भी जबरदस्त ऊँचाइयों पर थे। इसीलिए गुरुदत्त को संपूर्ण फिल्मकार के रूप में अधिक याद किया जाएगा। बजाए एक अभिनेता के। ■



*कभी जब ऐतिहासिक फिल्में दर्शकों को बेहद पसंद थी, तब **प्रदीपकुमार** ने इन फिल्मों में काम कर एक नया अध्याय लिखा था। बाद में जब इस तरह की फिल्मों की लोकप्रियता घटी, तो प्रदीपकुमार पारिवारिक फिल्मों में नजर आने लगे। व्यक्तित्व प्रधान भूमिकाओं के लिए वे अपनी एक खास पहचान रखते हैं। सत्तर की आयु के आसपास हो चुके प्रदीप दा इन दिनों फिल्मों में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। पेश है उनसे हुई बातचीत के अंश:-*

**प्रदीप दा फिल्म इंडस्ट्री में आए हुए आपको कितने साल हुए हैं?**

लगभग सैंतालीस साल पहले मैं इस इंडस्ट्री में आया था। तब अभिनय के शौकीन किसी भी लड़के या लड़की को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

**तब तो आपको भी ,कई बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा?**

वह तो करना ही पड़ा था। मेरे पिता स्वर्गीय सत्येंद्र नाथ डिप्टी मजिस्ट्रेट थे। वे अपने परिवार की मर्यादा को धूल में मिलाना नहीं चाहते थे। इसलिए अभिनय में मेरी दिलचस्पी का उन्होंने विरोध किया। मुझे बचपन से ही अभिनय का शौक था, जिसे मैंने डाँट-फटकार के बाद भी नहीं छोड़ा।

**क्या नाटक, जात्रा आदि में भी आपकी दिलचस्पी थी?**

बिलकुल। मैंने आठ-दस बंगला नाटकों में काम किया है। कलकत्ता के पब्लिक स्टेज में भी कई नाटक पेश किए हैं।

**आपका पहला नाटक कौनसा था?**

'माटीर घर' मेरा पहला नाटक था।

**फिर आप फिल्मों में कैसे आए?**

मेरे मित्र स्वर्गीय प्रभतोश राय, जो उस समय आर्ट डायरेक्टर थे, ने मुझे फिल्मों में लाने में काफी मदद की।

**आपकी पहली फिल्म कौनसी थी?**

प्रदीप कुमार

# परदे के 'प्रिंस'

● सी. अमृत

मेरी पहली फिल्म थी 'आलोकनंदा' जो सन् १९४४ में प्रदर्शित हुई थी।

**किन-किन बंगाली नायिकाओं के साथ आपने काम किया है?**

मुझे उस दौर की सारी चर्चित नायिकाओं का साथ मिला है। जैसे- सुमित्रा मुखर्जी/ सुनंदा बनर्जी/ निवेदिता दास/ मीरा सरकार/ सुचित्रा सेन/ मंजु डे/ सावित्री चटर्जी। फिल्म 'कृष्णलीला' में मैंने कानन देवी के साथ भी एक छोटी सी भूमिका की थी।

**आपने टॉलीगंज और बंबई दोनों ही फिल्म इंडस्ट्री में काम किया है। दोनों इंडस्ट्री के बीच आपने क्या फर्क महसूस किया।**

टॉलीगंज में अनुशासन ज्यादा है। वे वक्त के पाबंद हैं, चाहे वह नायक हो या नायिका। जो इन दिनों बंबई में बिलकुल ही देखने को नहीं मिलता है।

**बंबई के अपने आरंभिक जीवन के अनुभवों के बारे में कुछ बताइए?**

अक्टूबर सन् १९४९ में स्वर्गीय हेमेन गुप्ता मुझे बंबई ले आए। यहाँ एस. मुखर्जी की फिल्म 'आनंदमठ' में मुझे पहला मौका मिला। इसमें मेरी भूमिका काफी सशक्त थी। इसके कुछ दृश्य काफी वास्तविक बन पड़े थे। जैसे कि बम फटने के दौरान घोड़े पर सवार होकर उसके बीच से गुजरना था। इसकी शूटिंग दहीसर में, घोड़े को केटरिंग करके फिल्माई गई थी। मिस्टर हेलर ने जो विश्व विख्यात छायाकार थे और जिन्होंने 'झाँसी की रानी' का छायांकन भी किया था, ने इस दृश्य में वास्तविकता लाने के लिए रोज दो-तीन घंटे मुझसे घुड़सवारी का अभ्यास करवाया था। उस समय डुप्लिकेट का प्रयोग अधिक नहीं किया जाता था। नायक को सब कुछ स्वयं करना पड़ता था। हम सब भगवान का नाम लेकर उस दृश्य को करते थे।

**बंगभाषी होने की वजह से आपको हिंदी बोलनी नहीं आती थी। इसे आपने कैसे सुधारा?**

इसके लिए मुझे कई परेशानियों का सामना करना पड़ा। हुआ यों कि उन्हीं दिनों नासिर हुसैन 'पहला आदमी' के नाम से एक फिल्म बना रहे थे। वे इस फिल्म में मुझे ही लेने वाले थे, पर मेरा हिंदी उच्चारण उन्हें पसंद नहीं आया। इससे मुझे बहुत तकलीफ पहुँची। मैं नियाज हैदर साहब से जो भारत के विख्यात कवि थे, हिंदी और उर्दू सीखना शुरू की। कुछ ही दिनों में मुझे इन दोनों भाषाओं की अच्छी जानकारी हो गई। कमाल अमरोही ने मेरे विषय पर कहा था कि 'केवल दो ही बंगवासी कलाकार हिंदी और उर्दू का शुद्ध उच्चारण करते हैं। इनमें से एक है पहाड़ी सान्याल और दूसरे हैं प्रदीपकुमार।

**हिंदी की किन-किन फिल्मों में आपको काफी सराहना मिली?**

बी.आर. इशारा की फिल्म 'कागज की नाव' बंबई में तो अच्छी नहीं चली, पर बिहार और अहमदाबाद में हिट रही। इसमें मेरे अभिनय की काफी सराहना हुई थी। फिल्म 'बंधन' में मीनाकुमारी और शशिकला के साथ काम किया था। यह भी मेरे सशक्त अभिनय की प्रतिभा से सजी एक उल्लेखनीय फिल्म थी। मेरी एक और उल्लेखनीय फिल्म है राजश्री प्रोडक्शन की पहली फिल्म 'आरती'। यह एक सुपरहिट फिल्म थी। इसने मुझे काफी लोकप्रियता दिलाई जबकि इसमें मीनाकुमारी और अशोककुमार जैसे दो अत्यंत प्रतिभाशाली कलाकार भी मौजूद थे। इसमें मेरी भावप्रवण अभिनय की तारीफ खुद दादा मुनि ने की थी। इसके अलावा चित्रलेखा, नागिन, पुराना मंदिर, डिटेक्टिव, हीर आदि बहुत सारी फिल्मों में मैंने काम किया। ऐतिहासिक फिल्मों में मुझे सबसे ज्यादा ख्याति मिली। अनारकली, ताजमहल, बहूबेगम, नूरजहाँ और आखिरी फिल्म रजिया सुल्तान में 'अल्तमश' की भूमिका में अभिनय करके मुझे पाँच अवार्ड मिले।

**किसी विशेष निर्देशक के बारे में कुछ बताइए?**

वी. शांताराम की फिल्म 'सुबह का तारा' में काम किया था। शांतारामजी के मिजाज के बारे में मैंने बहुत कुछ सुन रखा था। इसलिए डरते-डरते शूटिंग पर गया लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं था। उनके बारे में मुझे जो भी बातें सुनने को मिलीं उन बातों में जरा भी दम नहीं था। असल में वे मैत्रीपूर्ण और अनुशासित व्यक्ति थे। शूटिंग से दस दिन पहले ही वे डॉयलाग दे दिया करते थे, ताकि अभिनेता अच्छी तरह अभ्यास कर सके।

**अभिनय की प्रेरणा आपको किससे मिली?**

मुझे अभिनय की प्रेरणा मिली थी उस समय के जाने-माने कलाकार स्वर्गीय दुर्गादास बंद्योपाध्याय से, स्वर्गीय अहिन्द्र चौधरी एवं स्वर्गीय छवि विश्वास से।

**आपने कितनी फिल्मों का निर्माण किया है?**

मैंने एक झलक/ पुलिस/ शोला/ रायबहादुर/ मिट्टी में सोना आदि फिल्में बनाई हैं।

**इसके अलावा आपकी दूसरी गतिविधियाँ क्या रही हैं?**

मैंने कई टेलीफिल्में भी बनाई हैं -'ना भूले हैं न भूलेंगे', जहाँगीर आदि। टीवी सीरियल 'दरबारे अकबरी' में मैंने शहंशाह अकबर की भूमिका की थी। इसके अतिरिक्त गुजराती फिल्म 'लाखों बंजारों', अमरसिंह राठौर की सुपरहिट भोजपुरी एवं तमिल फिल्मों में भी मैंने काम किया है।

**प्रमुख फिल्में:** □ आनंद मठ (१९५२) □ अलबेली (१९५५) □ दुर्गेशनंदिनी/ बंधन/ हीर/ पटरानी/ राजहठ/ शीरी फरहाद/ ताज (१९५६) □ एक झलक/ फैशन/ हिल स्टेशन/ मिस इंडिया/ नया जमाना/ यहूदी की लड़की/ अदालत (१९५७) □ एक शोला/ टेक्सी ५५५ (१९५८) □ जवानी की हवा (१९५९) □ मिट्टी में सोना (१९६०) □ बँटवारा/ माडर्न गर्ल/ पासपोर्ट/ संजोग/ आरती (१९६१) □ मेरी सूरत तेरी आँखें/ ताज महल (१९६३) □ चित्रलेखा (१९६४) □ भीगी रात (१९६५) □ अफसाना (१९६६) □ बहू बेगम/ रात और दिन (१९६७) □ रजिया सुल्तान (१९८३)

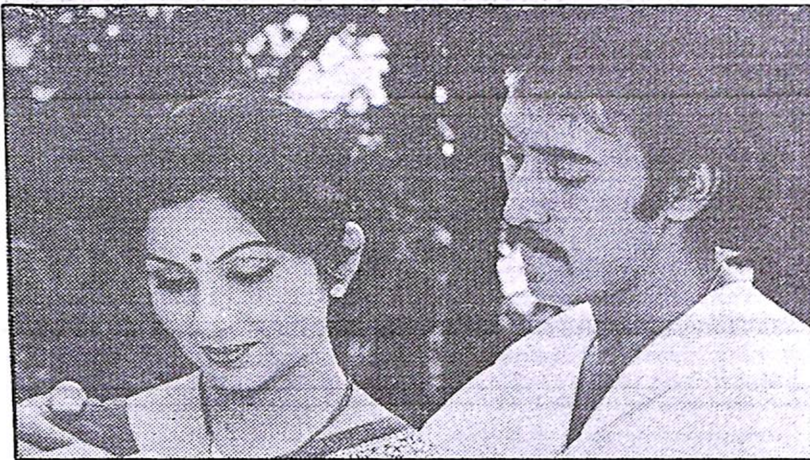
● आदर्श गर्ग द्वारा प्रस्तुत

## लोरी गाने वाले नायक!

*मैं जागूँ सारी रैन... सजन तुम सो जाओ सो जाओ... जी हाँ, किसी बहूरानी को यह लोरी गीत गाते हुए तो हमने अक्सर देखा है। सिनेमा के पर्दे पर नायकों ने भी लोरी गाई है। फिल्मी नायकों ने या तो अपनी प्रेमिका के लिए 'लोरी' गाई अथवा बेटी-बेटे के लिए।*

*'सोजा... राजकुमारी सोजा...' पहले-पहल यह लोरी कुंदनलाल सहगल ने फिल्म जिंदगी (१९४०) में गाई, जो आज भी लोकप्रिय है। फिल्म शबाब की एक युगल लोरी प्रसिद्ध हुई— 'चंदन का पलना- रेशम की डोरी' इसमें नायक भारत भूषण थे। १९६७ की फिल्म मिलन में सुनील दत्त ने अपनी प्रेमिका नूतन के लिए लोरी गाई 'राम करे ऐसा हो जाए, मेरी निंदिया तोहे मिल जाए'। १९८२ में सुनील दत्त ने ही अपनी फिल्म 'दर्द का रिश्ता' में 'माँ की जगह बाप ले नहीं सकता लोरी दे नहीं सकता' पर अपने ओंठ हिलाए। मेहमूद की दो फिल्मों मस्ताना (१९७०) तथा कुँआरा बाप (१९७४) में दो गीत थे- सोई जा तारा... हो... ओ... सोई जा तारा तथा आ... री आ... जा, निंदिया तू ले चल कहीं...। कुँआरा बाप में तो स्वयं मेहमूद ने ही अपने बेटे को लोरी सुनाई थी। शम्मी कपूर ने फिल्म ब्रह्मचारी (१९६८) में हर्ष और विषाद के दो रंगों की लोरी 'मैं गाऊँ तुम सो जाओ' गाकर प्रभावित किया तो मन मंदिर (१९७१) में वहीदा के साथ संजीव कुमार ने लोरी गाई— 'ऐ मेरी आँखों के पहले सपने।' शशि कपूर ने मुक्ति (१९७७) में लोरी गाई— लल्ला लल्ला लोरी, दूध की कटोरी...।*

● प्रस्तुति : प्रकाश शर्मा



*दूसरी दुल्हन फिल्म में शर्मिला-विक्टर*

विक्टर बनर्जी

# मूडी-नायक

बंगला की व्यावसायिक फिल्मों में **विक्टर बनर्जी** उत्तम कुमार के बाद पहले ऐसे नायक हुए हैं, जिनके पर्दे पर आते ही दर्शकों का संपूर्ण ध्यान उनकी तरफ मुखातिब हो जाता है। अब यह दीगर बात है कि विक्टर को किसी फिल्मी चर्चा का केन्द्र बिन्दु कम ही बनाया गया। इसकी वजह है विक्टर का अत्यंत मूडी होना। स्टारडम से दूर वे फिल्मों में अपने काम को बहुत सहजता से लेते हैं। अब जैसे कि कुछ दिनों पहले विक्टर ने यह घोषणा कर दी थी कि व्यावसायिक फिल्मों से वे अपना नाता तोड़ रहे हैं। जबकि यह सर्वविदित है कि एक लोकप्रिय नायक की छवि को वे बहुत सहजता से जीते हैं। दर्शक उनकी हर अदा पर आकर्षित होते हैं। टिकट खिड़की पर उनकी फिल्मों की धुआँधार सफलता इस बात का उदाहरण है। लेकिन विक्टर की इस तरह से संन्यास की घोषणा से निर्माताओं के बीच उनकी आस्था घटी है।

बतौर कलाकार यदि विक्टर के कार्यों का मूल्यांकन किया जाए, तो विक्टर विभिन्न तरह की भूमिकाओं को सफलतापूर्वक करने वाले एक अभिनेता के रूप में सामने आते हैं। इसके लिए उनकी कुछ फिल्मों 'दूई पृथ्वी/ प्रतिदान/ प्रतिज्ञा/ एकांत आपन/ घरे बाइरे/ महापृथ्वी/ आगुन/ प्रतिकार आदि का उदाहरण देना काफी होगा। इस प्रसंग में 'दुई पृथ्वी' की विशेष चर्चा करना जरूरी है। इस फिल्म में महानायक उत्तम कुमार के रहने के बावजूद उन्होंने अपनी एक मुकम्मल पहचान बनाई थी। इस फिल्म में विक्टर ने एक खलनुमा चरित्र को जिया था। खुद विक्टर इस बात को कबूल करते हैं, 'उत्तम कुमार जैसे इस विस्तृत रेंज के अभिनेता के सामने और वह भी एंटी भूमिका में अपने आपको साबित करने के लिए यह बहुत जरूरी था कि मैं कहीं से भी लाउड न होऊँ और मेरा अभिनय कहीं से भी कृत्रिम नजर न आए। वरना इस भूमिका में जड़ से उखड़ जाने की पूरी संभावना थी।' वैसे विक्टर ने भले ही विविधतापूर्ण भूमिकाएँ की हों, उनकी इमेज हमेशा उन पर हावी रही है। बंगला फिल्मों में उनकी हालत कुछ हद तक हिंदी फिल्मों के सुपर स्टार अमिताभ बच्चन जैसी है। अमिताभ की तरह वे भी एक विस्तृत रेंज के अभिनेता हैं। पर उनकी जनप्रियता में उनकी फिल्मी इमेज की महत्वपूर्ण हिस्सेदारी है। यह भी एक चौंकाऊ तथ्य है कि शुरू-शुरू में बंगाल के दर्शकों ने उन्हें बिल्कुल कबूल नहीं किया था। अपने आपको नायक के रूप में साबित करने के लिए उन्हें हॉलीवुड की एक फिल्म 'ए पैसेज टु इंडिया' का सहारा मिला था। बंगला फिल्मों में भी उनके पाँव तब जमे, जब उन्होंने अभिनय की बजाए कुछ खास लटके-झटकों का इस्तेमाल करना शुरू किया। बाद में इन्हीं फिल्मी फार्मूलों के बीच से उन्होंने अभिनय की अच्छी गुंजाईश निकाली। बंगला फिल्मों के इस कलाकार का स्थायी घर टॉलीगंज में नहीं बल्कि मसूरी (देहरादून) में है। इसलिए एक तरह से वे टॉलीगंज से बिल्कुल कट गए हैं।

एक तरफ व्यावसायिक फिल्में, दूसरी तरफ सत्यजित राय, मृणाल सेन जैसे विख्यात बुद्धिजीवी फिल्मकारों की फिल्में, विक्टर ने दोनों तरह की ही फिल्मों में काम किया है। पर मृणाल सेन जैसे फिल्मकारों के साथ वे ज्यादा सहज हैं। एक तरह से ऐसे फिल्मकारों की फिल्मों में काम करके उन्हें सुकून मिलता है। सत्यजित राय की घरे बाइरे और मृणाल सेन की हाल ही में प्रदर्शित फिल्म 'महापृथ्वी' में काम करके उन्होंने अपना कद कुछ और ऊँचा कर लिया है। यही वजह है कि चुनौतीपूर्ण भूमिकाएँ अब विक्टर का इंतजार करने लगी हैं। लेकिन इस मूडी अभिनेता ने अधिकांश भूमिकाओं को इंतजार ही कराया है। यही नहीं कभी भी वे अभिनेता से नेता बन कर भाजपा के टिकट पर चुनाव भी लड़ने लगते हैं। चुनाव हार जाने पर राजनीति से उन्हें विरक्ति भी हो जाती है।

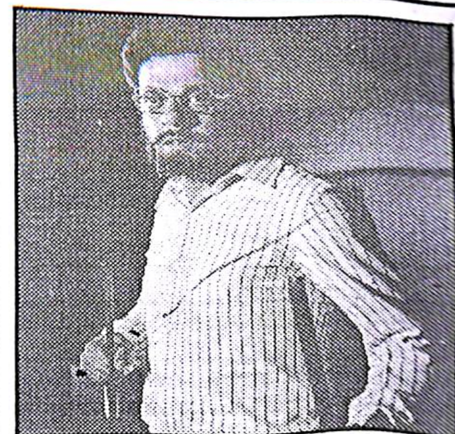
● **अवतार**

विश्वजीत

# एक नायक हाशिए में

गायक और संगीतकार हेमंत मुखर्जी से उनकी फिल्म 'बीस साल बाद' की चर्चा चलने पर उन्होंने बहुत उत्साह के साथ कहा था, 'मेरी इस फिल्म की सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह थी कि इसने एक बंगाली अभिनेता को रातों-रात चर्चित बना दिया था।' यह बंगाली अभिनेता कोई और नहीं विश्वजीत है। यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि बंगला फिल्मों में उत्तम कुमार के सामने शून्य की स्थिति रखने वाले विश्वजीत ने हिन्दी फिल्मों में उत्तम कुमार से कई गुना ज्यादा प्रसिद्धि पाई थी। साधारण चेहरे और बौने कद के विश्वजीत को हिन्दी फिल्म प्रेमियों ने अपना लिया था, वहीं व्यक्तित्व सम्पन्न उत्तम कुमार की कई कोशिशें हिन्दी वालों ने खारिज कर दी। वे बताते हैं 'हिन्दी भाषा का मैंने समुचित ज्ञान प्राप्त किया। इसके लिए मैं हिन्दी फिल्में बहुत गौर से देखता था। मेरे जेहन में यह बात थी कि राजकपूर, दिलीप और देव की तिकड़ी तथा धर्मेन्द्र जैसे ही मैन अभिनेताओं के बीच में मुझे अपने लिए गुंजाइश निकालनी पड़ेगी। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही मैंने कोशिशें शुरू की थी। घुड़सवारी, तलवारबाजी यहाँ तक कि मोटर रेस तक का कड़ा अभ्यास मैंने किया था।'

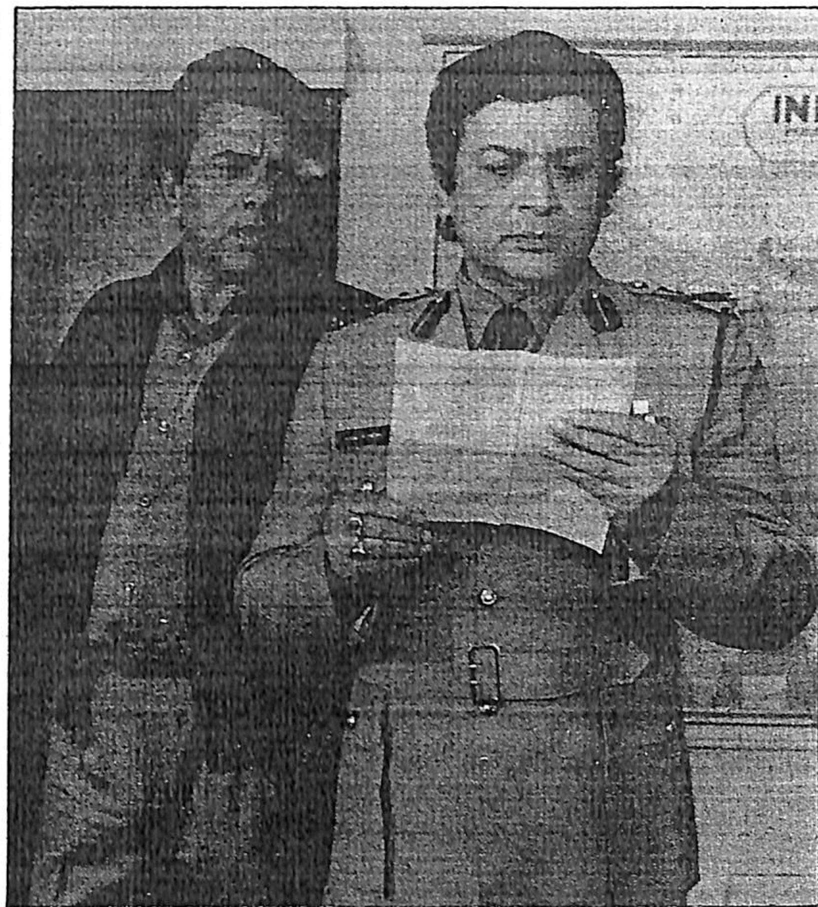
जहाँ तक बंबइया हिन्दी फिल्मों में काम करने का सवाल है यहाँ की रोमांटिक, रहस्य और पारिवारिक विषयों पर बनी फिल्मों में ही विश्वजीत का उपयोग किया गया। दो कलियाँ/ शहनाई/ कोहरा/ किस्मत/ जाल/



श्याम बेनेगल की फिल्मों के प्रदर्शन के साथ ही हिंदी फिल्मों के आकाश पर एक सितारा बड़ी तेजी से उभरा। मगर उस सितारे की चमक चकाचौंध करने वाली नहीं थी। वह सितारा ध्रुव समान गंभीर था। इस सितारे की नियति भी ध्रुव जैसी ही हो गई। वह उभरा तो तेजी से, मगर एक जगह आकर

प्यार का सपना/ दो दिल/ ये रात फिर न आएगी। उनकी पचास से अधिक फिल्में इसी श्रेणी में आती है। इससे कुछ अलग-अलग भूमिका में वे जब भी दिखाई पड़े उन्हें विफलता का ही सामना करना पड़ा। तरुण मजुमदार की **'राहगीर'** उनकी एक ऐसी ही फिल्म थी। इसके बंगला संस्करण में भी विश्वजीत ने काम किया था। वहाँ यह सफल फिल्म साबित हुई थी। लेकिन हिन्दी में जब यह फिल्म बनी, तो इसे बॉक्स ऑफिस पर पहले हफ्ते में ही उखड़ जाना पड़ा।

यदि बंगला और हिन्दी फिल्मों में निभाए गए विश्वजीत के किरदारों की तुलना करें, तो उनमें कोई खास भिन्नता नजर नहीं आती है। भोले-भाले रोमांटिक युवक की भूमिका में वे दोनों भाषाओं की ही फिल्मों में ज्यादा पसंद किए जाते थे। यदि बंगला फिल्मों में उनकी जोड़ी **संध्या राय** के साथ जमती थी, तो हिन्दी फिल्मों में **माला सिन्हा** के साथ वे नायक के रूप में कई फिल्मों में दिखाई पड़े। उनके साथ विडंबना यही रही कि नायक होने के बावजूद कहानी का पूरा ताना-बाना कभी उनके इर्द-गिर्द नहीं घूमता था। वे चाहे बंगला की राज तिलक, मायामृग या श्रीमान पृथ्वीराज जैसी उनकी श्रेष्ठ फिल्म हों, या हिन्दी की दो कलियाँ, जाल, मेरे सनम, ये रात फिर न आएगी जैसी सफल फिल्में हो। इनकी आशातीत लोकप्रियता में उनकी हिस्सेदारी हमेशा हाशिए में रही। इसकी एकमात्र वजह यही थी कि पूरी फिल्म को उनके कंधे में रखने का साहस निर्माता- निर्देशक कभी नहीं कर पाए। ऋषिकेश मुखर्जी की 'दो दिल' जैसी फिल्मों में जब भी उन्हें यदा-कदा ऐसा मौका मिला, भी तो वे उसका सारा श्रेय नहीं उठा पाए। फिल्म की नायिका राजश्री और खलनायक प्राण ने ऐसे मौकों पर उन्हें सहजता से पछाड़ दिया।



*दो सितारे एक साथ : धर्मेन्द्र-विश्वजीत*

आज आलम यह है कि वे हिन्दी फिल्मों में यदा-कदा छोटी-छोटी भूमिकाओं में दिखाई पड़ जाते हैं। मिथुन चक्रवर्ती को लेकर वे एक फिल्म 'एहसानमंद' का निर्देशन भी कर रहे हैं, पर यह फिल्म कच्छप गति से बन रही है। उनका बेटा प्रसन्नजीत अपने पिता की खाली जगह ले रहा है।

**● आशीष अक्षय**

## गिरीश कर्नाड

# ध्रुव तारे की तरह अडिग

टिक गया। तब से अब तक वहीं खड़ा है। उस सितारे का नाम है— **गिरीश कर्नाड।** कन्नड़ मातृभाषी होते हुए भी उन्हें अच्छी हिंदी आती है। उनकी मातृभाषा कन्नड़ नहीं, कोंकणी है। उन्होंने कन्नड़ में फिल्में बनाई हैं और हिंदी, मराठी और बंगला फिल्मों में अभिनय किया है। श्याम बेनेगल की 'मंथन', 'निशांत' में काम करते-करते धीरे-धीरे हिंदी समझते सीखते गए।

हिंदी फिल्मों में आने से पहले गिरीश नाट्य जगत में अधिक सक्रिय रहे। नाटक लिखे। निर्देशित भी किए और उनमें अभिनेता के रूप में कार्य किया। 'तुगलक', 'हयवदन' उनके प्रसिद्ध नाटकों में से हैं। फिर १९६९ में 'मद्रास प्लेअर्स' नामक नाट्य संस्था के साथ मिलकर केवल ९५ हजार रुपए की लागत से कन्नड़ में 'संस्कार' बनाई जो अत्यंत विवादास्पद भी रही और साथ ही इसे कई राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार भी मिले। फिर 'वंशवृक्ष' बनाई बी.वी. कारंथ के सहयोग से। इन दोनों फिल्मों को ब्राह्मण विरोधी बतलाकर इनका विरोध भी किया गया जबकि असली चोट उन्होंने किसी वर्ग विशेष पर नहीं बल्कि पूरी समाज व्यवस्था पर की थी।

हिंदी फिल्मों के नायक के रूप में उनकी फिल्म 'स्वामी' अच्छी चली। मगर दूसरी फिल्म 'रत्नदीप' नहीं चल पाई। गिरीश ने इस फिल्म में अच्छा अभिनय किया था। मगर शायद निगेटिव रोल होने के कारण दर्शकों ने उन्हें पसंद नहीं किया। वैसे हिंदी फिल्मों में गिरीश कर्नाड की छवि प्रायः एक शांत, सौम्य व्यक्ति की रही है जो नायक के बजाए चरित्र अभिनेता के अधिक करीब पड़ती है।

उनके रोल अलग-अलग किस्म के होते हैं। 'बेकसूर' में मनोवैज्ञानिक, 'तेरी आरजू' में इंस्पेक्टर, तो 'इक बार चले आओ' में कट्टर सिद्धांतवादी बाप की भूमिका निभाई है। वैसे अभिनय उनका पहला प्यार नहीं है। बस एक मौका हाथ लग गया और पैसे की खातिर उसे निभाए जा रहे हैं। लेखन और निर्देशन में उनकी अधिक रुचि है। 'वंशवृक्ष' को छोड़ उन्होंने अपनी किसी फिल्म में काम नहीं किया है।

गिरीश कर्नाड पुणे फिल्म संस्थान के डायरेक्टर भी रहे हैं। उनकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है शशि कपूर के लिए फिल्म **उत्सव** का निर्देशन। मृच्छकटिकम् पर आधारित इस नाटक का फिल्मी रूपांतरण उन्होंने देशकाल की दृष्टि से इस तरह किया था कि स्वयं इतिहास सामने आकर खड़ा हो जाता है। जब्बार पटेल की मराठी फिल्म 'उम्बरठा' (हिंदी में सुबह) में उनका सशक्त अभिनय उन्हें एक अतिरिक्त ऊँचाई देता है।

**● शशि शर्मा**

अमोल पालेकर

# एक बाबू-ब्राण्ड नायक

● भूपेन्द्र

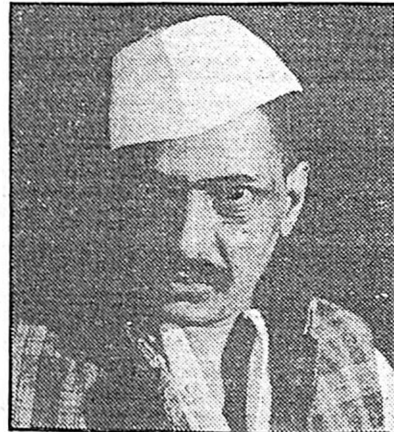
सरकारी दफ्तर का बाबू। बैंक का कैशियर। प्रायमरी स्कूल का टीचर। यदि परदे पर हीरो के रूप में आ जाए तो कैसा लगेगा? इस बात का यदि अहसास करना है तो **अमोल पालेकर** की कोई फिल्म देख लीजिए। एक आम आदमी की जिंदगी के रोजमर्रा के सुख-दुःखों, उसकी लाचारियों और उसके अरमानों को जैसी अभिव्यक्ति परदे पर अमोल पालेकर ने दी है वैसी शायद ही किसी ने दी हो। परदे पर वह कभी हीरो लगा ही नहीं। हीरो की चमक-दमक, धाँ-धूं, नाच-गाने

**पाँव में चप्पल, पायजामा और कुरता पहने कोई सामने आ जाए, तो क्या आप उसे नायक मानेंगे? अमोल पालेकर ने बंबइया सिनेमा के नायक के 'मिथ' को तोड़ा है। और आज तो अमोल एक 'दमदार' निर्देशक हैं।**

से परे एक सामान्य आदमी को परदे पर जीने वाला अमोल पालेकर। एक भोला चेहरा, जिसकी मासूमियत में कभी लाचारी के दर्शन होते हैं, तो कभी भोंदूपन के, जिसे देखकर खुद-ब-खुद हम दुःखी भी होते हैं और हँस भी पड़ते हैं। परदे पर अमोल को देखकर हर बार ऐसा लगता है कि सिर्फ चेहरा अलग है।

बासु चटर्जी की फिल्म **रजनीगंधा** से अमोल के फिल्मी सफर की शुरूआत हुई। इस फिल्म में अमोल का अभिनय एकदम असली था। बनावटीपन से कोसों दूर। दर्शकों का एक वर्ग इसी फिल्म से अमोल पालेकर का दीवाना हो गया। इसके बाद अमोल की घरौंदा/ छोटी सी बात/ चितचोर जैसी फिल्में आईं हैं, जिन्हें खूब पसंद किया गया। छोटे बजट की साफ-सुथरी और भावनात्मक फिल्मों के हीरो के लिए अमोल पालेकर एकदम अनुकूल सिद्ध हुए। कहना चाहिए कि ऐसी फिल्मों की परंपरा के विकास में अमोल ने खास भूमिका अदा की। अमोल पालेकर के अभिनय पर किसी समीक्षक की टिप्पणी है कि वह हिंदी फिल्म के हीरो की एंटीथीसिस है। निश्चय ही अमोल पालेकर पर यह टिप्पणी बड़ी सटीक है। हिंदी फिल्मों के हीरो की जो छवि हमारे मानस पर अंकित है, उसे अमोल एक झटके में छिन्न-भिन्न करता नजर आता है। लेकिन ऐसी फिल्मों की संभावनाएँ एक तो बहुत सीमित थी और दूसरे निर्देशक अमोल से उसी-उसी किस्म की भूमिकाएँ फिर से कराना चाहते थे जिन्हें दर्शकों ने पसंद किया था। अमोल इन भूमिकाओं में टाइप्ड होकर नहीं रह जाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने निर्देशन की तरफ ध्यान दिया। बकौल अमोल उन्होंने सपने में भी फिल्म अभिनेता बनने का नहीं सोचा था, उनकी इच्छा फिल्में बनाने की थी। सो, वे निर्देशन के क्षेत्र में उतरे, और अनकही, आक्रीत, थोड़ा सा रोमानी हो जाएँ फिल्मों का निर्देशन किया।

इस दौरान देश में छोटे परदे का एकदम से विस्तार हुआ और टी.वी. घर-घर पहुँच गया। धारावाहिकों की लोकप्रियता बढ़ी। ऐसे में अमोल का धारावाहिकों के निर्देशन की तरफ मुखातिब होना स्वाभाविक था। कच्ची धूप और नकाब तथा मृगनयनी के निर्देशन के जरिए अमोल ने छोटे परदे पर भी अपनी धाक जमाई है। लेकिन दर्शकों का एक वर्ग अभी भी अमोल पालेकर को फिल्मों में अभिनय करते हुए देखना चाहता है। अमोल को पसंद करने वाले दर्शकों के इस वर्ग को इस बात का मलाल भी है कि वे स्टार क्यों नहीं बन सके? उन्होंने अभिनय की तरफ ध्यान केंद्रित करने की बजाए निर्देशन का क्षेत्र क्यों चुन लिया? अमोल दर्शकों के इस प्रेम की कद्र करते हैं लेकिन उनका कहना है कि एक ट्रेंड में बँधकर फिल्म स्टार बनना उन्हें गवारा नहीं। लेकिन अभिनय के क्षेत्र को उन्होंने सलाम नहीं किया है। यदि कोई चुनौतीपूर्ण भूमिका मिले तो वे अभिनय के लिए हमेशा तैयार हैं। ऐसे कुछ प्रस्ताव उनके





*अमोल पालेकर-आशा सचदेव*

सामने हैं भी। बहरहाल, अमोल ने अपने अभिनय से यह तो सिद्ध कर ही दिया है कि वे इतने असली हैं कि कोई भी दर्शक उनमें अपनी छवि देख सकता है। सजीव अभिनय की इस ऊँचाई को छूना हर किसी के बूते की बात नहीं। ■

■ **प्रमुख फिल्में :** □ रजनीगंधा (१९७४) □ चितचोर (१९७६) □ घरौंदा (१९७७) □ टैक्सी-टैक्सी (१९७७) □ दामाद (१९७८) □ बातों-बातों में/ गोलमाल/ मेरी बीवी की शादी/ सोलवाँ सावन (१९७९) □ आँचल/ अपने पराए (१९८०) □ नरम गरम (१९८१) □ जीवन धारा/ श्रीमान् सत्यवादी (१९८२) □ रंग बिरंगी (१९८३) □ तरंग/ अनकही (१९८४) □ झूठी (१९८६) □ मि.एक्स (१९८८)।

राजकपूर के ज्येष्ठ पुत्र **रणधीर कपूर** ने लेख टंडन के सहायक के रूप में 'झुक गया आसमान' से अपना फिल्म जीवन प्रारंभ किया था। **कल आज और कल** में निर्देशक और अभिनेता के रूप में पहली बार जनता के सामने आए। पीढ़ियों की दूरी पर बनी इस अनोखी फिल्म ने उन्हें योग्य निर्देशक सिद्ध किया और अभिनय के क्षेत्र में संभावना को

कारण वे दूसरों को खुश करने में लगे रहे और अपने शरीर पर ध्यान नहीं दिया। असमय में आए मुटापे के वजन को कोई प्रतिभा झेल नहीं पाती। रणधीर का सफर अगर बाहरी नहीं होता और वे अपने अंदर झाँकते, तो अपनी निर्देशकीय योग्यता से अपने अभिनेता को बचा लेते। हिंसा के दौर में उन्होंने आर.के. की परम्परा के विपरीत

**रणधीर कपूर सहज और स्वाभाविक अभिनेता थे, लेकिन उनकी प्रतिभा का दोहन नहीं हो सका। वे 'जोकर' की तरह जिए और दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए खटते रहे। 'हिना' का निर्देशन उनके प्रशंसकों के लिए सुखद आश्चर्य है।**

रणधीर कपूर

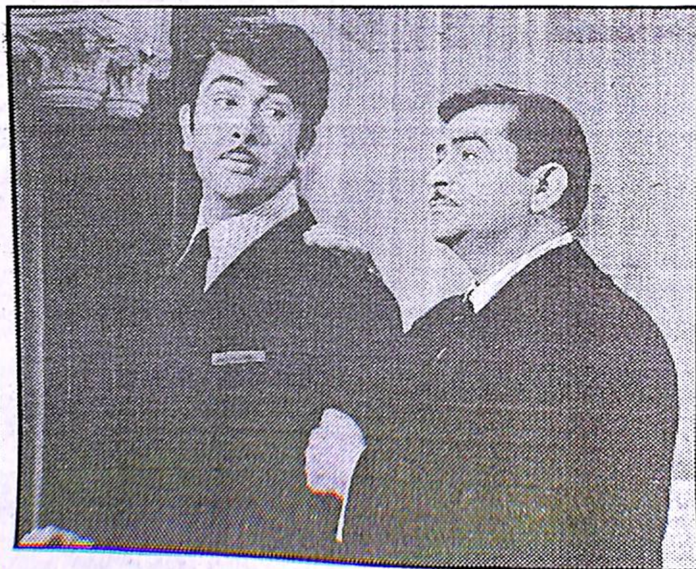
# हिंसा के दौर में हास्य

हँसने हँसाने में अपनी ऊर्जा लगा दी और अंधेरे-बंद कमरे में आँसू बहाए। रणधीर कपूर काफी हद तक जोकर की तरह जिए अर्थात दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए खटते रहे। राजकपूर की मृत्यु के बाद उन्होंने **हिना** बनाई और फिल्म की गुणवत्ता ने सबको चौंका दिया। हँसोड़ रणधीर के पास रोने और रुलाने का माद्दा भी है- यह दुनिया वालों के

उजागर किया। दूसरी फिल्म "रिक्शावाला" भव्य पैमाने पर बनी थी। स्टार छवि के अभाव में असफल रही। अभिनेता के रूप में रणधीर को पहली सफलता मिली **रामपुर का लक्ष्मण** में जिसे मनमोहन देसाई ने निर्देशित किया था। इस फिल्म में भोले ग्रामीण युवक की भूमिका में रणधीर सफल रहे और उन्हें सितारा होने का गर्व भी प्राप्त हुआ। रमेश बहल की **जवानी** में खिलंदड़ छात्र की भूमिका में रणधीर ने अभिनय कौशल दिखाया और फिल्म अत्यंत सफल रही। प्रकाश मेहरा की **'हाथ की सफाई'** और **'चाचा भतीजा'** भी अत्यंत सफल फिल्म रही। रामानंद सागर की 'हमराही' में उनके हास्य अभिनय की प्रशंसा हुई।

रणधीर तीनों कपूर भाइयों में सबसे अधिक सुंदर व्यक्तित्व के धनी थे। वे अभिनेता के रूप में हिंसा के दौर के शिकार हुए। हास्य की ओर उनका सहज रुझान था परंतु हिंदी फिल्मों में एक ऐसा दौर आया जब हास्य और मासूमियत का सफाया हो गया। रणधीर, राजेश खन्ना की तरह रूमानी नहीं थे और अमिताभ की तरह उनके पास हिंसा और बदले की फिल्मों में काम करने की योग्यता भी नहीं थी- अतः इन दो पाटों के बीच उनकी मासूमियत की छवि कुचल गई। उन्हें ऋषिकपूर की तरह नृत्य भी नहीं आता। रणधीर सहज और स्वाभाविक अभिनेता थे परंतु उनकी प्रतिभा का दोहन नहीं हो सका क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने लिए फिल्में नहीं बनाई, जो कि वे कर सकते थे। प्रारंभ में जब उन्हें खूब सफलता मिली, तब उन्होंने अपने दोस्तों को निर्माता बनने का मौका दिया और यह सहृदयता ही उन्हें ले डूबी अन्यथा भला-मानस/ पोंगा पंडित/ ढोंगी/ लफंगा/ खलीफा/ दिल दीवाना जैसी अधकचरी और फूहड़ फिल्मों में काम करने की क्या जरूरत थी? जवानी-दीवानी/ हाथ की सफाई/ रामपुर का लक्ष्मण और चाचा भतीजा जैसी सफल फिल्मों के दौर में उन्हें सावधानी से ऐसे निर्माता-निर्देशक चुनना थे, जो उनकी प्रतिभा के अनुरूप विषय लेकर व्यावसायिकता के तौर-तरीके से फिल्में बनाते। रणधीर कपूर से दूसरी गलती यह हुई कि अपने खिलंदड़ एवं अलमस्त स्वभाव के

'धरम -करम' बनाई जो आंशिक तौर पर तो सफल रही, परंतु उन्हें एक्शन हीरो के रूप में स्थापित नहीं कर पाई। रणधीर अपने सहज हास्य और मासूमियत को स्थापित करने वाली मानवीय फिल्में बनाते तो सभी का



*मेरी परम्पराएँ जारी रखना बेटा रणधीर!*

भला होता। उनमें प्रतिभा की कमी नहीं थी। 'कस्मे वादे' में रणधीर और अमिताभ थे। अमिताभ की ओजस्विता के सामने भी रणधीर ने इस फिल्म में अपनी जमीन नहीं छोड़ी। 'कस्मे वादे' के सारे यश को "पुकार" ने धो दिया क्योंकि गोवा के स्वतंत्रता सेनानी का रोल रणधीर कपूर के व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं था।

रणधीर ने अपनी आखिरी फिल्म "हरजाई" में छवि परिवर्तन का प्रयास किया परंतु अरबी घोड़े जैसी सशक्त कथा पर रमेश बहल जैसे कमजोर जौकी को निर्देशन देने के कारण कथ्य के साथ न्याय नहीं हुआ और प्रथम श्रेणी का संगीत भी पिट गया। रणधीर ने एक बार फिर मित्रता को व्यावसायिकता के ऊपर तरजीह देकर अपनी प्रतिभा से बेवफाई की! सचमुच हरजाई रहा!

राजकपूर ने जिन अनेक पात्रों की रचना रजतपट के लिए की थी, उन्हीं में एक पात्र-सा जीवन रणधीर कपूर ने जिया अर्थात

लिए सुखद आश्चर्य था। रणधीर, राजकपूर के काल्पनिक पात्र की तरह जिए और अपने रचयिता की मृत्यु पर उन्होंने अपने कृतिकार की अंतिम कृति को श्रद्धा के साथ पूरा किया। अर्थात पात्र ही लेखक हो गया।

**●जयप्रकाश चौकसे**

## प्रमुख फ़िल्में :

□कल, आज और कल (१९७१) □जवानी दीवानी/ जीत/ रामपुर का लक्ष्मण (१९७२) □दिल दीवाना/ हाथ की सफाई/ हमराही (१९७४) □पोंगा पंडित (१९७५) □ आज का महात्मा /खलीफा (१९७६) □ढोंगी/ मामा-भानजा (१९७७) □ भला मानुष (१९७९) □ बीवी ओ बीवी (१९८१) □ हमसे न जीता कोई/ जाने जाँ/ पुकार (१९८३) □खजाना (१९८७)। ■



ऋषि कपूर की सफलता के दो दरवाजे हैं। राजकपूर के निर्देशन में उनका अभिनेता चौबीस कैरेट के शुद्ध कंचन की तरह कसौटी पर खरा उतरा। दूसरे, नायिका प्रधान फिल्मों ने उन्हें आसानी से सफलता दिलाई।

# कंचन-कामिनी और ऋषि (कपूर)

ऋषि कपूर जब छोटे थे, उन्हें किसी शरारत पर डाँट दिया जाता था तब वे आईने के सामने खड़े होकर रोते थे। हर एक्टर का आईने से गहरा रिश्ता होता है। उसके लिए आईना बुरा दोस्त और अच्छा दुश्मन हो सकता है। लेकिन आईने से प्रेम करने की गलती पर जीवन नष्ट भी हो सकता है। देवआनंद को आईने से इश्क रहा है और इसलिए 'गाइड' के अतिरिक्त कोई महत्वपूर्ण फिल्म उन्होंने आज तक नहीं दी। आदमकद आईने भी होते हैं और आईने के कद के अभिनेता भी। दर्शक की पंसद से बड़ा कोई आईना नहीं होता। ऋषि कपूर ने आईने को आलोचक माना और इसीलिए, फिल्म उद्योग में बाईस वर्ष का सफर पूरा किया।

राज कपूर को सारी उम्र इस बात का अहसास पूरी शिद्दत से रहा कि वे अपने पिता की ऊँचाइयों को छू नहीं पाए। ऋषि कपूर के दिल में पिता की बराबरी का हिमालयी ख्याल कभी नहीं आया। उन्होंने इस बात की पूरी कोशिश की कि उनकी व्यक्तिगत पहचान हमेशा कायम रहे और वे इसमें सफल भी रहे। दूसरा राजकपूर या राजकपूर की छाया मात्र कहलाने की भयावह नियति से बच निकले। यह बात इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है कि ऋषि कपूर को अपनी पहली भूमिका में राज कपूर के लड़कपन को प्रस्तुत करना था। जोकर में उनके उठनें, बैठने, चलने पर राजकपूर की अदा का होना जरूरी था, क्योंकि उन्होंने राजकपूर की जिंदगी का १६वाँ साल जीना था। इसी भूमिका के लिए उन्हें श्रेष्ठ अभिनय का राष्ट्रपति पुरस्कार भी मिला। कपूर परिवार की तीसरी पीढ़ी का सफर ही राष्ट्रीय पुरस्कार से प्रारंभ हुआ।

अपनी दूसरी फिल्म **'बॉबी'** में उन्हें अपनी ही उम्र के प्रेमी की भूमिका करना थी, जो जोकर के बालपन के बाद जवानी का पहला कदम था। फिसलन से भरा रास्ता था, परंतु उनके कदम बहके नहीं। इसका पूरा श्रेय निष्णात निर्देशक राजकपूर को जाता है। यह ऋषि कपूर का सौभाग्य था कि पहली दो फिल्मों में उन्हें राजकपूर जैसा निर्देशक मिला।

एक और पहलू को हम नजरअंदाज नहीं कर सकते कि राजकपूर ने अभिनय छोड़ने के बाद सारी फिल्में नायिका-प्रधान ही बनाईं और ऋषि कपूर को उनमें भी अपनी पहचान बनाए रखने का कठिन दायित्व निभाना था। **प्रेमरोग** में पद्मिनी के खूँखार पंजों से अपने को बचाए रखना भी बहुत बहादुरी का काम था। प्रेमरोग की मनोरमा निर्देशक की मनपसंद भूमिका थी। परंतु देवधर ने जुझारू पहलवान की तरह अपनी जमीन नहीं छोड़ी और अविस्मरणीय अभिनय किया। प्रेमरोग का देवधर अपनी सारी वेदना आँखों से बयान करता है और बिना किसी शारीरिक हरकत के भी दिल की बात दिल तक पहुँचाता है। दरअसल प्रेमरोग ऋषि कपूर के जीवन की सबसे कठिन परीक्षा थी और उन्होंने सौ प्रतिशत अंक अर्जित किए हैं। किसी भी साधारण अभिनेता को देवधर की भूमिका निगल जाती। परंतु ऋषि कपूर ने उसे आत्मसात कर लिया। देवधर की भूमिका जहर थी और ऋषि को नीलकंठ होकर बाहर निकलना था, जो उन्होंने बखूबी किया।

बॉबी का नायक राजकपूर का चाभी-भरा

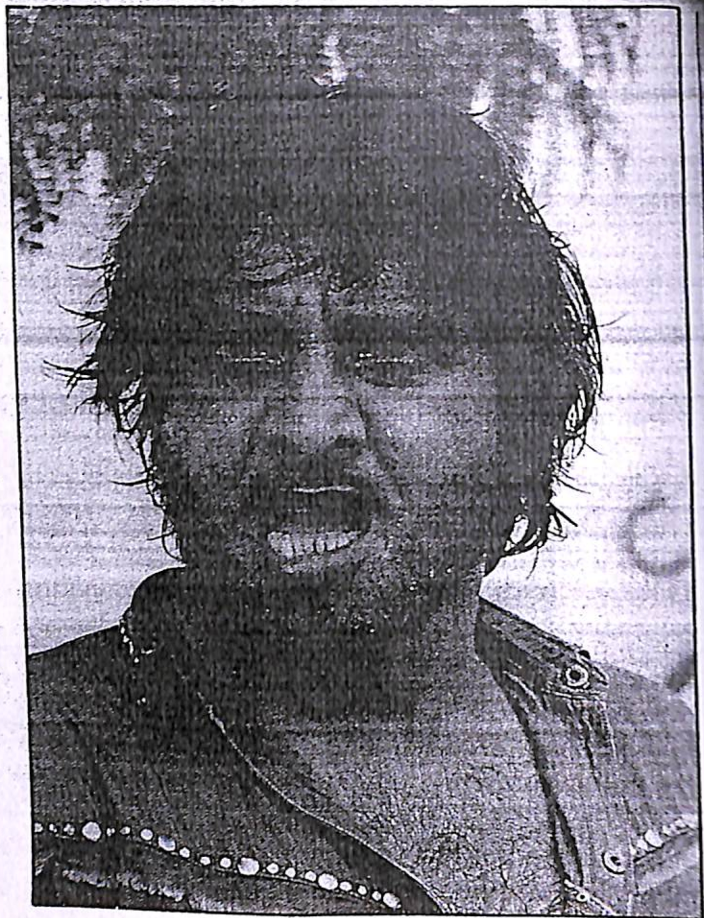
खिलौना था परंतु प्रेमरोग का देवधर ऐसा पात्र था जो अपने रचयिता की पकड़ से बाहर जाकर जिंदगी की तलाश करता है। बॉबी और प्रेमरोग के बीच गुजरे दस वर्षों में ऋषि ने बहुत कुछ सीखा और प्रेमरोग ने सिद्ध कर दिया कि ज्यादा फूटेज से ज्यादा बड़ा अभिनेता नहीं बनता। जिंदगी की तरह रोल छोटे-बड़े नहीं होते। महत्वपूर्ण यह है कि आपने जिंदगी को जिया कैसे, अभिनय किया कैसे?

बॉबी के बाद युवा प्रेमी की छबि से निकलने में ऋषि को समय लगा, क्योंकि बॉबी को दोहराने के प्रयास में आधा दर्जन दुर्घटनाएँ हुई और ठीक उसी वक्त अमिताभ हिंसा के घोड़े पर सवार होकर आया व सिने जगत पर जादू सा छा गया। अमिताभ की आँधी का पहला शिकार रोमांटिक सरताज राजेश खन्ना हुआ। लेकिन ऋषि कपूर ने प्रेम फिल्मों का ध्वज लैला-मजनू में थाम लिया। अमिताभ ने सबसे ज्यादा फिल्में शशि कपूर के साथ कीं परंतु ऋषि कपूर के साथ वाली सभी फिल्में सफल रहीं। अमर अकबर एंथोनी अमिताभ की सफलतम फिल्म है। फिल्म के अकबर इलाहाबादी (ऋषि) को लोग आज तक नहीं भूले हैं। लंबू और टिंगू की जोड़ी बॉक्स ऑफिस पर हमेशा टकसाल साबित हुई। ऋषि कभी भी अमित से आतंकित नहीं हुए और अपनी छोटी भूमिकाओं में भी कमाल करते रहे। टिंगू मिट्टी-पकड़ पहलवान हैं जो पटकनी तो खा सकता है परंतु आप उसे चित्त नहीं कर सकते। इस लड़ाकूपन ने ऋषि को एक्शन फिल्मों के दौर में भी जिंदा रखा। हर दो-तीन साल में ऋषि एक बड़ी हिट फिल्म में काम करके अपने आलोचकों के मुँह बंद कर देते हैं।

ऋषि ने बहुत-सी नायिका प्रधान फिल्मों में काम किया है, जैसे नगीना/ प्रेमरोग/ चाँदनी तथा हिना। अपनी अभिनय-क्षमता के कारण वे इन फिल्मों में अपनी छाया छोड़ने में सफल रहे। अमिताभ की तरह वे पटकथा के ऊपर नहीं उठते। परंतु पटकथा के सहज बहाव का हिस्सा बन जाते हैं जो कि एक सफल अभिनेता की खूबी है। इस खूबी के कारण ऋषि अच्छे अभिनय की गारंटी बन गए हैं। वे अन्य लोकप्रिय सितारों की तरह ड्रॉफ्ट या हुंडी नहीं हैं, विश्वसनीय गारंटी हैं।

---

□ **प्रमुख फिल्में :** □ बॉबी (१९७३) □ जहरीला इंसान (१९७४) □ राजा/ जिंदादिल (१९७५) □ कभी-कभी/ लैला-मजनू (१९७६) □ अमर-अकबर-एंथोनी/ दूसरा आदमी (१९७७) □ झूठा कहीं का/ सरगम (१९७९) □ कर्ज (१९८०) □ नसीब (१९८१) □ प्रेमरोग (१९८२) □ कुली (१९८३) □ सागर (१९८५) □ तवायफ (१९८५) □ एक चादर मैली-सी/ नगीना (१९८६) □ चाँदनी/ घराना (१९८९) □ अजूबा/ हिना (१९९१)। ■



विनोद खन्ना

# बेचैन-नायक

पच्चीस बरस के फिल्मी कैरियर में **विनोद खन्ना** ने उतार तो नहीं देखे, लेकिन उसमें कई ऐसे नाटकीय परिवर्तन जरूर हुए, जो किसी फिल्मी पटकथा से कम रोचक नहीं हैं। सुनील दत्त ने उन्हें अपनी फिल्म **'मन का मीत'** में खलनायक के रूप में पेश किया था। इसी फिल्म में बतौर नायक के सुनील ने अपने जिस भाई सोम दत्त को पेश किया, वह तो आगे नहीं बढ़ पाया, लेकिन विनोद खन्ना ने उस फिल्म के जरिए यह दिखला दिया कि उनमें 'स्टार' बनने के गुण हैं। अपने अभिनेता-जीवन के प्रारंभिक दौर में ही उनकी प्रतिभा को पहचान कर तराशने में निर्देशकों **राज खोसला** तथा **गुलजार** ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

गुलजार की पहली निर्देशित फिल्म **'मेरे अपने'** में विनोद को नायक के रूप में मीना कुमारी जैसी अभिनेत्री के खिलाफ अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का मौका मिला। उन्हीं की **'अचानक'** ने उन्हें एक गंभीर अभिनेता के रूप में स्थापित किया। वहीं राज खोसला की दो सफल फिल्मों **'मेरा गाँव मेरा देश'** तथा **'मैं तुलसी तेरे आँगन की'** ने उन्हें एक बिकाऊ स्टार भी बना दिया।

विनोद खन्ना के लिए शुभ साबित होने वाले तीसरे निर्देशक रहे प्रकाश मेहरा, जिन्होंने तीन फिल्में समानांतर नायकों की भूमिकाओं के साथ बनाई और इन तीनों में उनके सह-कलाकार थे अमिताभ बच्चन। दर्शकों ने 'हाथ की सफाई', 'हेरा फेरी' और 'मुकद्दर का सिकंदर' तीनों में विनोद को बच्चन के साथ काफी पसंद किया, लेकिन विनोद को यह शिकायत जरूर रही कि इनमें उनके चरित्र बहुत बढ़िया विकसित होने के बावजूद संपादन के समय उन पर बड़ी बेरहमी से कैंची चला दी गई। इसके बावजूद उनके काम को सराहा गया और १९७४ में 'हाथ की सफाई' में उनके अभिनय के लिए सर्वश्रेष्ठ सह-अभिनेता का फिल्मफेयर पुरस्कार भी मिला।

विनोद खन्ना के अभिनय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे गंभीर भावना प्रधान फिल्मों ('मैं तुलसी...', 'मीरा', 'इम्तिहान', 'इंकार', 'लेकिन') के साथ ही मारधाड़, मुक्केबाजी तथा हिंसा-प्रधान फिल्में ('कच्चे धागे', 'अमर अकबर एंथोनी', 'खून पसीना', 'हेरा फेरी', 'डाकू और जवान', 'आखरी डाकू') दोनों में एक-सी सहजता और स्वाभाविकता के साथ फिट हो जाते थे।

**दो पारियों में विनोद खन्ना अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा चुके हैं। मगर भीतर से वे इतने बेचैन और दुःखी हैं कि एक बार संन्यासी बनकर भगवान रजनीश की शरण में चले गए थे। दूसरी पारी में लुकाछिपी करते हुए वे स्वयं अपने निर्देशन में ऐसी फिल्म बनाना चाहते हैं, जो उन्हें पूरी तसल्ली दे।**

---

विनोद खन्ना का खयाल है कि कुछ ही फिल्मों में काम करने के बाद यदि आप में थोड़ी भी प्रतिभा है, तो आप बिना किसी खास प्रयास के कुछ खास तरह की भूमिकाएँ करने लग जाते है। यानी आप खुद को दुहराने लगते हैं। इसी की तार्किक परिणति यह होती है कि आप को एक जैसी भूमिकाएँ मिलने लगती है और कुछ नया करने के नाम पर आपके पास कुछ नही बचता। सन् १९८१ के आते-आते विनोद खन्ना का कैरियर-ग्राफ तो ऊपर जा रहा था, दौलत और शोहरत भी खूब मिल गई थी, लेकिन अपने पेशे में अपने काम से उन्हें कोई रचनात्मक संतोष मिलना बंद हो गया। इस समय तक उनकी पहली पत्नी गीतांजलि से उन्हें दो पुत्र भी प्राप्त हो चुके थे।

कहने को विनोद के पास सब कुछ था, लेकिन बस आत्मसंतोष नही था। इसे पाने के लिए ही वे **ओशो रजनीश** की शरण में चले गए। चार बरस तक ओशो के ओरेगॉन (अमेरिका) स्थित आश्रम में रह कर उन्होंने अपने आप को पहचानने की कोशिश की और 'भगवान' के सान्निध्य में जीवन-मरण, जीवन का अर्थ तथा इस जीवन के बाद क्या जैसे गूढ़ प्रश्नों के उत्तर तलाशने की कोशिश की। सन् १९८५ में वे भारत तथा फिल्मी दुनिया में वापस लौटे। विनोद खन्ना यह नही मानते कि वे भारत रजनीश के प्रति मोहभंग हो जाने के कारण लौटे। उन्ही के शब्दों में–'मैं ओरेगॉन और ओशो को अब भी श्रद्धा के साथ याद करता हूँ। ओशो अपने वक्त से बहुत आगे थे। ऐसा नही है कि मैने उनसे अपना नाता तोड़ लिया था। बल्कि चार बरस के बाद मेरे जीवन का वह दौर शुरू हुआ, जिसमें मैंने अपने बल पर जीने की, बगैर ओशो की बैसाखी के चलने की कोशिश की।'

बहरहाल, १९८५ में जब विनोद वापस लौटे, तो बंबई के फिल्म उद्योग ने उन्हें हाथों-हाथ पहले जैसे ही प्यार के साथ लिया। उन्होंने मुकुल आनंद की 'इंसाफ' और राज सिप्पी की 'सत्यमेव जयते' फिल्मों में काम शुरू किया। वैसे खुद उन्हीं के अनुसार उनका आत्मविश्वास इस बीच डगमगा गया था। वे घंटों अपने मेक-अप रूम में बंद हो रोते रहते थे। यह अफवाहें भी उड़ीं कि विनोद मनोरोगी हो गए हैं। लेकिन विनोद की यह दोनों फिल्में खूब सफल रहीं और उन्हें अमिताभ के बाद नंबर एक के स्थान का दावेदार कहा जाने लगा।

विनोद अपनी दूसरी पारी में भी पच्चीस से भी ज्यादा फिल्मों मे काम कर चुके हैं तथा इनमें से चाँदनी/रिहाई/फरिश्ते/महादेव/महा-संग्राम/पत्थर के इंसान/निश्चय/हमशक्ल/गर्जना/ के.सी. बोकाडिया की 'इंसाफ का देवता' आदि कितनी ही बड़े बजट की फिल्मों मे काम कर चुके हैं और इनमें से कुछ सफल भी रही है। गुलजार और लता मंगेशकर की **'लेकिन'** में उन्होंने डिंपल कापड़िया के साथ जिस तरह की संजीदा भूमिका की, उससे साबित होता है कि मसाला फिल्मों के अलावा वे गंभीर, सार्थक तथा कलात्मक विषयों वाली फिल्मों की उपेक्षा नहीं कर रहे है। मुजफ्फर अली की कश्मीरी शायरा हब्बा खातून की जीवनी पर आधारित 'जूनी' तथा हेमा मालिनी की 'मार्ग' इसी तरह की फिल्में हैं।

विनोद खन्ना को अपनी मनपसंद फिल्में व भूमिकाएँ अभी तक मिल रही हैं, लेकिन एक कलाकार के रूप में उनकी बेचैन आत्मा को अब भी तसल्ली नहीं मिली है। वे अंतरराष्ट्रीय बाजार के लिए, उसके उपयुक्त विषय पर खुद अपने निर्देशन में फिल्में बनाकर उनमें अभिनय भी करना चाहते हैं। इसके लिए वे अपने पच्चीस बरस के फिल्मी तजुर्बो तथा ४-५ वर्ष के अमेरिकी तजुर्बे की भी मदद लेंगे। ■

---

## कन्नड़ फिल्मों के अमिताभ

विष्णु वर्धन कन्नड़ फिल्मों के अमिताभ कहे जाते हैं। अब तक करीब १५० फिल्मों में काम कर चुके विष्णु वर्धन ने एक्टिंग की शुरूआत किशोर कलाकार के रूप में फिल्म **'वंशवृक्ष'** से की थी। बतौर हीरो उनकी पहली फिल्म थी 'नागरहवू।' इसका निर्माण भी 'वंशवृक्ष' के निर्देशक पुतन्ना कांगल ने किया था। वास्तविक पहचान बनाने के लिए विष्णु को सहसा सिंह/ सुप्रभात/ नीनू नकारे/ मतीन्ना हारा आदि कुछ और फिल्मों का इंतजार करना पड़ा। उनकी सबसे सफल फिल्म 'शिव शंकर' रही, जिसने उन्हें कन्नड़ सिनेमा के नंबर एक कलाकार की पदवी प्रदान की। विष्णु वर्धन ने ज्यादातर फिल्मों में इंस्पेक्टर के रोल किए हैं। इस वजह से उन्हें पुलिसिया सुपर स्टार कहा जाता है। वह कुछ कामेडी फिल्मों जैसे 'होम्बीसुलू' और 'ड्रायवर हनुमत्थू' में भी काम कर चुके हैं।

फिल्म 'मतीन्ना हारा' की शूटिंग के दौरान विष्णु वर्धन के साथ एक रोमांचक हादसा हो गया था। उन्हें फिल्म के एक दृश्य में पाँच सौ फुट की ऊँचाई से पैराशूट द्वारा छलाँग लगानी थी। लेकिन हवाई छतरी की डोरी ऐन मौके पर खुल नहीं पाई। आमतौर पर ऐसे हादसों में जान बच नहीं पाती है, लेकिन विष्णु वर्धन को इसका खामियाजा सिर्फ एक मामूली फ्रेक्चर के रूप में उठाना पड़ा। विष्णु वर्धन की एक हिन्दी फिल्म 'इंस्पेक्टर धनुष' भी पिछले दिनों प्रदर्शित हो चुकी है।

*इन्सपेक्टर धनुष*
*संगीता बिजलानी-विष्णुवर्धन*



विष्णु वर्धन

कबीर बेदी

## घर का जोगी

टाई बेचने वाले कबीर बेदी फिल्मों में नायक बने, तो दूसरे नायकों को अपना बौनापन नजर आने लगा। अंतरराष्ट्रीय जगत में नाम-दाम कमा कर घर का जोगी फिर से 'जोगड़ा' कहलाने के लिए लौट आया है।



कबीर बेदी मॉडलिंग से फिल्मों में आए। भारतीय फ़िल्मोद्योग में तो वे अधिक सफलता न पा सके मगर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्यस्त, सफल एवं लोकप्रिय अभिनेता के रूप में उनके पैर अच्छी तरह से जम गए थे। योरपीय फिल्मी दुनिया में 'साण्डोकन' नामक फिल्म एवं टी.वी. सीरियल में अपने सशक्त एवं स्वाभाविक अभिनय की वजह से उनकी गिनती शीर्षस्थ अंतरराष्ट्रीय अभिनेताओं में होने लगी थी। अमेरिकन एवं ब्रिटिश दर्शकों के सामने वे सबसे पहले 'थीफ ऑफ बगदाद' नामक फिल्म में सुंदर राजकुमार के रूप में आए। इस फिल्म की समीक्षा करते हुए 'न्यूयार्क डेली टाइम्स' ने लिखा-'दो घंटे तक इस खूबसूरत एंग्लो- इंडियन अभिनेता को परदे पर देखते रहना ही समय को सार्थक बना देता है।'

इटली, फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमेरिका में बनी एक सौ से भी अधिक फिल्मों में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ करने वाले कबीर बेदी को उत्कृष्ट अभिनय के लिए कई अंतरराष्ट्रीय अवार्ड मिल चुके हैं। इनमें सौरिसी-ई- केनजोनी (इटली १९७७), टेले ७ जोअर (फ्रांस १९७७), गोल्डन ओटो (ब्रावो जर्मनी १९७९) प्रमुख हैं। प्रोतिमा बेदी के पति, पूजा बेदी के पिता कबीर बेदी का कहना है कि हॉलीवुड में अपनी जगह बनाने के लिए उन्हें तगड़ा संघर्ष करना पड़ा था। इसलिए उन्होंने पहले लॉस एंजलेस के केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में दो वर्ष तक मोशन पिक्चर्स विभाग में पढ़ाई की।

कबीर बेदी को भारत से प्यार है तथा वे भारत में रहकर फिल्म निर्माण तथा दूरदर्शन के धारावाहिकों के निर्माण के क्षेत्र में उतरना चाहते हैं। इन दिनों वे भारत में ही बस गए हैं। हेमामालिनी के साथ 'नुपूर' श्रृंखला में उन्होंने सहयोग किया था। रेखा के साथ एक हिन्दी फिल्म में भी आए मगर लगता है, उनका 'बाजार' खत्म हो गया है। अब वे विज्ञापनों में दिखाई देते हैं। ■

रंजीत मलिक

## बंगाल का पुरस्कृत नायक

करीब २०-२२ वर्ष पूर्व मृणाल सेन की एक बंगला फिल्म प्रदर्शित हुई थी— 'इंटरव्यू।' इसके नायक 'रंजीत मलिक' अपनी पहली ही फिल्म से पूरे बंगाल में चर्चा का विषय बन गए थे। इस फिल्म में उत्कृष्ट अभिनय के लिए उन्हें 'कार्लोवी वारी फिल्मोत्सव' में सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार मिला था। तब से रंजीत मलिक बंगला सिनेमा के शीर्ष पर मौजूद एक नाम है। 'इंटरव्यू' की कामयाबी का श्रेय मृणाल सेन ने रंजीत को देते हुए अपने उद्‌गार में कहा था— 'वह एक जन्मजात अभिनेता है। मैं उसकी पहली फिल्म के आधार पर कह सकता हूँ कि उसे कोई भी भूमिका ढोनी नहीं पड़ेगी।'

रंजीत को दूसरा मौका भी मृणाल सेन ने ही अपनी फिल्म 'कलकत्ता ७१' में दिया। इस कोलाजनुमा फिल्म में उनके बेहतरीन अभिनय को अंतरराष्ट्रीय समीक्षकों द्वारा भी सराहना मिली। 'रंजीत' अपने २२ वर्षीय



अभिनय जीवन में अब तक करीब ७० फिल्मों में काम कर चुके हैं। इनमें एक हिन्दी फिल्म **नया नशा** भी शामिल है, जिसकी हीरोइन नंदा थीं। रंजीत मलिक की ताजा फिल्मों में 'शाखा-प्रशाखा' का नाम महत्वपूर्ण है। सत्यजित राय द्वारा निर्देशित इस फिल्म की प्रमुख भूमिका को उन्होंने अपने कैरियर का 'सार्थक बिंदु' निरूपित किया है। ■

अन्नू कपूर

## लैंड-स्केप जैसा चेहरा

अन्नू कपूर का चौखटा भले ही किसी खूबसूरत 'लैंडस्केप' का आभास न देता हो, लेकिन उनके अभिनय का इंद्रधनुषी स्वांग आँखों के आगे एक निराली छटा बिखेर देता है। फिल्मों और दूरदर्शन पर विविध भूमिकाओं के माध्यम से अन्नू कपूर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाते रहे हैं। 'अन्नू' के प्रशंसकों के लिए यह जानना दिलचस्प होगा, कि अदाकारी की दुनिया मे वह किसी थिएटर से नहीं बल्कि नौटंकी के देहाती धरातल से आए हैं। उनके पिता की एक नौटंकी कंपनी थी, जिसके साथ वे गाँव-गाँव घूम कर कार्यक्रम पेश किया करते। उन दिनों अभिनय को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता था, लिहाजा बेचारे अन्नू सहपाठियों के मुँह से **'भाँड का बच्चा'** जैसे ताने सुन कर अंदर ही अंदर कुढ़ते रहते थे। इस अपमान से चिढ़ कर



उन्होंने डॉक्टरी का पेशा अपनाना चाहा। आर्थिक तंगी की वजह से वे ऐसा नहीं कर पाए।

रजतपट तक पहुँचने से पहले अन्नू ने संघर्ष की लंबी अँधेरी गलियों को पार किया है। पूरे तेरह वर्ष तक इधर-उधर हाथ-पाँव मारने के बाद उन्हें श्याम बेनेगल की फिल्म 'मंडी' में पहला मौका मिला। इस दौरान वे अनेक नाटकों में काम करते रहे। अन्नू कपूर की दूसरी फिल्म थी, 'दामुल' जिसमें उन्हें 'मंडी' की अपेक्षा अधिक सशक्त और संभावनापूर्ण भूमिका मिली। 'एक रुका हुआ फैसला' और 'सुस्मन' उनकी अगली फिल्में थीं। 'मि. इंडिया' के माध्यम से 'अन्नू' व्यावसायिक सिनेमा की ओर मुड़े। एक सनकी संपादक की भूमिका में उन्होंने सहज हास्य द्वारा दर्शकों को खूब हँसाया। इसी तरह टी.वी. सीरियल 'देवीजी' में उनकी दब्बू पति वाली भूमिका काफी पसंद की गई। अन्नू कपूर का सर्वश्रेष्ठ रोल धारावाहिक 'कबीर' के रूप में याद किया जाएगा।

टेली फिल्म 'पथराई आँखों के सपने' में भी अन्नू ने कमाल का अभिनय किया है। संजीदा और हास्य भूमिकाएँ वह समान दक्षता के साथ निभाते हैं।

# बड़बोला नायक शत्रुघ्न सिन्हा

शत्रुघ्न सिन्हा को फिल्मी भाषा में 'शॉट-गन सिन्हा' कहा जाता है। किसी भी विषय पर आगे बढ़कर खुलकर अपनी बात कहने से वे बाज नहीं आते। आम सभाओं में तो उनके मुँह से गोलियों की तरह शब्द छूटते हैं।

**शकील अख़्तर**

**भा**रतीय सिनेमा के इतिहास में वे नायक अँगुलियों पर गिने जा सकते हैं जिन्होंने 'मास्टर्स ऑफ स्पीच' होने का गौरव प्राप्त किया और भरपूर प्रशंसा पाई। इन नायकों ने संवाद अदायगी की एक अलग भाषा और शैली विकसित की।

फिल्मी कैरियर से लेकर राजनीतिक जीवन तक **शत्रुघ्न सिन्हा** इसी अदायगी की एक अद्‌भुत मिसाल रहे हैं। सिनेमा हाल से लेकर सार्वजनिक सभाओं तक उन्हें सुनना एक दिलचस्प अनुभव है। जिस तरह परदे पर बोले गए उनके संवाद दर्शकों को कंठस्थ हो जाते हैं ठीक वैसे ही सभाओं में उठाए गए उनके मुद्दों और सवालों से श्रोता प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

इन दिनों राजनीति में पोर-पोर भीगे हुए शत्रुघ्न का फिल्मी सफर कोई पच्चीस बरस पुराना है। तब वे पूना फिल्म इंस्टीट्यूट से एक्टिंग का डिप्लोमा लेकर बंबई, हीरो बनने आए थे। दूसरे अभिनेताओं की तरह उनका आरंभिक फिल्मी जीवन भी बेहद संघर्षपूर्ण रहा। काम के लिए उन्हें दर-दर भटकना पड़ा। लेकिन बिहार के इस बाबू ने हिम्मत नहीं हारी और कामयाब हुए।

फिल्म 'साजन' में एक छोटी-सी भूमिका के जरिए उनके कैरियर की शुरूआत हुई। फिल्म की इस छोटी-सी एंट्री से उन्हें 'प्यार ही प्यार', 'प्रेम पुजारी' और 'गैंबलर' जैसी फिल्में मिलीं। लेकिन इन फिल्मों में भी शत्रुघ्न की भूमिकाएँ ऐसी नहीं थीं कि जिससे उनकी कोई इमेज बनती और वे स्थापित हो पाते।

उन्हें सही तौर पर पहचान मिली, १९७१ में बनी फिल्म 'मेरे अपने' से। इस फिल्म का निर्देशन गुलजार ने किया था और जिसमें वे पहली बार परदे पर खलनायक बनकर आए थे। अभिनय के लिहाज से जहाँ यह मीनाकुमारी की एक अविस्मरणीय फिल्म थी वहीं कैरियर के मद्देनजर 'मेरे अपने' विनोद खन्ना और शत्रुघ्न सिन्हा के लिए मील का पत्थर साबित हुई। उनकी संवाद अदायगी ने दर्शकों को बेहद प्रभावित किया। वहीं रौबदार चेहरे वाले इस खलनायक की चाल-ढाल और भाव-भंगिमाएँ भी परदे के लिए नई थीं।

हीरो बनने आए शत्रुघ्न देखते ही देखते फिल्मी दुनिया के एक ऐसे प्रिय खलनायक बन गए, जिसकी परदे पर एंट्री से दर्शक आनंदित होते थे और संवाद-अदायगी पर तालियाँ पीटते थे। तन्हाई/ कशमकश/ दोराहा/ मिलाप/ दो भाई/ गाय और गोरी/ गुलाम बेगम बादशाह/ खिलौना/ दोस्त/ सबक/ दो यार/ बाबुल की गलियाँ/ भाई हो तो ऐसा और खान चाचा उनकी कुछ ऐसी ही फिल्में थीं। ८० के दशक की इन फिल्मों ने शत्रुघ्न सिन्हा को दर्शकों के बीच बेइंतहा शोहरत दिलाई और फिल्मी दुनिया में उन्हें पूरी तरह स्थापित कर दिया।




*फिल्म अधर्म में शबाना आजमी-शत्रुघ्न सिन्हा*

उनकी इसी शोहरत को नायक के रूप में भुनाने का स्वप्न एन.एन. सिप्पी ने देखा और इसी तरह फिल्म 'कालीचरण' और बाद में विश्वनाथ का जन्म हुआ। इन फिल्मों को सुभाष घई ने निर्देशित किया था। ये फिल्में बॉक्स ऑफिस पर सफल हुईं। दर्शकों में उनकी नई छवि बनी। इन्हीं फिल्मों ने उनकी एंट्री हीरो वाली इमेज को प्रशस्त किया और वे 'मल्टी स्टार फिल्मों' के जरूरी सह-नायक बन गए।

धर्मेन्द्र, विनोद खन्ना और अमिताभ बच्चन जैसे नायकों के साथ उनकी फिल्में आने लगीं। काला पत्थर/ दोस्ताना/ शान/ क्रांति और नसीब कुछ ऐसी ही फिल्में हैं। इस तरह उनके कैरियर के पहले पंद्रह बरस (१९६९ से १९८४) बेहद उत्साहवर्धक रहे। लेकिन नब्बे का दशक उनके फिल्मी कैरियर के लिए अच्छा नही रहा।

पिछले सालों में प्रदर्शित अधिकांशतः उनकी फ्लॉप फिल्मों को देखकर महसूस होता है कि वे अपने कैरियर के प्रति सजग नहीं रहे हैं। भूमिकाओं को दोहराते रहे हैं। भीमा/ जीने नहीं दूँगा/ भवानी जंक्शन/ काली बस्ती/ शेरनी/ बिल्लू बादशाह/ गोला बारूद और शिवशक्ति जैसी फिल्में उनके अभिनय पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं। वैसे शत्रु में ग्लेमरस और लोकप्रिय नायकों के सामने पूरे दमखम के साथ टिके रहने का माद्दा है। उदाहरण के लिए अमिताभ बच्चन के साथ उनकी फिल्म 'काला पत्थर' का जिक्र किया जा सकता है।

कमर्शियल ही नहीं कला फिल्मों में भी वे एक सशक्त अभिनेता के रूप में उभरकर सामने आए हैं। अंतर्जलि यात्रा और कस्बा उनके कैरियर के ताजा सबूत हैं। फिर भी वे अभिनय की ऊँचाइयों को नहीं छू पाए।

शत्रुघ्न सिन्हा जयप्रकाश नारायण के जमाने से विभिन्न रचनात्मक और राजनीतिक आंदोलनों से जुड़े रहे हैं। इस दृष्टि से वे फिल्मों की तरह इस क्षेत्र के भी समानांतर अनुभवी हैं। यह अनुभव विभिन्न चरणों में होता हुआ भारतीय जनता पार्टी की सदस्यता तक पहुँचा है।

*वे राजेश खन्ना के मुकाबले दिल्ली के*

*संसदीय चुनाव क्षेत्र मे उप-चुनाव लड रहे हैं। चुनाव और राजनीति के साथ सार्वजनिक जीवन के मुद्दों पर उनसे हुई बातचीत के प्रमुख अंश-*

**कभी आपने कहा था कि चुनाव कभी नहीं लड़ूंगा?**

मैं हमेशा से यह कहता रहा हूँ कि राजनीति में अच्छे लोगो का आना बहुत जरूरी है ताकि दृश्य कुछ बदले और जनता के साथ न्याय हो। एक दिन यही बात मुझसे एक सभा के दौरान लालकृष्ण आडवाणी ने कही थी। उन्होंने कहा कि जब तुम स्वयं यह कहते नही अघाते कि राजनीति में अच्छे लोगों को आना चाहिए तो इससे फिर दूर क्यों रहते हो। इससे सही अर्थो में जुड़ते क्यों नहीं? 'व्हाट यू टीच यू शुड प्रैक्टिस।' उनकी इन बातों ने मुझे प्रभावित किया और मैंने चुनाव लड़ने का फैसला किया।

**एक समय आपने यह कहा था कि जितना भाजपा के करीब हैं, माकपा से भी उतना ही नाता है?**

राजनीति से मेरा आज का नहीं, बरसों पुराना नाता है। एक संवेदनशील नागरिक और सच्चे जनहितैषी की दृष्टि से मेरी राजनीतिक सक्रियता कला जीवन के अतिरिक्त सदा बनी रही है। फिर जयप्रकाश आंदोलन का मामला रहा हो या निजी स्तर पर अनुचित के विरुद्ध प्रतिक्रिया जाहिर करने का, मेरी कोशिश यही रही कि बात देश और जनता के हित की हो। एक बात और; पावर, परमिट या हड्डी की राजनीति से मेरा कभी कोई नाता नहीं रहा। सारी सेवा निःस्वार्थ भाव से करता रहा।

**भाजपा को लेकर तमाम विरोधाभासपूर्ण बातें हैं?**

वह सब निराधार हैं। यह पार्टी को बदनाम करने की सुनियोजित साजिश मात्र है।पार्टी को सांप्रदायिक कहे जाने जैसे वक्तव्य भी निहायत गैर जिम्मेदाराना हैं। यह उन्हीं का काम है जिन्होंने देश को इस स्थिति में ला खड़ा किया है। भाजपा एकमात्र ऐसी पार्टी है जिसमें लूटमार नहीं, भ्रष्टाचार नहीं है। अनुशासन है, राष्ट्र-प्रेम है। प्रबुद्धता और दूरदर्शिता है। भाजपा देश का वर्तमान ही नहीं, भविष्य भी है।

**आपके प्रतिद्वंद्वी राजेश खन्ना और आपको लेकर काफी समय से विवादास्पद बयान छपते रहे हैं, इस शीत युद्ध की वजह?**

देखिए राजेश इंडस्ट्री में मेरे साथी और सीनियर कलाकार हैं। वे मित्र भी हैं और हमने साथ फिल्में भी की हैं। विचार के स्तर पर मतभेद स्वाभाविक हैं। लेकिन मेरी तरफ से कुछ ऐसा-वैसा नहीं है।

**कुछ लोगों का खयाल है कि सभाओं में आपका उपयोग भीड़ बढ़ाने के लिए किया जाता है?**

एकदम गलत। लोग शत्रुघ्न सिन्हा को सुनने आते हैं और उसके लिए घंटों प्रतीक्षा भी करते हैं। संभव है कि वे एक एक्टर को भी देखने आते हों, लेकिन वे अपनी बात को जबान देने वाली आवाज को भी सुनने आते हैं। जब मैं किसी सभा को संबोधित करने जाता हूँ तो कोई यह फरमाइश नहीं करता कि साब फलाँ फिल्म का डायलॉग सुनाइए। मतलब साफ है लोग मेरे जरिए समय के साथ उठने वाले सवालों और उनकी सच्चाइयों को सुनने-समझने के लिए आते हैं।

**इस समय सैट पर आपकी कौन-कौन-सी फिल्में हैं?**

कुरबानी की कीमत/ अदावत/ नकाबपोश/ मोहब्बत की आग/ दरार और आखिरी पल जैसी फिल्में अंतिम चरण में हैं।

**आपके फिल्मी कैरियर का ग्राफ साल-दर-साल कमजोर होता जा रहा है?**

अब पौने दो सौ फिल्मों के कैरियर में सभी फिल्में हिट हों यह तो संभव भी नहीं हैं। फिर एक फिल्म की सफलता के कई कारण होते हैं।

**कस्बा और अंतर्जलि यात्रा जैसी फिल्मों से जिस शत्रुघ्न सिन्हा का जन्म हुआ है, उसे और विस्तार देंगे?**

बेशक, अभिनय सफर में इस तरह के रोल मुझे सृजनात्मक संतुष्टि देते हैं। मैंने हर साल गौतम घोष के साथ एक आर्ट फिल्म में काम करने का फैसला किया है। ■

## विनोद मेहरा
# सीधे-सच्चे



तेरह फरवरी १९४५ को अमृतसर के एक कपड़ा व्यापारी के यहां जन्मे विनोद का परिवार बंबई आ गया और यही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। सेंट जेवियर्स कॉलेज से कला में स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे कुछ समय तक मॉडलिंग करने लगे। उनकी बहन शारदा अभिनेत्री थी। 'एक के बाद एक' फिल्म मे वह देव आनंद के साथ काम कर चुकी थी। पारिवारिक पृष्ठभूमि फिल्म से जुड़ी थी। मॉडलिंग और फिल्मों में बाल अभिनेता के रूप में विनोद ने भी काम करना शुरू कर दिया। धार्मिक और सामाजिक फिल्मों में उन्होंने कई छोटे-छोटे रोल किए। फिल्म 'शारदा' में तो उन्होंने राजकपूर के बचपन की भूमिका भी अदा की थी।

निर्माता मेहताबचंद गोलचा की फिल्म **'एक थी रीटा'** में सबसे पहले उन्होंने नायक की भूमिका की। 'एक थी लड़की' का नवीनीकरण इस फिल्म में उन्होंने तनूजा और मोतीलाल के साथ काम का सौभाग्य प्राप्त किया। यह फिल्म कुछ ज्यादा नहीं चली। लेकिन इस फिल्म में काम कर २८ वर्षीय विनोद का आत्मविश्वास और बढ़ा और उन्होंने एक के बाद एक पैंतीस फिल्मों में नायक की भूमिकाएँ कीं। उन्होंने उस समय की जिन चर्चित नायिकाओं के साथ काम किया उनमें लोकप्रिय फिल्में थीं- योगिता बाली के साथ 'परदे के पीछे', रेखा के साथ 'एलान', 'बिंदिया चमकेगी', 'साजन की सहेली', 'घर' तथा 'प्यार की जीत। अरुणा ईरानी के साथ 'दो फूल', मौसमी चटर्जी के साथ 'अनुराग', 'रफ्तार' तथा 'नाटक'। मीठू मुखर्जी के साथ 'सफेद झूठ' और श्रीविद्या के साथ 'अर्जुन पंडित।' इसमें कोई दो राय नहीं कि नायक वाली उनकी अधिकांश फिल्में ज्यादा नहीं चली और उन्ही दिनों उन्होंने चरित्र अभिनेता के रूप में पर्दे पर आना स्वीकार कर लिया।

फिल्मी दुनिया में रहते हुए लगभग बाईस वर्षों में विनोद मेहरा ने तकरीबन सौ से ज्यादा फिल्मों में अभिनय किया। चरित्र अभिनेता के रूप में 'लाल पत्थर', 'अमर प्रेम' 'जानी दुश्मन' फिल्मों में उनका अभिनय आज भी याद किया जाता है। 'कर्तव्य' और 'टक्कर' में वे एक सशक्त एवं कुशल खलनायक के रूप में दर्शकों के सामने आए। नायक के रूप में भी 'दो फूल', 'सफेद झूठ', 'नीलिमा', 'घर', 'आखिर क्यों' तथा 'उस पार' में उनका अभिनय जीवंत रहा। फिल्म 'अनुरोध' में तो वे राजेश खन्ना के बराबर रहे।

विनोद मेहरा ताउम्र अभिनेता ही रहे परंतु मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्होंने निर्माता-निर्देशक बनने की ठान ली थी। उन्होंने श्रीदेवी, ऋषि कपूर और अनिल कपूर को लेकर 'गुरुदेव' फिल्म शुरू की थी जो लगभग ७० प्रतिशत तैयार हो चुकी है।

**● प्रकाश शर्मा**

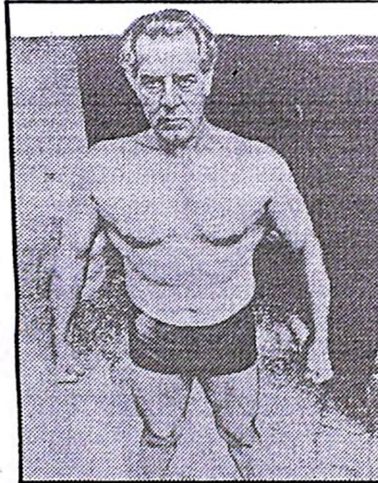
**प्रमुख फिल्में** □ मेरे अपने (१९७१) □ बुनियाद/ दो यार (१९७२) □ बदला (१९७४) □ कालीचरण/ संग्राम (१९७६) □ कोतवाल साहब (१९७७) □ विश्वनाथ (१९७८) □ काला पत्थर (१९७९) □ दोस्ताना/ शान (१९८०) □ क्रांति/ नसीब (१९८१) □ मंगल पाण्डे/ कालका/ कयामत/ तकदीर (१९८३) □ शरारा/ पापी पेट का सवाल (१९८४) □ आँधी तूफान (१९८५) □ खुदगर्ज/ लोहा (१९८७) □ शेरनी/ जलजला (१९८८) □ बिल्लू बादशाह/ □ संतोष/ शहजादे/ जख्म (१९८९)।

दारा सिंह

# पहलवान नायक

● प्रकाश शर्मा

अमृतसर जिले के छोटे से गाँव धरमू चाक में १९ नवंबर १९२८ को जन्मे **दारा सिंह** को बचपन से ही कसरत तथा कुश्ती का शौक था। छोटे भाई **रंधावा** के साथ वे अखाड़े में नियमित व्यायाम करते थे। माता-पिता का पूरा प्रोत्साहन था। सन् १९५४ तक वे **रुस्तमे हिन्द** की उपाधि पाकर पूरे देश में चर्चित हो गए। इस लोकप्रियता से प्रभावित होकर फिल्म निर्माता देवी शर्मा ने उनके सामने फिल्मों में अभिनय का प्रस्ताव रखा। पहले तो दारा सिंह को यह प्रस्ताव मजाक लगा मगर देवी शर्मा के जोर देने पर वे राजी हो गए। फिल्म **'किंग-कांग'** में कुमकुम तथा किंग-कांग के साथ पहली बार अभिनय के अखाड़े में उतरे। इस फिल्म की शूटिंग १९६० में शुरू हुई तथा सन् १९६२ में यह प्रदर्शित हुई। फिल्म हिट रही तथा दारा सिंह स्टार बन गए। 'किंग-कांग' की सफलता ने फिल्मोद्योग को नई शैली तथा नई दिशा प्रदान की। दारा सिंह पर केंद्रित फिल्मों ने कई लोगों को रोजगार दिया। पकोड़े जैसी नाक वाली मुमताज, जो पहले छोटे-मोटे पात्रों के अभिनय करती थीं, नायिका बन गई। मुमताज ने तेरह फिल्मों में दारा सिंह के साथ नायिका की भूमिका की। बाद में वे दिलीपकुमार तथा देवआनंद जैसे सुपर स्टारों के साथ भी नायिका बनीं। दारा सिंह ने फिल्मों में जो सफलता प्राप्त की उसका फायदा उनके कई हमपेशा पहलवानों को भी मिला। कई कसरती जवानों को रोजगार का नया साधन मिल गया। अभिनेता के रूप में सौ से अधिक फिल्मों में काम करने के बाद दारा सिंह ने फिल्म निर्माण के क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १९६७ में बनी 'नसीहत' उनके द्वारा निर्मित तथा निर्देशित पहली फिल्म थी। दारा सिंह ने पंजाबी फिल्मोद्योग को विकसित करने के लिए पंजाब में दारा स्टुडियो की नींव रखी। सन् १९८१ में वे कुश्ती को अलविदा कहकर पूरी तरह से फिल्मोद्योग से जुड़ गए। दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक ने दारा सिंह को श्री हनुमान के रूप में भारतीय जनमानस पर स्थापित कर दिया। दारा सिंह में विनम्रता का स्वाभाविक गुण है। वे भारतीय फिल्मोद्योग के भविष्य को काफी संभावना युक्त समझते हैं। उनका बेटा विंदू भी फिल्मों में आ गया है, जिसने फरहा से शादी की है।



**प्रमुख फिल्में** □किंग-कांग □रुस्तमे बगदाद □फौलाद □सेमसन □आया तूफान□ हरक्यूलस □वीर भीमसेन □शेर दिल □बॉक्सर □राका □लुटेरा □सिकंदरे-आजम □सरदार □नसीहत □बलराम श्रीकृष्ण□ तूफान □थीफ ऑव बगदाद □नानक दुखिया सब संसार □मेरा देश मेरा धरम □हर हर महादेव □धन्ना जाट □बजरंग बली □रुस्तम □किसान और भगवान□ चंबल की रानी।

● प्रस्तुतिः शशि शर्मा

# कैप्टन राजू

हिंदी फिल्मों में जिस तरह विनोद खन्ना और शत्रुघ्न सिन्हा कैरियर की शुरूआत खलनायक के रूप में करने के बाद हीरो बन गए, उसी तरह दक्षिण में रजनीकांत और मोहनलाल जैसे मशहूर हीरो भी परदे पर पहले-पहल विलेन का चोगा ओढ़ कर प्रकट हुए थे। इसी परंपरा में एक नाम केरल के **कैप्टन राजू** का भी है जो तमिल फिल्म 'नल्ला नाल' से बतौर विलेन कैरियर की शुरूआत करने के बाद अब नायक का स्थान ले चुके हैं। मलयालम में १३५ फिल्मों में काम कर कीर्तिमान बनाने वाले 'राजू' रजत पटल पर आने से पहले सेना में 'कैप्टन' थे। सीमा की लड़ाइयों में वे भले ही अपनी बटालियन के हीरो रहे हों, किंतु फिल्मों में उनके ६ फुट ४ इंच लंबे भीमकाय व्यक्तित्व को देखते हुए उन्हें विलेन की भूमिका मिली। राजू की प्रारंभिक फिल्म तमिल भाषा में थी। इसके बाद उन्होंने मलयालम सिनेमा का रुख कर लिया। 'आवानाजी/ अगस्त-१/ सूरसंहारम/ गनम कोर्तार अवर्गले और जीवा उनकी मशहूर फिल्में रहीं। इनके जरिए कैप्टन राजू ने मलयालम फिल्मों में अपना वही स्थान बना लिया था, जो उत्तर भारत में अमरीशपुरी या अमजद खान का है। राजू की जबरदस्त लोकप्रियता को देखते हुए कुछ निर्माताओं ने उन्हें सहनायक की भूमिकाएँ सौंप दीं। परदे पर उनके इस अटपटे हृदय परिवर्तन ने केरलवासियों को विचलित नहीं किया, बल्कि दर्शकों की सकारात्मक प्रतिक्रिया पाकर कैप्टन राजू सफल नायकों की पंक्ति में शामिल हो गए। ■

# डांसिंग-

स्टारडम का भरपूर मजा चख चुके **मिथुन चक्रवर्ती** आज ढेर सारी विफलता के नीचे घिरे बैठे हैं। अपने आपको साबित करने के लिए अब उन्होंने बुद्धदेव दासगुप्त जैसे निर्देशक का सहारा लिया है। बुद्धदेव की फिल्म 'ताहादेर कथा' में वे क्रांतिकारी शिवनाथ की भूमिका निभा रहे हैं। इस फिल्म में उस दौर की बात होगी, जब देश को आजादी मिले ज्यादा दिन नहीं हुए थे। एक अँग्रेज साहब के खून के आरोप में शिवनाथ को बंदी बनाया गया था। जेल में रहने के दौरान उसका एक सपना था, एक दिन यह देश आजाद होगा, सुंदर पृथ्वी का ख्वाब उसकी आँखों ने बुन रखा था। लेकिन जेल से बाहर आने के बाद उसका वह सपना एक झटके में टूट जाता है, जो उसकी उपस्थिति, प्रतिक्रिया और प्रतिवाद से व्यक्त होता है। इस फिल्म में मिथुन का मेक-अप उन्हें शिवनाथ समझने के लिए बाध्य करता है। उड़ीसा में इस फिल्म की शूटिंग के दौरान उन्हें देखने के लिए आए हजारों प्रशंसक भी तब उन्हें पहचान नहीं पाए, जब तक कि मिथुन ने आगे बढ़कर खुद अपना परिचय नहीं दिया। निर्देशक दासगुप्त तो लगभग दावा करते हैं, 'इस फिल्म में मिथुन ने अपना संपूर्ण गेट-अप ही नहीं बदला है, बल्कि अपने अभिनय को भी एकदम अलग दिशा दी है, मेरी इस फिल्म में दर्शक एक नए मिथुन से मिलेंगे।'

अतीत के पन्नों को पलटें, तो मिथुन का फिल्मों में आना और उनकी चौंकाने वाली सफलता सब कुछ एक चमत्कार जैसा लगता है। एक साधारण परिवार का लड़का जो अपने विद्यार्थी जीवन में ही नक्सली गतिविधियों में संलग्न था, के भविष्य की चिंता करके पिता ने झट उसे बंबई में अपने एक रिश्तेदार के पास भेज दिया था। बंबई में आकर उन्हें अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि फुटपाथ पर उन्हें हॉकरी भी करनी पड़ी। अपने रिश्तेदार के कहने पर उन्होंने फिल्मों में भाग्य आजमाने का निश्चय किया। पुणे के फिल्म एवं दूरदर्शन प्रशिक्षण संस्थान में एक्टिंग कोर्स के लिए फार्म भरा। लेकिन वह फार्म अस्वीकृत हो गया।

आज मिथुन किसी पहचान के मोहताज नहीं हैं। इंडस्ट्री में उनकी खास इज्जत है। आज उन्हें लेकर फिल्म बनाने वाले कुछ ऐसे भी निर्माता हैं, जिन्होंने कभी उन्हें जुहू में जाकर भेलपूरी बेचने की सलाह दी थी। तो मिथुन का भाग्य अच्छा था कि उस समय निर्माता-निर्देशक **मृणाल सेन** को अपनी फिल्म **'मृगया'** के लिए नायक की तलाश थी। मिथुन को देख कर उन्हें ऐसा लगा कि जैसे उनका किरदार उन्हें मिल गया हो। इस फिल्म में मिथुन ने अपनी अभिनय

# स्टार : मिथुन चक्रवर्ती

• श्रद्धा-मीना

प्रतिभा का सही और सार्थक प्रदर्शन किया था। जिस वजह से वे स्वाभाविक रूप से चर्चा का विषय बन गए। फिर इस फिल्म के लिए उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिल गया। इसलिए हिंदी फिल्मों में उनका रास्ता और भी आसान हो गया। हिंदी फिल्मों में उनकी शुरूआत विफलता-भरी रही। जितेंद्र को लेकर 'फर्ज' जैसी फिल्म बनाने वाले रविकांत नगाइच ने उन्हें लेकर 'गन मास्टर' सीरिज के अंतर्गत एक के बाद एक एक्शन फिल्में बनाईं। लेकिन इनमें से केवल फिल्म 'सुरक्षा' को ही थोड़ी-बहुत सफलता मिली। उनके डाँवाडोल कैरियर को देखकर कई नायिकाओं ने उनके साथ फिल्म करने से इंकार कर दिया

मिथुन लगभग अँधेरे में खो ही चुके थे, कि अचानक सुरेंद्र कपूर की फिल्म **'हम पाँच'** ने उन्हें फिर उजाले में ला खड़ा किया। इस फिल्म में अपने अभिनय से उन्होंने बंबइया फिल्म इंडस्ट्री के सामने भी यह साबित कर दिया कि वे कितने विस्तृत रेंज के अभिनेता हैं। उनके लिए यह बात भी खासी फायदेमंद रही कि 'हम पाँच' के बाद प्रदर्शित उनकी एक और फिल्म 'अशांति' भी हिट हो गई। बस फिर क्या था, उनके पास बड़े-बड़े बैनर की फिल्म आने लगी।

मिथुन आज अपनी जिस डांसिंग इमेज के लिए प्रसिद्ध हैं, उन्हें सबसे पहले निर्माता-निर्देशक वी.सुभाष ने फिल्म **'डिस्को डांसर'** में पेश किया था, जो एक सुपरहिट फिल्म थी। इस फिल्म के द्वारा ही वे दर्शकों के बीच एक डांसर के रूप में स्थापित हो गए। इससे उत्साहित होकर वी. सुभाष ने मिथुन को लेकर 'डांस डांस' और 'कसम पैदा करने वाले की' जैसी दो और नृत्य-प्रधान फिल्में बनाईं। पर वे इन दोनों ही फिल्मों में अपना हाथ जला बैठे। यह दीगर बात है कि इन दोनों ही फिल्मों में भी मिथुन ने अपने नृत्य का जबरदस्त प्रदर्शन किया था और ये फिल्में भी उनके दिन दूनी रात चौगुनी लोकप्रियता का कारण बनीं।

उनकी यह लोकप्रियता देश ही नहीं विदेशों तक भी पहुँची। रूस के एक फिल्म समारोह में जब उनकी फिल्म 'डिस्को डांसर' प्रदर्शित की गई, तो उनके नृत्य को देखकर रूसी दर्शक उनके दीवाने हो उठे। रूसवासियों में उनका इस कद्र क्रेज बना कि इसके बाद जहाँ भी 'डिस्को डांसर' प्रदर्शित हुई, दर्शकों से सिनेमा हाल भरने में समय नहीं लगा। मिथुन का डांस आने पर सोवियत दर्शक भी उत्तेजित होकर झूम उठे थे। आज मिथुन रूस गणराज्य के दर्शकों के प्रिय अभिनेता हैं। यहाँ राजकपूर के बाद इतनी लोकप्रियता सिर्फ मिथुन को ही मिली है।

मिथुन के अब तक के कैरियर में 'डिस्को डांसर' के बाद 'प्यार झुकता नहीं' तथा 'गुलामी' ही सुपरहिट फिल्म थी। इन फिल्मों की सफलता ने जहाँ मिथुन को सफलता की बुलंदी पर पहुँचा दिया वहीं एक बड़ी भूल भी वे कर बैठे बिना कुछ आगा-पीछा सोचे सिर्फ पैसा कमाने के मोह में आकर वे फिल्मों के ढेर पर बैठ गए। इस दौरान उन्होंने लगभग सौ फिल्में साइन कर लीं। उनकी कीमत भी **अमिताभ बच्चन** के बाद सबसे ज्यादा थी।

भरपूर पैसे कमाने की बदौलत बंबई और मड आइलैंड में उनके आलीशान बंगले हैं। कई विदेशी गाड़ियाँ हैं। नौकर-चाकर से घर भरा पड़ा है। इतना ही काफी नहीं है, उनके कुत्ते भी वातानुकूलित कमरों में रहते हैं। वे गरीबों के दुख-दर्द का भी सहारा हैं। हर साल एक गरीब मुसलमान को वे हज भेजते हैं। विशेष रूप से कलकत्ता एवं कलकत्तावासियों के प्रति मिथुन का प्रेम अगाध है। यहाँ उनके दान-दक्षिणा का हाथ काफी बड़ा है। कभी चिकित्सा के लिए, तो कभी बच्चों की पढ़ाई के लिए उनके पास आने वाले व्यक्ति को वे कभी खाली हाथ बिदा नहीं करते। हर महीने ऐसी कई समस्याओं को वे निपटाते हैं। फिल्म इंडस्ट्री से जुड़े कई कामगार संगठनों के अध्यक्ष के रूप में वे काम कर चुके हैं और उनकी हक की लड़ाई में उनकी अच्छी हिस्सेदारी रही है।



*शिल्पा शिरोड़कर और मिथुन*

मिथुन की रुचि अभिनय के साथ-साथ राजनीति में भी है। छात्र जीवन में वे कॉलेज के 'छात्र परिषद्' के नेता रह चुके हैं। अब भी राजनीति की एक-एक खबर उनकी जानकारी में रहती है। सुबह समाचार-पत्र पढ़ना उनके लिए एक नशा जैसा है।

ऐसा भी सुना जाता है कि प्रेम के मामले में मिथुन माहिर हैं। किसी न किसी के साथ उनका संबंध हमेशा जुड़ ही जाता है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जैसे मिथुन के पास काम ही नहीं है। इस संबंध में मिथुन का कहना है, 'अब प्रेम करने की उम्र नहीं है।'

पर इन सब बातों से अलग हटकर देखें तो आज फिर इंडस्ट्री में मिथुन हाशिए में खड़े नजर आ रहे हैं। हाल के वर्षों में उनकी दो दर्जन से ज्यादा फिल्में फ्लॉप हो चुकी हैं। ढेर सारी फ्लॉप फिल्मों का बोझ उनके कंधे पर बदस्तूर बना हुआ है। ■

■ **प्रमुख फिल्में :** □ मृगया (१९७६), □ घमंडी/हम पाँच/वारदात (१९८१), □ आमने-सामने/शौकीन/स्वामी दादा (१९८२), □ फरेब/कराटे/ पसंद अपनी-अपनी/तकदीर (१९८३), □ बाजी/बॉक्सर/घर एक मंदिर/जाग उठा इंसान/जागीर/शरारा (१९८४), □ आरपार/चार महारथी/गुलामी/करिश्मा कुदरत का/कर्मयुद्ध/प्यार झुकता नहीं (१९८५), □ जाल/नसीहत/स्वर्ग से सुंदर (१९८६), □ परिवार (१९८७), □ कमाण्डो/जीते हैं शान से/प्यार का मंदिर/वक्त की आवाज (१९८८), □ बीस साल बाद/भ्रष्टाचार/दाता/दोस्त/गुरु/इलाका/लड़ाई/मुजरिम/ (१९८९), □ प्यार हुआ चोरी चोरी/प्रतिज्ञाबद्ध (१९९१)।

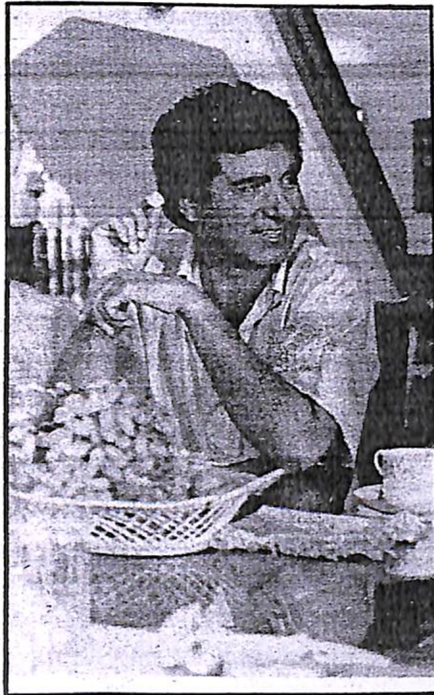
● प्रस्तुति : आदर्श गर्ग

राज बब्बर

# तराज़ू में सवार

● भूपेन्द्र चतुर्वेदी

**ती**न मई १९७९। बंबई की 'हॉली डे इन' होटल। राज बब्बर की सर्वाधिक चर्चित फिल्म 'इंसाफ का तराज़ू' की पहले दिन की शूटिंग। कोई दो सौ फीट लम्बा शॉट खत्म हुआ और एक छोटी-सी चुप्पी वहाँ तैर गई। लेकिन अगले ही क्षण तालियों की गड़गड़ाहट से यह चुप्पी छलनी भी हो गई। बेनामी, आधारहीनता और महत्वाकांक्षा के



अलग-अलग और काफी दूर स्थित छोरों के बीच सिर्फ संघर्ष के प्रवाह में डूबते उतराते राज के लिए यह गड़गड़ाहट एक साथ पूरा होने का संकेत थी। पहली फिल्म सौ दिन सास के' ज्यादा कुछ दे नहीं पाई थी। लेकिन 'इंसाफ का तराज़ू' ने तो प्रदर्शित होते ही धूम मचा दी। राज की तुलना समीक्षकों ने अमिताभ बच्चन से कर दी। यह तुलना राज खासकर उस राज के लिए अच्छी साबित नहीं हुई जिसने जिंदगी के संघर्ष के थपेड़े झेलकर भी खुद को इसलिए निखारा था कि अभिनय के क्षेत्र में कुछ अनूठा किया जा सके। राज इसके बाद लगातार फिस्स होते चले गए। लेकिन मायानगरी जैसी जगहों में भी जिद के साथ खुद को खड़ा कर लेने वाला यह जिद्दी अभिनेता हार तो सकता ही नहीं था। वह फिर उठा अक्टूबर ८६ से अप्रैल ८७ के बीच प्रदर्शित हुई अपनी तीन फिल्मों के जरिए। 'इंसाफ की आवाज', 'इंसानियत के दुश्मन' और 'संसार'। डिब्बों में बंद होते-होते राज अब फिर बिकने लायक हो गया। 'इंसाफ का तराज़ू', 'निकाह' और 'दूल्हा बिकता है' के अलग-अलग चरित्रों को जीवंत करने वाले इस अभिनेता की प्रतिभा पर तो किसी को शक वैसे ही नहीं था।

बचपन से आज तक एक जीवट लेकर जीने वाले राज का पूरा जीवन संघर्ष की एक रोचक कथा का ताना-बाना बुनता है। पिता रेलवे में मामूली नौकरी पर थे। बँटवारे के बाद क्वेटा में सब कुछ छोड़कर दादा-दादी आगरा में आ बसे। वहीं २३ जून १९५२ को **राज बब्बर** का जन्म हुआ। दादा-दादी के सख्त नियंत्रण में राज बब्बर पले-बढ़े। दादा चाहते थे कि पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बने। लेकिन खुद राज चाहते थे कि फटाफट कोई दूसरे क्षेत्र में छलाँग लगाकर अखबार में फोटो छपने लायक बने। इस आग्रह में उसे डाकू भी बड़े आदमी लगते थे, क्योंकि उनके फोटो छपा करते थे। इसी बीच अभिनय के प्रति रुझान बढ़ा। दादा-दादी के साथ एक फिल्म देखी थी, 'जमीन के तारे'। थिएटर से निकलते ही दादा-दादी इस फिल्म के बाल कलाकारों की तारीफ के पुल बाँधने लगे। राज सिर्फ सुनता रहा। उसे ख्याल आया, मेरी तारीफ क्यों नहीं होती, इस तरह। आखिर मैं भी तो ऐसा अभिनय करता हूँ। दादाजी के पढ़ाई वाले आग्रह के खिलाफ विद्रोह का बिगुल बज उठा। घर छोड़कर पंजाब यूनिवर्सिटी, पटियाला पहुँच गए। १९७० के आसपास वहाँ ड्रामा विभाग में दाखिला ले लिया। फिर यहाँ से निकले तो स्पाट बॉय और चाय पिलाने वाले छोकरे की तरह थिएटर से जुड़े। खुद का व्यक्तित्व और किस्मत पर भरोसे के सिवाय कुछ नहीं था उनके पास आगे बढ़ने के लिए। यहीं ओमपुरी ने सहारा दिया। तब नेशनल स्कूल ऑव ड्रामा के सर्वेसर्वा थे अल्काजी, उनसे मिलने का सुझाव राज को पसंद आया। मोहन राकेश और अल्काजी के साथ पौन घंटे लंबे इंटरव्यू में तमाम भय और झिझक के बीच उन्होंने खुद को प्रस्तुत किया। अल्काजी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। चयन हो गया। जापान के प्रो. सोतो अपने एक नाटक के लिए पात्रों का चुनाव करने आए थे। ओमपुरी, नसीर, रोहिनी हट्टंगड़ी जैसे एन.एस.डी. के वरिष्ठ साथियों के साथ राज को भी अच्छी भूमिका मिल गई। एन.एस.डी. का कोर्स पूरा हो गया। लेकिन काम कहाँ था। फाके पड़ने लगे। पानी में भिगोकर ब्रेड खाने की नौबत आई। काम की तलाश और नाम कमाने की जद्दोजहद में बंबई आए फिर दिल्ली लौटे। प्रकाश मेहरा के कहने पर बंबई आए। उसके बाद बी.आर. चौपड़ा जैसे निर्माता की आँखों में चढ़ने का सौभाग्य मिल गया।

अभिनय के संदर्भ में राज दूसरे अभिनेताओं से कुछ अलग हटकर हैं। बतौर नायक 'निगेटिव' भूमिकाएँ करना हर किसी के बूते की बात नहीं है। लेकिन राज ने ये भूमिकाएँ बखूबी की हैं और दर्शकों की वाहवाही लूटी है। 'इंसाफ का तराज़ू' राज की इस अदाकारी का बेहतरीन नमूना है। बड़े पर्दे के साथ ही राज बब्बर ने छोटे परदे पर भी अपने अभिनय की धाक जमाई है। चोपड़ाजी के भव्य 'महाभारत' सीरियल में राज ने चक्रवर्ती सम्राट भरत की जो भूमिका की, उसे लोग आज भी नहीं भूले है। लेकिन राज का सरोकार सिर्फ अभिनय की दुनिया तक सीमित नहीं है। समाज के प्रति अपनी जवाबदारियों को शिद्दत के साथ महसूस करने वाले गिने-चुने अभिनेताओं में वे एक हैं। जिस तरह चोपड़ाजी ने उनकी अभिनय प्रतिभा को समझा, ठीक वैसे ही पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने उनकी राजनीतिक नेतृत्व क्षमताओं को खोज निकाला। यहाँ फिर उनका मुकाबला अमिताभी वर्चस्व से हुआ। राजनीति के अजब - गजब खेल ने उसे फिलहाल फिर नेपथ्य में धकेल दिया है। जहाँ तक निजी जिंदगी का सवाल है, राज की कहानी फिल्मी अंदाज की है। लंबे समय तक वह त्रिकोण का एक कोण बना रहा। नादिरा जहीर से उसकी शादी बहुत पहले हो गई थी, लेकिन विवाहित राज अपने को प्यार करने से रोक न सका। स्मिता पाटिल उसकी जिंदगी में आई और फिर बना नादिरा- राज- स्मिता का त्रिकोण। आज स्मिता दुनिया में नहीं है, तीसरा कोण खत्म हो चुका है, और राज के पास शेष है उन पलों की यादें। लेकिन इस सबसे वह न कमजोर हुआ है और न टूटा है। साहसी और पराक्रमी व्यक्तित्व का धनी राज खुद के दम पर आसमान छूने की चाह रखता है।

**प्रमुख फिल्में:** □ किस्सा कुर्सी का (१९७७) □ इंसाफ का तराज़ू (१९८०) □ प्रेमगीत/ राज/ तजुर्बा (१९८१) □ भीगी पलकें/ दूल्हा बिकता है/ जीवन धारा/ निकाह (१९८२) □ अगर तुम न होते/ अर्पण/ कालका/ मजदूर/ नौकर बीवी का (१९८३) □ आज की आवाज/ आनंद और आनंद/ शपथ/ कानून मेरी मुट्ठी में (१९८४) □ एक चिट्ठी प्यार भरी/ हम दो हमारे दो/ लावा/ सलमा/ महाशक्तिमान (१९८५) □ दहलीज/ झूठी/ किराएदार (१९८६) □ अवाम (१९८७) □ कब्जा/ वारिस (१९८८) □ सूर्या (१९८९) □ कर्मयोद्धा (१९९१)।



तापस पाल

# बंगला फिल्मों के नम्बर-वन

इन दिनों बंगला फिल्मो मे चर्चित नायक **तापस पाल** पिछले दस-ग्यारह साल से बंगला फिल्म इंडस्ट्री में जमे हुए हैं। अब तक वे लगभग नब्बे फिल्मों में काम कर चुके हैं, जिनमें से कई फिल्में सुपरहिट हुई हैं। तरुण मजुमदार की दादार कीर्ति से तापस पाल ने अपने कैरियर की शुरूआत की थी। इस फिल्म में तापस ने एक सीधे-साधे युवक की भूमिका निभाई थी। पूरी फिल्म में वे अपने भोलेपन के कारण सिर्फ दर्शकों की संवेदना अर्जित करने में सफल हुए थे। यह फिल्म सुपरहिट जरूर हुई थी, लेकिन इसका श्रेय तापस के अभिनय से ज्यादा इसकी कहानी और पटकथा को मिला। तापस की एक और चर्चित हिट फिल्म 'गुरुदक्षिणा' की सफलता की वजह भी यह थी।

सीधी-सादी भूमिका को कर सफलता अर्जित करने वाले तापस पाल को इसी वजह से एक ढर्रे की भूमिकाओं में टाइप्ड भी होना पड़ा है साहब/ समाप्ति/ गुरु दक्षिणा/ आगमन/ भालोवासा ऐसी ही फिल्में हैं। जिनमें वे एक इमेज में कैद नजर आते हैं। ऐसी बात नहीं है कि इससे अलग हटकर उन्होंने कोई भूमिका नहीं की हो। वे कई बार परदे पर मार-पीट करते भी नजर आते हैं। वैसे भी उनके चेहरे पर एक ऐसा भोलापन झलकता है जो मार-पीट के दृश्यों के साथ फिट नहीं बैठता है। इन सब कारणों से ही हर फिल्म में तापस का वही एक चेहरा, वही अदा, वही डॉयलाग बोलने का ढंग नजर आता है। तापस पाल एक अच्छे अभिनेता हैं, लेकिन फिल्म चुनने के मामले में बिलकुल निर्विकार रहते हैं।

पश्चिम बंगाल के चंदन नगर में तापस पले-बढ़े हैं। स्कूल के बाद कॉलेज, फिर युवावस्था का अपना ज्यादातर समय उन्होंने चंदन नगर में गुजारा है। उनके पिता गजेंद्र पाल एक जाने-माने डॉक्टर हैं। अपने एकमात्र पुत्र को भी उन्होंने डॉक्टर बनाना चाहा था लेकिन उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई। तापस अपनी माँ की अनुप्रेरणा से अभिनय के मैदान में कूद पड़े और यह उनका सौभाग्य था कि उनकी पहली फिल्म ही सुपर हिट हुई।

कभी तापस और देवश्री को लेकर फिल्म इंडस्ट्री में काफी चर्चा थी। यह भी बंगला फिल्म इंडस्ट्री में सर्वविदित बात बन चुकी है कि तापस ही एकमात्र ऐसे अभिनेता हैं जो किसी भी अफवाह को जड़ से उखाड़ फेंकते हैं। जैसे ही तापस-देवश्री चर्चा हद से ज्यादा आगे बढ़ने लगी, तापस ने झट नंदिनी से शादी कर ली।

उड़िया संवादपत्रों में भी तापस की बहुत प्रशंसा की जाती है। वहाँ प्रायः तापस की बड़ी-बड़ी तस्वीरें छापी जाती हैं तथा उनकी विभिन्न फिल्मों और उसमें किए गए उनके अभिनय की विस्तृत चर्चा की जाती है। तापस उड़िया की चार फिल्मों में काम कर चुके हैं। उनके अभिनय से उड़िया फिल्म इंडस्ट्री चकित हो चुकी है। वे चार फिल्में हैं- विधिर विधान, भाग्यलिपि, मिछेमाया और संसार। हिंदी फिल्म 'अबोध' में उन्होंने काम किया था लेकिन इसके बाद ही तापस ने निश्चय कर लिया कि बंगला फिल्म के अलावा और किसी भाषा की फिल्म के लिए वे अपना समय बरबाद नहीं करेंगे।

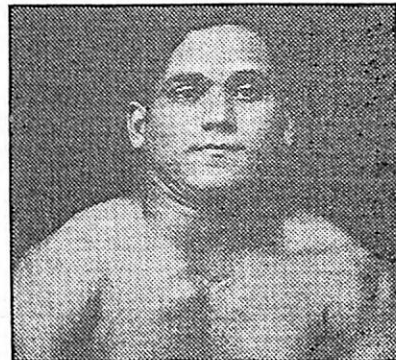
इस समय तापस का एकमात्र उद्देश्य है बंगला फिल्म इंडस्ट्री को किस तरह आगे बढ़ाया जाए। हिंदी फिल्मों का प्रभाव जिस तरह बंगला फिल्मों को प्रभावित कर रहा है उससे तापस अत्यंत दुखी हैं। तापस पाल कोई नशा नहीं करते हैं। फिल्म देखना, विभिन्न फिल्म मैगजीन पढ़ना ही उनका एक, मात्र नशा है।

● **आशीष अक्षय**

जॉन कावस

# स्ट्रांगेस्ट मेन ऑव इंडिया

जॉन कावस अखाड़ा चलाते थे। सन् १९३० में पूना में तीन सौ रुपया माहवार की कमाई करते थे। उनका शरीर मर्दानगी के मापदंड पर इतना सही था कि सन् १९३२ में उन्हें बंबई में संपन्न हुए ऑल इंडिया बॉडी ब्यूटीफुल कॉन्टेस्ट में भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली पुरुष का खिताब मिला। इसके बाद उन्हें फिल्मों में काम करने के प्रस्ताव मिलने लगे। उनकी माँ नहीं चाहती थी कि बेटा गंदी बाइयों के साथ काम करे। इस कारण उन्हें फिल्मों में काम करने की इजाजत नहीं मिली। वाडिया फिल्म मूविटोन के भागीदार नादिर टाटा ने पूना आकर माँ को समझा-बुझा कर राजी किया। **जॉन कावस** स्क्रीन टेस्ट के लिए बंबई पहुँचे। काफी दिक्कतें आईं, सभी दूर होती गईं। जॉन कावस को **नूर-ए-अमन** नामक फिल्म में काम मिल गया। नादिया की भी यही पहली फिल्म थी। दोनों ही सहनायक-नायिका के तौर पर काम कर रहे थे। पहली शूटिंग ही काफी खतरनाक साबित हुई। मारधाड़ के एक दृश्य में नकली लड़ाई करते-करते जॉन कावस को गुस्सा आ गया तथा उसने कई जूनियर कलाकारों की हड्डियाँ चटका दीं। धीरे-धीरे उन्हें पेशे की पकड़ आ गई तथा सब कुछ ठीक-ठाक चलने लगा। फिल्म प्रदर्शित हुई तथा नादिया-जॉन कावस की जोड़ी ने दर्शकों के दिल में घर कर लिया। जॉन और नादिया की जोड़ी क्लिक हो गई और एक के बाद एक पच्चीस हिट फिल्मों में इस जोड़ी ने स्टंटबाजी के वे करतब दिखाए, जो आज भी मील के पत्थर बने हुए हैं। फ्लाइंग प्रिंस, कार्निवल क्वीन, बंबई वाली, पंजाब मेल, फ्रंटियर मेल, सर्कस क्वीन, बगदाद का जादू, तूफानी टारजन, शेरदिल, एटम बम आदि फिल्मों ने वाडिया मूविटोन को ऐतिहासिक महत्व प्रदान कर दिया। इसके बाद जॉन को दूसरे फिल्म निर्माताओं के प्रस्ताव भी लगातार मिलने लगे। मगर जॉन कावस ने वाडिया मूवीटोन से वफादारी कायम रखी। किसी भी दूसरे निर्माता की फिल्म में काम नहीं किया। नादिया के अलावा उनकी नायिकाओं में प्रमिला गुलशन, हुस्न बानो जैसी कई सुन्दरियाँ रहीं, किन्तु जोड़ी का जो मजा नादिया के साथ आता था, वह जॉन को किसी अन्य के साथ नहीं आया। अपने पचास वर्ष के फिल्मी जीवन में जॉन ने अस्सी से भी अधिक फिल्मों में काम किया। मोटर कार, मोटर साइकिल, रेलगाड़ियों तथा हवाई जहाज पर स्टंटबाजी करने के साथ-साथ वे शेर और चीतों से भी खूब लड़े। हिंदी के अतिरिक्त अरबी/अँगरेजी और तमिल फिल्मों में भी उन्होंने काम किया तथा अरबी में गाना भी गाया। जब नादिया की शादी वाडिया साहब से हो गई तब जॉन ने निर्देशन की तरफ खुद को मोड़ लिया। कई स्टंट फिल्मों के लिए उन्होंने कहानी व पटकथा भी लिखी।

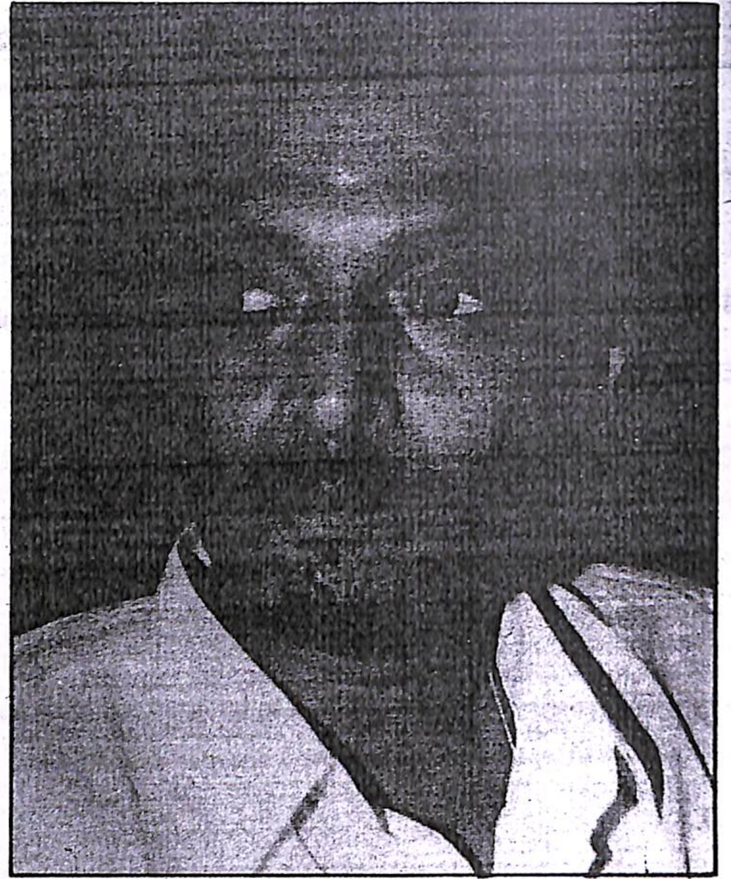


अपनी ८०वीं वर्षगाँठ मनाते हुए १० सितंबर १९८७ को जॉन कावस ने अपने शारीरिक बल का रहस्य खोलते हुए कहा था कि आजीवन सिगरेट, शराब यहाँ तक कि सोडा वाटर तथा पान से भी दूर रहकर उन्होंने भीम जैसी ताकत पाई थी।

**प्रमुख फिल्में-** ☐ नूरे यमन (१९३५) ☐ मिस फ्रंटियर मेल (१९३६) ☐ हरिकेन हंसा/ तूफानी टारजन (१९३७) ☐ पंजाब मेल/ जंगल क्वीन (१९३९) ☐ डायमंड क्वीन (१९४०) ☐ बंबई वाली (१९४१) ☐ जंगल प्रिंसेस (१९४२) ☐ हंटरवाली की बेटी (१९४३) ☐ फ्लाइंग प्रिंस (१९४६) ☐ एटम बम (१९४७) ☐ जंगल गॉडेस (१९४८) ☐ बिल्ली (१९४९) ☐ शेरदिल (१९५४), कार्निवाल क्वीन (१९५५) बगदाद का जादू (१९५६) सर्कस क्वीन (१९५९)

● केकी-दा- दूधवाला द्वारा प्रस्तुत

नाना से मिलने या नाना को देखने के पहले कई शंकाएँ जेहन में रहती हैं। एक तो नाना को अब तक जितने भी चरित्र जीते देखा, उन सभी में वे अपने आप में भरपूर तनाव को जीवंत करते हैं। फिर थोड़ी बहुत बंबइया फिल्म पत्रिकाओं की मेहरबानी मान लें, जो नाना को जिद्दी, तुनक-मिजाज और चिड़चिड़ा ठहराती रही हैं। बहरहाल भोपाल एअरपोर्ट पर नाना का प्रथम दर्शन होता है। दूर से और फिर इसी तरह पास आते नाना बड़े ही सौम्य और सहज लगते हैं, लेकिन बात के लिए राजी करना भी उम्मीदजनक लग नहीं रहा था। आते हुए इंदौर में हवाई जहाज दुर्घटनाग्रस्त होते-होते बचा था सो भीतर से तनाव था। नाना कह रहे थे, हम बच गए यार, नहीं तो मर जाते। होटल पहुँचते ही दरवाजे पर 'डोंट डिस्टर्ब मी' का टैग लगाकर नाना दिन भर के लिए बंद हो जाते हैं। शाम को अवार्ड के समय फिर तरोताजा नाना। उसी शाम से बड़ी सावधानी के साथ किया प्रयास अगले दिन जाकर सार्थक होता है। फिर तो नाना जमकर बातें करते हैं न तो वे जिद्दी लगते हैं न ही नाराज और न ही खीजे हुए। वास्तव में एक चिंतनशील पुरुष हैं नाना। प्रस्तुत हैं बातचीत के अंश—



# विराट संभावना और नाना पाटेकर

इंटरव्यू : सुनील मिश्र

**निर्देशक के रूप में पहली ही फिल्म 'प्रहार' में इतनी प्रशंसा और सराहना पाने पर क्या आप यह नहीं सोचते कि अभिनेता के बजाए निर्देशक होते, तो ज्यादा बेहतर होता?**

नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मेरे जीवन में अभिनय की जितनी अहमियत है, उतनी ही अहमियत निर्देशन की भी है। यह जरूर है कि फिल्मों में निर्देशन जरा देर से शुरू हो पाया। एक्टर, डायरेक्टर होने में एक बात तो अच्छी है ही और वह यह कि बतौर निर्देशक मुझे जो चाहिए मैं अपने कलाकारों को समझा सकता हूँ। उनसे उस तरह का काम लेने में सफल हो सकता हूँ। मुझे तो इस तरह एक बेहतर काम करने में सहूलियत ही मिली।

**बतौर अभिनेता आपकी सभी फिल्मों पर निगाह डालें। फिर वो चाहे 'अंकुश' हो या 'प्रतिघात', 'परिन्दा' हो 'दीक्षा' या फिर 'प्रहार'। आपके चरित्रों में एक प्रकार का असंतोष और समाज के प्रति, समाज की विसंगतियों के प्रति नाराजगी का रवैया नजर आता है। ऐसा क्यों?**

हाँ, वो गुस्सा मुझमें है, वो स्वाभाविक है। मेरे अंदर का गुस्सा अभिनय के स्तर पर ही नहीं वास्तव में उतना ही वास्तविक है। समाज के प्रति और समाज को चूसते असामाजिक लोगों के प्रति मेरा गुस्सा है वो। मैं रोज खबरें सुनता हूँ, अखबार पढ़ता हूँ, तो तकलीफ होती है। लोग किस तरह एक-दूसरे के दुश्मन होते जा रहे हैं। देश की शांति को लगातार नष्ट कर रहे हैं।

**'प्रहार' फिल्म एक सच्ची घटना का परिणाम है। आपने ऐसा कहा है। आपके और भी ऐसे अनुभव रहे होंगे, तो क्या आपकी आने वाली फिल्में, संभवतः वे फिल्में जिनके आप निर्देशक होंगे, में इस तरह के आपके अनुभव और आएँगे?**

हाँ, पूरी फिल्म एक सच्ची घटना का ही परिणाम है। जो फिल्म में है, वो हमें कहीं से भी नया या आकस्मिक-सा नहीं लगता। मैं तो समझता हूँ कि मैंने 'प्रहार' फिल्म बनाई या नहीं मैं नहीं जानता, लेकिन वो मेरा विचार है, जो मैंने प्रकट किया है। मैंने अपने विचार, अपने देखे को फिल्म का रूप दिया है। अपने विचार को इसी तरीके से मैं आगे भी प्रकट करना चाहूँगा।

**फिल्मों में माँ के चरित्र को भावनात्मक स्तर पर जितने नकलीपन से दिखाया जाता रहा है, उसकी मिसाल तो हजारों हैं। लेकिन 'प्रहार' में माँ को जिस प्रकार सूक्ष्म संवेदना और पुत्र के कोमल तंतु के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है, इतना गहरा चित्रण आमतौर पर कभी देखने में नहीं आया। आप यह किस तरह प्रस्तुत कर सके?**

माँ के प्रति मेरा अपना दृष्टिकोण एकदम साफ है। मेरा समझना है कि जिस तरह कोई संवेदनशील व्यक्ति जाने-अनजाने में अपने किए पापों का प्रायश्चित करने भगवान की शरण में जाता है, वैसे ही वह माँ के पास भी जा सकता है। हजार पाप करके भी अपना समर्पण माँ के पाँव पर किया जा सकता है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आप हजार पाप करते रहो। माँ एक ऐसी जगह तो है, जो क्षमादान दे सकती है/ आत्मिक शांति दे सकती है/ आपका संबल हो सकती है। 'प्रहार' में जिस चरित्र को मैंने जिया है, मेजर चौहान का, वो यह जानता है कि उसकी माँ नहीं है। एक बेबस और लाचार स्त्री की चीत्कार में उसे अपनी माँ की चीत्कार सुनाई पड़ती है। उसके तड़पते बच्चे को देखकर उसे अपना बचपन याद आ जाता है। मेजर चौहान इस तरह अनुशासन और 'इमोशनल क्राइसिस' दोनों

के बीच जी रहा है।

**प्रहार में आपका चरित्र समाज से लड़ते-लड़ते हिंसक हो जाता है। वह हत्या करने लगता है। क्या आप इसको उचित मानते हैं?**

इसमें उचित की बात क्या है? यदि मैं अपनी रक्षा करना चाहता हूँ तो यह हक है हमको।

**कानून, उसकी प्रक्रिया और पुलिस से आदमी इतना घबराता है कि वो अपनी रक्षा नहीं कर पाता, क्योंकि वो कानून से उलझना ही नहीं चाहता?**

तो फिर काहे को जीते हो? मर जाओ न...? तुम्हारी रक्षा करने को हर बार पुलिस थोड़े ही आएगी। रेशो क्या पड़ता है पुलिस और जनता का? एक पुलिस कितने लोगों को बचाएगी? अपना बचाव तो हमें खुद ही करना पड़ेगा। मैंने यह नहीं कहा कि जाओ, मारते जाओ सबको। लेकिन हम पर कोई अन्याय करे, तो हम तो नहीं सहेंगे। मैं सच कहता हूँ कि सहना बड़ा गुनाह है, करने से।

**सिनेमा की पिछले समय में उभरकर आई कुछ सूरतें जैसे बेहतर सिनेमा/ यथार्थवादी सिनेमा/ कला फिल्में-इनका मूवमेंट अब वैसा नहीं रहा जैसा पहले था। आप इस बारे में क्या सोचते हैं?**

ऐसा नहीं है। बेहतर सिनेमा और जिस तरह के सिनेमा के बारे में आपने कहा, भले ही यह बनता रहे पर दुर्बोध और जटिल को दर्शक स्वीकार नहीं कर पाएगा। इस तरह की फिल्मों के मैं खिलाफ हूँ, परंतु विचार प्रवर्तक फिल्में बनती रहना चाहिए।

**'प्रहार' के बाद अब क्या सोचते हैं? फिलहाल आराम या फिर कोई नई फिल्म बतौर निर्देशक शुरू करना चाहेंगे?**

करना चाहता हूँ। 'यज्ञ' पर विचार कर रहा हूँ। सोचता हूँ अमिताभ इसमें काम करें। डिंपल और माधुरी तो होंगी ही और कमल हासन को भी रखना चाहूँगा।

**'यज्ञ' की थीम क्या है, बताइए जरा...?**

उसकी थीम है पॉलीटिक्स। देश में व्यक्ति को अपने से नीचे गिराने वाली चीज है राजनीति। आदमी किस तरह गंदा होता जाता है। इमोशन्स मरते हैं और हैवान बाकी रह जाता है। पहले तो ऐसा नहीं था, पर अब ऐसा होने लगा है।

**अभी आपकी एक बड़ी खूबसूरत-सी फिल्म देखी थी- 'थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ'। मेरा ख्याल है, ऐसी फिल्मों से जरूर समाज का थोड़ा-बहुत भला हो सकता है। ऐसी फिल्मों के बनते रहने की अनिवार्यता के बारे में आपका क्या विचार है?**

देखो, एक ही किस्म की कई फिल्में होनी चाहिए, इससे तो मैं सहमत नहीं हूँ। ऐसी फिल्में जो कुछ कहती नहीं, तीन घंटा या ढाई घंटा मनोरंजन करके भाग जाती हैं, तो मैं समझता हूँ ठीक नहीं है। एक 'थॉट' तुम्हारा होना ही चाहिए। भले ही वो किसी भी तरह का हो। मैं समझता हूँ, जहाँ का हम उगा हुआ खाते हैं, उस देश के प्रति भी जवाबदारी है हमारी। वो हमको निभानी चाहिए। फिल्म मेकिंग में मैं सिर्फ नाम कमाना, पैसा कमाना, शोहरत कमाना- आज के दिन गलत समझता हूँ। अगर वैसा मौका मिले कि एक सामाजिक स्थिति ऐसी आ जाए कि मैं सोचूँ कि मनोरंजनप्रधान एकाध फिल्म मैं करूँ, तो मैं खुश रहूँगा लेकिन फिलहाल तो हालात ऐसे हैं कि मुझे इस तरह का कुछ सोचने की इजाजत नहीं देते।

**प्रहार फिल्म की नायिकाओं के बारे में एक सवाल। एक नायिका शुरू से ही उदास जिंदगी भोग रही है। दूसरी एक हिस्से के बाद। उसको भी आपने साज-श्रृंगार से दूर रखा क्यों?**

फिल्म का जो वातावरण है उसके अनुकूल चरित्रों का होना जरूरी है, ताकि कोई हल्कापन न लगे। विषय की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए माधुरी और डिंपल को ऐसा रूप दिया गया था। उन्होंने भी मेरे निर्णय को स्वीकारा और वे दोनों सशक्त भी नजर आईं।

**जब ऋषिकेश मुखर्जी भी फिल्में बनाते थे, वे सोद्देश्य होती थीं। गुलजार ने भी काफी अच्छी फिल्में बनाईं...वह समय क्या लौटेगा?**

गुलजार का तो मुझे नहीं मालूम क्योंकि 'मेरे अपने' तक वे बेहतर रहे, लेकिन ऋषि दा की मैंने कई फिल्में देखी हैं। सभी शालीनता और सुसंस्कृत माहौल के साथ मनोरंजन की शर्त का पालन करती थीं।

**कोई ऐसा निर्देशक है आपकी नजर में जो ऋषि दा की परंपरा को आगे बढ़ाएगा?**

नहीं, मुझे नहीं लगता कोई ऐसा है। दूसरे रॉ-स्टॉक की समस्या ऐसी है कि लोग कमाने के अलावा और कुछ सोचना ही नहीं चाहते। ● **प्रमुख फिल्में :** *अंकुश/ फाँसी का फंदा (१९८६) *प्रतिघात/ सूत्रधार/ मोहरे (१९८७) * परिंदा/ सलाम बॉम्बे (१९८९) * थोड़ा सा रूमानी हो जाए (१९९०) * प्रहार (१९९१)।

---

फारुख शेख

# एक प्रेमी बुद्धू-सा

कलात्मक फिल्म **'गर्म हवा'** से अपना फिल्मी कैरियर शुरू करने वाले फारुख शेख को 'चश्मे बद्दूर' तथा 'नूरी' से लोकप्रियता मिली। फिल्म 'नूरी' में उन्हें सर्वप्रथम प्रमुख भूमिका के लिए चुना गया। दरअसल नूरी ही पहली व्यावसायिक फिल्म थी जिसने उन्हें प्रतिष्ठा दिलवाई और उनकी अभिनय प्रतिभा को प्रमाणित किया। काफी सोच-समझ कर भूमिकाएँ स्वीकार करने वाले फारुख ने नूरी की सफलता के बाद बिना सोचे समझें फिल्में स्वीकार करने की बजाए बेकार रहना ठीक समझा। इसके बाद उन्होंने सई परांजपे की फिल्म 'चश्मे बद्दूर' स्वीकार की। इस तरह नूरी की गंभीर भूमिका से वे सीधे चश्मेबद्दूर की हास्य भूमिका पर आ गए। 'साथ-साथ'/ 'बाजार'/ 'उमराव जान'/ 'महानंदा' आदि फिल्मों में उनका सशक्त एवं प्रभावशाली अभिनय सर्वत्र सराहा गया।

रंगमंच से फिल्मों में आए फारुख 'इंडियन पीपुल्स थिएटर्स' से घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। उन्होंने इप्टा द्वारा प्रस्तुत कई हिन्दी नाटकों में काम किया। रंगमंच के प्रति उनका लगाव इतना अधिक है कि वे चाहते हैं कि रंगमंच को ही अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाएँ। रंगमंच के सहारे परिवार का खर्च न चल पाने की विवशता उन्हें फिल्मों की ओर खींचती है। फारुख केवल उन्हीं फिल्मों में अभिनय करना स्वीकार करते हैं जिनकी पटकथा चुस्त हो और विषय लीक से हट कर हो। अपनी सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में फारुख 'बाजार'/ 'कथा'/ 'लोरी'/ 'महानंदा और 'वनवास' को मानते हैं। फिल्मों के अतिरिक्त फारुख शेख ने दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिकों में अविस्मरणीय भूमिकाएँ की हैं। फारुख शेख का परदे पर चरित्र लगभग एक जैसा चला है। वे सूरत-शक्ल से मासूम और बुद्धू प्रेमी नजर आते हैं। अपनी ही



गलतियों में उलझकर कथा फिल्म के 'राजाराम' बनकर परेशानियाँ झेलते हैं। 'अंत भला, सो सब भला' की शैली पर उनकी फिल्में खत्म होती हैं। वैसे दर्शकों की हमदर्दी बटोरने में वे हमेशा सफल रहते हैं।

●**सरला**

वक्त किसी का इंतजार नहीं करता- लेकिन फिल्म अभिनेता **'जीतेन्द्र'** के आगे उसकी दाल नहीं गल रही। पिछले बीस-पच्चीस सालों से वह इस फिराक में है, कि 'जीतेन्द्र' के कैरियर की घड़ी का कांटा 'हीरो' नामक जिस निर्देश बिंदु पर अटक गया है, उसे किसी तरह धकेला जा सके। मगर उम्र के तमाम हथकंडों के बावजूद 'जीतेन्द्र' फिल्म उद्योग की 'हीरो-पल्टन' से रिटायर होने का नाम ही नहीं ले रहे। तीन दशकों से उन्होंने ऐसा 'अंगदासन' जमा रखा है कि उनकी लंबी पूँछ तले कितने ही फिल्मी दौर बिलबिला कर रह गए। अब भी निकट भविष्य में 'हीरो-दरबार' से उनके 'प्रयाण' की संभावना नजर नहीं आती। क्योंकि 'थर्टी' के बाद उम्र का कोई भी 'प्लस' उनके चेहरे पर दर्ज नहीं हो पाया है।

करीब दो सौ फिल्मों में दर्जनों हीरोइनों के साथ परदे पर रास रचा चुके जीतेन्द्र उर्फ 'रवि कपूर' ग्लेमर की दुनिया में आने से पहले बंबई की गरीब बस्ती 'गिरगाम' के एक चालनुमा मकान में रहा करते थे। उनका पारिवारिक व्यवसाय कृत्रिम आभूषण बनाने का था, जिन्हें फिल्म वालों के लिए किराए पर भी प्रदाय किया जाता। इसी दौरान 'जीतेन्द्र' का संपर्क फिल्म जगत से हुआ। शायद नकली आभूषणों से ज्यादा चमक उन्हें रजतपट पर नजर आई। लिहाजा वे उसी के होकर रह गए। गुरुदत्त की 'आर-पार' देखने के बाद उन्हें फिल्मों का कुछ ऐसा चस्का लगा



*अपनी प्रिय नायिका जया प्रदा के साथ जीतेन्द्र*

# ता थय्या नायक जीतेन्द्र

**आर.बी. शर्मा**

कि घर से पैसे चुराकर सिनेमाघरों के आसपास मँडराने लगे। इसी दौरान उनकी दोस्ती 'राजेश खन्ना' से हुई, जो उन दिनों हीरो बनने के चक्कर में हाथ-पाँव मार रहे थे। राजेश के सान्निध्य में जीतेन्द्र का फिल्म प्रेम और परवान चढ़ गया। इस दीवानगी को देखते हुए उनके चाचा उन्हें वी. शांताराम के पास ले गए कि इस छोकरे का उद्धार करो। 'शांतारामजी महाराज' ने सोलह साल के खूबसूरत जीतेन्द्र को देखकर 'तेरी मनोकामना पूर्ण हो बच्चा' का आशीष दिया।

जीतेन्द्र को पहली फिल्म में ही हीरो बनने का सौभाग्य नहीं मिल सका क्योंकि शांताराम द्वारा निर्माणाधीन फिल्म **'सेहरा'** के लिए उस वक्त तक पात्रों का चयन हो चुका था। लिहाजा 'सेहरा' में जीतेन्द्र को एक छोटी-सी महत्वहीन भूमिका ही मिल पाई। लेकिन 'शांताराम' की अगली सुपरहिट फिल्म **'गीत गाया पत्थरों ने'** के सफल हीरो का 'सेहरा' उनके सर बँधा। शांताराम की बेटी 'राजश्री' इस फिल्म की हीरोइन थी, जिसके साथ नायक की भूमिका में जीतेन्द्र का चिकना-आकर्षक चौखटा दर्शकों की निगाह में चढ़ गया। जीतेन्द्र की लगातार दूसरी फिल्म 'गुनाहों का देवता' भी सुपरहिट रही और एक भरोसेमंद स्टार के रूप में उन्होंने अपनी जगह सुनिश्चित कर ली।

यह सच है कि 'जंपिंग जैक' के नाम से मशहूर जीतेन्द्र को फिल्म जगत में 'लंगूरों की जमात' तैयार करने के लिए जाना जाता है। लेकिन उन्होंने कुछ संजीदा और सार्थक भूमिकाएँ भी की हैं। दर्शकों ने कभी उन्हें गंभीर भूमिकाओं में पसंद नहीं किया। 'बूंद जो बन गई मोती' पहली प्रभावशाली फिल्म थी, जो बुरी तरह फ्लॉप रही। समर्पित अध्यापक के रूप में उनका व्यक्तित्व और अभिनय 'जागृति' के अभिभट्टाचार्य की याद दिलाता है। बूंद जो बन गई मोती के बाद जीतेन्द्र ने गुलजार की कुछ फिल्मों खुशबू/ परिचय/ किनारा आदि में भी गंभीर रोल किए। इन सभी की आंशिक सफलता ने उनके समक्ष मुश्किल पैदा कर दी थी। जीतेन्द्र का फिल्मी इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जब-जब वह संकट में घिरे, उनकी मदद के लिए मद्रासी फिल्म निर्माताओं ने कदम बढ़ाया। 'फर्ज' और 'बिदाई' इस परंपरा की आरंभिक फिल्में थीं, जिन्होंने आगे चलकर हिम्मतवाला/ जस्टिस चौधरी/ मवाली/ तोहफा/ मकसद जैसी सुपरहिट फिल्मों का मार्ग प्रशस्त किया।

मद्रासी फिल्मकारों ने ही जीतेन्द्र को पारिवारिक फिल्मों के सबसे लोकप्रिय अभिनेता की छवि भी प्रदान की। आशा/ ज्योति/ एक ही भूल आदि अनेक फिल्मों में जीतेन्द्र पति-पत्नी संबंधों की चौखट में परदे पर नजर आए। यूँ तो जीतेन्द्र की लोकप्रियता का ग्राफ एक से उच्च मानक दर्शाता रहा है, लेकिन उम्र की ढलान पर कदम रखने के बाद आश्चर्यजनक रूप से यह ग्राफ उपलब्धियों के सर्वोच्च शिखर तक पहुँच गया। जीतेन्द्र जब मद्रासी फिल्मों में श्रीदेवी के साथ परदे पर अवतरित हुए, तो दर्शकों ने इस जोड़ी का

> **'जम्पिंग-जैक' के रूप में मशहूर जीतेन्द्र दोयम-दरजे के नायक से आगे नहीं बढ़ सके। 'ता थय्या...' करके आना वाली उनकी शैली उनके अभिनेता पर प्रश्न चिह्न लगाती है।**

जबरदस्त स्वागत किया। जीतेन्द्र-श्रीदेवी की फिल्में व्यावसायिक दृष्टि से अत्यंत सफल मानी जाती हैं। इन दोनों की 'ता-थय्या, ता थय्या होऽऽ' अभूतपूर्व रूप से लोकप्रिय हुई।

जीतेन्द्र अनेक सफल फिल्मों में काम करने के बावजूद 'सुपर स्टार' की पदवी पाने में

# लव में लीन कुमार गौरव

कुमार गौरव 'लव स्टोरी' की सफलता के बाद रातों-रात स्टार बन गए थे। बाद में किस्मत ने साथ नही दिया। 'नाम' तथा 'इंद्रजीत' में अच्छे प्रदर्शन के बाद वे अपने घरू बेनर की फिल्म **'फूल'** में आ रहे हैं जिसमें नायिका **माधुरी दीक्षित** है। इस साक्षात्कार में उन्होंने भावी इरादों के बारे में बताया है:-

**भविष्य में आपकी क्या योजनाएँ हैं?**

मैं रमेश सिप्पी तथा राजकुमार संतोषी जैसे निर्देशकों के साथ कमर्शियल फिल्में करना चाहता हूँ। मेरी तमन्ना है कि भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय भाषा में कम से कम एक फिल्म जरूर करूँ। वैसे मैं निर्देशन भी करना चाहता हूँ। इस बारे में अभी चर्चा करना जल्दबाजी होगा। अपने जीवन तथा कैरियर की प्रगति से मैं संतुष्ट हूँ। कैरियर में उतार चढ़ाव आए मगर यात्रा रुकी नहीं। मुझे जब कभी गुस्सा आया, खुद पर ही आया क्योंकि मैं काम के साथ न्याय नहीं कर पाया।

**'गैंग' में आपकी भूमिका लीक से हटकर है तथा आपकी स्थापित छवि के अनुरूप नहीं है?**

'छवि', मैं नहीं समझता कि फिलहाल मेरी कोई विशेष छवि बनी है। यदि रोमांटिक युवा प्रेमी की छवि होती तब मेरी पिछली बारह फिल्में हिट हो जातीं। आप ही बताइए मेरी कौनसी छवि हैं। **गैंग** में मेरी भूमिका अलग है। मुझे विश्वास है कि लोगों को मेरी मौजूदगी का अहसास होगा। बशर्ते कि मेरा काम अच्छा हो। 'फूल' में मेरी भूमिका काफी दमदार है। यह मेरे पिता राजेंद्र कुमार की फिल्म है।

**क्या आपको आमिर-सलमान जैसे नए लोगों को रोमांटिक हीरो के रूप में सफल होते देखकर 'फ्रस्ट्रेशन' नहीं होता?**

नहीं, मुझे प्रेम कहानियों में काम अच्छा नहीं लगता क्योंकि यह सब बचकाना होता है। मुझे गंभीर तथा ड्रामेटिक भूमिकाएँ अच्छी लगती हैं जिसमें पात्रों का स्वरूप स्पष्ट हो व वे वास्तविक समस्याओं से जूझते नजर आएँ। 'सियासत' को लीजिए जो भ्रष्ट युवा पीढ़ी को दर्शाती है। मुझे फेंटेसी फिल्में भी अच्छी लगती हैं। जहाँ तक रोमांटिक फिल्मों का सवाल है देखना है कि कितनी बनेगी तथा कितनी हिट होंगी?

**क्या आपको कुछ कर चुकने या न कर पाने का पछतावा है?**

हाँ, मुझे जिंदगी में ज्यादा 'टफ' न बन पाने का अफसोस है। मैं केविन कोस्टनर या रेम्बो या ब्राण्डो या कोई और नहीं बनना चाहता था। मैं कुमार गौरव हूँ तथा वैसी ही भूमिकाएँ करना चाहता हूँ। मैं अच्छी भूमिकाओं से न्याय कर सकता हूँ। जहाँ तक 'जुर्रत' का सवाल है उसकी पटकथा खराब थी। मोड़ तथा घुमाव के अभाव में वह बोझिल हो गई। हमने बेसिक प्लॉट 'अनटचेबल' का लिया था, मगर सीमित बजट के कारण वैसा भव्य निर्माण नहीं कर पाए।

**जीवन के प्रति आपका दृष्टिकोण निगेटिव क्यों है?**

यह किसने कह दिया। कौन मेरी दिनचर्या की जिंदगी में करीब से झाँकता रहा तथा मेरे दृष्टिकोण को पहचान गया। क्या मैं चीख-चीख कर खुद की महानता का बखान करता रहूँ। हर आदमी को चाहिए कि अपनी योग्यता को अपने काम से सिद्ध करने की कोशिश करे। यहाँ तो सिर्फ काम नहीं बल्कि फिल्म की सफलता व्यक्ति की योग्यता का मापदंड है। मैं तो पक्के इरादों वाला आदमी हूँ, जो काम करता हूँ पूरी निष्ठा के साथ करता हूँ।

धर्मेन्द्र और सुनीलदत्त की तरह राजेंद्र कुमार ने भी अपना जमाना बीत जाने के बाद बेटे कुमार गौरव को लव स्टोरी फिल्म के जरिए रजतपट पर पेश किया। प्रचार माध्यम और १९८१ में सूनी परदे से ऊबे दर्शकों ने फिल्म को हाथों हाथ लिया। बाद में उसी पैटर्न पर बनी कुमार की फिल्म टिकट खिड़की पर पिट गई। दरअसल उनका चेहरा कोमल और मासूम है। एक्शन वे कर नहीं सकते। रोमांटिक मुद्राओं में हीरोइन भारी पड़ने लगती हैं। राजेंद्रकुमार के होम प्रोडक्शन में अस्तित्व तो बनाकर रखा जा सकता है, मगर नायक होने का 'गौरव' हासिल नहीं किया जा सकता।

■ **फिल्मोग्राफी :** □ लव स्टोरी (१९८१) □ स्टार (१९८२) □ लवर्स/रोमांस (१९८३) □ ऑल राउंडर/हम हैं लाजवाब (१९८४) □ एक से भले दो (१९८५) □ बेगाना/जनम/नाम (१९८६) □ गूंज (१९८९) □ इन्द्रजीत/प्रतिज्ञाबद्ध (१९९१) □ सियासत (१९९२)।

*आयशा जुल्का और कुमार गौरव : हाय मेरी जान*



---

चाहे कामयाब न हुए हों, लेकिन इससे उनकी चमकीली उपलब्धियों पर कोई फर्क नहीं पड़ता। वह सिर्फ एक 'बिकाऊ स्टार' ही नहीं रहे, बल्कि अपनी फुसफुसी आवाज और औसत प्रतिभा के बावजूद उन्होंने समय-समय पर अदाकारी की चमक भी दिखलाई है। जीतेन्द्र के कुल जमा कैरियर को देखते हुए उन्हें अदाकारों की श्रेणी में रखकर नहीं आँका जा सकता। उनकी उछल-कूद और हीरोइनों के साथ नैन-मटक्का दर्शकों के दिल-बहलाव की दृष्टि से भले ही ठीक हो, किंतु वह कला-पारखियों को प्रभावित नहीं कर सकते। कुल मिलाकर वे दोयम दरजे के अभिनेता बनकर रह गए।

■ **प्रमुख फिल्में :** □ गीत गाया पत्थरों ने (१९६४) □ अनमोल मोती/ धरती कहे पुकार के/ जीने की राह/ जिगरी दोस्त (१९६९) □ हिम्मत/ हमजोली/ जवाब/ खिलौना/ नया रास्ता (१९७०) □ भाई हो तो ऐसा/ परिचय (१९७२) □ खुशबू (१९७५) □ संकोच (१९७६) □ अपनापन/ किनारा/ प्रियतमा (१९७७) □ स्वर्ग नरक (१९७८) □ लोक परलोक (१९७९) □ आशा/ जुदाई (१९८०) □ एक ही भूल/ मेरी आवाज सुनो/ शारदा (१९८१) □ धर्म काँटा/ इंसान/ जियो और जीने दो (१९८२) □ हिम्मतवाला/ जस्टिस चौधरी/ प्रेम तपस्या (१९८३) □ हैसियत/ कामयाब/ मकसद (१९८४) □ बलिदान/ हकीकत/ (१९८५) पाताल भैरवी/ संजोग (१९८५) □ धर्म अधिकारी/ सिंहासन/ स्वर्ग से सुंदर (१९८६) □ खुदगर्ज (१९८७) □ तमाचा (१९८८) □ नफरत की आँधी (१९८९) □ सपनों का मंदिर (१९९१) □ अधर्म (१९९२)। ■

# रफ-टफ नायक : जैकी श्राफ

**जग्गू दादा जब 'हीरो' बने तो जयकिशन से जैकी श्राफ हो गए। रफ-टफ अदाकारी और बड़े लोगों की संगत में तराश कर 'हीरा' बना दिए गए हैं। शत्रुघ्न सिन्हा की परम्परा को वे आगे ले जा रहे हैं- ऐसा कहना उनके साथ अन्याय करना नहीं होगा।**

● **इन्टरव्यू : दीपक नास्ता**

हीरो तथा 'कर्मा' की बॉक्स ऑफिस सफलता के बावजूद जैकी श्राफ को अपनी जगह बनाने के लिए कड़े संघर्ष से गुजरना पड़ा। उसकी कई फिल्में फ्लॉप हो गईं। निर्माता उसकी छाया से भी कतराने लगे। इस बदरंग तस्वीर में कामयाबी के रंग '१०० डेज' तथा 'इज्जत' की बॉक्स ऑफिस सफलता के बाद भरे। निर्माताओं की दस्तकों से दरवाजे कमजोर पड़ने लगे। जग्गू दादा चिकने पन्नों पर विराजने लगे। बड़े बेनर वाली फिल्मों में अनुबंधित होने लगे। ऐसे ही कामयाब और खुशनुमा माहौल में लिया गया यह इंटरव्यू उनकी संघर्ष यात्रा को प्रस्तुत करता है-

**दोबारा वापसी आपको कैसी लग रही है?**

फिल्मों में कई साल बिताने के बाद मुझे महसूस हुआ कि यहाँ धीमे और सधे कदम रखने वाले ही दौड़ जीतते हैं। वर्षों पहले हिंदी की पहली थ्री डी फिल्म 'शिवा का इंसाफ' में काम मिलने पर मैं खुशी और उत्तेजना से फूला न समाया था। यह फिल्म फ्लॉप हो गई। इस बार जबकि '१०० डेज' तथा 'इज्जत' हिट रही, मैंने खुशियों के जश्न मनाने की बजाए सिर्फ निर्माता को फोन करके 'मुबारक हो' कहा। इस उद्योग में बड़े केम्प वाले सिर्फ उन्हीं अभिनेताओं से संपर्क करते हैं जिनका नाम बिक सके। पहले तो कुछ नए लोगों को भी मौका दिया जाता था। अब स्थिति बदल गई। स्टार को भी लोकप्रियता बनाए रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। जब मेरी फिल्में सफल हुई तब मुझे पचास नए प्रस्ताव मिले। मैंने छाँटकर पन्द्रह भूमिकाएँ ही स्वीकार की ताकि मेरा अभिनय स्तरीय बना रहे। आजकल सभी निर्माता फिल्मों को जल्दी पूरा करना चाहते हैं। मैं भी जी लगाकर काम करता हूँ। चाहता हूँ कि एक दिन में अड़तालीस घंटे हों। कभी-कभी तो मुझे पेट में कुछ डालने तक का वक्त नहीं मिलता। घर लौटते वक्त रात के दो बज जाते हैं।

**इस भारी व्यस्तता की वजह?**

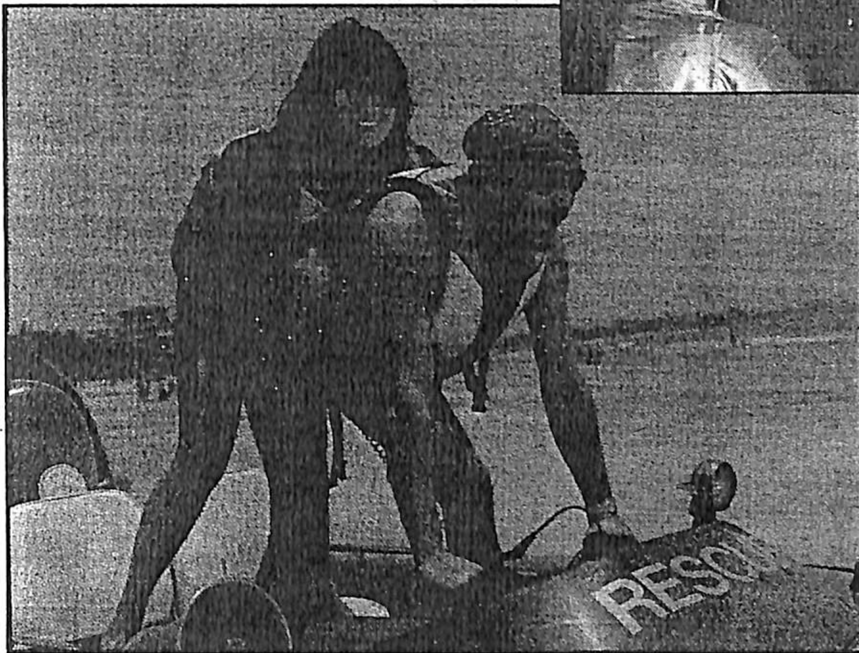
वजह एक यह भी है कि मैं रिश्ते बनाए रखना चाहता हूँ। सलीम अख्तर साहब ने मुझे 'इज्जत' के लिए तब अनुबंधित किया था जब 'दूध का कर्ज' फ्लॉप हो चुकी थी। अब उनका उपकार कैसे भुला दूँ। इसलिए उनकी फिल्म 'पुलिस अफसर' को जल्दी से पूरा करना चाहता हूँ। सलीमजी के पास इस जल्दी की ठोस वजह है। 'इज्जत' के बाद भ्रष्ट प्रणाली के खिलाफ ईमानदार हिम्मती अफसर की इस कहानी की लोग उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। अशोक घई को भी **'प्रेम दीवाना'** की जल्दी है। यह 'मैंने प्यार किया' की सफलता के बाद शुरू, प्रेम तथा रोमांस पर आधारित फिल्म है। 'आईना' में मैं अमृता तथा जूही के साथ आ रहा हूँ। 'लाट साहब' एवं 'अंतिम न्याय' में मेरी नायिका नीलम है।' 'चाल पे चाल' में अनु अग्रवाल, कादर खान एवं शक्तिकपूर मेरे सह अभिनेता हैं। राकेश रोशन की 'किंग अंकल' में अनु, अनुपम, परेश रावल आदि हैं। जब मैं किशोर था तब फिल्मी सितारों की चमक भरी जिंदगी की रंगीन कल्पनाएँ करता था। अब समझ गया हूँ कि फिल्मी सितारों को उतनी ही मेहनत करनी पड़ती है जितनी कि ठेलागाड़ी खींचने वाला मजदूर करता है।

**क्या आपका सपना टूट गया?**

नहीं, बल्कि यह कहिए कि वक्त ने कई पाठ पढ़ा दिए। विवादों ने, अनसोची घटनाओं ने तथा लोगों के नीच व्यवहार ने मुझे काफी कुछ सिखाया। अनिल कपूर के साथ मेरे कथित विवाद का प्रसंग ही लीजिएं। हमने 'अंदर बाहर', 'युद्ध' तथा 'राम लखन' आदि फिल्मों में साथ काम किया। लोगों ने उड़ा दिया कि हमारा झगड़ा है। इसके बाद जब 'परिन्दा' में हम साथ आए तब यह अफवाह झूठ साबित हुई। दोस्ती की खातिर ही मैंने 'रूप की रानी चोरों का राजा' में छोटी-सी भूमिका स्वीकार की है। किसी अन्य निर्माता की फिल्म में मैं ऐसी भूमिका कभी स्वीकार नहीं करता। एक वक्त ऐसा भी था कि मैं खुद को रोमांटिक नायक के तौर पर प्रतिष्ठित करना चाह रहा था। इसके बाद रोमांटिक एक्शन नायक दौर आया। 'आज का दौर'

*नीलम के साथ अंतरंग पल : जैकी श्राफ*






*जैकी और संगीता बिजलानी*

गोविन्दा

# आला रे आला

*दस वर्षों में पचास फिल्में करने वाले **गोविंदा** को किसी परिचय की जरूरत नहीं है। नर्तक के रूप में अवतरित होकर खलबली मचाने वाले इस कलाकार ने चर्चा के दौरान अपने कैरियर, सह अभिनेताओं एवं निर्देशकों के बारे में खुलकर चर्चा की है-*

**अपनी स्टार छवि को कायम रखने का कौन सा नुस्खा आप इस्तेमाल करते हैं?**

मैं क्या बताऊँ, जवाब तो बॉक्स आफिस की खिड़कियों पर जमा भीड़ देती है। इन्हीं खिड़कियों पर जमा रकम अभिनेता को स्टार का दर्जा देती है। भीड़ को खींचने की क्षमता ही स्टार का गुण है। इस उद्योग में मेरा बने रहना तथा माँग बढ़ते जाना और लगभग आधा सैकड़ा फिल्मों में प्रमुख भूमिका करना इसी बात का प्रमाण है कि लोग मुझे चाहते हैं।यह बात अलग है कि मेरे अकेले के दम पर चलने वाली एकमात्र फिल्म **'दरिया दिल'** है।

**नीलम तथा आपके बीच दरार कैसे पड़ी?**

सही बात तो यह है कि जोड़ी वाली छवि मुझे कमजोर बना रही थी। दरिया दिल/ घर घर की कहानी/ जैसी करनी वैसी भरनी/ तथा मरते दम तक ने साबित कर दिया कि मुझे सफल होने के लिए किसी खास नायिका की जरूरत नहीं है।

**'आवारगी' को लेकर आपके संबंध महेश भट्ट से क्यों बिगड़े?**

जब मामाजी एवं महेश भट्ट मुझे अनुबंधित करने आए थे तभी उनसे मैंने साफ-साफ कह दिया था कि वे मुसीबत मोल ले रहे हैं क्योंकि मेरे पास पहले से ही काफी फिल्में थीं। उन्होंने मेरी बात नहीं मानी क्योंकि उनके अनुसार मैं उस भूमिका के उपयुक्त था। मुझे धर्मजी के परिवार वालों के प्रति श्रद्धा है तथा उन्हें परेशान नहीं करना चाहता था। मैंने अपनी कीमत भी कम कर दी थी। महेश भट्ट के साथ काम करना सौभाग्य था। जहाँ तक पटकथा में टाँग अड़ाने का सवाल है मैं इसमें बुराई नहीं समझता। हर फिल्म में ऐसा करता हूँ तथा इसे नायक का अधिकार मानता हूँ। कई बार तो अपने 'सीन' के लिए लड़ाई भी कर लेता हूँ। मुझे खुशी है कि **आवारगी** ठीक रही।



**गोविंदा आला, और गोविंदा गेला! मिथुन के नक्शे कदम पर चलकर गोविंदा ने इतनी 'फिल्में 'साइन' कर लीं कि तमाम निर्माताओं को नाराज कर दिया! केवल 'डॉस' के बल पर फिल्में नहीं चलतीं। दस साल में पचास फिल्मों में से पाँच भी ऐसी नहीं हैं जो गोविंदा की कीर्ति बढ़ाती हों।**

**क्या आप अपने भाई की फिल्म 'राधा का संगम' को दूसरी फिल्मों से ज्यादा महत्व एवं प्राथमिकता दे रहे हैं?**

यदि ऐसा होता तब 'राधा का संगम' अब तक तैयार हो जाती। 'हत्या' तक दो साल में बनकर पूरी हुई थी। मैंने अपने भाई से लिया क्या सिर्फ डेट्स ही तो दी है।

कामेडियन मेहमूद के पिता मुमताजअली नर्तक थे और अभिनय में भी पारंगत थे। फिर मा. भगवान ने ठुमके मारे और सफलता प्राप्त की। मिथुन तो कलकत्ता से सिर के बल नाचते बंबई आए। विरार का छोरा गोविंदा जब गली-मोहल्लों की गुलाटियाँ फिल्मों में भरने लगा, तो शुरू-शुरू में दर्शक चिल्ला उठे -गोविंदा आला रे! बहुत जल्दी भाव खा जाने, ढेरों फिल्में साइन करने और नए डांस मास्टरों ने गोविंदा को आज बेमानी बना दिया है। ■

'कर्मा' तथा 'तेरी मेहरबानियाँ' के बाद निर्माता मुझे गंभीर भूमिकाओं के लिए अनुबंधित करने लगे। 'राम लखन' के बाद मुझे परिपक्व भूमिकाओं के लिए उपयुक्त माना जाने लगा। 'बाप नंबरी, बेटा दस नंबरी' के बाद कॉमेडी भूमिकाओं के लिए मेरी माँग बढ़ी। '१०० डेज' के बाद मैं एण्टी हीरो' के रूप में स्थापित हुआ। 'इज्जत' के बाद मेरी छवि ईमानदार नायक की बनी। 'स्वामी दादा' तथा हीरो से लेकर, इज्जत तक मेरा कैरियर पूरी परिक्रमा कर चुका है। कई छवियाँ बदल गई हैं। मुझे लगता है कि मैं यह सिद्ध करने में कामयाब हो गया हूँ कि मैं एक सफल अभिनेता हूँ तथा हर किस्म की भूमिका को व्यावसायिक तौर पर सफल रूप से निभा सकता हूँ।

**क्या आपको कभी पछतावा हुआ है?**

कभी नहीं। जब मैंने ट्रेवेल एजेन्सी की बढ़िया नौकरी छोड़कर देव आनंद की फिल्म 'स्वामी दादा' में काम करने का फैसला किया था तभी 'काँटों भरी राह' चुन ली थी। यदि मुझे 'हीरो' नहीं मिलती तब तो शायद वापस नौकरी पर लौट आता। मगर इसके बाद वापसी के सारे रास्ते बंद हो गए थे। मैंने अपने भाई को डूबते देखा था तथा पाया था कि उसे बचा सकने में नाकामयाब हो गया था। पिता की उम्मीदों को पूरा नहीं कर पाया तथा अपने इलाके में जग्गूदादा के नाम से मशहूर हो गया था। उसके बाद मैंने आयशा को देखा तथा प्यार हो गया। लोगों ने अफवाहें उड़ाकर हमारी जिंदगी में जहर घोलने की काफी कोशिशें कीं। कभी-कभी क्षणिक दुःख जरूर होता है, जब यश चोपड़ा अनुबंधित नहीं करते या सुभाष घई सौदागर में छोटी-सी भूमिका दे देते हैं। बाद में विचार करता हूँ कि पटकथा लेखक किसी अन्य नायक को कल्पना में बिठाकर कहानी लिख रहे होंगे।

**प्रमुख फिल्में:** □ हीरो/ किसी से न कहना (१९८३) □ अंदर बाहर (१९८४) □ आज का दौर/ जानू/मेरा जवाब/ पैसा ये पैसा/ शिवा का इंसाफ/ तेरी मेहरबानियाँ/ युद्ध (१९८५) □ अल्लारखा/ दहलीज/ कर्मा (१९८६) □ जवाब हम देंगे/ काश/ कुदरत का कानून/ सड़क छाप/ उत्तर दक्षिण (१९८७) □ आखिरी अदालत (१९८८) □ हम भी इंसान हैं/ परिंदा/ राम-लखन/ सच्चाई का बोलबाला / वर्दी/ त्रिदेव (१९८९) □ अकेला/ सौ दिन/हफ्ता बंद (१९९१)। ●

**पहली पारी में असफल संजय दत्त ने दूसरी पारी में कमाल कर दिखाया है। 'साजन' और 'सड़क' की सफलता से उत्साहित संजय दत्त को शिखर पर बने रहने के लिए कुछ प्राथमिकताएँ तय कर लेना चाहिए।**

## संजय दत्त

# मेहनत रंग लाई

सुपर स्टार खिताब के नजदीक पहुँच चुके **'संजय दत्त'** की झोली में इस वक्त तीस से भी अधिक फिल्में हैं। लगातार अच्छे प्रदर्शन के कारण एक भरोसेमंद अभिनेता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके संजय दत्त को अमिताभ बच्चन का विकल्प निरूपित किया जा रहा है। दीपक नास्ता ने उनसे बातचीत की:

**अचानक मिली सफलता से क्या आप अभिभूत हैं?**

बिल्कुल! आखिर मैंने इसके लिए पसीना बहाया है। सफलता पाने के सस्ते हथकंडों से मैं हमेशा दूर रहा। किसी निर्माता की चिरौरी नही की। न उसे परेशान किया। मैंने मेहनत के बल पर अपनी जगह बनाई है।

**'खुदा गवाह' में नागार्जुन वाली भूमिका के लिए आपने इंकार क्यों कर दिया?**

मेरे साथ धोखा हुआ। पहले प्रस्ताव रखते समय मेरी भूमिका जानदार बताई गई थी। बाद में इसे काट-छाँट दिया गया। फिर फिल्म का शूटिंग कार्यक्रम इतना लम्बा था कि किसी का भी धैर्य जवाब दे जाता। एक कमजोर रोल के लिए कौन परेशान हो, यह सोचकर मैंने फिल्म से हाथ खींच लिए।

**अब तक के कैरियर को लेकर कोई अफसोस?**

मुझे यही रंज है कि निर्माता मेरे केश विन्यास पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, जबकि दर्शकों ने इसे काफी पसंद किया है। अब निर्माताओं के जोर देने पर मुझे अपने बालों की छँटाई करानी पड़ेगी।

**भविष्य की योजनाएँ?**

मैं 'स्कार फेस' जैसी फिल्मों का निर्देशन करना चाहता हूँ।

सुनील दत्त-नरगिस का यह यादगार बेटा फिल्म रॉकी (१९८१) से परदे पर प्रकट हुआ। रफ-टफ छवि के साथ इसे पेश किया गया था। अभिनय के बजाए गलत संगत में पड़ जाने से ड्रग्स का शिकार हो गया। वह तो सुनील दत्त जैसे पिता का ही करिश्मा था कि संजय को मौत के मुँह से खींच लाए। दरअसल दूसरी पारी में संजय दत्त संजीदा हुआ है। एक्शन के साथ भावना प्रधान रोल भी अच्छे कर लेता है, जैसे पिछले दिनों 'साजन' में एक विकलांग की भूमिका करने पर देश भर से सराहना मिली थी। अचानक अमिताभ द्वारा फिल्मों से दूर चले जाने के कारण संजय दत्त की पीढ़ी में सनी और अनिल कपूर बचे हैं। शेष नई पीढ़ी तो 'आज आई कल गई' जैसी होकर रह गई है। संजय दत्त की एक कतार में सफल फिल्मों से उसके भाव तो बढ़े ही हैं, साथ में आत्मविश्वास भी बढ़ा है। उस पर अनेक लोगों की उम्मीदें टिकी हैं, देखना है वह अपने पिता की तरह रोशनी बनकर कितने समय तक जगमगाता है।

☐ **प्रमुख फिल्में:** ☐रॉकी (१९८१) ☐विधाता (१९८२) ☐ बेकरार/ मैं आवारा हूँ (१९८३) ☐जान की बाजी (१९८५) ☐जीवा/ मेरा हक/ नाम (१९८६) ☐नामोनिशान (१९८७) ☐कब्जा/ मरदों वाली बात/ खतरों के खिलाड़ी (१९८८) ☐इलाका/ दो कैदी (१९८९) ☐खून का कर्ज/ कुरबानी रंग लाएगी/ साजन/ सड़क/ योद्धा (१९९१) ☐अधर्म (१९९२)।



रेखांकन : अजय मोहम्मद

*अंतरंग पल : पूजा भट्ट और संजय दत्त*





# सनी देओल
# एक्शन-हीरो

**स**नी देओल का कैरियर खट्टी-मीठी यादों वाला रहा है। फिल्म **'बेताब'** से शुरूआत करने वाले सनी की कुछ फिल्में फ्लॉप हुई, वहीं **'अर्जुन'** और **'घायल'** की सफलता ने उन्हें स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रस्तुत हैं-उनके साथ दीपक नास्ता की बातचीत के प्रमुख अंश:

**घायल की सफलता के बाद कैसा लगा?**

सामान्यतः व्यावसायिक सफलता को मैं इतना महत्व नहीं देता, जितना कि आत्म संतुष्टि को। सौभाग्यवश 'घायल' के साथ दोनों ही बातें जुड़ी हैं। मैं ऐसी फिल्में पसंद करता हूँ, जो मनोरंजक होने के साथ शिक्षाप्रद भी हों। मेरे विचार से व्यावसायिक फिल्में भी सार्थक सिनेमा का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। बशर्ते इसके लिए अच्छे फिल्मकार और अभिनेता आगे आएँ। 'घायल' से मैंने इस दिशा में कदम बढ़ाया है।

**सनी देओल के सपाट चेहरे के लिए एक्शन फिल्में जरूरी हैं। रोमांटिक तथा भावना प्रधान फिल्मों के लायक यह नायक नहीं बना है।**

**क्या आप रोमांटिक भूमिकाओं से कतराते हैं?**

मैं सिर्फ 'टाइप्ड' होने से कतराता हूँ। रोल में दम हो, तो मुझे चरित्र भूमिका निभाने से परहेज नहीं है। एक्शन फिल्मों के अलावा इस वक्त मैं 'लुटेरे' और 'दुश्मनी' जैसी फिल्मों में रोमांटिक रोल कर रहा हूँ।

**आपका कैरियर उतार-चढ़ाव भरा रहा इसकी क्या वजह है?**

बेताब के बाद हड़बड़ी में मैंने कुछ गलत फिल्में स्वीकार कर ली थीं। 'डकैत' और 'मंजिल-मंजिल' की असफलता ने मुझे जमीन पर ला दिया। अब मैं सोच-समझकर फिल्मों का चुनाव करूँगा। खेल में हार-जीत तो चलती रहती है। इसके बिना जिंदगी में मजा नहीं आता।

**फिल्म की सफलता के लिए आप क्या चीजें आवश्यक मानते हैं?**

इसका कोई बना-बनाया गणित नहीं है। फिर भी अच्छी पटकथा और निर्देशकीय कसावट के बगैर फिल्म जानदार नहीं बन सकती। आजकल संगीत का भी फिल्म की सफलता में महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अलावा कलाकार और निर्देशक के बीच आपसी समझ से फिल्म की गुणवत्ता में निखार आता है वरना अच्छे निर्देशक और बड़े कलाकारों के बावजूद फिल्म बिखरी रहेगी।

धर्मेंद्र का बेटा सनी देओल नई पीढ़ी के नायकों में पिता की तरह ही-मेन जरूर है, लेकिन चेहरा भावहीन होने से गंभीर रोल में मार खा जाता है। सनी के लिए एक्शन फिल्में होना जरूरी है, जिसमें 'इमोशंस' की कोई जगह नहीं होती। लायक पिता का वह लायक बेटा है। अभिनय का व्याकरण उसने पढ़ा नहीं है, केवल पारिवारिक माहौल का लाभ लेकर वह हीरो बन गया है। सनी से इस प्रकार की उम्मीद करना व्यर्थ होगा कि वह पिता की तरह लंबे समय तक याद किया जाता रहेगा।

□ **फिल्मोग्राफी** □ बेताब (१९८३) □मंजिल-मंजिल/ सोहनी महिवाल/ सनी (१९८४) □अर्जुन/ जबरदस्त (१९८५) □समुन्दर/ सल्तनत (१९८६) □पाप की दुनिया (१९८८) □चालबाज/ जोशीले/ त्रिदेव/ वर्दी/ यतीम (१९८९) □विष्णुदेवा/ योद्धा (१९९१) □विश्वात्मा (१९९२)। ■

# एक अकेला राजकुमार

● **यशवंत व्यास**

**जि**न लोगों को कमर्शियल सिनेमा से एलर्जी है और जो 'मैनरिज्म' की टुच्चाइयों पर थू-थू करके ही अपने कर्तव्य को पूरा करने में भिड़े हुए हैं, उन्हें **राजकुमार** के नाम से निश्चित ही तकलीफ होगी। और जिन्हें राजकपूर की किसी दोमुँही और चालाक रणनीति में भी सम्मोहक संसार सूझ जाता है, उन्हें भी राजकुमार की सीमाओं पर व्याख्यान देने के तर्क मिल जाएँगे। गंभीर अमिताभ बच्चन में दिलीप कुमार को झाँकते हुए पकड़ने वाले 'ट्रेजेडी किंग' के प्रेमी, दिलीप कुमार की बंद होती आँखों में और पंजा मोड़कर चेहरा घुमा लेने में भी अभिनय का उत्कर्ष पढ़ लेंगे लेकिन राजकुमार की 'अकड़' उनके लिए कोरी अहमन्य अदा बनकर रह जाएगी।

बावजूद इसके, राजकुमार का होना, होना क्यों है? **'बैराग'** की वृद्धत्व और अंधत्व भरी नाकामी के काफी बाद **'क्रांति'** में अपने ही 'प्रतिरूप' मनोज कुमार के हाथों इमेज का कायाकल्प करके लौटे दिलीप कुमार के लिए धर्माध्यक्ष या रौबदार बुजुर्ग की भूमिकाओं का परिवेश रचते निर्देशकों का होना, दिलीप कुमार के एक 'तत्व' होने का सिद्ध होना है। जबकि 'वक्त' के राजकुमार का 'मरते दम तक' का राजकुमार होना, एक वैशिष्ट्य की समय यात्रा है। दोनों ही छवि के गुण (या कुछ लोगों के हिसाब से अवगुण) से लिप्त हैं। लेकिन दोनों की भिन्नताएँ यहाँ हैं कि एक तत्व होकर, उस तत्व की विस्तार क्षमता का निर्देशकीय उपकरण है जबकि दूसरा अपने वैशिष्ट्य को निर्देशकीय तत्व में बदल देता है।

यहाँ मेरा इरादा दिलीप कुमार और राजकुमार की क्षमताओं का तुलनात्मक आकलन करना नहीं है, लेकिन, परंपरागत समीक्षा प्रक्रिया के इस पहलू के जरिए राजकुमार के वैशिष्ट्य की पड़ताल में मदद पाने की कोशिश है।

राजकुमार को चुनने की यहाँ कुछ खास वजहें हैं। उसकी, पचास के दशक से नब्बे के दशक तक लगातार उपस्थिति चार पीढ़ियों के बीच असाधारण 'ग्राफ' के साथ सामने आती है। जिसे हमारे यहाँ 'अदा' कहा जाता है, उसके बारे में विशिष्ट समीक्षकों का तर्क है कि ऐसे लोग चाहे कहार बनें या पालकी में बैठने वाले, पर्दे पर एक ही सरीखे नजर आते हैं। जब यह अदा पुरानी पड़ जाती है, जैसे राजेश खन्ना की पलकें, तो हीरो, आउट हो जाता है। लेकिन यह 'मोटा तर्क' राजकुमार



को अभी तक आउट नहीं कर सका। वह किसी किस्म का 'किंग' या 'मेन' नहीं रहा। 'मदर इंडिया' और 'पाकीजा' के वैविध्य का केंद्र बिंदु 'सौदागर' का संघर्ष बिंदु बनता है, तब भी निर्देशकीय जरूरत यह है कि उसके कथित 'अहमन्य स्वरूप' का दोहन करे।

'अकड़' और 'रहस्यमय' जीवन शैली- ये दो शब्द हैं, जो राजकुमार के विवेचन के लिए अक्सर इस्तेमाल किए जाते हैं। और आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि बाज वक्त इन दोनों ही विशेषणों का,जो उसकी पर्दे के पीछे की जिन्दगी को लेकर कहे जाते हैं, कुछ समीक्षक, परदे पर उसके अवदान को खारिज करने के लिए उपयोग करते हैं, अरे, उसमें है ही क्या अकड़ के सिवा?

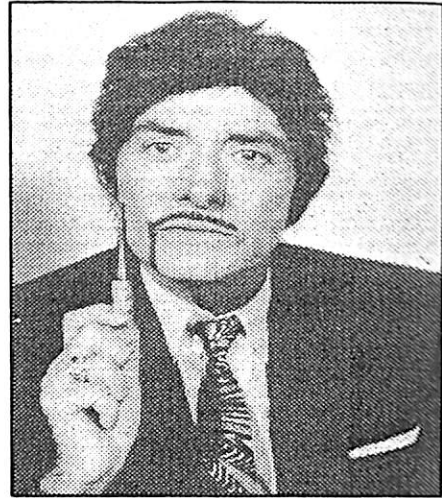
राजकुमार के इन दो विशेषणों की पड़ताल के लिए हमें उसके व्यक्तिगत जीवन तथा फिल्मी जीवनारंभ की तरफ जाना होगा। अफसर पिता का बेटा पढ़ाई-लिखाई के लिए ऑक्सफोर्ड जाने की तैयारी के सिलसिले में बंबई आता है। पिता की मृत्यु की वजह से वह यात्रा स्थगित हो जाती है। वह चाचा के घर पर सुबह खाना खाता है, दोपहर को घूमने निकल जाता है। एक दिन मूड में आकर एक इमर्जेन्सी भर्ती के लिए निकली सब इंस्पेक्टर की 'वान्ट्स' भर देता है।बगैर किसी खास तैयारी के वह भर्ती लिस्ट में दूसरे नंबर पर होता है। प्रशिक्षण के दौरान अधिकारी, शेष प्रशिक्षणार्थियों के सामने उसके लिए कहता है-'ये है अफसर-इसकी चाल देखो- ऐसे चला जाता है।' फिल्में वह देखता नहीं है। जिया सरहदी या नदीम नकवी जैसे लोग परिचय के घेरे में हैं। उसे फिल्मों में काम के लिए कहा जाता है, वह आसानी से राजी नहीं होता। पहली बार कोई कांट्रेक्ट साइन करता है तो अपनी शर्तों पर, प्रचलित दामों से ऊँचे पैसों पर। मेहबूब स्टूडियो में सारे आर्टिस्ट अपना पारिश्रमिक, काउंटर पर दस्तखत करके पाते हैं, वह लॉन में निर्देशक के साथ बैठा होता है और उसका भुगतान -लिफाफा वहाँ पहुँचता है। सोहराब मोदी के सेट पर वह अकेला ऐसा आर्टिस्ट है, जिसे सिगरेट पीने की इजाजत है।

फिर खबरें उड़ती हैं। चुटकुले चलते हैं। वह किसी खास तेल की 'बू' आने पर प्रकाश मेहरा को, 'जंजीर' में काम करने से इंकार कर देता है। सुब्बाराव के साथ शराब न पीने पर उसकी फिल्म छोड़ने का मन बना लेता है। दस फिल्में कर चुकी जीनत अमान को एक पार्टी में देखकर वह उसे सलाह देता है, तुम फिल्मों में काम करने लायक हो-कोशिश करो। आलीशान घरों में जिन कपड़ों के लोग पर्दे व सोफा कवर बनाते हैं;उनसे उसके कपड़े बनाए जाते हैं। एक सेट पर गले में सोने की मोटी जंजीर डालकर शॉट देना है। प्रोड्यूसर 'रोल्ड गोल्ड' की जंजीर लाया है। वह इंकार कर देता है, 'जानी, यह पहनेंगे तो हमारी आवाज ही नहीं निकलेगी।'

उससे पूछा जाता है कि 'सनक' को लेकर किस्से छपते रहते हैं, आप हर किसी को इंटरव्यू नहीं देते, कोई पी.आर. ओ. आपके लिए जुगाड़ जमाता नहीं घूमता। वह कहता है, मैं कोई कपड़े की दुकान नहीं हूँ, जिसके विज्ञापन ठीक-ठाक हों तो ग्राहक बढ़ जाएँगे। गर्मियों में (अप्रैल से जून तक) वह शूटिंग नहीं करता। साल में दो फिल्में आएँ या कभी-कभार ज्यादा, उनमें कोई फ्लॉप: हो या हिट, वह हर साल अपना पारिश्रमिक बढ़ा देता है। वह 'झक्की' है। आउटडोर पर, प्लेन की बजाए, रेलगाड़ी का शाहाना सफर पसंद करेगा। प्रोड्यूसर यह कहता है, फिर भी राजकुमार के चक्कर लगाता है। उसके लिए राजकुमार एक चुनौती है-सैट तुड़वाने की, लेकिन एक महत्वाकांक्षा भी है, साथ काम कर पाने की।

यह चुनौती, पचास के दशक से नब्बे के दशक तक, पैसे को ईमान मानने वाले सौदागर प्रोड्यूसर क्यों झेल रहे हैं? विवेक मुशरान की पीढ़ियाँ, जैकी-अनिल और अमिताभ की पीढ़ियाँ, लगातार, उसकी महत्वाकांक्षाओं का खाना अलग सुरक्षित क्यों रखती हैं? क्या महज इसलिए कि उसमें 'अकड़' का 'कमर्शियल इस्तेमाल' करने का कौशल है?

राजकुमार के इस बिकाऊ 'अवगुण' को रेखांकित करते हुए हम पाते हैं वह अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी के बारे में व्याप्त धारणाओं का तराशा हुआ स्वरूप ही पर्दे पर खड़ा करता है। वह परंपरागत भारतीय समाज में उपलब्ध उस चरित्र का प्रतिरूप है, जो निर्लिप्त रहते हुए या अनबूझ तथा अपने आप में सिमटा दिखाई देते हुए भी सामाजिक प्रक्रियाओं में निर्णायक की तरह अपेक्षित है। जैसे घर में एक रौबदार मुखिया! वह प्रेम करता है। लेकिन आत्मकेंद्रित दिखाई देता है। घर की दीवारों को उससे संरक्षण की आश्वस्ति मिलती है। जैसे अपनी नैतिक प्रतिष्ठा से निर्मित छवि का मालिक, मुहल्ले के लिए जिससे दो लोगों के बीच खड़ी तात्कालिक शत्रुता या विवाद का सिर्फ इशारा भर करके खत्म करने का जादू



***हमसे टकराने का नतीजा अच्छा नहीं होगा जानी!***

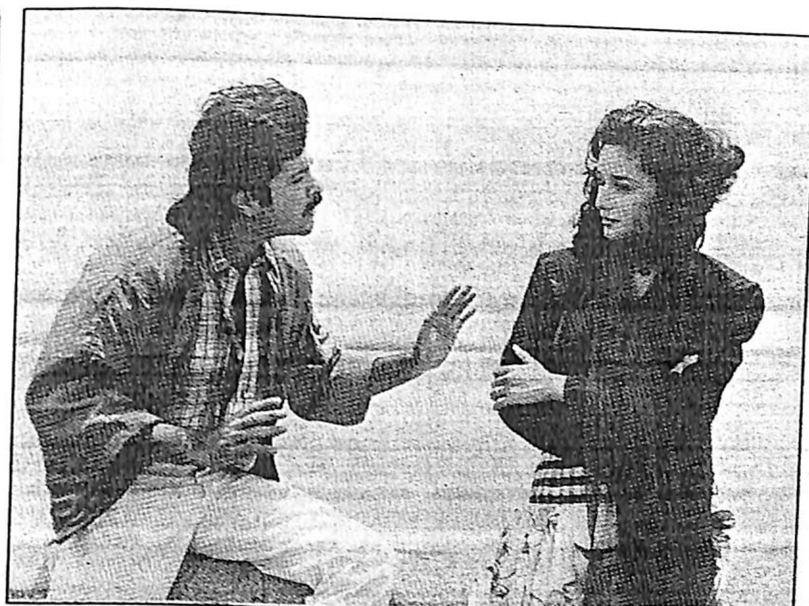
अपेक्षित है। एक बचाने वाले की छवि,एक ऐसी उपस्थिति जो, सिर्फ उपस्थिति होते हुए भी सम्पूर्ण परिवर्तनकारी तत्व की तरह सक्रिय है। दूसरे कोण से देखने वाले इसमें 'सामंती' मानसिकता का उत्कर्ष भी देख सकते हैं, लेकिन वस्तुतः रक्षक छवियां, सामन्ती खलनायकत्व की समाप्ति की दिशा में ही तैयार होती हैं। और दोनों के कार्य बिंदुओं का अंतर ही बारीक रेखा के साथ उनमें भिन्नता तय कर सकता है।

यह संयोग था या कुछ और कि, पचास के दशक के बाद जब हिन्दी फिल्मों के नायक या तो विरह में मरे जा रहे थे या पेड़ों के पीछे जुल्फों और चाँद जैसे चेहरे के लिए मटक-मटक कर तारीफें उगल रहे थे, तब राजकुमार ने प्रेम की 'तकनीक' यथासंभव बदल दी। 'पाकीजा' में मीना कुमारी के पैरों के मैले हो जाने अथवा 'दिल अपना और प्रीत पराई' में, भर बरसात में सिर्फ बेचैन बाहर घूमते रहने में उसकी गहन रोमांटिकता जिस तरह सामने आती है, वह तमाम 'ऐन्द्रिक उत्तेजनाओं का दोहन करती छवियों' का अकेला और शिखर-उत्तर है।

भारतीय फिल्म नायकों की परंपरा में, न वह युग है, न युग-निर्माता, लेकिन वह एक ऐसी उपस्थिति है, जिसमें प्रत्येक समय में अपना समय निकाल लेने की कूवत है। पर्दा, फंतासी भी हो, तो अपने मूल में किसी विचार का विस्तार ही होता है। राजकुमार के व्यक्तित्व और संवाद अदायगी में अगर निर्देशक की सोची फ्रेम और सफेद जूते- चुस्त पटकथा की फंतासी मिलाकर कोई सर्वशक्तिमान पुतला रच दिया गया हो, तो भी सुब्बाराव को 'एक नई पहेली' में राजकुमार के साथ काम करने के लिए 'पैग' न पीने की कसम तोड़ने की इच्छा होती रहेगी।

व्यावसायिक मजबूरियों के इस जंगल में, उसकी अकड़ भी अगर एक बिकाऊ तत्व है, तो होता रहे। उसके बँगले में कभी फ्रेडरिक की एक तस्वीर लगी हुई थी (शायद अब भी हो), जिसमें एक गुस्सैल सांड अपने सींग उठाए आक्रमण की मुद्रा में है और एक स्त्री उसकी ओर आ रही है। राजकुमार की व्याख्या है- अगर मुझे मरना खूबसूरत लगता है तो वही मेरे लिए जीवन है। और जाहिर है, इस आत्यंतिक भावना से ही जीवन को संपूर्ण रूप से जिया जा सकता है।

**प्रमुख फिल्में :** □मदर इंडिया (१९५७) □पैगाम/ उजाला (१९५९) □घराना (१९६१) □दिल एक मंदिर/ गोदान/ फूल बने अंगारे (१९६३), □काजल/ ऊँचे लोग/वक्त (१९६५) □ हीर राँझा (१९७०) □लाल पत्थर/ मर्यादा/ पाकीजा (१९७१) □छत्तीस घंटे (१९७४) □कर्मयोगी (१९७८) □बुलंदी (१९८१) □ राजतिलक (१९८४) □मरते दम तक (१९८७) □मोहब्बत के दुश्मन (१९८८) □सूर्या (१९८९)/ सौदागर (१९९१) ■

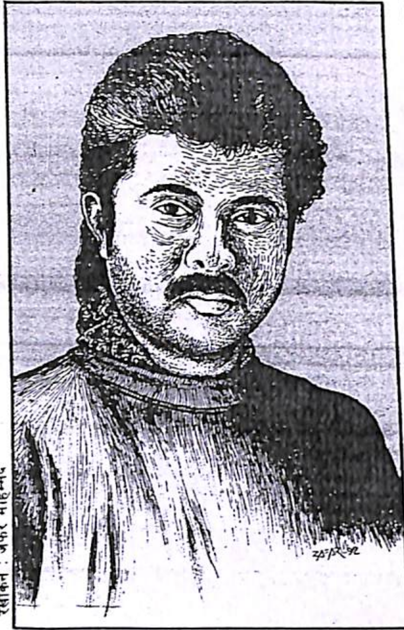


*माधुरी दीक्षित-अनिल कपूर*
*फिल्म जमाई राजा*

# दसवें दशक का अकेला सूरज

अनिल कपूर उन चुनिंदा फिल्मी हस्तियों में से एक हैं जिनकी आँखें ही फिल्मी माहौल में खुलीं। विख्यात निर्माता सुरेंद्र कपूर के घर जन्मे इस बालक ने जब होश संभाला तब महसूस कर लिया था कि बिना कड़ी मेहनत के मनचाही मंजिल नहीं मिलती। इसीलिए अनिल ने जब अभिनय को कैरियर के रूप में अपनाने का फैसला किया, तब तथाकथित जन्मजात प्रतिभा वाले विचार को परे रखकर अभिनय को कौशल मानकर इस कला में निपुण होने का प्रण लिया। उमेश मेहरा की फिल्म **'हमारे तुम्हारे'** में उन्हें छोटी मगर महत्वपूर्ण भूमिका मिली। संजीव कुमार तथा राखी की प्रमुख भूमिकाओं वाली इस फिल्म में लोगों ने उनकी मौजूदगी को महसूस किया। इसके बाद अगली फिल्म **'वो सात दिन'** में उन्हें प्रमुख भूमिका मिली, राजकपूर की शैली वाले भोले, अनपढ़, देहाती संगीतकार, जो फिल्मों में संगीत निर्देशक बनने की तमन्ना लेकर महानगर में आता है। इस फिल्म में स्वाभाविक एवं सहज अभिनय के बाद उन्हें यश चोपड़ा की **'मशाल'** मिली। इस फिल्म में वे अपने प्रिय एवं आदर्श अभिनेता दिलीप कुमार के साथ आए। दिलीप साहब की शैली की नकल का आरोप भी बाद में उन पर लगाया गया मगर अनिल ने आरोप लगाने वालों को करारा जवाब देते हुए कहा— 'अमिताभ से लेकर सभी हिन्दी फिल्मों के हीरो दिलीप कुमार की नकल करते हैं। मैं भी करता हूँ तो बुरा क्या है।' दिलीप साहब को एक संस्था के रूप में स्वीकार करने वाले अनिल की विशेषता उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा है। इसी प्रतिभा ने उन्हें मेहनत का महत्व सिखाया तथा हर चुनौती से जूझने की हिम्मत दी। एम.एस. सथ्यू की फिल्म 'कहाँ-कहाँ से गुजर गया' को अपनी सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में एक मानते हुए वे कहते हैं कि इस फिल्म में मुझे ऐसा लगा ही

**अमिताभ बच्चन द्वारा राजमार्ग से परे चले जाने के बाद हिन्दी फिल्मों के आकाश में सिर्फ अनिल कपूर अकेले सूरज के रूप में शेष हैं, जिनसे पूरी फिल्मी दुनिया जगमगा सकती है। धर्मेन्द्र, राजेश खन्ना, विनोद खन्ना, शत्रुघ्न सिन्हा, राज बब्बर का ज्वार उतार पर है। नई पीढ़ी के नायकों में भरोसेमंद कोई नहीं है। संजय दत्त के भाव भले ही ऊँचे जा रहे हों, ऊँचे अभिनय के 'रेंज' वाले अभिनेता वे नहीं हैं। ऐसे में सबकी नजरें सिर्फ अनिल कपूर पर टिकी हैं, जो सिनेमा को इक्कीसवीं सदी में ले जाने की क्षमता रखते हैं।**



रेखांकन : जफर मोहम्मद

नहीं कि मैं अभिनय कर रहा हूँ। मैं तो स्वयं को पात्र समझने लगा था। अनिल को यह स्वीकार करने में तनिक भी झिझक नहीं है कि 'लैला' में उनका प्रदर्शन निहायत घटिया था। एक साक्षात्कार में उन्होंने यह स्वीकारोक्ति करते हुए कहा था— 'सावन कुमार टाक की इस फिल्म में मेरा अभिनय बेहद कमजोर था। मैं इसका दोष किसी पर थोपना नहीं चाहता।' अपनी गलतियों को वे जितने खुले दिल से स्वीकार करते हैं, उतने ही खुले दिल से यह भी कहते हैं कि जोखिम उठाने से डरना उनका स्वभाव नहीं है। उनके अनुसार जो अभिनेता जोखिम उठाने से डरेगा उसका अभिनय ठहरे हुए पानी जैसा स्थिर हो जाएगा। इसीलिए 'वो सात दिन' से लेकर 'रूप की रानी चोरों का राजा' तक वे निरंतर नए किस्म के पात्रों को जीवंत करने का प्रयास कर रहे हैं। यथार्थ को बेहिचक स्वीकार करने की उनकी प्रवृत्ति तो है ही साथ ही वे अच्छे अभिनय को बॉक्स ऑफिस की सफ़लता की गारंटी भी नहीं मानते हैं। 'साहेब' उनके उत्तम अभिनय के बावजूद पिट गई। 'इतिहास', 'लव मैरिज', 'युद्ध', 'अंदर बाहर' तथा 'प्यार किया है प्यार करेंगे' भी जैसी चाहिए वैसी नहीं चल पाई।

इसके बाद सफलता का दौर शुरू हुआ। 'मोहब्बत' का रोमांटिक नायक। 'इंसाफ की आवाज' का एंग्री यंग मेन। इसके बाद आई 'मिस्टर इंडिया'। सलीम-जावेद ने यह कहानी अमिताभ को मुख्य भूमिका में रखकर लिखी थी, मगर उनको लेकर शूटिंग शुरू नहीं हो पाई। निर्माता बोनी कपूर ने धूल खा रही पटकथा उठाई तथा निर्देशक शेखर कपूर को थमा दी। अनिल कपूर नायक तथा श्रीदेवी नायिका चुनी गई। अनिल की यह सबसे कठिन परीक्षा थी। सुपर मेगा स्टार के लिए लिखी गई पटकथा, दक्षिण तथा उत्तर की सुपर नायिका के साथ मुख्य भूमिका करना तगड़ी चुनौती थी। मध्यम दर्जे के नायक के रूप में प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया से गुजर रहे अनिल कपूर ने इस चुनौती को अवसर माना तथा पूरी निष्ठा तथा एकाग्रता से काम किया। फिल्म सुपर हिट रही तथा अनिल सुपर स्टार बन गए। बच्चों तथा बालिकाओं के प्रिय सितारे।

सुपर स्टार बनना बिल्ली के भाग्य से छींका टूटने जैसा अप्रत्याशित प्रसंग नहीं था। यह तो वर्षों की तपस्या के बाद मिला पहला फल था। इसके बाद सुभाष घई की कर्मा, एन. चंद्रा की तेजाब, के. विश्वनाथ की ईश्वर, सुभाष घई की 'रामलखन', डी. रामानायडू की 'रखवाला' हिट होती गई। अनिल कपूर को बॉक्स ऑफिस सफलता की गारंटी माना जाने लगा।

इसके बाद अनिल कपूर ने अपनी सर्वतोमुखी, श्रमजन्य प्रतिभा को नया मोड़ दिया। पुरानी, स्थापित सारी छवियों को तोड़कर के. विश्वनाथ की ईश्वर में उन्होंने अभिनय की नई शैली को गढ़ा। मूलतः तेलुगु भाषा में निर्मित हुई इस फिल्म के मूल संस्करण के नायक कमल हासन थे। इस महानायक के अभिनय स्तर तक पहुँच पाना आसान रास्ता नहीं था। अनिल कपूर ने अपनी पहचान भूलकर खुद को के. विश्वनाथ के हाथों में सौंप दिया। जब तक फिल्म की शूटिंग चली उन्होंने माँस नहीं खाया तथा आत्मिक शुद्धि के लिए हरसंभव उपाय करते रहे। मन, वचन तथा कर्म से सात्विक होने के उनके प्रयास सफल रहे तथा 'ईश्वर' अनिल के अभिनय कैरियर का नया मोड़ सिद्ध हुई। ईश्वर में अपने अभिनय पर राजकपूर के प्रभाव का जिक्र करते हुए उन्होंने एक साक्षात्कार में स्पष्ट किया था कि यह फिल्म राजकपूर स्वयं बनाना चाहते थे तथा इस बात की जानकारी के. विश्वनाथ को थी। इसीलिए हो सकता है कि लोगों ने उनके अभिनय में राजकपूर की शैली को पाया हो। वैसे सभी महान अभिनेताओं से कुछ न कुछ सीखने की बात स्वीकारने वाले अनिल ने अपने अनुभव से यह भी सीखा कि किसी की मात्र नकल भर करने से महान नहीं बना जा सकता। सच्चा अभिनेता विश्वसनीय लगने वाला आम आदमी ही बन सकता है। सुपरमेन या महाबली भीम की छवि बना लेने भर से काम नहीं चलता। इसी प्रकार पूरी तरह से एंग्री यंग मेन होने का जमाना भी लद चुका है। अभिनेता का गुस्सा तर्क तथा विवेक से नियंत्रित होना चाहिए। लोगों की





*अनिल कपूर और विजयेता पंडित फिल्म मोहब्बत*

रुचियाँ तथा पसंद सदा समान नहीं रहती, उनमें बदलाव आता है। इसी बदलाव को समझ पाने वाला अभिनेता ही सुपर स्टार बन सकता है। कोई एक अभिनेता हमेशा सुपर स्टार बना भी नहीं रहेगा। हर दशक में दर्शक नए सुपर सितारों को बनाते हैं तथा पुरानों को भूलने लगते हैं।

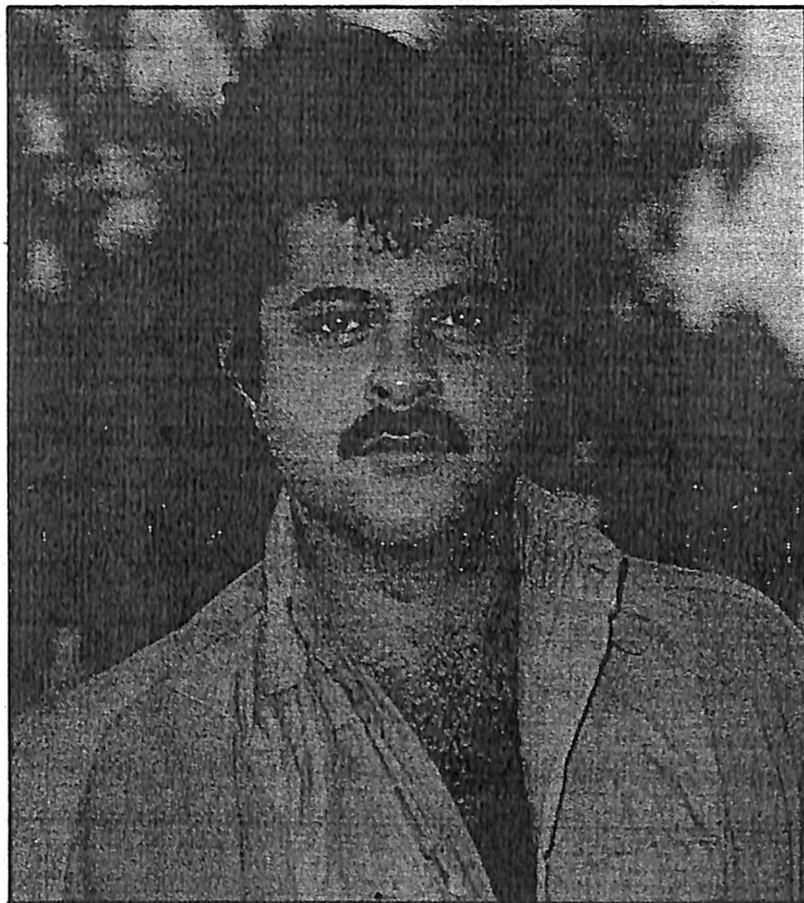
शायद इसीलिए जब अमिताभ का कैरियर ढलान पर था तब नंबर-वन सुपर हीरो के लिए सर्वाधिक चर्चित नाम **अनिल कपूर** का रहता था। हर किस्म की भूमिका को सहज ढंग से निभा सकने की उनकी क्षमता, भाव प्रदान मुद्राओं, हमउम्र युवाओं का दिल जीतने की उनकी काबिलियत 'रामलखन' से ही सिद्ध हो गई थी। उन पर फिल्माया गया गीत 'माय नेम इज लखन' सुपर हिट रहा। इसकी लोकप्रियता की टक्कर में आने वाला गीत 'एक दो तीन' भी उन्हीं पर फिल्म तेजाब में फिल्माया गया था। 'ईश्वर' तथा 'परिन्दा' में उनके अभिनय ने गंभीरता की ऊँचाइयों को छुआ था। परिन्दा में तो वे एक परिपक्व अभिनेता बन चुके थे। अपने समय के सभी शीर्षस्थ निर्देशकों के साथ काम कर वे अभिनय की सूक्ष्मताओं को आत्मसात कर चुके थे।

इतना होने के बावजूद वे स्वयं को अभिनय की पाठशाला का छात्र ही मानते हैं। जब उनसे पूछा गया कि क्या आप सुपर स्टार होने के रास्ते पर बढ़ रहे हैं, तब उनका उत्तर था— 'लोग क्या कहते हैं इसका निर्णय आप स्वयं नहीं कर सकते। लोग कहते हैं कि मैं 'टॉप' पर हूँ मगर मैं जानता हूँ कि मेरी परीक्षा ली जा रही है। अभिनेता हमेशा छात्र रहता है तथा दर्शक उसकी परीक्षा लेते रहते हैं। हर नई फिल्म के प्रदर्शन पर मैं उत्सुकता से प्रतीक्षा करता हूँ कि दर्शकों ने कितने नंबर दिए। मैंने ग्लेमर पर कभी ध्यान नहीं दिया। खुद को किसी खास छवि में कैद करने की कोशिश नहीं की। यदि ऐसा करता तब शायद ''ईश्वर' जैसी फिल्म में मानसिक रूप से पिछड़े हुए युवक की भूमिका न करता।'

सुखी पारिवारिक जीवन बिताने वाले अनिल कपूर अपने बारे में प्रकाशित किस्सों से विचलित हुए बिना अपनी मंजिल की ओर बढ़ते रहे हैं। 'ठिकाना' की असफलता को लेकर उनमें एवं महेश भट्ट के बीच दरार डालने की कोशिश भी की गई थी। व्यक्तिगत आलोचनाओं का तो वे सार्वजनिक उत्तर कभी नहीं देते। यदि रचनात्मक आलोचना हो रही हो तब वे अपना पक्ष सटीक ढंग से रखते हैं। 'ठिकाना' तथा 'काश' की बॉक्स ऑफिस असफलता को लेकर जब काफी कुछ कहा गया तब उनकी प्रतिक्रिया थी— 'मुझे समझ नहीं आता कि उत्कृष्टता का पैमाना 'अर्थ' और 'सारांश' को क्यों मान लिया जाता है। मेरी नई फिल्मों की पुरानी फिल्मों से तुलना क्यों की जाती है। जिन फिल्मों को आज वे महान कह रहे हैं जब वे प्रदर्शित हुई थीं तब उन्हें भी सामान्य कहा गया था। 'सारांश' तथा 'अर्थ' को प्रदर्शन के समय किसी ने महान नहीं कहा था। शायद यही हमारे आलोचकों की शैली है कि वे पुराने को नए से बेहतर मानते हैं।'

नए को पुराने से बेहतर मानने वाले इस अभिनेता ने गंभीर भूमिकाओं से लेकर हास्य भूमिकाएँ तक सहज और स्वाभाविक रूप से निभाई हैं। यह सहजता उन्हें सहज ही नहीं मिली। सहज अभिनय के लिए वर्षों का कठोर परिश्रम तथा सफलता की गहरी ललक उनकी प्रेरणा तथा शक्ति रही है।

● **समीक्षक**

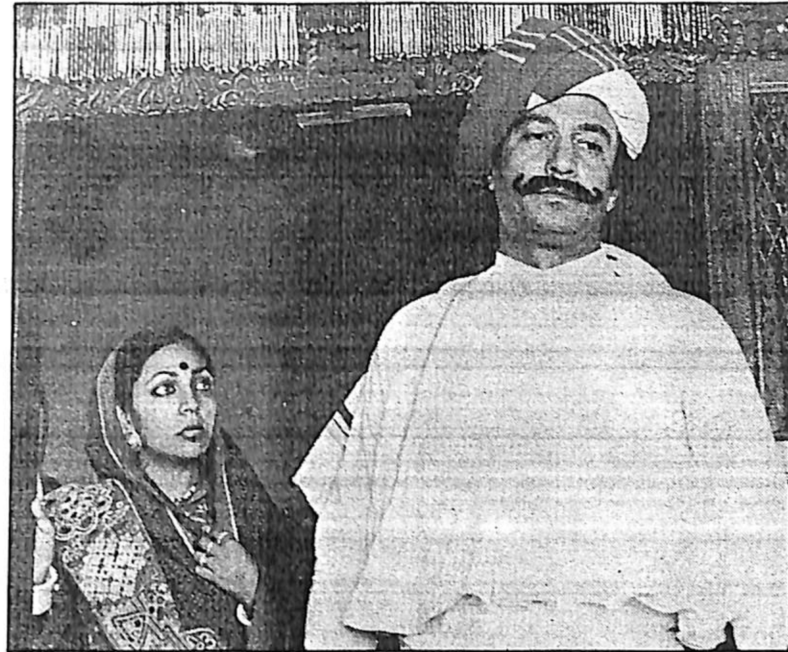


□ **प्रमुख फिल्में** □ हमारे तुम्हारे (१९७९) □ एक बार कहो (१९८०) □ शक्ति (१९८२) □ वो सात दिन (१९८३) □ अंदर बाहर/लैला/ लव मैरेज/ मशाल (१९८४) □ मेरी जंग/ मोहब्बत/ युद्ध/ साहेब (१९८५) □ आपके साथ/ चमेली की शादी/ इंसाफ की आवाज/ जाँबाज/ कहाँ-कहाँ से गुजर गया/ कर्मा/ प्यार का सिंदूर (१९८६) □ हिफाजत/ इतिहास/ मि. इंडिया/ ठिकाना (१९८७) □ कसम/ राम अवतार/ इंतकाम/ तेजाब/ विजय/ ईश्वर (१९८८), □ जोशीले/ कालाबाजार/ परिन्दा/ राम लखन (१९८९) □ किशन कन्हैया/ आवारगी/ जीवन एक संघर्ष/ अम्बा (१९९०) □ जमाई राजा/प्रतिकार/ जिगरवाला/ लम्हे (१९९१) □ बेटा/ जिंदगी एक जूआ/ हमला (१९९२)।

● **प्रस्तुति : आदर्श गर्ग**

खण्ड-३

चरित्र नायक



*फिल्म मिर्च मसाला में सुरेश ओबेराय- दीप्ति नवल*

सुरेश ओबेराय में बस यही एक ऐब है, कि उनमें कोई ऐब नहीं।आकर्षक व्यक्तित्व, अच्छी सूरत, असरदार आवाज और नैसर्गिक अभिनय प्रतिभा। हीरो बनने के लिए भला और क्या कुछ चाहिए? लेकिन इन तमाम

# सुरेश ओबेराय

● राहुल शर्मा

गुणों के बावजूद सुरेश ओबेराय फिल्मी परदे पर १०-१५ साल गुजारने के बावजूद कलाकारों की भीड़ में आज भी हाशिए पर चल रहे हैं जबकि उनसे दोयम दरजे के कलाकार उन्हें पीछे छोड़ चुके हैं।

क्वेटा (पाकिस्तान) में जन्मे सुरेश ओबेराय ने अपना फिल्मी कैरियर 'क्लैपर बॉय' की हैसियत से शुरू किया था। पढ़ाई में अव्वल रहने के बावजूद अदाकारी की ओर रुझान के कारण उन्होंने पूना फिल्म संस्थान में दाखिला ले लिया। प्रशिक्षण लेकर निकले तो मॉडलिंग करने लगे। इसी दौरान उन्हें विनोद पांडे की फिल्म **'एक बार फिर'** में नायक की भूमिका मिल गई। वयस्क प्रेम पर आधारित यह फिल्म अभिजात्य दर्शकों ने काफी पसंद की। सुरेश प्रशंसा का केंद्र बन गए। इसके बाद 'श्रद्धांजलि' और 'तुम्हारे बिना' फिल्मों में सुरेश ओबेराय ने सबको प्रभावित किया। खास तौर पर 'श्रद्धांजलि' में राखी जैसी समर्थ अभिनेत्री के सामने वे हावी रहे। श्रद्धांजलि में यादगार अभिनय के लिए सुरेश को काफी पुरस्कार भी मिले।

अत्यंत प्रभावशाली उपस्थिति दर्ज कराने के बावजूद व्यावसायिक सिनेमा वालों ने सुरेश की खबर नहीं ली। यदा-कदा 'कानून क्या करेगा/ कुली/ मजदूर/ घुंघरू/ तेजाब/ दाता आदि फिल्मों में जो भूमिकाएँ मिली थीं, वो सब इंस्पेक्टर छाप महत्वहीन रोल थे। नतीजतन सुरेश ओबेराय हीरो बनने की बजाए चरित्र अभिनेता की शक्ल में ढलते गए। परिस्थितियों के आगे विवश होकर वह सिर्फ उचित अवसर की प्रतीक्षा ही कर सकते थे। इसी बीच केतन मेहता की चर्चित फिल्म **'मिर्च मसाला'** में उन्हें एक संभावनापूर्ण भूमिका मिली। इस अवसर का भरपूर फायदा उठाने की कोशिश में सुरेश ने अपनी सारी प्रतिभा झौंक दी। एक बार फिर 'मिर्च मसाला' के लिए उन्हें अवार्ड तो मिले, लेकिन व्यावसायिक कामयाबी हाथ नहीं लगी।

'मिर्च मसाला' के साथ सुरेश ओबेराय ने एक अन्य फिल्म 'कालचक्र' में अपने अभिनय का जौहर दिखाया था। इस फिल्म में उनकी अपराध विरोधी भूमिका ने इतना असर छोड़ा कि कुछ गुंडे इससे खीज कर सुरेश को धमकाने जा पहुँचे थे। सुरेश ओबेराय ने एक अँगरेजी फिल्म 'मानेका' में भी काम किया है। इतनी प्रभावी कलायात्रा के बावजूद सुरेश लोकप्रियता की वो मंजिल प्राप्त करने में असफल रहे, जिसके कि वे हकदार हैं।

□ **प्रमुख फिल्में :** □ एक बार फिर (१९८०) □ विधाता (१९८२) □ कुली/ मजदूर/ रिश्ता कागज का (१९८३) □ आवाज/ आगमन/ एक दिन बहू का/ घर एक मंदिर (१९८४) □ बेपनाह/ गृहस्थी/ जवाब/ सुर्खियाँ (१९८५) □ पंचवटी (१९८६) □ ठिकाना (१९८७) □ कालचक्र/मुल्जिम/ शूरवीर (१९८८) □ परिंदा/ रखवाला (१९८९) □ आज का अर्जुन (१९९०) □ इंदिरा/ इंस्पेक्टर धनुष/ प्यार का देवता (१९९१)। ■



मदनपुरी

## ६०० फिल्में

मदनपुरी ने दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए. करने के बाद शिमला और कलकत्ता में कुछ वर्षों तक सरकारी नौकरी की। मार्च १९४५ में फिल्मी दुनिया में किस्मत आजमाने के लिए बंबई चले आए। बड़े भाई चमनपुरी फिल्मों में थे। इसलिए उनकी सहायता मिलती रही। फिल्म 'उमर खैयाम' में वे पहली बार पर्दे पर आए। फिल्म के नायक के.एल. सहगल थे। इसके बाद अगली फिल्म उन्हें मिली, माया आर्ट प्रोडक्शन की "कुलदीप।" इसमें वे नायक के रूप में आए। नायिका थी विजय मोहिनी। इस प्रकार १९४५ में १९४८ तक वे नायक के तौर पर पर्दे पर आते रहे। खलनायक के रूप में उनकी पहली फिल्म 'विद्या' थी। जिसमें नायक देवआनंदऔरनायिका सुरैया थी। इन्हीं दोनों के साथ खलनायक बन वे १९४९ में फिल्म 'जीत' में आए। सौ से भी अधिक फिल्मों में खलनायक बनने वाले इस कलाकार ने कई फिल्मों में चरित्र अभिनेता के रूप में अपनी उत्कृष्ट अभिनय क्षमता का परिचय दिया है। फिल्म 'पूरब-पश्चिम' में उनकी यह अभिनय क्षमता पूरे उत्कर्ष पर रही।

गजानन जागीरदार

## प्रथम प्राचार्य

गजानन जागीरदार का नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है। भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान के प्रथम प्राचार्य जागीरदार को अभिनय, फिल्म निर्माण तथा प्रशिक्षण के क्षेत्र में उनकी महती सेवाओं के लिए भुलाया नहीं जा सकता। करीब छः दशकों तक फिल्म जगत से जुड़े रहने वाले गजानन मूलतः शिक्षा शास्त्रियों के परिवार से संबंध रखते थे। स्वयं उन्होंने भी उच्च शिक्षा प्राप्त की। लेकिन अभिनय उनका पहला प्यार था। लिहाजा एम.ए.की परीक्षा में बैठते वक्त गजानन ने सोचा कि जब उन्हें अभिनेता ही बनना है, यूनीवर्सिटी की एक डिग्री क्यों जाया की जाए। वह परीक्षा कक्ष का रुख करने की बजाए रजतपट की ओर मुड़ गए। हरीन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय के सान्निध्य में रह कर अभिनय तथा फिल्म निर्माण की बारीकियाँ सीखने लगे। उन्होंने **भालजी पेंढारकर** और **वी.शांताराम** जैसे निर्देशकों के साथ बतौर सहायक काम करना शुरू कर दिया।

गजानन को अभिनय का पहला मौका वी.शांताराम ने अपनी फिल्म **'जलती निशानी'** में दिया। इसके पीछे एक दिलचस्प कहानी है। हुआ यों की फिल्म में एक मुस्लिम सौदागर की भूमिका निभाने वाला कलाकार 'उन्नीस' शब्द का उच्चारण सही नहीं कर पा रहा था। झल्लाकर शांताराम ने जागीरदार से यह पात्र निभाने का अनुरोध किया। गजानन

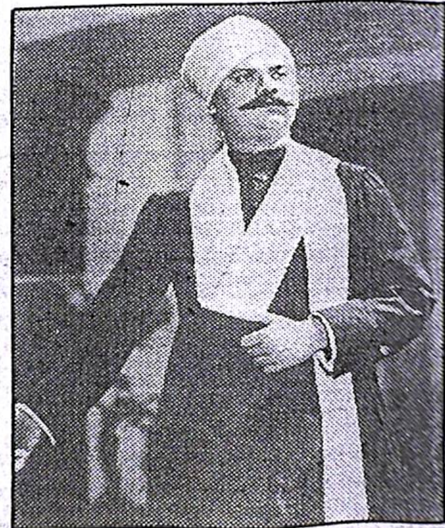


इस फिल्म के लिए संवाद लिख रहे थे। उच्चारण में उन्हें महारत हासिल थी। न केवल वह 'उन्नीस' शब्द बोलने में 'इक्कीस' साबित हुए, बल्कि मात्र २३ वर्ष की आयु में एक सत्तर वर्षीय बूढ़े की भूमिका चमत्कारिक ढंग से निभा कर उन्होंनेअभिनय की धाक भी जमा दी। इसके बाद गजानन को मिनर्वा मूवीटोन की **मीठा जहर** (१९३७) और **'तलाक'** (१९३९) में काम मिला। लेकिन इन दोनों फिल्मों से उन्हें खास लाभ नहीं हुआ। इसी बीच उनकी एक फिल्म 'बैरम खान' हिन्दू-मुस्लिम दंगों के कारण अपेक्षित सफलता अर्जित नहीं कर सकी। १९४१ में वी. शांताराम द्वारा निर्देशित **'पड़ोसी'** गजानन जागीरदार के अभिनय जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण फिल्म मानी जाती है। इसमें उन्होंने एक मुस्लिम पात्र की यादगार भूमिका की। इसके लिए उन्हें 'बंगाल फिल्म पत्रकार संघ' द्वारा सर्वश्रेष्ठ अभिनेता के सम्मान से पुरस्कृत किया गया था। अभिनय के साथ गजानन ने काफी कम आयु से ही निर्देशन का बीड़ा उठा लिया था। 'सिंहासन' (१९३४) बतौर निर्देशक उनकी पहली फिल्म थी। उनके द्वारा निर्देशित अन्य फिल्मों में 'राम शास्त्री' चर्चित रही।१९४४ में बनी इस फिल्म को श्रेष्ठ निर्देशन व अभिनय के लिए पुरस्कार मिला। गजानन ने फिल्म में निर्देशन के अलावा 'राम शास्त्री' की मुख्य भूमिका भी स्वयं निभाई थी। १९६१ में 'शाहीर परशुराम' फिल्म के लिए वे सर्वश्रेष्ठ चरित्र अभिनेता घोषित किए गए। इसी दौरान प्रभात फिल्म कंपनी ने उन्हें लोकमान्य तिलक की भूमिका के लिए चुना, लेकिन किन्हीं कारणों से इस फिल्म का निर्माण संभव नहीं हो सका।

गजानन जागीरदार की वरिष्ठ सेवाओं को देखते हुए उन्हें १९६० में भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन प्रशिक्षण संस्थान का प्रथम निदेशक नियुक्त किया गया। लेकिन इस पद पर वे सिर्फ डेढ़ वर्ष तक ही काम कर सके। सरकार से मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। दरअसल कार्यकाल के दौरान उन्हें एक्टिंग की इजाजत नहीं थी, और जागीरदार अधिक दिनों तक यह बंधन बर्दाश्त नहीं कर पाए। पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण गजानन की मूल प्रवृत्ति एक अध्येता की होने से फिल्म संबंधी कई पुस्तकें भी लिखी। इनमें 'दि मेजिक सर्कल अ गाइड टू फिल्म कैरियर' फिल्म प्रशिक्षण की काफी प्रामाणिक किताब मानी जाती है। उनकी आत्मकथा एक विलक्षण फिल्मकार का प्रेरणास्पद दस्तावेज है।

## बाबूराव पेंढारकर

जनवरी १९४४ का पहला शनिवार। अभिनेता मोतीलाल की सफेद भारी-भरकम खुली 'पैकर्ड' कार में उनके और अभिनेत्री लीला देसाई के अलावा मैं भी सवार था। पीछे 'बाक्स' में बैठा था उनका ड्राइवर। पश्चिमी घाट के दो सौ किलोमीटर लंबे साफ-सुथरे मुंबई-पुणे मार्ग पर 'पैकर्ड' हवा से बातें कर रही थी। पुणे रेस-कोर्स तक पहुँचने की जल्दी जो थी। कारण था मोती भाई का घोड़ा जिसका नाम उन्होंने बहुत ही सोच-समझ कर 'ट्रेटर' रखा था, आज



पहली बार मर्तबा घुड़दौड़ में शिरकत करने वाला था। वहीं बैठे-बैठे दोनों में हार-जीत की शर्त भी हो गई पांच-पांच हजार रुपए की। मोतीलाल का कहना था कि ट्रेटर कभी जीत ही नहीं सकता, जबकि लीला देसाई को पूरा यकीन था उसके अव्वल आने का। बाद में मोतीलाल ही विजयी हुए, जो उनके जीवन की पहली और अंतिम जीत थी।

तभी उस हरे-भरे जंगली इलाके में खंडाला पहाड़ियों के निकट मोती भाई की नजर पड़ी सड़क के किनारे खड़ी एक पुरानी कार पर, जिसमें उस जमाने के मशहूर अभिनेता **बाबूराव पेंढारकर** और प्रकाश पिक्चर्स की हीरोइन रत्नमाला पुणे तक सफर कर रहे थे। लेकिन, अचानक रास्ते में गाड़ी खराब हो जाने से वे काफी परेशान नजर आए। मोतीलाल ने अपने ड्राइवर के हवाले की उनकी गाड़ी इस हिदायत के साथ कि वह उसे चालू हालत में लाकर सीधा बंबई वापस लौटे और मुकम्मिल मरम्मत के लिए वहीं गैरिज में दे दे। फिर दोनों को अपने साथ 'पैकर्ड' में सवार कर के यथा-समय उन्हें उतारा ३८, शंकर सेठ रोड, पुणे स्थित नवयुग चित्रपट स्टूडियो में।

मेरी दिली मुराद पूरी हुई। अर्से-दराज से बाबूराव पेंढारकर से मिलने की तमन्ना जो थी। इस परिचय के बाद तो उनसे बंबई, पुणे, महाबलेश्वर, कोल्हापुर में कई बार मिला। निर्माता-निर्देशक वी. शांताराम के सगे मौसेरे भाई थे बाबूराव पेंढारकर। भारतीय फिल्म जगत में वर्षों तक उनका विशेष स्थान रहा। हिन्दी-मराठी सिने-जगत को अनेक लेखक, निर्देशक, कलाकार दिए। वे थे भी उच्च कोटि के अभिनेता। उनका रंगमंच से विशेष लगाव रहा और अंतिम साँसों तक उससे जुड़े भी रहे। अक्सर कहते भी थे कि ड्रामों में अभिनय के लिए अधिक गुंजाइश है। वहाँ मेहनत भी अधिक करनी पड़ती है और दर्शकों की प्रतिक्रिया भी आसानी से देखी जा सकती है।

सन् १९३७ में इटावा की नुमाइश में एक फिल्म देखी थी 'धर्मवीर'। इसमें बाबूराव पेंढारकर की अविस्मरणीय भूमिका आज पचपन वर्ष बाद के बदले हुए माहौल में भी ज्यों-की-त्यों जीवित हो उठती है। उन्होंने समाज के एक ऐसे लम्पट, धोखेबाज नेता की भूमिका अदा की थी, जो जनता के बीच तो पवित्रता का ढोंग रचाकर केवल गंगाजल पीता था, लेकिन रात की गहरी खामोशियों में बस रंगरेलियों और व्हिस्की के दायरे में ही महदूद रहता था।

इससे पहले सन् १९३६ में हंस पिक्चर्स, कोल्हापुर के बैनर से निर्मित लीला चिटणीस की पहली फिल्म 'छाया' में भी उनकी भूमिका को काफी सराहना मिली। 'देवता' (१९३९) में उन्होंने नायक की भूमिका भी उसी शान से अदा की,लेकिन उन्हें इश्क-जैसा जुनून था तो बस चरित्र अभिनेता से, चाहे ड्रामा हो या सिनेमा।

वैसे तो प्रभात की 'रामशास्त्री', शांताराम की 'सेहरा', मेहरा की 'आम्रपाली', सोहराब मोदी की 'झाँसी की रानी', उनकी बेहतरीन फिल्में थीं, लेकिन नवयुग-कृत 'अमृत' (१९४१) में वे अभिनय कला के शिखर पर पहुँचे थे। उनकी भूमिका नायक की थी और ललिता पवार उनकी नायिका थीं। इस चलचित्र में उन्होंने एक देहाती शराबी की भूमिका निभाई थी जिसे हिन्दी रजतपट पर मील का पत्थर माना जाता है।

बाबूराव पेंढारकर के व्यक्तित्व में एक विशेष आकर्षण था, कशिश थी। डायलॉग डिलीवरी में अनोखी खनक थी, बुलंदी थी। चालढाल में शाहाना अंदाज था। चेहरे से मर्दानगी टपकती थी। किन्तु, थे वे व्यक्तिगत जीवन में निहायत सादगी- पसंद, निष्कपट, प्रचार से कोसों दूर।

उन्होंने अपने अंतिम दिनों में मराठी फिल्मों के इतिहास पर एक पुस्तक भी लिखी थी 'चित्र आणि चरित्र', जिसे मराठी फिल्म संसार में विशेष सम्मान प्राप्त है।

● **धर्मेन्द्र गौड़**



*आग और पानी एक साथ : प्राण तथा हंगल*

## ए.के. हंगल
# सादगी भरा अभिनय

ए.के. हंगल अब तक दो सैकड़ा से भी अधिक फिल्मों में काम कर चुके हैं। उनका परिवार काश्मीर से आकर लखनऊ में बसा था। नाटकों तथा संगीत के प्रति उनका लगाव बचपन से ही था। परिवार की इच्छा के विरुद्ध उन्होंने टेलरिंग के कामं को अपना व्यवसाय बनाया और कराची में आकर रहने लगे। विभाजन के बाद सन् १९४९ में वे बंबई आए और चर्च गेट के पास दर्जी की दुकान पर ६०० रु. माहवार पर कपड़े काटने का काम करने लगे। नाटकों के प्रति लगाव ने इन्हें बंबई में 'इंडियन पीपुल्स थिएटर्स' से जोड़ा। १९५० में 'वसीयतनामे' नाटक की प्रस्तुति के बाद से अब तक वे 'इप्टा' की ३० से अधिक प्रस्तुतियों में भाग ले चुके हैं। वे नाटक लिखते भी हैं और निर्देशन का काम भी करते हैं। साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हंगल की फिल्मों में 'शोले', 'कोरा कागज', 'शौकीन' तथा 'बावर्ची' हैं। दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक 'तमस' में भी उनकी भूमिका बहुत सराही गई थी। हंगल की विशेषता उनका पोपला चेहरा और उसमें से निकली घुटी हुई आवाज शब्दों को एक विशेष अर्थ देती है। गंजा सिर और स्वाभाविक अभिनय के बलबूते पर वे प्रत्येक किरदार को जीवंत बनाने में माहिर हैं।

# कुलभूषण खरबंदा

कुलभूषण खरबंदा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की देन हैं। दिल्ली छोड़कर वे एक नौकरी के सिलसिले में कलकत्ता पहुँचे और वहाँ विजय तेंदुलकर के हिंदी नाटक **'सखाराम बाइंडर'** में नायक के रूप में अभिनय कर काफी चर्चित हुए। नाटक के नायक की भूमिका काफी विवादास्पद थी। भारतीय मानसिकता के अनुसार कुछ अनैतिक भी। नाटक तो सफल रहा किंतु विवादास्पद होने के कारण उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया। इसी दौरान श्याम बेनेगल की नजर उन पर पड़ी और वे फिल्म **'निशांत'** में एक महत्वपूर्ण भूमिका के लिए चुन लिए गए। इसके बाद श्याम बेनेगल की ही अगली फिल्म 'मंथन' और 'जुनून' में अपनी अभिनय प्रतिभा को पूरी तरह से सिद्ध कर दिया। गिरीश कर्नाड की फिल्म 'गोधूलि' में वे नायक बनकर आए और उसके बाद व्यावसायिक फिल्मों से जुड़े। रमेश सिप्पी की फिल्म **'शान'** में खलनायक के



रूप में उनका अभिनय काफी चर्चित रहा। यद्यपि यह फिल्म फ्लॉप हो गई किंतु कुलभूषण के पास खलनायक के रूप में काम करने के कई प्रस्ताव आए। उन्होंने खलनायक की छवि में स्वयं को सीमित करने से इंकार कर दिया। यश चोपड़ा ने अपनी फिल्म 'नाखुदा' में उन्हें केंद्रीय भूमिका दी। यह फिल्म भी फ्लॉप हो गई, मगर कुलभूषण का अभिनय सभी ने सराहा। इसके बाद वे 'स्वामी दादा/ शक्ति/ प्रेम रोग' आदि फिल्मों में आए। महेश भट्ट ने अपनी फिल्म 'अर्थ' में कुलभूषण को नायक बनाया तथा उनकी नायिकाओं के रूप में शबाना तथा स्मिता जैसी सशक्त अभिनेत्रियों को लिया। यह फिल्म सफल हुई, मगर सारा श्रेय शबाना और स्मिता को मिला। 'राम तेरी गंगा मैली/ गुलामी/ अंधी गली/ तेरे शहर में' आदि उनकी बाद की प्रमुख फिल्में हैं। सच पूछा जाए तो कुलभूषण खरबंदा की प्रतिभा को उभरने का सही अवसर अब तक नहीं मिल पाया है। ● **सरला**

■ **प्रमुख फिल्में :** □ गोधूलि (१९७९) □ शान (१९८०) □ चक्र/ बुलंदी/ कलयुग/ नाखुदा (१९८१) □ शक्ति/ स्वामी दादा (१९८२) □ अर्थ/ एक बार चले आओ (१९८३) □ अंधी गली/ गिरफ्तार/ गुलामी/ राम तेरी गंगा मैली/ उत्सव (१९८५) □ एक चादर मैली सी/ जाँबाज/ न्यू दिल्ली टाइम्स (१९८६) □ उत्तर-दक्षिण (१९८७) □ त्रिकाल/ वारिस (१९८८) □ बँटवारा/ जोशीले (१९८९) □ फरिश्ते/ हिना/ विष्णु देवा (१९९१)। ■

**चरित्र नायकों की चौखट**

*यहाँ प्रकाशित चरित्र नायकों की यह सूची संपूर्ण नहीं है। अतीत में दूर तलक जाने और अंधेरे में खोए चेहरे तलाशने की वजह से कुछ ताजे चेहरे छूट गए हैं। उनके प्रति किसी प्रकार का उपेक्षा भाव नहीं है। विशेषांक की फ्रेम में ये प्रतिनिधि चेहरे बनकर सामने आते हैं।* -सं.

रेहमान

## अभिजात्य नायक

अफगानिस्तान के शाही खानदान से जुड़े **रेहमान** का जन्म १९२३ में लाहौर में हुआ था। बाद में पिता सरदार अब्दुल रेहमान जबलपुर आकर बस गए। वहाँ के रार्बटसन कॉलेज में रेहमान की शिक्षा हुई। इसी दौरान स्वाधीनता आंदोलन में भाग लेने की वजह से वे जेल भी गए। बाद में उन्होंने



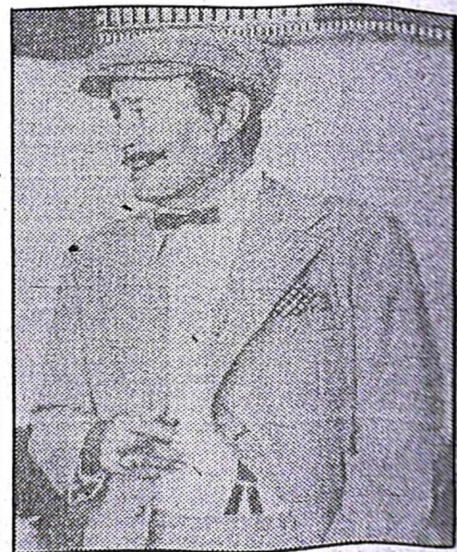
तीन वर्षों तक वायुसेना में नौकरी की। अभिनय के प्रति झुकाव के कारण उन्होंने यह नौकरी छोड़ दी। बंबई में वी. शांताराम द्वारा स्थापित फिल्म एकेडमी में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए आ गए। यहाँ उनका काम नहीं बना और उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। सन् १९४६ में पहली बार पी.एल.संतोषी की फिल्म **'हम एक हैं'** में उन्हें एक छोटी-सी भूमिका मिली। इसके बाद फेमस पिक्चर्स की फिल्म **'नरगिस'** में वे नरगिस के साथ नायक बनकर आए। इसके बाद नायक के रूप में 'तोहफा', 'इंतजार के बाद' (१९४७), 'प्यार की जीत' (१९४८), उनकी सफल फिल्में रहीं। मीनाकुमारी/गीताबाली/ मुनव्वर सुलताना/नलिनी जयवंत/सुरैया/मधुबाला के साथ वे कई फिल्मों में नायक बने। रेहमान ने स्वयं को कभी स्टार नहीं माना। फिल्मी दुनिया की चमक-दमक से अलग वे किताबें पढ़ने/ शतरंज खेलने/ बढ़िया भोजन करने में ही अपना वक्त गुजारना पसंद करते रहे। चरित्र अभिनेता के रूप में उन्होंने 'चौदहवीं का चाँद'/ 'प्यासा'/ 'धर्मपुत्र'/ 'वक्त'/ 'पालकी' फिल्मों में अपनी सशक्त अभिनय प्रतिभा का परिचय दिया। राजश्री परिवार से जुड़े रेहमान हमेशा स्कैंडलों से बचे रहे और फिल्मी चकाचौंध से दूर रहे। ■

इफ्तेखार

## प्रथम पुलिस इन्सपेक्टर

इफ्तेखार का जन्म जालंधर के एक संपन्न मुस्लिम परिवार में हुआ था। इफ्तेखार अहमद को मेट्रिक के बाद विज्ञान की पढ़ाई के लिए लखनऊ भेजा गया। वे चित्रकला तथा संगीत के प्रति बचपन से ही लगाव रखते थे। पढ़ाई के बाद कुछ दिनों तक वे कारखाने में क्लर्क की नौकरी करते रहे। दोस्तों के साथ घूमने के लिए जब वे कलकत्ता गए तब **'हिज मास्टर्स वॉयस'** कंपनी के हिंदुस्तानी संगीत शाखा के प्रभारी पी.के. सेन से मिलने गए। सेन साहब को इफ्तेखार की आवाज ने प्रभावित किया। उन्होंने गाने का निरंतर अभ्यास करने एवं बंगला भाषा सीखने की सलाह दी। कमल दासगुप्ता ने उनका ध्वनि परीक्षण किया। इफ्तेखार के गाए गीतों की ग्रामोफोन रेकार्ड बन गई। स्वर्गीय गुप्ता ने ही उन्हें फिल्मों में आने की सलाह दी। इफ्तेखार को वे विख्यात फिल्म कंपनी 'एम.पी. प्रॉडक्शन' के दफ्तर में ले गए तथा वहाँ उनके कई परीक्षण भी हुए।

इन सब प्रक्रियाओं से गुजर कर जब वे वापस लौटे तब कई दिनों तक इंतजार करते रहे कि कलकत्ते से बुलावा आए। प्रतिक्षा की बेसब्र घड़ियाँ खत्म हुई। उन्हें फिल्म **तकरार** में नायक के तौर पर काम करने के लिए बुलावा मिल गया। नायिका बनीं **जमुना**, जो सहगल के साथ 'देवदास' में अविस्मरणीय भूमिका कर चुकी थी। इस तरह दिसंबर १९४३ से इफ्तेखार की फिल्मी यात्रा शुरू हुई। इसके बाद 'व्यास' तथा 'घर' में भी जमुना ही उनकी नायिका रहीं। 'तुम और मैं' में कानन देवी उनकी नायिका रही। कलकत्ता की फिल्म कंपनियों से अनुबंधित रहने के कारण वे बंबई से मिलने वाले प्रस्ताव लगातार अस्वीकृत करते रहे। इसके बाद देश का विभाजन हुआ। दंगों का दौर शुरू हो गया। इफ्तेखार के पिता ने पाकिस्तान जाना तय किया। बेटा अपने



परिवार के साथ भारत में ही रहने का फैसला कर चुका था। इस फैसले के फौरन बाद ही उन्हें कंपनी से निकाले जाने का नोटिस मिल गया। इफ्तेखार पर मुसीबत का पहाड़ गिर पड़ा। गुजारे के लिए घर का फर्नीचर तक बेचना पड़ा। आखिरकार परिवार को एक दोस्त के घर छोड़कर वे काम की तलाश में बंबई आ गए। इस तरह दिसंबर १९४८ से इफ्तेखार की संघर्ष यात्रा का केंद्र बंबई बना। यहाँ उन्हें पहली फिल्म **लाजवाब** मिली मगर वे सहनायक बने। बंबई में अशोक कुमार ने उनकी बहुत सहायता की। फिल्म 'मुकद्दर' में सहनायक बनाया। इसके बाद रवेल की फिल्म **पतंगा** में भी उन्हें महत्वपूर्ण भूमिका मिली। इसके बाद खलनायकी का दौर शुरू हुआ।

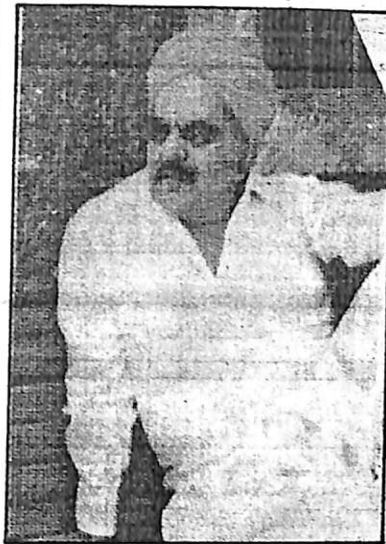
अपने पसंद की भूमिका उन्हें **मिर्जा गालिब** में मिली। बहादुर शाह के रूप में उनका अभिनय अविस्मरणीय रहा। ज्ञान मुखर्जी की फिल्म में वे पहली बार पुलिस इंस्पेक्टर बने तथा इस रूप में कई फिल्मों में आए। बी. आर. चौपड़ा की फिल्म 'इत्तेफाक' में उनका अभिनय उत्कृष्ट रहा। वे बंबई की फिल्मी दुनिया में स्थापित हो गए। इफ्तेखार को हास्यपूर्ण हल्की-फुल्की भूमिकाएँ करना पसंद है। जान हाजिर है तथा 'दुल्हन वही जो पिया मन भाए' में वे मनोरंजक भूमिकाएँ सफलता पूर्वक अदा कर गए। इफ्तेखार की पत्नी हन्ना यहूदी है तथा कलकत्ता में जब वे स्कूली टीचर थी तब इफ्तेखार ने परिवार की इच्छा के विरुद्ध काफी विरोध सहकर विवाह किया था। बंबइया सिनेमा के वे पहले पुलिस इंस्पेक्टर रहे हैं। ■

मनमोहन कृष्ण

## गाता जाए बंजारा

मनमोहन कृष्ण फिल्मों में आने से पहले लाहौर के सरकारी कॉलेज में विज्ञान पढ़ाया करते थे। गायकी उनका शौक था। लाहौर आने पर वी. शांताराम ने उन्हें मंच पर गाते सुना। उन्हें युवक पसंद आ गया तथा शांताराम के निमंत्रण पर वे बंबई गए और 'मतवाला शायर रामजोशी' में प्रमुख भूमिका के लिए चुन लिए गए। सन् १९२२ में पंजाब में जन्मे इस बुद्धिजीवी की शुरूआत कोई खास अच्छी नहीं रही। आजादी के बाद वे बी.आर. चोपड़ा के संपर्क में आए तथा 'शोले' फिल्म में उन्हें महत्वपूर्ण भूमिका मिली। इसके बाद बी.आर. चोपड़ा की लगभग सभी फिल्मों में वे चरित्र अभिनेता के रूप में आते रहे। नया दौर/ साधना/ हमराज/ कानून/ वक्त/ इंसाफ का तराजू तथा धूल का फूल में उन्हें महत्वपूर्ण भूमिकाएँ मिलीं। फिल्म धूल का फूल में अब्दुल चाचा के रूप में उनके सशक्त अभिनय के कारण वे फिल्म फेयर पुरस्कार के हकदार बने।

मनमोहन कृष्ण 'इंडियन पीपुल्स थिएटर्स' से भी जुड़े रहे तथा 'इप्टा' के 'लाल गुलाब की वापसी' एवं 'आखरी शाम' नामक नाटकों



में काम किया। ख्वाजा अहमद अब्बास की 'शहर और सपना' तथा 'परदेसी' में उनकी भूमिकाएँ काफी सराही गई। निर्माता निर्देशक यश चोपड़ा की फिल्म 'नूरी' के निर्देशन से भी वे जुड़े रहे। कहा जाता है कि इस फिल्म का संपूर्ण निर्देशन मनमोहन कृष्ण ने ही किया था। दो सौ अस्सी से भी अधिक फिल्मों में काम करने वाले मनमोहन कृष्ण एक पौराणिक फिल्म 'श्रीकृष्ण भक्ति' में नायक बनकर भी परदे पर आए थे। पढ़े-लिखे बुद्धिवादी और भावुक कलाकार होने के कारण वे फिल्मी दुनिया के तौर तरीकों में खुद को खपा नहीं पाए। अन्याय के विरुद्ध वे सदैव लड़ाई में सक्रिय रहे। उन्होंने 'युवक बिरादरी' नामक एक संस्था की स्थापना की। फिल्म 'धूल का फूल' में उन पर फिल्माया गया गीत— 'तू हिन्दू बनेगा न मुसलमान बनेगा, इंसान की औलाद है इंसान बनेगा' आज भी लोकप्रिय है। इसी प्रकार फिल्म 'रेलवे प्लेटफार्म' में उनके द्वारा गाया गया एवं उन पर फिल्माया गया गीत— 'बस्ती-बस्ती पर्वत-पर्वत गाता जाए बंजारा' हिट रहा। सन् १९५५ में बनी रमेश सहगल द्वारा निर्देशित फिल्म के वे संयुक्त निर्देशक भी थे। मनमोहन कृष्ण को फिल्म उद्योग से वह सम्मान कभी नहीं मिला, जिसके वे वास्तविक हकदार थे।

■ **प्रमुख फिल्में** : □ मतवाला शायर रामजोशी (१९४७) □ हमलोग/ नादान/ फरार (१९५५) □ नया दौर/ परदेसी (१९५७) □ साधना (१९५८) □ धूल का फूल (१९५९) □ कानून/ मासूम (१९६०) □ धर्मपुत्र (१९६१) □ बीस साल बाद (१९६२) □ कोहरा (१९६४) □ खानदान/ शहीद (१९६५) □ उपकार (१९६७) □ आराधना/ जीने की राह/ सत्यकाम (१९६९) □ गीत/ पूरब और पश्चिम (१९७०) □ शोर (१९७२) □ हीरा पन्ना (१९७३) □ आँधी □ दीवार (१९७५)। ● **सरला**

चंद्रशेखर

## डूबते को तिनके का सहारा

**हैदराबाद में जन्मे चंद्रशेखर** को बचपन से ही तमन्ना थी कि फिल्मों में काम करें। यही तमन्ना उसे सन् १९४२ में बंबई खींच लाई। पढ़ाई अधूरी छोड़कर बंबई आए इस युवक को अस्तित्व की लड़ाई में जम कर जूझना पड़ा। जूनियर आर्टिस्ट के रूप में अपने कैरियर की शुरूआत की। शालीमार स्टूडियो में काम करने वाले इस सुंदर, गठीले बदन वाले जवान पर पारखियों की नजर पड़ी। वे नायक के रूप में परदे पर आने लगे। अपने जमाने की सभी विख्यात नायिकाओं के साथ प्रमुख भूमिकाओं में परदे पर आने वाला यह कलाकार स्टार या सुपरस्टार नहीं बना। खास वर्ग के दर्शकों का चहेता कलाकार बन गया। नाच-गानों, मारधाड़ तथा रोमांस से भरी



फिल्मों के नायक के रूप में चंद्रशेखर की पहचान बन गई।

चंद्रशेखर ने फिल्मोद्योग में नई परंपरा भी शुरू की। वे फिल्म निर्माता/ निर्देशक/ लेखक तथा नायक एक साथ बने। **'चा चा चा'** तथा **'स्ट्रीट सिंगर'** उनकी दो फिल्में थीं तथा दोनों ने ही बॉक्स ऑफिस पर अच्छा कारोबार किया। इन फिल्मों के निर्माण के दौरान चंद्रशेखर को इतने अधिक तनाव झेलने पड़े कि उन्होंने फिल्मों का निर्माण करने की कोई कोशिश बाद में नहीं की। वे स्वयं जूनियर कलाकार रह चुके थे, अतः इन कलाकारों की दिक्कतों और समस्याओं को करीब से जानते थे। उन्होंने पुराने भूले-बिसरे कलाकारों तथा नए जूनियर कलाकारों की सहायता के लिए एक संस्था के गठन में अहम् भूमिका निभाई है। करन दीवान, एडी बिलिमोरिया, पुतलीबाई तथा मास्टर निसार जैसे पुराने फिल्मी सितारों की गर्दिश भरी जिन्दगी तथा अंतिम संस्कार तक के लिए पर्याप्त धन न छोड़े जाने की उनकी विवशता को चंद्रशेखर ने समझा। सभी की मदद के लिए सक्रिय हुए। इसीलिए रूबीमायर्स (सुलोचना) ने कहा था, पता नहीं हमारी तथा हम जैसों की क्या दुर्दशा होती, अगर देखभाल के लिए चंद्रशेखर आगे नहीं आते।

चंद्रशेखर के अभिनय का दूसरा दौर शक्ति सामंत की फिल्म **'कटी पतंग'** से हुआ। चरित्र अभिनेता के रूप में वे सफल रहे। इस रूप में उनकी छवि लगातार निखरती रही। फिलहाल वे चाहते हैं कि जूनियर आर्टिस्टों को अच्छी सुविधाएँ तथा वेतन मिले। ■

उत्कृष्टता के
चार रुप सिर्फ एक ही में






उचित दाम

उत्तम तम्बाकू

सर्वाधिक संतुष्टि

मनपसंद स्वाद

तीस छाप
बीड़ी

भारत बीड़ी वर्क्स लिमिटेड, मेंगलोर-575-003



मेसर्सः नरोत्तमदास जे. पटेल एंड कं.

प्रमुख वितरक : ३० छाप बीड़ी

२८७. जवाहर मार्ग, इंदौर- ४५२००२



# ओम शिवपुरी

ओम शिवपुरी उन अनेक अभिनेताओं में से थे जो रंगमंच से फिल्मों में आए। रंगमंच से फिल्मों में आने वाले अधिकांश अभिनेताओं का दावा होता है कि उनका पहला प्यार 'थिएटर' है और वे नाटकों में हिस्सा लेते रहेंगे। बंबई में ही शुरू से नाट्य-कर्म से जुड़े और अपेक्षाकृत कम व्यस्त रंगकर्मियों को छोड़ शेष अपने दावे का निर्वाह नहीं कर पाते हैं। ओम शिवपुरी ने भी शुरू में यही कहा था, मगर फिल्मों में व्यस्त होते ही उनका 'थिएटर-प्रेम' पीछे छूट गया।

फिल्मों में आने के कारण के सम्बन्ध में ओमजी का कहना था कि सुधा से शादी के बाद जब बेटी ऋतु परिवार में आई तो जीवन के यथार्थ और संघर्ष ने उन्हें झकझोर कर रख दिया। केवल रंगमंच से परिवार का पेट नहीं भरा जा सकता था। इसलिए वे फिल्मों में किस्मत आजमाने के लिए विवश हो गए। इससे पहले कुछ समय तक उन्होंने दिल्ली के मॉडर्न स्कूल में कला- शिक्षक के रूप में भी कार्य किया था।

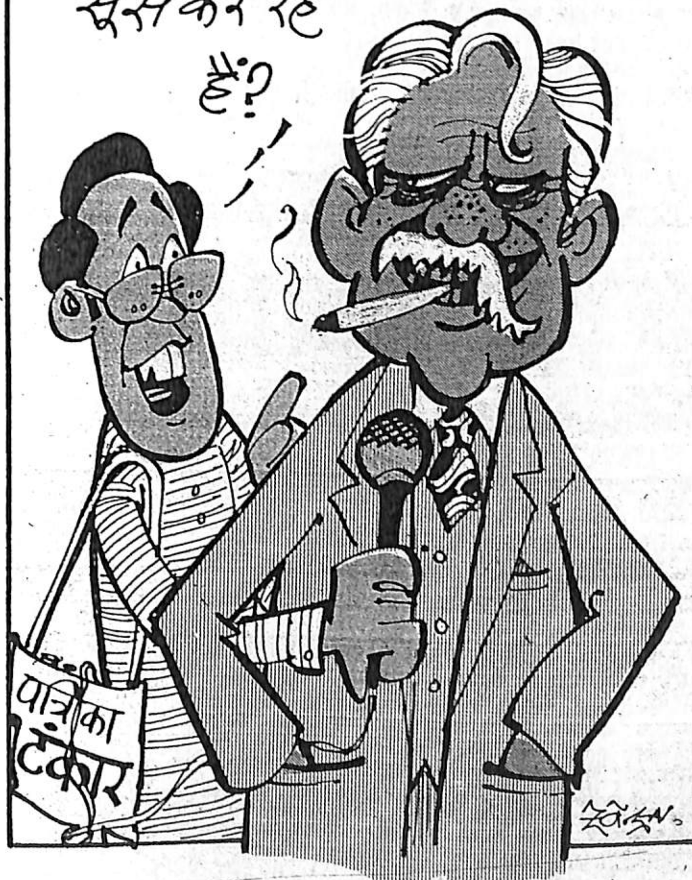
फिल्मों में शिवपुरीजी का प्रवेश मोहन राकेश के बहुचर्चित नाटक **'आधे अधूरे'** के फिल्मांकन से शुरू हुआ था। राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम के सहयोग से यह फिल्म खुद उन्होंने शुरू की थी। विवादों में घिर गई और आधी-अधूरी ही रह गई। यह एक ऐसी फिल्म थी जिसमें कलाकारों ने 'मेक अप' का प्रयोग नहीं किया था। इसके बाद वे गुलजार के सम्पर्क में आए जिनकी कोशिश/ अचानक/ आँधी/ मौसम आदि फिल्मों से उनकी पहचान बनी। वैसे उनकी पहली फिल्म राजवंश खन्ना की **'जीवन संग्राम'** थी, जिसमें उन्होंने एक वृद्ध की प्रभावशाली भूमिका की थी। मगर 'कोशिश' इसके पहले रिलीज हो गई।

वैसे ओमजी ने कैरियर की शुरूआत जयपुर रेडिओ पर नाटकों से की थी। बाद में सन् १९६१ से १९६७ तक उन्होंने दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रशिक्षण लिया। प्रशिक्षण के पश्चात् उन्होंने अपनी नाट्य संस्था 'दिशांतर' की स्थापना की और तुगलक, कंजूस, गण देवता, बिल्ली चली पहन कर जूता, शेष नहीं, आधे अधूरे नाटकों में अभिनय- निर्देशन किया। 'आधे-अधूरे' का मंचन देश के प्रायः हर बड़े नगर में हुआ और इससे ओमजी को काफी ख्याति मिली। मगर माली हालत में कोई फर्क नहीं आया। ओमजी के लिए वे बहुत कठिन दिन थे। बंगाली मार्केट में बिताए गए वे संघर्षपूर्ण दिन किसी को भी विचलित कर सकते थे।

गुलजार और ऋषि दा की कुछ फिल्मों में बतौर चरित्र अभिनेता ओम शिवपुरी ने अच्छी भूमिकाएँ कीं। कोशिश (अंधा व्यक्ति), अचानक (डॉक्टर), नमक हराम (मिल मालिक), आँधी (नेता), मीरा (राजगुरु) की उनकी भूमिकाओं ने दर्शकों का ध्यान आकर्षित किया था। गुलजार और ऋषिदा के अतिरिक्त जीतेन्द्र और राजेश खन्ना ने भी उन्हें काफी सहयोग दिया। बाद में उन्होंने हर तरह की छोटी-बड़ी भूमिकाएँ करना शुरू कर दिया जिनसे, बहैसियत अभिनेता के विशेष लाभ नहीं हुआ। नतीजा यह हुआ कि एक प्रतिभा सम्पन्न कलाकार फिल्मों की भीड़ में खो गया। उनके अभिनय में विविधता और गहराई कम होती गई।

कुल मिलाकर ओमजी ने कोई सौ फिल्मों में अभिनय किया। इनमें प्रमुख हैं- पापी देवता/ नेहले पर देहला/ मीरा/नौकरी/ खुशबू/ डॉन/ दस नंबरी/ राजमहल/ छैला बाबू/ किनारा/ सत्ताईस डाउन/ टारजन आदि। उन्होंने कुछ दूरदर्शन धारावाहिकों में भी काम किया है। पत्नी सुधा शिवपुरी ने भी कुछ फिल्मों में अभिनय किया है।

● **सूर्यकांत नागर**





कन्हैयालाल

## औरत से मदर इण्डिया

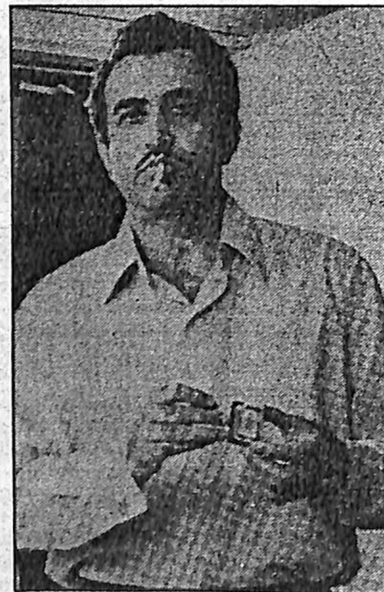
**पं**डित **कन्हैयालाल** चतुर्वेदी अभिनेता होने के साथ-साथ कवि भी हैं। साथ ही नाटक लेखक भी। कक्षा चौथी तक की पढ़ाई पूरी करने के बाद वे कुछ दिनों तक पुश्तैनी किराने की दुकान पर बैठे। फिर आटा चक्की सँभाली। नाटकों के प्रति लगाव बचपन से ही था। वे बाल हठ कर आगाहश्र काश्मीरी के नाटक 'आँख के नशे' में तबले वाले की भूमिका पाने में सफल रहे। नाटकों के सिलसिले में ही वे बंबई आए। बंबई में उन्होंने स्वयं द्वारा लिखित 'पंद्रह अगस्त के बाद' नामक नाटक पेश किया। इसके बाद वे फिल्मों में काम करने लगे। फिल्मों में शोषक साहूकार की भूमिका में उन्होंने बेहद सजीव अभिनय किया। मेहबूब खाँ की 'औरत' और 'मदर इंडिया,' मनोजकुमार की 'उपकार,' दिलीप कुमार की 'गंगा-जमुना' उनकी अविस्मरणीय फिल्में हैं। महबूब की औरत फिल्म में वे साहूकार बने थे। १९५७ में जब औरत का नया संस्करण 'मदर इंडिया' बना तो कन्हैयालाल ही उसमें साहूकार बन पाए थे।

## नितिन सेठी

**पे**शावर के सम्पन्न पंजाबी परिवार में जन्मे **नितिन सेठी** ने अमृतसर विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। भारत-पाक बँटवारे के कारण उनके परिवार को पेशावर छोड़कर ग्वालियर में बसना पड़ा। यहाँ नितिन ने दवाइयों की दुकान खोल ली। उनका यह व्यवसाय फलने- फूलने लगा। अभिनय के प्रति उनमें नैसर्गिक लगाव था। ग्वालियर में उन्हें अपनी यह प्रतिभा कुंठित होती दिखाई देने लगी। इसलिए वे ग्वालियर से कारोबार समेट कर बंबई पहुँच गए। तीन वर्षों तक निर्माताओं के द्वार खटखटाने के बाद भी जब वांछित परिणाम नहीं निकला तब उन्होंने बलराज साहनी के सहयोग से १९५३ में जुहू आर्ट थिएटर की स्थापना की। एक इमारत की छत पर 'बरी द डेड' नामक अँग्रेजी नाटक की हिन्दी प्रस्तुति के साथ इस संस्था की शुरूआत हुई। सन् १९५५ में नितिन ने स्वयं एक हास्य नाटिका 'तिकड़म' लिखी तथा यह प्रस्तुति काफी सफल रही। सन् १९६३ में 'जुहू आर्ट थिएटर' बंद हो गया। नितिन सत्यदेव दुबे एवं एलिक पदमसी के साथ जुड़ गए। बाद में उन्होंने इंडियन पीपुल्स थिएटर (इप्टा) से रिश्ता जोड़ लिया। अरविंद एवं सुलभा देशपांडे की नाट्य संस्था 'अविष्कार' से भी वे कुछ दिनों तक जुड़े रहे। पृथ्वी थिएटर्स के निर्माण के बाद नितिन का गहरा रिश्ता इस संस्थान से हो गया।

नितिन के फिल्मी कैरियर में 'हमलोग' मील का पत्थर बनी। बलराज साहनी एवं नूतन की प्रमुख भूमिका वाली इस फिल्म के बाद वे कई फिल्मों में नायक बने। 'बदनाम बस्ती'/ 'शतरंज के मोहरे' तथा 'डाक बंगला' के बाद कमाल अमरोही ने उन्हें 'पाकीजा' में मीना कुमारी के साथ नायक के रूप में अनुबंधित किया। अनुबंध के अनुसार उन्हें पाँच वर्ष तक निश्चित मासिक वेतन पर कमाल साहब के साथ काम करना था। इसके बाद कमाल साहब 'पाकीजा' के नायक बदलते रहे। इस बीच विमलराय नितिन को 'बन्दिनी' के नायक के रूप में नूतन के साथ लेना चाहते थे। नितिन ने प्रस्ताव अस्वीकार करते हुए कहा कि वे कमाल साहब से हुए अनुबन्ध का पूर्ण सम्मान करेंगे।

नितिन सेठी ने अभिनय को सामाजिक दायित्व माना तथा उन्हीं फिल्मों को स्वीकार किया जो सामाजिक समस्याओं से जुड़ी थी। 'कोशिश/ गमन/ डाक बंगला/ सूखा/ कालका आदि उनकी प्रमुख फिल्में थीं।



अभिनय के अतिरिक्त वे १९६७ तथा १९६८ में सेंसर बोर्ड के सदस्य रहे। १९७२ से १९७६ तक फिल्म फाइनेंस कार्पोरेशन के महाप्रबंधक भी रहे। जीवन के अंतिम दशक में वे उन विदेशी फिल्म निर्माताओं के सहायक के रूप में काम कर रहे थे जो भारत में अपनी फिल्मों की शूटिंग करने आते थे। २ जून १९८५ को ६१ वर्ष की उम्र में वे संसार को सदा के लिए छोड़कर चले गए। ■

## नाना पलसीकर

**च**रित्र अभिनेता के रूप में पिछले कई दशकों से भारतीय फिल्म क्षितिज पर छाए हुए **नाना पलसीकर** ने विभिन्न आयु वर्ग के अच्छे-बुरे पात्रों के रूप में लगभग तीन सौ फिल्मों में अभिनय किया है। नागपुर से काम की तलाश में बंबई आए नाना ने दो वर्षों तक कड़ा संघर्ष किया। 'तमाशा' तथा अन्य ऐसी ही लोकनाट्य विधाओं में भाग लेकर वे अपने पेट की आग बुझाते तथा रात बिताने के लिए व्यायाम शाला की शरण लेते थे। सन् १९३१ से उन्हें फिल्मों में छोटी-मोटी भूमिकाएँ मिलनी शुरू हुई। सन १९३४ में पहली बार



उन्हें एक फिल्म में सहनायक की भूमिका के लिए चुना गया। **सेठ गोविंददास** द्वारा लिखित तथा **पंडित द्वारिकाप्रसाद मिश्र** द्वारा नियोजित फिल्म 'धुआँधार' काफी सराही गई। नाना अभिनेता के रूप में स्थापित हो गए। वी. शांताराम की फिल्म 'बनवासी' ने नाना की जड़ें और भी मजबूत कर दीं। इसके बाद मोहन सहगल की 'नई दिल्ली' तथा बी.आर. चौपड़ा की 'कानून' ने उनकी प्रतिभा के नए आयाम उजागर किए। 'कानून' में उत्तम अभिनय के लिए उन्हें अवार्ड भी मिला था।

नाना की विशेषता है कि वे अपनी सरल छवि को पात्र के चरित्र में स्थापित कर लेते हैं। विमल राय की फिल्म 'दो बीघा जमीन' में बूढ़े भारतीय किसान को उनमें जीवंत तथा साकार देखा जा सकता है। मुन्ना/शहर और सपना/ प्रेम पर्वत आदि फिल्मों में नाना की विविध अभिनय शैलियों ने दर्शकों को काफी प्रभावित किया है। लगभग सभी शीर्षस्थ भारतीय फिल्म निर्देशकों के साथ वे काम कर चुके हैं। ■



*झाँसी की रानी फिल्म में मुबारक तथा मेहताब*

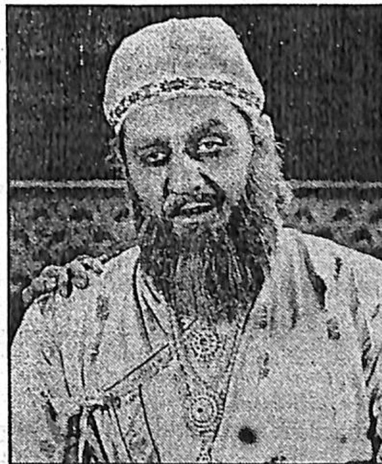
## मुबारक अली मर्चेण्ट

मुबारक अली मर्चेन्ट का जीवन अपने आप में मानवीय भावनाओं के उदात्त स्वरूप की कहानी है। अफगानी नस्ल के नवाबी कुल के इस बालक का जन्म ३० जनवरी १९०९ को बंबई में हुआ। पिता ठेकेदारी का व्यवसाय करते थे। उनके दोस्त और भागीदार एक पारसी सेठ मर्चेन्ट थे। जब मुबारक की उम्र दो साल की थी तभी पिता का साया सिर से उठ गया। माँ पहले ही प्लेग की शिकार बन चुकी थी। मुबारक तथा उनकी बहन दोनों को ही मर्चेन्ट सेठ ने अपनी संतान की तरह पाला। इसी कारण मुबारक ने मर्चेन्ट उपनाम धारण किया। अँग्रेजी जीवन शैली में पले बढ़े मुबारक के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखकर विख्यात फिल्म निर्माता चंदूलाल शाह ने उन्हें अपनी फिल्म **पति पत्नी** में खलनायक के रूप में ले लिया। उस समय मुबारक बी.ए. में पढ़ रहे थे। जब उनके धर्मपिता मर्चेन्ट सेठ को यह बात मालूम पड़ी तब बखेड़ा खड़ा हो गया। उनसे सौगंध देकर फिल्मों से दूर रहने का वादा लिया गया।

यह वादा स्थाई नहीं रहा। मुबारक मूक फिल्मों में काम करते रहे। वेडिंग नाईट/ ए वेजर इन लव/ दिलावर जैसी इनकी प्रमुख फिल्में थीं। सवाक् फिल्मों का युग आने पर सर्वप्रथम १९३० में फिल्म 'नूरजहाँ' में शेर अफगान की भूमिका मिली। इस फिल्म का अँग्रेजी संस्करण भी बना। मुबारक गायक नहीं थे इसलिए उन्हें लगा कि गायक-नायकों की दुनिया में उनका गुजारा नहीं होगा। अतः फिल्मों की बजाए उन्होंने रंगमंच पर ध्यान दिया। 'एंडरसन थिएट्रिकल कंपनी' में काम करना शुरू कर दिया। इसके बाद उन्हें फिल्मों में लाने का श्रेय एच.ई.सोनी भप्पी को है। एक फिल्म में उन्हें जयराज, सितारा देवी के साथ अनुबंधित किया गया।

इसके बाद मुबारक फ्रीलांसर अभिनेता के रूप में काम करने लगे। वीरकुणाल/ सती महानंदा/ बनारसी ठग/ जीवन नाटक/ आदि फिल्में १९३५ के आसपास बनीं। इसके बाद सन् १९३८ में मुबारक निर्माता निर्देशक बने। मामा वरेरकर की कहानी पर आधारित **साथी** हिंदी एवं मराठी में बनी। इसके बाद निर्माता किशोर साहू ने १९४० में अपनी फिल्म **बहूरानी** के निर्देशन का दायित्व मुबारक को सौंपा। यह फिल्म भी फ्लॉप हो गई। मुबारक ने निर्देशन से तौबा कर ली। सन् १९४१ में मुबारक को बाम्बे टॉकिज की फिल्म 'नया संसार' में खलनायक की भूमिका मिली। यह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर हिट रही। इसी वर्ष मुबारक ने जयंत देसाई की फिल्म 'तानसेन' में अकबर की अविस्मरणीय भूमिका की। फिल्म 'रेनुका' में उत्कृष्ट अभिनय के लिए उन्हें 'सिम्पा' अवार्ड मिला।

इसके बाद मुबारक ने सोहराब मोदी, बी.आर. चौपड़ा आदि शीर्षस्थ फिल्मकारों के साथ काम किया। अपनी थुलथुल देह और मोटी आवाज के कारण मुबारक तमाम नायकों में अलग पहचाने जाते हैं। ■



## दयाकृष्ण सप्रू

दयाकृष्ण सप्रू के पिता महाराज कृष्ण सप्रू काश्मीर नरेश की सेवा में खजांची के पद पर थे। चार भाइयों तथा दो बहनों के बीच वे चौथी संतान थे। लाहौर में शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने कुछ दिनों तक इमारतें बनाने वाले ठेकेदार के तौर पर काम किया। अभिनय के प्रति लगाव उन्हें पूना ले गया। सन् १९४० से वे पूना के प्रभात स्टूडियो में नौकरी करने लगे। परदे पर पहली बार वे फिल्म **'रामशास्त्री'** में पेशवा के रूप में आए। उनकी प्रतिभा को पहचानकर वी. शांताराम ने अगली फिल्म **'लाखारानी'** में उन्हें नायक की भूमिका के लिए चुना।

आजादी के बाद वे बंबई आ गए। यहाँ उनकी मुलाकात के. आसिफ से हुई। आसिफ साहब ने उन्हें फिल्म 'मुगले आजम' में सलीम की भूमिका के लिए चुना। फिल्म आधी बन भी गई मगर जब पूरी हुई तब नए सिरे से सलीम की भूमिका दिलीप कुमार को दी गई। इस बीच उन्होंने नायक के रूप में 'रोमियो जूलियट' तथा 'सम्राट अशोक' जैसी फिल्मों में काम किया। अपनी अभिनय प्रतिभा को लगातार सिद्ध करते रहे। उनकी अन्य महत्वपूर्ण फिल्मों में 'मदमस्त'/ 'नीलमपरी'/ 'राजयोगी'/ 'उस्ताद पेण्ड्रो'/ 'शबिस्तान' हैं। वे जब अपने फिल्मी कैरियर के शिखर पर थे तब उनकी मुलाकात सुंदर नायिका हेमावती से हुई। पृथ्वी थिएटर्स के नाटक 'दीवार' की यह नायिका 'संग्राम'/ 'जेलयात्रा'/ 'मोहन'/ 'घर-घर की कहानी' फिल्मों में आ चुकी थी। हेमावती तथा सप्रू प्रणय तथा परिणय के बंधन में बंध गए। हेमावती ने घर संभाल लिया, मगर सप्रू की अभिनय यात्रा जारी रही।

वे निर्माता बने। उन्होंने 'पतित पावन' एवं 'बहादुर शाह जफर' नामक दो फिल्मों का निर्माण किया। 'पतित पावन' तो ठीक रही, मगर 'बहादुर शाह जफर' घाटे में गई। सप्रू का सब कुछ बिक गया। २० अक्टूबर १९७९ को टूटा हुआ दिल लेकर सप्रू ने दुनिया छोड़ दी। ■

## अच्युत पोत्दार

अच्युत पोत्दार का नाम दर्शकों के लिए अपरिचित नहीं है। इसका एक कारण यह है कि वे नियमित रूप से छोटे और बड़े परदे पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहे हैं। मूलतः भारतीय तेल निगम में वरिष्ठ प्रबंधक के पद पर कार्यरत पोत्दार का म.प्र. और खास तौर से इंदौर से गहरा संबंध रहा है। उन्होंने यहीं से शिक्षा पूरी की। अभिनय की बारहखड़ी भी यहीं पर सीखी। जबलपुर में जन्में अच्युत एक मेधावी छात्र रहे हैं। अर्थशास्त्र में स्वर्णपदक के साथ स्नातकोत्तर उपाधि लेने के बाद वे इंदौर में ही प्राध्यापक बने। बाद में उनकी नियुक्ति भारतीय तेल निगम के बंबई कार्यालय में एक ऊँचे ओहदे पर हो गई। कुछ समय तक वे सेना में केप्टन भी रह चुके हैं।

अट्ठावन वर्षीय पोत्दार का रुझान बचपन से ही अभिनय की ओर था। उन्होंने १३ वर्ष की आयु में पहली बार स्टेज पर एक मराठी नाटक 'सिंहगढ़' में काम किया। १९४७ में तैयार हुए इस नाटक का मंचन इंदौरवासियों के समक्ष ही हुआ था। इसके बाद कुछ छुटपुट नाटकों में काम करने के अलावा अच्युत शिक्षा



और नौकरी के चक्कर में काफी समय के लिए रंगकर्म से दूर होते गए। लेकिन बंबई पहुँचने पर सतीश आलेकर, सत्यदेव दुबे और अमोल पालेकर के प्रोत्साहन से उनकी अभिनय प्रतिभा सक्रिय हो उठी। बतौर एक पेशेवर अभिनेता उन्होंने **विजया मेहता** के मराठी नाटक 'वाड़ा चिरेबंदी' में पहली बार काम किया।

सुलभा देशपांडे के प्रयत्नों से अच्युत को फिल्मों में अवसर मिले। कांतिलाल राठौड़ द्वारा निर्देशित **रामनगरी** उनकी पहली फिल्म थी। इसके बाद सतीश आलेकर के टी.वी. सीरियल 'देखो मगर प्यार से' में भूमिका मिली। जिसने महानगर, कक्काजी कहिन, जीवन रेखा और ये दुनिया गजब की जैसे चर्चित सीरियलों के लिए अच्युत का मार्ग प्रशस्त किया। पेशेवर अभिनेता के रूप में फिल्मों और टी.वी. से जुड़ने तक उन्हें प्रौढ़ भूमिकाएँ ही अधिक मिल सकी हैं। अर्धसत्य/ अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है/नासूर / आक्रोश/ आघात/ सलीम लँगड़े पे मत रो/ सजा ए मौत/ नरसिम्हा/ दिशा आदि उनकी प्रमुख फिल्में हैं। इसके अलावा टी.एस. रंगाराव की 'गिद्ध' में उन्होंने काफी सशक्त भूमिका निभाई हैं। 'मार्ग', अंगार और सेना उनकी आगामी फिल्में हैं। ■

## रोशन सेठ

पश्चिमी फिल्मकारों को जब अपनी फिल्मों में कोई एशियाई पात्र टाँकने की जरूरत पड़ती है, तो वे नमूनार्थ प्रति के रूप में **रोशन सेठ** जैसे गिटपिट अँगरेजी बोलने वाले कलाकारों का इस्तेमाल करते हैं। भारतीय होने के बावजूद 'रोशन सेठ' को भारत से ज्यादा विदेशों में पहचान प्राप्त है। हिन्दुस्तानी दर्शक उन्हें 'रिचर्ड एटनबरो' की विश्व प्रसिद्ध फिल्म 'गाँधी' में पंडित नेहरू का पात्र निभाने वाले अभिनेता के रूप में जानते हैं। उनकी सुतवाँ नाक और अंडाकार चेहरे को देखते हुए नेहरूजी की भूमिका में वे काफी जँचे। श्याम बेनेगल के धारावाहिक 'भारत एक खोज' में भी उन्होंने यही भूमिका निभाई थी। रोशन सेठ बी.बी.सी. की एक फिल्म में पूर्व पाकिस्तानी राष्ट्रपति जुल्फिकार अली भुट्टो को भी परदे पर साकार कर चुके हैं।

दून स्कूल की पैदाइश रोशन सेठ भारत में अँगरेजी रंगमंच पर काफी समय तक सक्रिय रहे। बाद में उन्होंने लंदन जाकर 'एक्टिंग' का प्रशिक्षण लिया। यहीं उनकी किस्मत



चमकी। प्रख्यात अमेरिकी फिल्म निर्माता स्पिलबर्ग की दो फिल्मों 'इंडियाना जोन्स' और 'टेंपल ऑफ डूम' में उन्हें काम मिल गया। विश्व स्तर पर पहचान स्थापित होने के बाद रोशन सेठ 'गाँधी/ पेसेज टु इंडिया/ माय ब्यूटीफुल लांड्रेट/ किंग लियर/ डिसीवर्स आदि चर्चित विदेशी फिल्मों में अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते रहे। आजकल वे ब्रिटिश रंगमंच पर सक्रिय हैं। ■

एस.डी. नारंग

## सावन के नजारे हैं

बहुविध व्यक्तित्व के धनी **एस.डी. नारंग** यों तो फिल्मी दुनिया में पचास-साठ और सत्तर के दशक में निर्माता-निर्देशक के रूप में अधिक मशहूर हुए। उन्होंने अपने फिल्मी कैरियर की शुरुआत लाहौर में विभाजन के पूर्व एक अभिनेता के रूप में ही की थी। शासकीय कॉलेज लाहौर से जीव-विज्ञान में उपाधि प्राप्त करने के बाद नारंग ने वहीं के मेडिकल कॉलेज में दाखिला ले लिया था। लेकिन विभाजन के कारण उन्हें अंतिम वर्ष में पढ़ाई छोड़नी पड़ी थी।

नारंग ने फिल्मों में अभिनय करना छात्र जीवन से ही प्रारंभ कर दिया था। उन्हीं के शब्दों में '२३-२४ वर्ष की उम्र में ही वे लखपति भी बन गए।' फलतः कला के खातिर फिल्मों में प्रवेश करने वाले नारंग ने इस व्यवसाय को भी अंततः किसी अन्य की ही तरह अच्छा या बुरा पाया। पचास के दशक में उन्होंने कलकत्ता में फिल्म निर्माण और अभिनय गंभीरता से शुरू किया। उनकी



राष्ट्रवादी फिल्म 'चटगाँव आर्मी रेड,' कलकत्ता में हर १५ अगस्त को दिखलाई जाती थी। इसके बाद उन्होंने अपराजितो, चीनेर पुतुल, 'नई भाभी' तथा 'एक औरत' जैसी फिल्में बनाई। 'खजांची' जैसी फिल्मों में उन्हें एक खूबसूरत छात्र-अभिनेता के रूप में खूब पसंद किया गया। 'जमींदार', 'सहारा' तथा 'ईरान की एक रात' जैसी फिल्मों में शांता आप्टे/ रेणुका देवी तथा जमुना जैसी अपने जमाने की मशहूर अभिनेत्रियों के साथ नायक की भूमिकाएँ कीं।

बंबई में 'यहूदी की लड़की', दिल्ली का ठग' तथा 'अनमोल मोती' जैसी सफल फिल्मों के निर्माण और निर्देशन के साथ ही नारंग ने समाज शास्त्र, जीव विज्ञान तथा योग पर कई पुस्तकें लिखीं तथा समाजसेवा के कार्यों में भी दिलचस्पी ली। ■

उत्पल दत्त

## खुर्राट नायक

हास्य भूमिका हो या शातिर खलनायक की भूमिका आँखें गोल-गोल करके संवाद बोलने का कमाल सिर्फ उत्पल दत्त ही कर सकते हैं। उनकी अभिनय क्षमता के बारे में एक बार उत्तम कुमार ने बहुत अच्छी टिप्पणी की थी- 'उत्पल दा के साथ काम करने के दौरान मुझे हमेशा इस बात का डर लगा रहता है कि वे मेरा सीन भी चुरा ले जाएँगे।'

उत्पल दत्त, भूमिका छोटी हो या बड़ी पूरे वजूद के साथ वे उसमें मौजूद रहते हैं। वे उन चंद अभिनेताओं में से एक हैं जिन्होंने यह बार-बार साबित किया है कि चरित्र अभिनेता भी फिल्म का अहम् हिस्सा होता है। सच तो यह है कि आज अच्छे चरित्र अभिनेता का जिक्र चलने पर उत्पल दत्त का नाम जुबाँ पर एक खास पसंद के रूप में उभरता है। आवाज में एक विशेष उतार-चढ़ाव और आँखों के अद्भुत हाव-भाव के कारण वे अपने समकक्ष अभिनेताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। वैसे

थिएटर के साथ बराबर सक्रिय रूप से जुड़े रहने के कारण कभी-कभी उनके अभिनय में थोड़ा नाटकीयतापन आ जाता है, पर अभिनय में उनकी मजबूत पकड़ उन्हें दर्शकों के मन में सहज ही बैठा देती है।

उत्पल दत्त का अभिनय क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। स्टेज, बंगला फिल्में और हिंदी फिल्मों में उनकी सक्रियता बदस्तूर बनी हुई है। खलनायक, कभी भोले-भाले किसान, कभी कठोर पिता, कभी हास्यनुमा किरदार आदि चरित्र अभिनय के जितने भी रंग हैं उसे वे अपने अभिनय में समेट चुके हैं। दर्जनों बंगला फिल्मों में काम कर चुके उत्पल दत्त की स्मरणीय फिल्मों की फेहरिस्त काफी लंबी है। इनमें से कुछ चुनिंदा नाम हैं- माइकल मधुसुदन/योगा योग/श्रीमान पृथ्वीराज/नौका डुबी/पालंक/भालोबासा- भालोबासा/ दत्ता/ साहेब/ हीरक राजार देशे/ अमानुष/जन अरण्य/ वैशाखी मेघ आदि।

जहाँ तक हिंदी फिल्मों का सवाल है, बंगला की अपेक्षा हिंदी फिल्मों की संख्या भले ही थोड़ी कम रही हो, अभिनय की विविधता के मामले में यहाँ भी वे कहीं से पीछे नहीं रहे। कर्त्तव्य/ आर पार/ जैसी फिल्मों की खलनुमा भूमिका हो या चुपके-चुपके/ गोलमाल/ नरम गरम/ किराएदार जैसी फिल्मों के हास्य चरित्र या फिर स्वामी/ साहेब के गंभीर चरित्र, दर्शकों पर उनके अभिनय का सम्मोहन हमेशा छाया रहा। हिंदी फिल्मों में उनकी संवाद अदायगी उच्चारण के दोष से मुक्त नहीं है, पर संवाद अदायगी की अपनी विशिष्ट शैली के चलते वे अपनी इस कमजोरी को बहुत सहजता से छिपा ले जाते हैं। इस बारे में चर्चा चलने पर वे बताते हैं, 'हिंदी फिल्मी दर्शकों का मुझे अथाह स्नेह मिला है। हिंदी फिल्मों में आने से पहले मैं इस बात से वाकिफ था, इसलिए हिंदी किताबें आदि पढ़कर मैंने अपने उच्चारण दोष को काफी सुधारा था।'

सत्तर के आसपास हो चुके उत्पल दत्त आज भी गाहे-बगाहे नाटकों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा देते हैं। यह उनके अभिनय की सार्थकता ही है कि हिंदी में 'भुवन शोम' जैसी कला फिल्मों से अपना कैरियर शुरू करने वाले उत्पल दत्त ने जहाँ शुद्ध रूप से व्यावसायिक फिल्मों में काम किया, वहीं ऋषिकेश मुखर्जी, कल्पना लाजमी, गुलजार आदि की फिल्मों में भी उनका अभिनय भरपूर सराहा गया। बंगला फिल्मों में अंजन चौधुरी जैसे कर्मशियल फिल्मों के निर्देशक का साथ यदि उन्हें मिला तो सत्यजित राय और मृणाल सेन जैसे अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त निर्देशकों ने भी उनका उपयोग किया। 'आगंतुक' इस बात का अच्छा उदाहरण है। अभी हाल में वे गौतम घोष की फिल्म 'पद्मा नदी तीरे' की शूटिंग पूरी करके लौटे हैं। गौतम घोष इस फिल्म में उन्हें लेने की वजह बताते हैं, 'मेरी इस फिल्म में उनका मुहम्मद हुसैन का जो किरदार है, उसे सिर्फ उत्पल दा ही कर सकते थे और उन्होंने किया भी।'

■ **प्रमुख हिंदी फिल्में :** □ भुवन शोम (१९६९) □ नरम गरम (१९८१) □ अंगूर/शौकीन (१९८२) □ अच्छा बुरा/ पसंद अपनी अपनी/ रंगबिरंगी (१९८३) □ जान जानी जनार्दन/ लाखों की बात (१९८४) □ आर पार/ पार/ साहेब (१९८५) □ आपके साथ/ बात बन जाए/ किराएदार/ सदा सुहागन (१९८६)। ■



*जी हाँ, यही हैं रति अग्निहोत्री*

# डेविड अब्राहम

बंबई के मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मे **डेविड अब्राहम** को बचपन से ही अभिनय तथा कसरत का शौक था। पढ़ाई-लिखाई में उनका खास मन नहीं लगता था। विल्सन कॉलेज बंबई से ग्रेजुएशन की डिग्री प्राप्त करने में उन्हें दस वर्ष लग गए। १७ जनवरी १९३७ को वे पहली बार कैमरे के सामने आए। भावनानी की फिल्म ज़म्बो में उन्हें छोटी, मगर प्रभावशाली भूमिका मिली थी। यह फिल्म हिट रही। इसके बाद के. ए. अब्बास द्वारा लिखित फिल्म **'नया संसार'** में उन्हें बड़ी भूमिका मिली। फिल्म के नायक अशोक कुमार तथा नायिका रेणुका थी। यह फिल्म भी हिट रही। इसके बाद वे चरित्र अभिनेता के रूप में छा गए तथा लगभग दो सौ पचास फिल्मों में परदे पर आ चुके हैं।



डेविड का खेलों के प्रति अनन्य लगाव रहा है। महाराष्ट्र वेट लिफ्टिंग एसोसिएशन के वे तीस वर्षों तक अध्यक्ष रहे। अंतरराष्ट्रीय निर्णायक के रूप में उन्हें कई बार ओलिम्पिक खेलों में आमंत्रित किया गया। समाज सेवा के क्षेत्र में भी उनकी उपलब्धियाँ महान रही हैं। भारतीय फिल्मी शिष्टमंडल के साथ वे १९५३ में अमेरिका गए। इस दल के नेता चंदूलाल शाह थे। अन्य सदस्यों में राजकपूर एवं नर्गिस प्रमुख थे। इस यात्रा से लौटने के बाद राजकपूर ने अपनी फिल्म **बूट पालिश** में डेविड को महत्वपूर्ण भूमिका दी। सन् १९५४ में प्रदर्शित इस फिल्म में उन्हें अपने प्रभावशाली अभिनय के कारण सर्वश्रेष्ठ चरित्र अभिनेता का अवार्ड मिला। सन् १९६९ में भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री के अलंकरण से सम्मानित किया था। डेविड ने अभिनय के साथ ही 'सिने आर्टिस्ट एसोसिएशन' तथा 'फेडरेशन ऑफ वेस्टर्न इंडिया सिने एम्प्लाइज' जैसी संस्थाओं के अध्यक्ष पद का भार भी कुशलता से संभाला।

डेविड यहूदी थे। अपने जीवन के अंतिम दिन वे अमेरिका में गुजारने गए और वहीं उनकी मृत्यु हो गई। डेविड उद्घोषक बहुत बढ़िया थे। फिल्मफेअर पुरस्कार समारोह का संचालन उन्होंने बरसों किया। स्वभाव से हँसमुख डेविड खेल प्रतियोगिता के सिलसिले में इंदौर आए थे। उनके गंजेपन का राज पूछने पर उन्होंने बताया कि कभी उनके सिर पर भी बालों की खेती लहलहाया करती थी। जब फिल्मों में गंजे जॉन चाचा (बूट पालिश) लोकप्रिय हो गए, तो उन्होंने वही रूप अपना लिया।

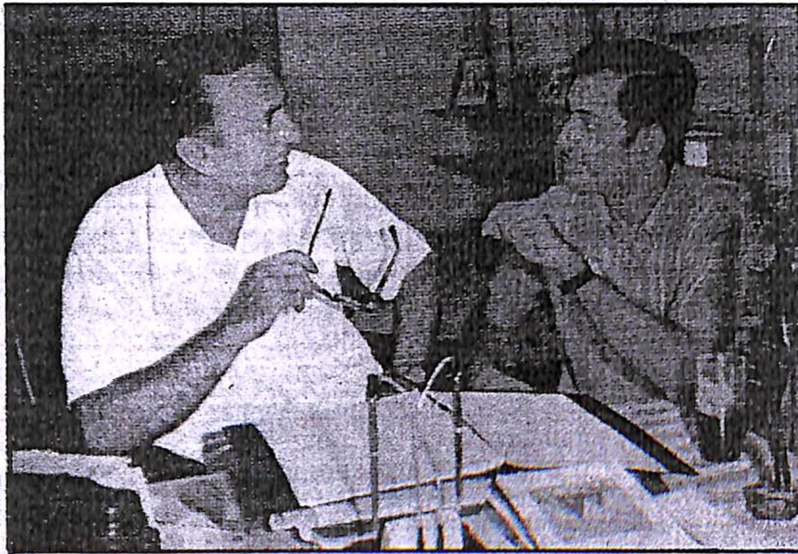
■ **प्रमुख फिल्में :** □ साजन (१९४१) □ अपना घर (१९४२) □ नल दमयंती (१९४५) □ धरती के लाल/ ग्वालन (१९४६) □ नदिया के पार (१९४८) □ सावन आया रे (१९४९) □ अनहोनी (१९५२) □ बूट पालिश (१९५४) □ मद भरे नैन (१९५५) □ मुसाफिर/ परदेसी (१९५७) □ चार दिल चार राहें/ पैगाम (१९५९) □ अनुपमा/ ममता/ सूरज (१९६६) □ मिलन/उपकार (१९६७) □ सपनों का सौदागर/सत्यकाम (१९६९) □ हाथी मेरे साथी (१९७१) □ अभिमान/राजा रानी (१९७३) □ चुपके-चुपके (१९७५) □ खट्टा मीठा/ये ही है जिंदगी (१९७७) □ गोलमाल/बातों बातों में (१९७९) □ खूबसूरत (१९८०)। ■

बलराज साहनी

# चल उड़ जा रे पंछी...

**ब**हुत कम लोग दुनिया में सबसे मुश्किल काम पूरा कर पाते हैं और वह हैं इंसान बनना! भारतीय सिनेमा के इतिहास में **बलराज साहनी** एक ऐसा ही नाम है। फिल्म उद्योग जैसे चकाचौंध वाले व्यवसाय में रहकर भी वे ग्लेमर से कोसों दूर रहे। उन जैसा सरलमना, उदार और सर से पाँव तक इंसानियत में डूबा समर्पित कलाकार मिलना दुर्लभ है। पंजाबी मूल के बलराज साहनी ने अपनी ६० साला जिंदगी के २६ वर्ष अभिनय संसार में बिताए। परदे पर उनकी छवि एक धीर-गंभीर महान व्यक्ति की थी। उन्हें 'मीनाकुमारी' का 'पुरुष प्रतिरूप' भी कहा जाता है, क्योंकि ज्यादातर फिल्मों में उन्होंने त्याग प्रधान ट्रेजिक भूमिकाएँ ही निभाईं।

बलराज काफी परिपक्व आयु में अभिनय जगत से जुड़े थे। मूलतः साहित्यिक अभिरुचि वाले बलराज ने संप्रेषणीयता की विस्तृत संभावनाओं की तलाश में फिल्म माध्यम को अपनाया। उनकी पहली महत्वपूर्ण फिल्म थी- काबुली वाला! गुरुदेव टैगोर की कहानी पर आधारित इस फिल्म में उन्होंने एक सहृदय पठान का चरित्र निभाया था। बलराज के संवेदनशील अभिनय से यह फिल्म अत्यंत मार्मिक बन पड़ी थी। लेकिन बलराज की अगली फिल्मों 'हम लोग' और 'धरती के लाल' में उनका एक बिलकुल अलग स्वरूप सामने आया। इन फिल्मों में उन्होंने सामाजिक अन्याय से लड़ने वाले एक विद्रोही नौजवान के पात्र को परदे पर अभिव्यक्ति दी। 'हम लोग'



*पिता बलराज और पुत्र परीक्षित साहनी*

में शोषण और अत्याचार के खिलाफ उनका सारा गुस्सा पूरी शिद्दत के साथ उभरा है। इस फिल्म के आधार पर कुछ लोग बलराज को भारतीय सिनेमा का पहला 'एंग्री यंग मेन' निरूपित करते हैं।

बलराज साहनी ने कला को सामाजिक प्रतिबद्धता से जोड़ने के प्रयास में अपनी कई फिल्मों जैसे गरम कोट/ सीमा/ गरम हवा/ परदेसी/ सोने की चिड़िया/ दो बीघा जमीन/ कठपुतली/ राही/ अनुराधा/ पिंजरे के पँछी आदि में किसी न किसी तरह से नैतिक मूल्यों की वकालात की है। खासतौर पर बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' और राजेंद्र सिंह बेदी द्वारा निर्मित 'गरमकोट' में भारतीय समाज के दबे कुचले वर्ग का उन्होंने अत्यंत सशक्त प्रतिनिधित्व किया। वामपंथी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण राजेंद्र सिंह बेदी और कुछ अन्य लेखक दोस्तों के साथ उनका खास याराना था। संबंधों के लिहाज से उन्होंने कभी कृपणता नहीं दिखाई। इसका एक उदाहरण इस बात से दिया जा सकता है कि दिलीपकुमार ने एक बार 'फुटपाथ' फिल्म की शूटिंग के दौरान बलराज को लेकर कुछ आपत्तिजनक टिप्पणी कर दी, लेकिन बलराज ने दिलीप से काफी वरिष्ठ होते हुए भी इसका बुरा नहीं माना, बल्कि वे हमेशा दिलीपकुमार की तारीफ ही करते रहे। बाद में उन्होंने दिलीप के साथ 'संघर्ष' फिल्म में काम भी किया।

हिंदी फिल्म जगत का दुर्भाग्य है कि यहाँ कलाकार की प्रतिभा का समुचित उपयोग नहीं हो पाता। यही वजह थी कि बलराज साहनी जैसे असाधारण अभिनेता को 'एक फूल दो माली/ नौनिहाल/ हँसते जख्म/ छोटी बहू' आदि फिल्मों में महत्वहीन रोल भी निभाने पड़े। दरअसल उनके गरिमापूर्ण व्यक्तित्व का फायदा निर्माताओं ने उन्हें पारिवारिक फिल्मों में 'बड़ा भाई' बना कर ही उठाना चाहा। निश्चित रूप से यह बलराज की प्रतिभा का सीमित आकलन था, जिसने भारतीय सिनेमा को उनके कुछ और प्रभावशाली प्रदर्शनों से वंचित कर दिया। रजतपट पर सैकड़ों पात्रों को अपनी अभिनय तूलिका से जीवंत करने के बावजूद बलराज के दिल में एक कसक बाकी रही। वे कुछ कहानियाँ और कुछ उपन्यास लिखना चाहते थे। अपनी साहित्यिक भूख को उन्होंने 'परदेसी' में एक कवि की संजीदा भूमिका निभा कर संतुष्ट करने का प्रयास किया। 'परदेसी' भारत-सोवियत सहयोग से बनने वाली पहली फिल्म थी। बलराज ने एक बाल फिल्म 'डाकघर' में भी काम किया था। १३ अप्रैल १९७३ को एक सार्थक कलायात्रा पूरी करने के बाद बलराज की मृत्यु हो गई।

■ **प्रमुख फिल्में :** □ हम लोग (१९५१) □ दो बीघा जमीन (१९५३) □ गरम कोट/ जोरू का भाई/ ताँगेवाली (१९५५) □ दो रोटी/ टकसाल/ कठपुतली/ परदेसी (१९५७) □ देवर भाभी/ खजांची/ घर गृहस्थी/ लाजवंती/ सोने की चिड़िया (१९५८) □ छोटी बहन (१९५९) □ भाभी की चूड़ियाँ/ अनपढ़/ काबुलीवाला (१९६१) □ हकीकत (१९६४) □ संघर्ष (१९६८) □ एक फूल दो माली/ दो रास्ते (१९६९) □ पवित्र पापी (१९७३) □ गरम हवा (१९७३)। ■

टीनू आनंद

# टुकड़ों में बँटा नायक

**पृ**थ्वीराज कपूर की रिश्ते की बहन के पति इंदरराज आनंद के बड़े सुपुत्र हैं टीनू आनंद। उनकी पत्नी अभिनेता **आगा** की बेटी हैं। फिल्मी दुनिया के आँगन में पले-बढ़े टीनू सत्यजित राय के सहायक रहे परंतु उन्होंने हमेशा व्यावसायिक फिल्में ही बनाईं। बड़े भाई बिट्टू आनंद ने धन एकत्रित कर उन्हें तीन फिल्में बनाने का अवसर दिया-दुनिया मेरी जेब में/ कालिया और शहंशाह!

टीनू को अभिनय का पहला मौका मिला मणीरत्नम और कमलहासन की फिल्म



**नायकन** में जिसके हिंदी संस्करण **दयावान** में भी टीनू के अभिनय को सराहा गया। स्वयं अमिताभ ने उन्हें अग्निपथ में एक महत्वपूर्ण भूमिका दी और जनता ने भी खूब सराहा! 'कालचक्र' में मिली भूमिका के साथ भी टीनू ने न्याय किया और धीरे-धीरे टीनू ने व्यावसायिक सिनेमा में एक अभिनेता के रूप में अपना स्थान बना लिया।

टीनू के पास आम हीरो का व्यक्तित्व नहीं है परंतु वे ओमपुरी के स्कूल के अभिनेता हैं, जो अपनी प्रतिभा से दृश्य चुरा लेने की कला में माहिर होते हैं।

टीनू आनंद समर्पित कलाकार हैं और अपनी छोटी-सी भूमिका के लिए भी बहुत परिश्रम करते हैं। अग्निपथ के लिए उन्होंने अपना सर मुँडवा लिया और घंटों लंगड़ाकर चलने का अभ्यास करते थे। उनका जबड़ा नियमित आकार का नहीं है परंतु वे इस स्वाभाविक खामी को बहुत नाटकीय ढंग से प्रयोग में लाते हैं। ■

## सईद जाफरी

# दो दुनिया समांतर

सईद जाफरी भारत के उन गिने-चुने अभिनेताओं में से हैं जिन्होंने सत्यजित राॅय की 'शतरंज के खिलाड़ी' में बिगड़े हुए नवाब, 'सागर' के बार मालिक, 'चश्मे बद्दूर' के पान-बीड़ी वाले, 'ज्वेल इन द क्राउन' (अँगरेजी) के नवाब, 'सन राइजिज इन द ईस्ट' के महाराजा रणजीतसिंह तथा रिचर्ड एटनबरो के गाँधी में सरदार पटेल के किरदारों द्वारा अपने आपको एक अंतरराष्ट्रीय स्तर के अभिनेता के रूप में स्थापित किया है। राजकपूर की 'राम तेरी गंगा मैली' तथा पिछले दिनों रिलीज 'हिना' की उनकी यादगार भूमिकाओं से परिचित हिंदी फिल्मों के दर्शकों के लिए यह जानकारी सुखद आश्चर्यजनक होगी कि बंबइया व्यावसायिक फिल्मों में अपना लोहा मनवाने वाले सईद १९८० में भारत लौटने के पूर्व ब्रिटेन तथा अमेरिका के मंच तथा टेलीविजन के परदे पर अपनी कला का भरपूर प्रदर्शन कर चुके थे।

सईद जाफरी ने अपने अभिनय की शुरूआत ठेठ १९५१ में दिल्ली में अपनी खुद की नाटक कंपनी यूनिटी थियेटर की स्थापना के साथ की थी। इस कंपनी में शेक्सपियर, इब्सन, ऑस्कर वाइल्ड तथा चेरवोव के नाटकों में प्रमुख भूमिकाएँ करने के अलावा वे उन दिनों आकाशवाणी के लिए निर्देशक, लेखक तथा समाचार-वाचक के रूप में भी काम करते थे। सन् १९५६ में उन्होंने पश्चिम का रुख किया और लंदन की रॉयल अकादमी ऑव ड्रामा में दाखिला ले लिया। इसके बाद वे अमेरिकी मंच पर तकदीर आजमाने चल दिए। यहाँ लास एंजेलिस स्थित स्ट्रासबर्ग के सॅक्टर्ज स्टुडियो में उन्होंने पेशेवर अभिनेता



का दर्जा प्राप्त किया और ब्रॉडवे तथा रेपरटरी थिएटर पर ढेरों प्रदर्शन किए। अमेरिका में दस तथा ब्रिटेन में बी.बी.सी. तथा चैनल फोर पर ६ बरस काम करते हुए उन्होंने अभिनय कला के सारे गुर सीखे। उनकी फिल्म 'माय ब्यूटीफूल लांड्रेट' तथा 'तंदूरी नाइट्स' फिल्में जो कि अप्रवासी भारतीयों- पाकिस्तानियों की समस्याओं को हल्के-फुल्के ढंग से चित्रित करती हैं, बहुत लोकप्रिय हुईं। उनकी अन्य लोकप्रिय फिल्में थीं-मर्चेंट आयवरी की 'गुरु' तथा हॉलिवुड में 'द हॉर्समन' (ओमर शरीफ के साथ)।

लगभग बीस बरस के अंतराल के बाद भारत लौट कर बंबई की फिल्मी दुनिया तथा यहाँ के परिवेश के अनुकूल बनाने में उन्हें दिक्कत तो नहीं हुई लेकिन एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत इन दो दुनियाओं ने उन्हें बेहद अनुभव संपन्न बनाया है। सईद का ख्याल है कि भारतीय तजुर्बे ने उन्हें एक तरह से फिर जवान बना दिया। उपरोक्त हिंदी फिल्मों के अलावा जाफरी ने 'तमस' (गोविंद निहलानी) तथा 'इसी बहाने' जैसे दूरदर्शन के धारावाहिकों में भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन उसी सहजता से किया। रमेश सिप्पी की 'सागर' में उनकी पूर्व पत्नी मधुर जाफरी ने भी पहली बार एक हिंदी फिल्म में अभिनय किया। यह पूछने पर कि उनकी असली जड़ें कहाँ हैं, भारत में या विदेशों में, वे कहते हैं- मैं इन दोनों दुनियाओं का भरपूर आनंद तब तक उठाते रहना चाहता हूँ जब तक मुझे वे अपनी सृजनशीलता दिखलाने का मौका देती रहेंगी।

■ **प्रमुख फिल्में :** □ शतरंज के खिलाड़ी (१९७७) □ चश्मे बद्दूर (१९८१) □ गाँधी/ मासूम/ रोमांस (१९८३) □ आगमन/ भावना/ मशाल (१९८४) □ राम तेरी गंगा मैली/ सागर (१९८५) □ औलाद/ अवाम/ जलवा/ खुदगर्ज (१९८७) □ चालबाज/ दाता/ ईश्वर (१९८९) □ अजूबा/हिना (१९९१) ■

# पिंचू कपूर

पिंचू कपूर का जन्म और लालन-पालन जयपुर में हुआ था। पिता पुलिस के उच्च अधिकारी थे। वे चाहते थे कि बेटा भी पुलिस के महकमे में नौकरी करे। पिंचू को फिल्मों में काम करने की धुन सवार थी। वे पिता की इच्छा के विरुद्ध बंबई आ गए। फिल्म 'यहूदी' तथा 'अपराधी कौन' में छोटी-मोटी भूमिकाएँ मिलीं। संतोष नहीं मिला। मणिकौल की फिल्म **आषाढ़ का एक दिन** के बाद पिंचू कपूर अभिनेता के रूप में चर्चित हो गए। उन्हें लगातार काम मिलने लगा। मोटे थुलथुल सेठ, राजा, वकील, पिता, पुलिस अफसर आदि भूमिकाओं के लिए इस मोटी काया वाले अभिनेता को आदर्श माना जाता था। 'विटनेस'/बंडलबाज/ हेराफेरी/ कर्म/ मुक्ति/ नजराना/ बाजी आदि उनकी प्रमुख फिल्में थीं। कुल मिलाकर दो सौ से भी अधिक फिल्मों में अभिनय करने वाला यह कलाकार आजीवन अविवाहित रहा। साठ वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया। ■



किशोर साहू

# फिल्माचार्य

**बा**ईस अक्टूबर १९१५ को मध्य प्रदेश के दुर्ग जिले में जन्मे किशोर साहू की शिक्षा-दीक्षा नागपुर में हुई। वहीं मैरिस कॉलेज से बी.ए. का इम्तहान देकर फौरन बंबई का टिकट कटाया। फिल्मों में कुछ कर गुज़रने की ख्वाहिश थी। वहाँ काफी पापड़ बेले। कई जोड़ी जूतों के तलवे घिसे। फिर अशोक कुमार और देविका रानी के विशेष आग्रह पर बाम्बे टॉकीज के सर्वेसर्वा हिमांशु राय ने उन्हें नायक की भूमिका दी **'जीवन प्रभात'** में। इस फिल्म की नायिका हिमांशु राय की पत्नी देविका रानी थीं। इसमें अभिनय करने का किशोर को कोई पारिश्रमिक नहीं मिला। यह सन् १९३९ की बात है। बॉम्बे टॉकीज के प्रति उनका मन खट्टा हो गया। वे नागपुर वापस लौट गए खाली हाथों, मगर निर्देशन, अभिनय और लेखन कार्य का बेशकीमती जखीरा साथ लिए।

नागपुर में किशोर के एक मित्र थे द्वारकादास डागा, कई लाख के आसामी। उन्हीं के सहयोग से बंबई में दि. इंडिया आर्टिस्ट लिमिटेड नामक फिल्म निर्माण संस्था स्थापित की गई और उसी बैनर से बनी 'बहूरानी' जिसकी हीरोइन मिस रोज थीं- उस जमाने की बेहतरीन अदाकारा। फिर स्नेह प्रभा प्रधान को प्रमुख भूमिका में लेकर बनाई 'पुनर्मिलन'। इन फिल्मों ने किशोर को



फिल्म जगत में स्थापित कर दिया। इस कामयाबी में महत्वपूर्ण योगदान रहा उनके सहपाठी निर्देशक **महेश कौल** और लेखक अमृतलाल नागर का। जिगरी दोस्त होने के अलावा तीनों ही हिन्दी के जबर्दस्त हिमायती रहे।

इस संदर्भ में एक अजीबो-गरीब घटना ने आ कुरेदा है। उस समय नागरजी और महेश कौल के दिन कड़की में गुजर रहे थे। कभी-कभार दूध वाले भैया से 'खइनी' (तम्बाखू) माँग लिया करते थे। कभी चूना उपलब्ध न होने से दीवार पर पुंती सफेदी ही मिलाकर हथेली पर पट-पट कर के काम चला लेते थे। तभी महेश कौल को फिल्म निर्देशन का पहला चांस मिला, तो नागरजी ने 'खइनी' में कमरे की दीवार पर पुता चूना मिला कर ही उन्हें अपनी अनुपम अविस्मरणीय भेंट प्रदान की। उस समय का नजारा देखते ही बनता था। दोनों बड़ी देर तक गले लगे रहे और हर्ष की तरलता उनकी आँखों से बहती रही।

नागरजी ने किशोर के लिए लिखीं **'कुंआरा बाप', 'राजा'** और **'वीर कुणाल'।** 'कुंआरा बाप' और 'राजा' उस जमाने की हिट कॉमेडी फिल्में थीं, जिनमें नागरजी भी रुपहले पर्दे पर नजर आए थे। और शुद्ध हिन्दी में लिखे संवादों का चमत्कार सुनने को मिला 'वीर कुणाल' में, जिसकी नायिका खलनायिका अभिनेत्री नूतन की माँ शोभना समर्थ थीं।

नागरजी और किशोर साहू में कभी-कभी ठाँय-ठाँय भी हो जाती थी। ऐसे मौकों पर समझौता- वार्ता के लिए पहुँचती थीं, किशोर की माँ। कहती थीं, 'अरे बेटा अमृत! किशोर तो तेरा छोटा भाई है। वह गलती करेगा तो क्षमा भी तो तू ही करेगा।' इतना सुनते ही नागरजी का गुस्सा काफूर और दोनों फिर एक।

नागरजी जैसा स्वाभिमानी लेखक बंबई में टिक नहीं पाया। वे लखनऊ वापस आए और साहित्य सृजन में लग गए। उधर, किशोर ने निर्माण किया 'सिंदूर' का। फिल्म खूब चली। किशोर दोबारा लखनऊ आए। आइजाबिला थोबर्न कॉलेज की दो छात्राओं-

बीना राय और आशा माथुर को बंबई ले जाकर 'काली घटा' बनाई, लेकिन आर्थिक चिन्ता के बादल छटे नहीं। 'मयूर पंख' ने तो उनके पंख ही कतर डाले। दस साल तक चप्पलें चटखाई। फिर एक नकारे पति की भूमिका में **'गाइड'** ने उन्हें ऐसा चमकाया, ऐसा चमकाया, कि हिन्दी फिल्म जगत में वे सदा-सदा के लिए अमर हो गए। किशोर साहू का निधन २२ अगस्त १९८० को बैंकाक में हुआ।

● **धर्मेन्द्र गौड़**



## अनुपम खेर

# हर रोल में अनुपम

अनुपम खेर ने कुछ ही वर्षों में चरित्र अभिनेता/ खलनायक/ हास्य अभिनेता और सह अभिनेता के रूप में न केवल प्रतिष्ठा अर्जित की है, बल्कि फिल्म फेयर अवॉर्ड भी जीते हैं। इतने कम समय में इतनी तरह की भूमिकाएँ निभाने का मौका किसी को यूँ ही नहीं मिल जाता। इसके लिए आदमी को स्वयं को सिद्ध करना पड़ता है। **'सारांश'** का बूढ़ा,, 'कर्मा' का डॉक्टर डैंग और राम लखन की नायिका के कंजूस पिता की भूमिकाओं में देखने के बाद मानना ही पड़ता है कि अनुपम खेर असाधारण प्रतिभा के धनी कलाकार हैं, जो अमिताभ बच्चन से लेकर दिलीपकुमार तक किसी के भी सामने बिना हिचकिचाहट अभिनय कर सकते हैं।

अनुपम खेर के लिए महेश भट्ट से उनकी मित्रता इस मायने में बेहद महत्वपूर्ण हो जाती है कि उनकी फिल्म 'सारांश' में पहली बार पर्दे पर आकर दर्शकों के दिलों में अपनी जगह बनाई थी। इस फिल्म के लिए अनुपम को फिल्म फेयर अवॉर्ड भी दिया गया। अनुपम को इस फिल्म के जरिए फिल्मी दुनिया में पैर जमाने का मौका तो मिल गया, लेकिन इस फिल्म से 'टाइप्ड' होने का खतरा भी पैदा हो गया था क्योंकि इसमें अनुपम ने २९ साल की उम्र में साठ साल के बूढ़े की भूमिका निभाई थी। सारांश में अनुपम खेर ने बेहद-भावुक अभिनय करके दर्शकों का दिल जीत लिया था। फिल्मी दुनिया में इसकी मिसाल संजीवकुमार के अलावा दूसरी नहीं मिलती। फिल्मों से पहले रंगमंच, रेडियो और टीवी के लिए नाटकों में काम करते हुए अनुपम ने जो अनुभव अर्जित किया था यह संभवतः उसी का असर था कि सारांश के हर फ्रेम में अनुपम की अनुपम प्रतिभा की झलक मिलती थी। अनुपम खेर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्र रहे थे और वहीं से उन्होंने अभिनय की बारीकियाँ सीखीं थीं। फिर आकाशवाणी के नाटकों में काम करते हुए उन्होंने अपनी आवाज की क्षमताओं को पहचान लिया था और उसका इस्तेमाल करना भी वे जान गए थे। दरअसल, 'सारांश' के जरिए महेश भट्ट ने अनुपम की अभिनय क्षमता का सारांश ही पेश किया था।

इसके बाद अनुपम ने एक फिल्म 'जवानी' में काम किया, जिसमें उन्होंने शर्मिला टैगोर के पति की भूमिका की। इस तरहउन्होंने स्वयं को टाइप्ड होने से बचाया, लेकिन सारांश की छवि उन्होंने सचमुच तोड़ी फिल्म 'अर्जुन' में, जिसमें उन्होंने एक चालाक राजनीतिज्ञ की भूमिका निभाई थी। वैसे तो ऐसी भूमिका और भी कई कलाकारों ने निभाई थी, लेकिन अनुपम खेर सबसे अलग थे। इसी भूमिका के जरिए अनुपम को सुभाष घई की **'कर्मा'** में खलनायक की भूमिका मिली और वह डॉक्टर डैंग बन गया। इस फिल्म में अपनी भूमिका के बारे में अनुपम बताते हैं कि वे अपनी एंट्री को लेकर ही रोमांचित थे। चूंकि डैंग को कर्मा में हेलिकॉप्टर से पर्दे पर आना था। फिर इस फिल्म में उन्हें दिलीपकुमार के साथ काम करने का मौका भी मिल रहा था, जो कि अनुपम के इतने पसंदीदा कलाकार थे कि उनकी फिल्म गोपी देखने के लिए उन्होंने अपनी नाक तक तुड़वा ली थी। सबस बड़ी बात तो यह थी कि अनुपम खेर को सुभाष घई ने कर्मा के खलनायक को अलग स्थापित करने के लिए काफी छूट भी दे रखी थी। कुल मिलाकर डैंग को गब्बरसिंह के मुकाबले खड़ा करने की कोशिशें की गईं और एक सीमा तक अनुपम को इस काम में सफलता भी मिली। 'कर्मा' में अनुपम के सामने दिलीपकुमार के अलावा अनिल कपूर, जैकी और नसीर तक थे। इनके बीच अपनी अलग पहचना बनाना आसान काम नहीं था। कर्मा के प्रीमियर पर जब दर्शकों ने उन्हें देखकर 'डैंग-डैंग' चिल्लाना शुरू किया, तो अनुपम समझ गए कि वे अपने काम में सफल हो गए हैं।

अनुपम खेर को इस मायने में भाग्यशाली कहा जाना चाहिए कि उन्हें एक के बाद एक कई बेहतरीन और चुनौतीपूर्ण भूमिकाएँ मिलीं। इनमें से अगर कुछ की चर्चा की जाए तो महेश भट्ट की 'जनम' का जिक्र किया ही जाएगा, जिसमें उन्होंने एक वक्त के सफल अभिनेता की भूमिका निभाई थी, जो वर्तमान में बुरे दिन गुजार रहा है। टीवी धारावाहिक 'राज से स्वराज' में उन्हेंगांधी बनने का मौका मिला, तो विजया मेहता की फिल्म 'राव साहेब' में अभिनय की सीमाओं को छूकर अनुपम खेर ने जतला दिया कि वे व्यावसायिक सिनेमा और कला प्रधान फिल्मों दोनों में अपना दखल बनाए रखना चाहते हैं। 'राव साहेब' में तो लोगों को भरपूर उम्मीद थी कि अनुपम को राष्ट्रीय पुरस्कार मिलेगा, लेकिन किन्हीं कारणों से यह पुरस्कार उनसे कुछ इंच दूर रह गया। लेकिन लोकप्रिय फिल्म फेयर अवॉर्डो का सिलसिला लगातार चल रहा है। हाल में अनुपम ने महेश भट्ट की ही एक और फिल्म 'डैडी' में जबरदस्त भूमिका निभाई। इस भूमिका के बारे में स्वयं अनुपम का कहना है कि डैडी की भूमिका मुझे अपने जीवनरक्षक दवा की तरह लगती थी। दरअसल, मेरी इस भूमिका को देखकर यह फैसला करना चाहिए कि मुझे अभिनेता की तरह जीने का हक है या नहीं। दूसरी तरफ व्यावसायिक फिल्मों में अनुपम की मौजूदगी अब जरूरत की तरह महसूस की जाने लगी है। फिल्मकार मानते हैं कि अनुपम खेर को कोई भी भूमिका दे दीजिए वे छा जाएँगे। हाल ही में 'लम्हे' में उन्होंने जो भूमिका अदा की है, वह इसी विचार को पुख्ता करती है।

अनुपम खेर कला फिल्मों को जीवित देखना चाहते हैं और व्यावसायिक फिल्मों में काम करते हैं। नाम और पैसा भी कमाना चाहते हैं। बड़ी बात तो यह है कि गंजे होने को वे अपने व्यक्तित्व की सबसे बड़ी खूबी मानते हुए कहते हैं कि इससे मेरे व्यक्तित्व को किसी भी भूमिका में ढालने में मदद मिलती है। अनुपम खेर का मानना है, अब वे अपना

भविष्य स्वयं बना सकने की स्थिति में हैं। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए अनुपम का यह कहना सही लगता है कि मुझे फिल्मों से खूब नाम और दाम मिलना चाहिए। निश्चय ही उनकी यह माँग चाँद माँगने जैसी नहीं है। लेकिन आम दर्शक उनसे सारांश, राव साहेब और डैडी जैसी ही और फिल्मों की माँग करें, तो अनुपम खेर जैसे समर्थ कलाकार को इसे जायज मानकर इसे पूरा करना चाहिए।

■ **प्रमुख फिल्में** : □ सारांश (१९८४) □ अर्जुन/ जानू/ मिसाल/ वफादार (१९८५) □ आखिरी रास्ता/ अल्लारखा/ जनम/ कर्मा/ राव साहेब/ स्वार्थी/ समन्दर (१९८६) □ काश/ सत्यमेव जयते/ ठिकाना/ उत्तर-दक्षिण (१९८७) □ हत्या/ कब्जा/ पेस्टनजी (१९८८) □ बीस साल बाद/ भ्रष्टाचार/ चालबाज/ चाँदनी/ कानून अपना अपना/ मैं आजाद हूँ/ परिन्दा/ राम लखन/ त्रिदेव (१९८९) □ दिल है कि मानता नहीं/ लम्हे/ सौदागर/ सौ करोड़ (१९९१)।

● **संदीप श्रोत्रिय**



राजा बुन्देला

# नाम के राजा

'कुँवर राजेंद्र बहादुर सिंह बुन्देला'! ... यह किसी रियासत के राजकुमार का नहीं, बल्कि अभिनेता **'राजा बुन्देला'** का पूरा नाम है। झाँसी के एक राजपूत परिवार से ताल्लुक रखने वाले 'राजा' सिर्फ नाम के राजा हैं, उनके खानदान में किसी ने राज नहीं किया। शायद इसी कारण पिछले डेढ़ दशक से अभिनय की दुनिया में सक्रिय रहने के बावजूद खास कामयाबी हासिल करने में वे असफल रहे हैं।

राजा बुन्देला ने पंद्रह वर्ष की उम्र में घर छोड़ दिया था। 'एक्टिंग' सीखने के इरादे से दिल्ली आकर 'एन.एस.डी.' में प्रवेश ले लिया। सतीश कौशिक, नसीर और ओम पुरी उनके साथी थे। तीनों ने मिल कर अपना थिएटर ग्रुप 'मजमा' तैयार कर कई नाटक खेले। 'सतीश' के साथ राजा का विशेष याराना था। फक्कड़ दौर में दोनों ने साथ-साथ भूखे पेट रातें काटी हैं। एक बार उनके साथ मजेदार वाकया हुआ। सतीश भाई अपनी विशाल काया की वजह से भूख सहन नहीं कर पाते थे। एक दिन भूख से बेहाल होने पर उन्होंने राजा से किसी ढाबे में चलकर दावत उड़ाने का अनुरोध किया। जेब में पैसे तो थे नहीं, इसलिए जब बिल चुकाने की बारी आई तो दोनों ने हाथ खड़े कर दिए कि 'भैया गरीब कलाकार हैं। मारकर हिसाब बराबर कर लो।' लेकिन उनकी हैरत का ठिकाना न रहा, जब ढाबे के मालिक ने बगैर नाराज हुए उन्हें गले लगाकर पूछा- 'मिठाई खाओगे' बाद में पता चला कि ढाबे वाला खुद एक जमाने में एक्टर बनने के लिए एड़ियाँ रगड़ चुका था। मुफलिसी में दिन गुजारने के कारण उसे गरीब कलाकारों से खासी सहानुभूति थी।

सतीश कौशिक के साथ राजा बुन्देला ने कई पापड़ बेले। चार पैसे कमाने के उद्देश्य से उन्होंने विज्ञापन फिल्मों में भी काम किया। इसी बीच 'राजा' को शशिकपूर की फिल्म 'विजेता' में भूमिका मिल गई। जिसके माध्यम से वे फिल्म जगत से पहली बार रूबरू हुए। इसके बाद 'स्टार', 'अर्जुन' और 'षड़यंत्र' जैसी फिल्मों में छुटपुट काम करते रहे। लेकिन टी.वी. की लोकप्रियता को देखते हुए उन्होंने छोटे परदे पर भी पैर पसारना उचित समझा। अजूबे, खजाना, एक कहानी, बूँद-बूँद आदि धारावाहिकों से टी.वी. दर्शकों में उनकी पहचान बन गई। बतौर हीरो राजा बुन्देला को फिल्मों में स्वीकारा नहीं जा सका है। षड़यंत्र को छोड़कर आम तौर से वे सहयोगी भूमिकाएँ ही निभाते रहे हैं। उनकी कुछ आगामी फिल्मों के नाम हैं- 'काल भैरव', 'किस काम के यह रिश्ते' और 'प्रकोप'। ■

# शंकर नाग

**सुविख्यात** कन्नड़ फिल्म अभिनेता स्वर्गीय **शंकर नाग** का नाम उन ओजस्वी कलासाधकों में गिना जाता है, जो अल्पायु में ही उपलब्धियों के शिखर तक पहुँचने में सफल हुए। मात्र ३६ वर्ष की आयु में एक दुर्घटना के कारण मारे गए 'शंकर नाग' का फिल्मी कैरियर करीब १२ वर्षों का था। इस दौरान उन्होंने ७० फिल्मों में काम किया। शंकर नाग उस मिट्टी के कलाकार थे, जिसकी सार्थकता अनवरत् सृजन में परिलक्षित होती है। मूलतः थिएटर की जमीन से उभरे शंकर के लिए रंगकर्म ही सब कुछ था। उन्होंने व्यावसायिक समझौतों को दरकिनार रखते हुए कला की दुनिया में कई साहसिक प्रयोग किए। कन्नड़ रंगमंच पर उनके नाटक 'नागमंडल', 'नोडी स्वामी' और 'अंजु मिलिगे' का कलात्मक दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व है।



फिल्मों में शंकर नाग को पहला मौका गिरीश कर्नाड की 'ओंदा-नोंदू कल्लाडल्ली' में मिला। उनके आत्मविश्वास और प्रतिभा का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि पहली ही फिल्म के लिए १९७८ के अंतराष्ट्रीय फिल्मोत्सव में उन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनेता पुरस्कार से सम्मानित किया गया। दिलचस्प बात है कि 'शंकर' इस फिल्म में बतौर अभिनेता काम ही नहीं करना चाहते थे। उनका रुझान निर्देशन की ओर था, लेकिन गिरीश कर्नाड के अनुरोध पर उन्होंने 'एक्टर' बनना स्वीकार किया। पहली ही फिल्म से चर्चित होने के बाद उन्हें व्यावसायिक कन्नड़ फिल्मों के काफ़ी प्रस्ताव मिले, लेकिन शंकर की प्रतिबद्धता सार्थक सिनेमा के साथ थी। फिर भी रंगकर्म के लिए आर्थिक मदद जुटाने के उद्देश्य से उन्होंने कुछ 'ग्लेमर' वाली भूमिकाएँ कीं। अपनी बहुआयामी अभिनय क्षमता के बल पर वे व्यावसायिक फिल्मों में भी सफल हुए।

बतौर अभिनेता पर्याप्त पहचान अर्जित कर लेने के बावजूद रचनात्मक भूख की संतुष्टि के लिए शंकर ने कुछ फिल्मों का निर्देशन भी किया। उनके द्वारा निर्मित सात फिल्मों में मिंचिना ओहा/ पुतन्ना कनगल और एक्सिडेंट के नाम प्रमुख हैं। व्यावसायिक असफलता के बावजूद इन फिल्मों को समीक्षकों की काफी तारीफ मिली। खास तौर से उनकी फ़िल्मों में गानों का फिल्मांकन अपने आप में अनूठा माना जाता है। प्रयोगधर्मा फितरत वाले शंकर नाग, गीतों में गत्यात्मक जीवंतता लाने के लिए उन्हें अधिकतम 'फ्रेमों' में 'शूट' करते थे। शंकर नाग का दूरदर्शन धारावाहिक 'मालगुड़ी डेज' भी उनकी विशिष्ट निर्देशकीय शैली का प्रमाण है। 'आर.के. नारायणन' की कहानियों पर आधारित इस सीरियल को देश भर में पसंद किया गया।

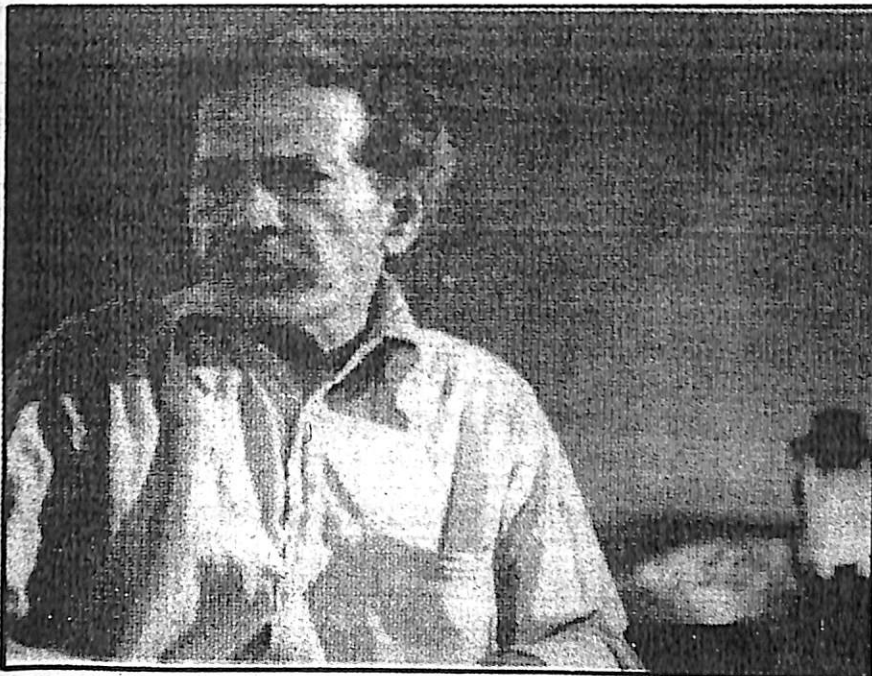
शंकर नाग, रचनाकर्म को एक जुनून की

तरह जीने वाले व्यक्ति थे। पारिवारिक माहौल के लिहाज से भी उन्हें इस दिशा में काफी उत्प्रेरणा मिली। उनकी पत्नी 'अरुंधति' प्रख्यात कन्नड अभिनेत्री है, जबकि भाई 'अनत नाग' से एक कलाकार के रूप मे हिन्दी दर्शक भी अपरिचित नही।

## हबीब तनवीर
# आगरा बाजार वाले

हबीब तनवीर और हिंदुस्तानी थिएटर एक-दूसरे के पर्याय कहे जा सकते हैं। उन जैसे समर्पित रंगकर्मी का उल्लेख किए बगैर अदाकारों की आकाशगंगा पूरी नहीं हो सकती। हबीब का थिएटर प्रेम सचमुच काबिले-तारीफ है। जब उनके समकालीन ग्लेमर और दौलत की चमक से वशीभूत होकर फिल्मी परदे का रुख कर रहे थे, हबीब तनवीर पूरी प्रतिबद्धता के साथ रंगमंच से जुड़े रहे। पिछले ३०-३५ सालों से वे रंगकर्म की दुनिया में लगातार सक्रिय हैं। अत्यंत समर्थ कलाकार होने के बावजूद उन्होंने इक्की-दुक्की फिल्मों में ही काम किया है। किंतु इतने विरल फिल्मी जीवन में भी रजतपट पर अपनी चमक बिखेरने में वे सफल हुए। हाल ही में प्रदर्शित फिल्म **'प्रहार'** में उनकी उपस्थिति काफी प्रभावशाली मानी गई।

हबीब तनवीर द्वारा थिएटर को आम आदमी से जोड़ने के महत्वपूर्ण काम को देखते हुए उन्हें भारतीय लोकनाट्य का पितृपुरुष कहना गलत नहीं होगा। अपने रंगसमूह 'नया थिएटर' के माध्यम से उन्होंने कई प्रासंगिक विषयों पर नाटक प्रस्तुत किए। इनमें 'चरणदास चोर' और 'मिट्टी की गाडी' विशेष रूप से उल्लेखनीयं हैं। हबीब तनवीर अपने अभिनय जीवन के प्रारंभिक दिनों में आठ वर्ष तक भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) से जुड़े रहने के बाद लंदन चले गए। जहाँ भारत सरकार की छात्रवृत्ति पर उन्होंने 'रॉयल अकादमी' में रंगकर्म का प्रशिक्षण लिया। वापस लौटने पर वे भारत में लोकनाट्य के विकास हेतु कार्य करने में जुट गए। मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ के ग्रामीण कलाकारों को लेकर उन्होंने 'नया थिएटर' की नींव रखी। हबीब का पहला नाटक 'आगरा बाजार' था, जिसका १९५४ में पहली बार दिल्ली में मंचन हुआ। नुक्कड़ नाटकों की नई शैली 'आगरा बाजार' से ही विकसित हुई थी। हबीब के कुछ अन्य प्रमुख नाटक 'शतरंज के मोहरे'/ 'इंद्र लोकसभा'/ 'सुश्तिया का चपरासी'/ 'मृच्छ कटिकम' और 'मुद्रा राक्षस' हैं।



## टॉम अल्टर
# देसी अँगरेज

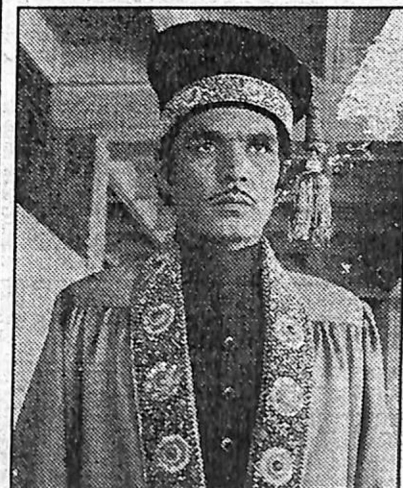
टॉम आल्टर का जन्म मसूरी में हुआ। स्कूली पढ़ाई भी यहीं हुई तथा अमेरिका जाकर स्नातक तक पढ़ाई कर वे वापस मसूरी लौट आए। स्कूल में शिक्षा का काम करने के बाद सन् १९७० के आसपास फिल्मोद्योग में अपना भविष्य तलाशते वे बंबई आए। दो वर्ष तक संघर्षरत् रहने के बाद भी जब उन्हें सफलता न मिली तब वे सन् १९७२ में पूना के फिल्म इंस्टीट्यूट में दाखिल हो गए। तीन वर्ष तक अभिनय का प्रशिक्षण ले वे पुनः बंबई लौटे। इस बार उन्हें काम मिला और हिंदी फिल्मों में विदेशी चरित्र के रूप में वे फिल्मी दुनिया में स्थापित हो गए। वी. शांताराम की फिल्म **चानी** में टॉम की अभिनय क्षमता पहली बार उभर कर आई। बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि टॉम 'चमेली मेम साब' नामक फिल्म में नायक की भूमिका कर चुके हैं। रिचर्ड एटनबरो ने अपनी फिल्म 'गाँधी' में टॉम को महत्वपूर्ण भूमिका देकर उन्हें अंतरराष्ट्रीय अभिनेता के रूप में स्थापित कर दिया। टॉम के अब तक के फिल्मी कैरियर के रूप में सर्वाधिक उल्लेखनीय फिल्म 'जुनून' रही है। श्याम बेनेगल की इस फिल्म में वे फर्राटेदार उर्दू और हिन्दी बोलते हैं तथा बिना मेकअप ही कैमरे के सामने आते हैं। 'राम तेरी गंगा मैली' में मंदाकिनी के भाई के रूप में टॉम की भूमिका अविस्मरणीय रही। ■

# मनोहर सिंह

सामान्यतः कला फिल्मों और रंगमंच से संबद्ध कलाकार होने के कारण **मनोहर सिंह** का दर्शक वर्ग भले ही सीमित रहा हो, लेकिन कुछ अविस्मरणीय भूमिकाओं के जरिए वे अपनी एक व्यापक पहचान बनाने में सफल हुए हैं। 'दामुल' के धूर्त जमींदार और टी.वी.सीरियल 'राग दरबारी' के 'वैद्यजी महाराज' की भूमिका में उन्होंने दर्शकों पर अमिट छाप छोड़ी थी। चरित्र अभिनेता के रूप में ख्याति मिले उन्हें ज्यादा अरसा नहीं हुआ, लेकिन रंगकर्म की दुनिया में वे पिछले तीन दशकों से सक्रिय हैं।

कड़कदार आवाज और प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी मनोहर सिंह शिमला (हिमाचल प्रदेश) के रहने वाले हैं। न केवल उनका जन्म पहाड़ों पर हुआ, बल्कि उन्होंने अपनी कला को भी पहाड़ जैसी ऊँचाइयाँ देने का प्रयास किया है। दिल्ली के नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में अभिनय का प्रशिक्षण लेने के बाद मनोहर रंगमंच से जुड़ गए। सत्तर के दशक में हिन्दी रंगमंच पर उनकी उपस्थिति शिद्दत के साथ महसूस की जाती रही। मनोहर का एक नाटक 'तुगलक' प्रयोगवादी कलेवर और असरदार अभिनय की वजह से आज भी याद किया जाता है। 'तुगलक' में मनोहर ने विलक्षण अभिनय प्रतिभा का परिचय दिया था। उनके कुछ अन्य चर्चित नाटकों में मुख्यमंत्री/ बेगम का तकिया/ रास गंधर्व/ लुक बैक इन एंगर आदि के नाम आते हैं।

**'किस्सा कुर्सी का'** मनोहर सिंह की पहली



फिल्म थी। इसके काफी अरसे बाद उन्हें गोविन्द निहलानी की **'पार्टी'** में काम मिला। उनकी सर्वाधिक सशक्त भूमिका के तौर पर 'दामुल' को याद किया जाता है। इस फिल्म में उन्होंने अत्याचारी जमींदार का चरित्र बेहद प्रभावी ढंग से निभाया था। मनोहर सिंह की अन्य प्रमुख फिल्में 'न्यू देहली टाइम्स/ कस्बा/ ये वो मंजिल तो नहीं है। दूरदर्शन पर राग दरबारी/ पुरवाई/ कहकशा आदि सीरियलों में उन्हें काफी पंसद किया गया। व्यावसायिक फिल्मों की ओर भी मनोहर अब अपने कदम बढ़ा चुके हैं। उनके रोबीले व्यक्तित्व से प्रभावित होकर निर्माताओं ने उन्हें अभिजात्य वर्ग के बुजुर्ग व्यक्ति की भूमिकाओं के लिए खास तौर पर उपयुक्त पाया है। पिछले दिनों प्रदर्शित 'कर्मयोद्धा' में उनकी ऐसी ही भूमिका थी।

मनोहर सिंह अपनी लंबी कलायात्रा के दौरान कई महत्वपूर्ण पुरस्कारों के सुखद पड़ाव पार कर चुके हैं। १९८० में वे भारतीय कला समीक्षक संघ की तरफ से सम्मानित किए गए। इसके अलावा संगीत नाटक अकादमी तथा हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा भी उन्हें विशेष रूप से पुरस्कृत किया गया है। ■

मर्क जुबेर

## उच्च-भ्रू नायक

अँग्रेजीदाँ व्यक्तित्व की खोल में लिपटे जुबेर अहमद सिद्दीकी उर्फ **मर्क जुबेर** का एक खास उच्च मध्यम वर्गीय दर्शक वर्ग है। उनकी गिनती ऐसे कलाकारों में होती है, जिनका जिक्र हाई सोसायटी के ड्राईंग रूम में बतार 'स्टेटस सिम्बॉल' किया जाता है। दाम्पत्य जीवन के हाई क्लास रिश्तों पर बनने वाली फिल्मों के वे स्थाई नायक रहे हैं।

लखनऊ में जन्मे जुबेर काफी कम उम्र में ही परिवार के साथ लंदन जा बसे थे। बी.बी.सी. में पिता की नौकरी के कारण उनका संपर्क कला माध्यमों से हुआ। वे इंग्लैंड की प्रतिष्ठित नाट्य संस्थाओं से जुड़ गए। उन्होंने काफी अरसे तक अँग्रेजी नाटकों और दूरदर्शन पर काम किया। इसी दौरान वे 'जुबेर अहमद सिद्दीकी' जैसे भारी-भरकम नाम की कतरब्यौंत कर 'मर्क जुबेर' बन गए। ब्रितानवी रंग-ढंग में ढले 'मर्क' को



भारत लौटने पर विनोद पांडे की फिल्म **'ये नजदीकियाँ'** में परवीन बॉबी और शबाना आजमी जैसी स्थापित अभिनेत्रियों के साथ प्रमुख भूमिका मिली। इस फिल्म की उत्साहवर्धक सफलता को देखते हुए मर्क जुबेर ने भारत में ही रुकने का इरादा बना लिया। 'ये नजदीकियाँ' के बाद उन्होंने कई फिल्मों में काम किया। इनमें कमला/ भावना/ हवेली/ कानून मेरी मुट्ठी में/ आज आदि के नाम प्रमुख हैं। इस वक्त मर्क का बाजार मंदा चल रहा है। उस पर मुश्किल यह कि 'पंकज धीर' के रूप में उनके डुप्लीकेट मैदान में आ रहे हैं।

दाम्पत्य फिल्मों के विशेषज्ञ कलाकार मर्क जुबेर स्वयं अविवाहित हैं। हालांकि एक जर्मन महिला के साथ १५ वर्षों तक उनके अंतरंग संबंध रहे, लेकिन इसकी परिणति शादी में नहीं हो सकी। अगर कोई सुधि दर्शक मर्क द्वारा फिल्मों में दाम्पत्य भूमिकाओं को लेकर शंका व्यक्त करे, तो शायद वे यही कहेंगे कि बरखुरदार! शादी के बारे में मुझे शादी शुदाओं से ज्यादा जानकारी है, इसीलिए तो कुँआरा हूँ। वरना कब का इस चक्रव्यूह में फँस चुका होता। ■



## गोल्लापुडि मारुतिराव

मारुतिराव, जिन्हें उनके मित्र सिर्फ 'गोल्लापुडि' कहकर बुलाना पसंद करते हैं, का विश्वास है कि भारतीय फिल्मों में उनकी सांस्कृतिक पहचान चरित्र अभिनेताओं के द्वारा ही बनती है। पहले तेलुगु पत्रकारिता और फिर आकाशवाणी में काम करते हुए बीस वर्ष तक फिल्मों की पटकथाएँ लिखने के बाद अभिनय के क्षेत्र में सन् १९८२ में ही प्रवेश किया। लेकिन अभिनय के मामले में 'देर आयद दुरुस्त आयद' की कहावत उनके मामले में बिल्कुल सही बैठी। जहाँ बीस बरसों में उन्होंने केवल बीस फिल्मों की पटकथाएँ लिखीं, मात्र पहले पाँच बरसों में ही वे लगभग सवा दो सौ फिल्मों में चरित्र भूमिकाएँ कर चुके हैं।

हैदराबाद के 'प्रताप आर्ट क्रिएशन' के लिए पटकथाएँ लिखते हुए ही गोल्लापुडि को निर्देशक कोडी रामकृष्ण राव ने अपनी एक कॉमेडी फिल्म 'इंटिलो रामैय्या, विधीलो कृष्णैया' में किंचित नकारात्मक लेकिन हास्य का पुट लिए हुए नायक की भूमिका सौंपी। यह पात्र घर में राम की तरह आदर्शवादी और सड़कों पर कृष्ण की तरह दिलफेंक नायक की तरह आचरण करता है। यह फिल्म टिकट खिड़की पर उस वर्ष की सबसे सफल फिल्म साबित हुई और गोल्लापुडि को ढेर सारे अभिनय के प्रस्ताव मिलने लगे। 'तरंगिणी' तथा 'अभिलाषा' जैसी फिल्मों में उन्होंने यादगार भूमिकाएँ कीं। इस समय वे तेलुगु फिल्मों के व्यस्ततम अभिनेताओं में गिने जाते हैं। प्रख्यात तेलुगु निर्देशक के. विश्वनाथन की फिल्म 'स्वाति मुत्यम' में एक रंगीन मिजाज बूढ़े की उनकी भूमिका को काफी पसंद किया गया। 'संसारम् ओका चादुरंगम्' में उन्होंने एक कट्टर सिद्धांतवादी प्रौढ़ गृहस्थ की भूमिका की है।

मारुतिराव का विश्वास है कि नायक और नायिका तो किसी भी भाषा की फिल्म में आसानी से फिट हो जाते हैं लेकिन क्षेत्रीय भाषा की फिल्मों में चूँकि स्थानीयता तथा आंचलिकता चरित्र अभिनेताओं के माध्यम से ही व्यक्त होती है, इन अभिनेताओं का उस प्रदेश की भाषा से सुपरिचित होना बहुत जरूरी है। वे यह भी मानते हैं कि चरित्र-अभिनेता का तादात्म्य दर्शकों के साथ एक बार स्थापित हो जाने पर वे उसे भी नायक-नायिका की तरह ही चाहने-सराहने लगते हैं। डॉ. श्रीराम लागू इसकी ज्वलंत मिसाल हैं। मारुतिराव को इस बात का भी अफसोस है कि तेलुगु में नाटक और मंच की कोई बहुत समृद्ध परंपरा न होने से चरित्र-अभिनय के क्षेत्र में बहुत अच्छे अभिनेता नहीं आ पाते। ■

## जी.डी.माडगुलकर

कवि, कहानीकार, पटकथा लेखक एवं अभिनेता **जी.डी. माडगुलकर** का फिल्मी कैरियर मराठी फिल्म 'पहिला पाळणा' से १९४२ में शुरू हुआ। इससे पूर्व वे कुछ फिल्मों में सामान्य भूमिकाओं में आ चुके थे। हंस पिक्चर्स की इस फिल्म में उनके द्वारा लिखे गए सभी गीत लोकप्रिय हुए। इस फिल्म से ही वे सशक्त अभिनेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इसके बाद १९४७ में उन्होंने 'जय मल्हार' तथा 'रामजोशी' नामक फिल्मों की पटकथा एवं गीत लिखे। वी. शांताराम द्वारा निर्देशित दोनों फिल्में सुपर हिट रहीं। 'रामजोशी' में माडगुलकर द्वारा रामजोशी के पिता का अभिनय सभी क्षेत्रों में सराहा गया। मराठी के लोक काव्य एवं नृत्य, लावणी तथा तमाशा को फिल्मों में प्रतिष्ठित कराने का पहला प्रयास भी माडगुलकर ने ही किया था। 'नवरंग', 'दो आँखें बारह हाथ' तथा 'तूफान और दिया' जैसी सशक्त फिल्मों की पटकथा इसी कलाकार ने लिखी थी। मराठी फिल्म 'सौभाग्य' में कमसिन कन्या के बूढ़े पति की भूमिका को उन्होंने अविस्मरणीय बना दिया था। १४ दिसंबर १९७७ को इस लेखक तथा अभिनेता का निधन हो गया। ■

## खण्ड-४

# खलनायक



### खलनायक परंपरा

# बदलती भूमिकाएँ बदलती शैलियाँ

● हेमचंद्र पहारे

रुपहले पर्दे पर सत् के साथ ही असत् को भी प्रस्तुत करने वाले दुष्ट पात्रों की भूमिकाएँ करने वाले अभिनेताओं का काम अक्सर नायकों से ज्यादा कठिन होता है। दर्शक के मन में अपने प्रति प्रशंसा के बजाए घृणा का भाव पैदा करना न केवल इन अभिनेताओं के लिए व्यक्तिगत रूप से अरुचिकर होता है, बल्कि उनकी करतूतों पर अक्सर समाज भी उन्हें अवांछनीय मानते हुए उँगली उठाता है। मंच पर चांडाल की भूमिका में यथार्थवादी अभिनय के द्वारा दर्शकों का कोपभाजन होते हुए जहाँ हम भारतदु हरिश्चंद्र को देखते हैं, तो बंगाल के छवि बिश्वास को भी हम दर्शकों के जूते-चप्पलों की बौछार को सहर्ष स्वीकार करते पाते हैं।

**पहले की फिल्मों में खलनायक का अपना दर्जा और एक ऊँचाई होती थी, आजकल तो नायक ही गुंडा, बदमाश, स्मगलर और डाकू होने लगा हैं। नतीजे में खलनायक का महत्व घटा है।**

हिंदू पुराणकथाओं में तो शैतान की वैसी स्पष्ट कल्पना नहीं की गई है जैसी ईसाई या इस्लामी धेर्मग्रंथों में की गई है। फिर भी उनमें भी खल-पात्रों को हम बराबर दैवी उपक्रमों में अड़ंगे लगाते हुए देखते हैं। भारतीय फिल्मों का प्रारंभ भी मूलतः धार्मिक तथा पौराणिक कथाओं के साथ ही होता है और इनमें हम मूक तथा बाद में सवाक फिल्मों में इंद्र/ नारद/ कीचक/ जरासंध/ रावण-बंधुओं सहित कई रूपों को दुष्टताएँ करते हुए देखते हैं। हिंदी फिल्मों के प्रारंभिक खल अभिनेताओं में सबसे उल्लेखनीय नाम **नायमपल्ली** का उभरता है। सन् १९३६ में 'मिल मजदूर' फिल्म से उन्होंने 'विलेन' की जो भूमिकाएँ शुरू कीं, वे बहुत ज्यादा 'मुखर' तथा नाटकीय होती थीं और उनमें खलनायक को अपनी कर्कश आवाज तथा

हाथ-पैरों का भरपूर इस्तेमाल करना पड़ता था। अजीत, महात्मा विदुर, जागृति जैसी फिल्मों के बाद उन्हें बाद के जमाने की 'जिस देश में गंगा बहती है, सरस्वतीचंद्र, आतिश

**नायक के रोल से खलनायक के रोल करना ज्यादा कठिन काम होता है। परदे पर आते ही दर्शक गालियाँ देते हैं और वास्तविक जीवन में सगे-संबंधी कन्नी काटने लगते हैं।**



*अमरापुरकर और फरहा*

तथा मन मंदिर' में भी देखा गया। खुद नायमपल्ली के अनुसार शुरू के दौर की फिल्मों में खलनायक को आमतौर से घोर श्यामवर्ण में चित्रित किया जाता था। उनमें किन्हीं भी मानवीय गुणों का होना संभव नहीं था। जहाँ नायक सभी सद्‌गुणों का पुंज होता था, खलनायक में कोई भी अच्छी प्रवृत्ति का होना उस जमाने के निर्देशकों को 'दर्शक को अकारण उलझाने की हिमाकत' नजर आती थी।

खलपात्रों का अभिनय करते हुए असहज महसूस करने वाले **जयंत** ने खलनायकी को 'बंबई की मोहिनी' (१९२४) तथा नूर-ए-इस्लाम में नए आयाम दिए। कुछ फिल्मों (नूर महल, मेम दीदी, पासिंग शो आदि) में नायक की भूमिका करने वाले कद्दावर पठान **जयंत** का खलनायकी का अंदाज नायमपल्ली से भिन्न था। उनके हिसाब से खलनायक को भी नाजुक, सुदर्शन, हमेशा मुस्कराने वाला लेकिन मूलतः एक 'बुरा आदमी' होना चाहिए। खलनायक के रूप में वे अपनी सबसे अच्छी फिल्म एच.एस. रवैल निर्मित 'संघर्ष' को मानते हैं, जिसमें उन्होंने बनारस के दुष्ट पंडों के सरगना की भूमिका की थी। बेहद तनावग्रस्त रहने वाले, खूँखार नायिका के पिता के रूप में उनकी 'मधुमती' को भी याद किया जाता है।

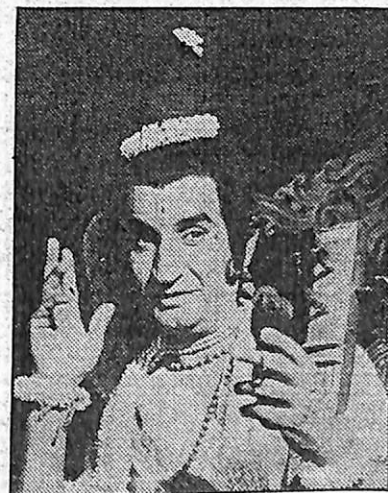
हरि शिवदासानी ने १९३४ में बनी 'प्रेम परीक्षा' में इंग्लैंड-पलट बैरिस्टर की खल भूमिका द्वारा संयत दुष्टता का एक नया रंग प्रस्तुत किया। फिल्म के निर्माण के दौरान कई लोगों को यह शंका होती रही कि चीख-पुकार करने, दहाड़ने तथा अट्टहास करने वाले खलनायकों के अभ्यस्त दर्शक इस 'गुपचुप दुष्टता' की शैली को शायद पसंद नहीं करेंगे। लेकिन यह शंका निराधार साबित हुई और 'भारत की बेटी' ने तो उन्हें एक नए ढंग के 'विलेन' के रूप में स्थापित कर दिया।

पचास से भी ज्यादा फिल्मों में नारद की भूमिका करने वाले सबसे टिकाऊ खलनायकों में से एक **जीवन** ने बीसियों सामाजिक फिल्मों में बुरे आदमी के पात्र को अपनी विशिष्ट शैली में प्रस्तुत किया। जीवन भी फिल्मों में तीस के दशक के मध्य में ही आए और अपनी पहली ही फिल्म फैशनेबल इंडिया (१९३५) में खलनायक की भूमिका की। जीवन का दावा है कि वे हिंदी फिल्मों की तीन पीढ़ियों के खलनायकों के पिता रह चुके हैं। 'स्वामी' में याकूब, पंजाबी फिल्म 'चाई' में प्राण तथा भाई-भाई में प्रेम चोपड़ा उनके बेटे बन चुके हैं। किसी एक फिल्म में शत्रुघ्न सिन्हा ने उनके भतीजे की भूमिका की है। मजे की बात तो यह थी कि 'फैशनेबल इंडिया' के साथ ही प्रदर्शित 'देशवासी' और 'पुजारिन' में भी वे खलनायक बने और कहानी के अंत में नायिका के प्रति अपने 'प्रेम' का बलिदान किया। 'मेला' जैसी फिल्मों में उन्होंने अपनी खलनायकी को हास्य का पुट भी दिया।

लगभग दो सौ से भी ज्यादा फिल्मों में 'बुरे आदमी' की भूमिकाएँ करने वाले **के.एन. सिंह** नायक बनने की महत्वाकांक्षा लेकर फिल्मों में आए थे, लेकिन तब के प्रसिद्ध चरित्र-अभिनेता **मजहर खाँ** के सुझाव पर उन्होंने 'आनंदाश्रम' (१९३७) में पहली बार खलनायक की भूमिका स्वीकार की। 'इशारा' में उन्होंने पृथ्वीराज के पिता की भूमिका की थी। बुरे आदमी की भूमिकाओं को अदा करने में उन्हें हमेशा दिक्कत महसूस हुई क्योंकि दुष्टता के दृश्य करना उन्हें अपनी कुदरती शालीनता से बिल्कुल विपरीत लगा। इसी संकोचवश परबत में नूतन को डाँटने-डपटने के दृश्यों के लिए उन्होंने कैमरे के सामने उनकी माँ शोभना समर्थ को खड़ा रहने का अनुरोध किया था। वैसे के.एन. सिंह ने भी ज्यादातर फिल्मों में रुक-रुककर बड़ी नफासत के साथ बोलने वाले खलपात्रों की भूमिकाएँ ही की। लगभग उन्हीं की 'फंटूश', "हाउस नं. ४४' आदि फिल्मों में मुकम्मिल की गई शैली का अनुगमन दो दशक बाद **अजीत** ने 'बॉस' के रूप में किया।

तीन पीढ़ियों को अपनी दुष्टता से त्रस्त करने वाले 'ड्राइंगरूम' शैली के ही एक अन्य खलनायक हैं **प्राण** जिन्होंने अभी गत वर्ष ही फिल्मों में अपने पचास बरस पूरे किए हैं। पचास और साठ के दशकों के तीन बड़ों दिलीप, देव और राज सभी के खिलाफ खलनायकी करने वाले प्राण ने भी अपनी विशिष्ट शैली और मैनरिज्म के द्वारा ही

*जीवन भी खलनायक मगर नारद के वेश में।*





क्रिकेट के नायक मोहसिन खलनायक बन गए

बगैर एक बार भी नर्गिस को छुए **कन्हैयालाल** अपने प्रति दर्शकों के मन में जो घृणा पैदा करने में सफल हुए, वैसा करना इन खलनायकों के लिए संभव नहीं रहा।

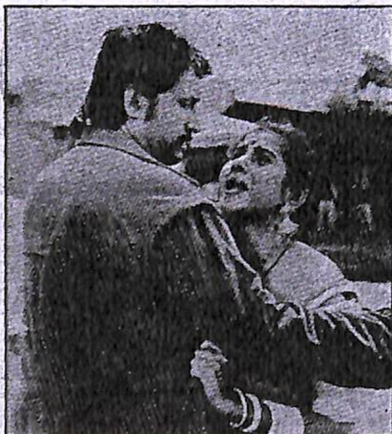
हिंदी फिल्मों की खलनायक कथा बगैर **अमजद खां** के गब्बर सिंह और **अमरीशपुरी** के **मोगाम्बो** के जिक्र के पूरी नहीं हो सकती। लेकिन इन दोनों कलाकारों पर उनकी प्रारंभिक फिल्में कुछ इस बुरी तरह हावी हुईं कि उन्हें अपने अभिनय को नए आयाम देने का ज्यादा मौका नहीं मिल पाया। ऐसा नहीं है कि सूक्ष्म, शेक्सपियर के 'ऑथेलो' में इयागो या मर्चेंट ऑव वेनिस के शारलॉक शैली के मुस्कराते हुए दुष्ट कृत्यों को करते चले जाने वाले खलनायकों का आगमन हिंदी फिल्मों में बिल्कुल बंद हो गया है। फिल्म 'मैं आजाद हूँ' तथा 'राग दरबारी' टेलीविजन धारावाहिक में **मनोहरसिंह** ने राजनीति के खलनायकों को बेहतरीन ढंग से परदे पर साकार किया है। जहाँ पचास और साठ के दशक में खलनायक का काम नायक-नायिका के मिलन में अड़चनें डालना मात्र होता था,

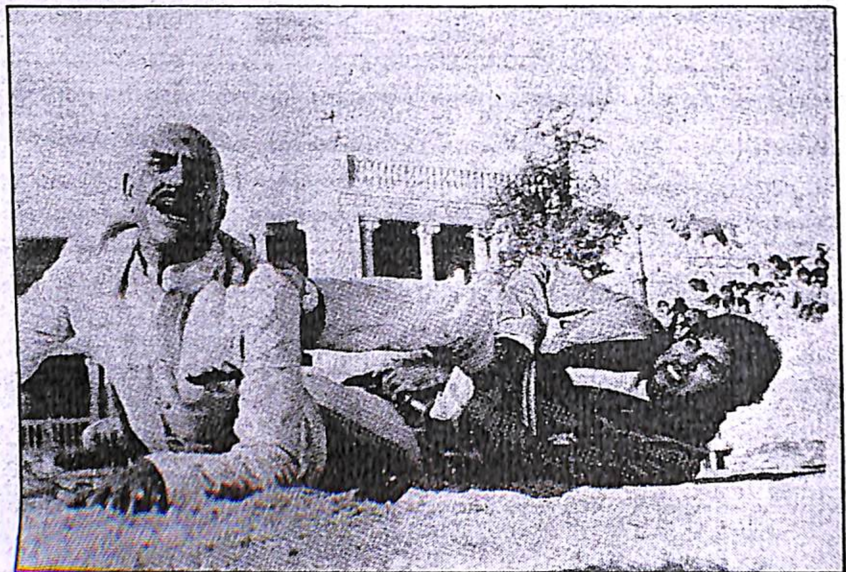
दर्शकों के दिलों में अपनी जगह बनाई है। सन् १९६५-६६ में मनोजकुमार की 'उपकार' के मलंग बाबा की भूमिका के साथ उन्होंने अपना ध्यान चरित्र अभिनय पर केंद्रित किया।

नायक से खलनायक और खलनायक से चरित्र- अभिनेता की भूमिकाओं में आते-जाते रहने वाले महत्वपूर्ण खलनायकों में **प्रेमनाथ** (आन), **रहमान** तथा **डेविड** सबसे ज्यादा उल्लेखनीय रहे। इनके विपरीत **तिवारी, बी.एम. व्यास, मदनपुरी, हीरालाल** तथा **रमेश देव** के साथ ही खलनायकों की बुजुर्ग पीढ़ी से जुदा होते हैं। लगभग इसी पीढ़ी के नायक से खलनायक बनने वाले अजीत ने अपने खलस्वरूप को चमकाया था सत्तर-अस्सी के दशक में।

खलनायकों की मध्ययुग की पीढ़ी के प्रमुख नाम हैं- **प्रेम चोपड़ा/ शत्रुघ्न सिन्हा/ रूपेशकुमार/ मनमोहन/ सुजीतकुमार/ नरेन्द्रनाथ/ शक्ति कपूर/ जोगिंदर** तथा **विनोद खन्ना।** सत्तर के दशक में अमिताभ के आगमन से अपराध फिल्मों का जो दौर शुरू हुआ, उसमें प्रति-नायक की भूमिकाओं के प्रखर हो जाने से खलनायकों का महत्व जहाँ कुछ कम हुआ, वहीं अब उन्हें अपराध फिल्मों में अपनी 'दुष्टता का स्तर' भी ऊँचा करना पड़ा। जब फिल्म का नायक ही डाकू, स्मगलर या आपराधिक गिरोह का सरगना बनकर कानून को अपने हाथ में ले रहा हो, तो बेचारे खलनायक के लिए बलात्कारी या विकृत दिमाग वाला, हिंसा के लिए हिंसा करने वाला परपीड़ाक बनने के अलावा क्या चारा रह जाता है? **शक्ति कपूर/ रंजीत/ प्रेम चोपड़ा/ गुलशन ग्रोवर** आदि खलनायकों को इसीलिए जहाँ अपने पात्रों को फिर से लाउड बनाना पड़ा वहीं उन्हें अपने लिए अजीबोगरीब मेक-अप और गेट-अप की भी तलाश जारी रखनी पड़ी। 'मदर इंडिया' में

खलनायकी के नए तेवर : किरण कुमार





अमिताभ के हाथ पिटते अमरीश पुरी।

भारतीय फिल्मों में नायक के प्रति-नायक या नकारात्मक पात्र बन जाने के बाद खलनायकों की भूमिकाएँ पूँजीपतियों, जमींदारों (दामुल), अखबारों के प्रकाशन-मालिकों व मंत्रियों-संत्रियों को निबाहनी पड़ रही है। यदि इस समय हमारे बीच 'लाउड' खलनायक हैं, तो बेहद ठंडे मिजाज से कौमों को बर्बाद करने वाले धर्म गुरुओं तथा प्रचारकों का मुखौटा पहन नफरत के बीज बोने वाले खलनायक भी (तमस) परदे पर साकार किए जा रहे हैं। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मुख्यधारा के सिनेमा के खलनायक जहाँ प्राचीन परंपरा से ज्यादा जुड़े हुए हैं, वहीं समानांतर सिनेमा के खलनायक सामाजिक दृष्टि से कहीं ज्यादा प्रासंगिक तथा अद्यतन हैं। ■

प्राण

# महा-खलनायक

सदाबहार खलनायक **प्राण** ने बदलते वक्त के साथ अपने आपको कुछ इस सलीके से बदला है कि दो बरस पूर्व जब उन्होंने फिल्म उद्योग में अपने ५० बरस पूरे किए तो किसी को इसकी कानों-कान खबर भी न हुई। आज से चालीस बरस पहले भी फिल्मों की नामावली कलाकारों के नामों की सूची 'और प्राण' के साथ खत्म होती थी और आज भी स्थिति वही है। आज भी जब वे परदे पर प्रवेश करते हैं और अपनी आँखों (दाहिनी को कुछ ज्यादा) सिकोड़ कर नायिका या नायक को शैतान नजरों से देखते हैं, तो दर्शकों के दिल दहल जाते हैं। सन ६६ में मनोज कुमार की 'शहीद' तथा 'उपकार' से उन्होंने भले ही एक चरित्र अभिनेता के रूप में भी अपना सिक्का जमा लिया हो, लेकिन दर्शक अब भी उसी प्राण को उसी मोहब्बत से नफरत करते हैं जैसे वे चालीस, पचास और साठ के दशक में करते थे। प्राण वे अभिनेता हैं जिन्होंने दर्शक-पीढ़ियों की खाई को सफलता पूर्वक पाटा है।

पिछले पचास बरसों में प्राण ने प्रतिवर्ष लगभग छह फिल्मों के आश्चर्यजनक औसत से कोई ३०० फिल्मों में अभिनय किया है। सन १९३९ में उनकी पहली फिल्म **यमला जट** (पंजाबी) लाहौर में पंचोली ने बनाई थी जिसकी नायिका तो अंजना थीं लेकिन उसमें १० वर्षीय **नूरजहाँ** ने भी एक भूमिका की थी। प्राण खलनायक थे। लाहौर में ही कुछ और पंजाबी फिल्मों के बाद जब १९४२ में उनकी पहली फिल्म **'खानदान'** बनी तो नूरजहाँ के विरुद्ध वे नायक की भूमिका में थे।

विभाजन के बाद १४ अगस्त १९४७ को प्राण बंबई पहुँच कर अपनी पत्नी और एक वर्ष की बिटिया के साथ ताजमहल होटल में ठहर गए। लगभग नौ महीने तक उन्हें कोई काम नही मिला। बीवी के गहने बिकते गए और वे उत्तरोत्तर, सस्ते और सस्ते होटलों में रहने को मजबूर हो गए। आखिरकार जब पानी बिलकुल नाक तक आ गया तभी बॉम्बे टॉकीज की तरफ से निर्देशक शाहिद लतीफ ने उन्हें देवआनंद-कामिनी कौशल के विरुद्ध 'जिद्दी' में एक छोटी-सी भूमिका और सौ रुपए एडवांस दिए। वह एडवांस उन्होंने शाम को अपने परिवार और एक पारिवारिक मित्र के साथ जश्न मनाते हुए खत्म भी कर दिया।

लेकिन यहाँ से फिर प्राण जो चल पड़े तो उन्हें आज दिन तक कभी मुड़कर देखने की जरूरत नहीं पड़ी। लाहौर वाले वली साहब ने उन्हें 'पुतली' हेतु, एस.एम.युसुफ ने 'गृहस्थी' तथा प्रभात ने 'अपराधी' के लिए अनुबंधित किया। इसके बाद तो बड़ी बहन/ शीशमहल/ अफसाना/ आह/ चोरी-चोरी/ नया अंदाज/ देवदास/ मधुमती/ जिस देश में गंगा बहती है/ काश्मीर की कली/ जब प्यार किसी से होता है/ गुमनाम/ दिल दिया दर्द लिया/ राम और श्याम/ उपकार/ जंजीर/ कसौटी/ अमर अकबर एंथनी/ दस लाख/ बॉबी/ डॉन/ धर्मवीर तथा अशोक कुमार के साथ विक्टोरिया नंबर २०३तथा विजय आनंद की 'जॉनी मेरा नाम' जैसी फिल्मों का एक अटूट सिलसिला चल पड़ा। दिलीप कुमार, राजकपूर तथा देवआनंद की त्रयी के प्राण ही एक अकेले 'प्रिय' खलनायक थे और उन्होंने अपनी-अपनी महत्वपूर्ण फिल्मों में उन्हें ही 'दो-दो हाथ' करने के लिए पसंद किया। वैसे राजकपूर ने 'आह' तथा 'बॉबी' में उन्हें लगभग सहानुभूतिजनक भूमिकाएँ दी थीं।

वास्तविक जीवन में भी धूम्रपान के शौकीन (यह काम उन्होंने दस साल की उम्र में ही शुरू कर दिया था) प्राण के साथ उनके द्वारा निकाले गए धुएँ के छल्ले काफी पहले से हुए। 'विलेन' जैसा अट्टहास उन्होंने सिर्फ 'दिल दिया दर्द लिया' में ही किया, जहाँ कि वह जरूरी था। अपने खलनायक युग की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में प्राण 'हलाकू'(चंगेजखान का बेटा) को कभी नहीं भूलते, जिसमें उन्होंने रुक-रुक कर, आवाज बदल कर अपने संवाद बोले थे।

'मॅनरिज्म' के अलावा प्राण अपनी वेशभूषा पर भी काफी ध्यान देते थे और

*प्राण और शकीला : फिल्म गेस्ट हाउस*





*तारिका श्यामा के साथ प्राण*

ही उनकी पहचान बन गए थे। 'बड़ी बहन' में जब वे पहली बार गीताबाली को देखने जाते हैं तो निर्देशक पहले कमरे में धुएँ के छल्लों को ही प्रवेश करके बतलाता है और प्राण को देखे बगैर दर्शक समझ जाते हैं कि 'प्राण' वहाँ आ चुका है। इस घटना का उल्लेख यहाँ इसलिए जरूरी था कि प्राण ने एक 'परिष्कृत' बुरे आदमी को हमेशा नए-नए 'मॅनरिज्म' (अदाओं) के साथ पेश किया और यह सारी करामात वे सिर्फ अपनी आँखों और आवाज के जरिए दिखाते रहे। 'लाउड' वे कभी नहीं इसके लिए वे अक्सर प्रसिद्ध हस्तियों की नकल करते थे 'खानदान' में उनका मेकअप हिटलर जैसा था तो 'जुगनू' में मुजीबुर्रहमान जैसा। एक अन्य फिल्म में उन्होंने अब्राहम लिंकन जैसी दाढ़ी भी रखी। जब खलनायकों के पात्रों में और ज्यादा विविधता लाना उनके लिए संभव न रहा, तो उन्होंने अपने आपको शक्ति सामंत की 'काश्मीर की कली' के साथ मसखरे खलनायक के रूप में ढालना शुरू कर दिया। इसी ढंग की खलनायकी उन्होंने 'दस लाख', 'दिल दिया दर्द लिया', 'खानदान' (१९६५) तथा 'पत्थर के सनम' में भी की।

प्राण के अभिनय कैरियर में एक महत्वपूर्ण मोड़ मनोज कुमार की 'उपकार' भी साबित हुआ, जिसमें उन्होंने 'मलंग बाबा' की शानदार भूमिका की और उसके साथ ही उन्होंने कुछ समय के लिए केवल सकारात्मक भूमिकाएँ कीं। प्राण मुख्यतः छोटे-छोटे पांच या छह सीन वाले प्रभावशाली रोल करना पसंद करते हैं।

महाखलनायक प्राण निजी जीवन में बेहद परोपकारी, मददगार तथा शालीन इंसान हैं। ईश्वर में विश्वास करते हैं लेकिन खुद में धार्मिकता है ऐसा वे नहीं मानते। खेलकूद की गतिविधियों में उनकी खूब दिलचस्पी है तथा फुटबॉल के शौक का तो यह आलम है कि उन्होंने 'डायनेमो क्लब' नाम की अपनी खुद की फुटबॉल टीम बना रखी है। इसके अलावा भी वे कई खेलकूद संगठनों के साथ सक्रिय रूप से जुड़े है। सन १९७७ में आपातकाल का लिखित रूप से, खुलेआम विरोध करने वाले वे पहले फिल्म कलाकार थे तथा जनता पार्टी की सरकार बनने पर मोरारजी भाई की आलोचना भी सबसे पहले उन्हीं ने की। वैसे प्राण गैर राजनीतिक व्यक्ति हैं। उनकी राजनीति सिर्फ फिल्म कलाकारों व तकनीशियनों की उनके वाजिब हक दिलवाने तक सीमित है।

और अंत में, उन्हें अभिनेता के रूप में प्राप्त मान-सम्मान तथा पुरस्कारों की सूची: तीन बार फिल्म फेयर का सर्वश्रेष्ठ सहायक अभिनेता का पुरस्कार, लगातार तीन वर्ष तक यही पुरस्कार शमा-सुषमा से। आंध्रप्रदेश फिल्म पत्रकार संघ के १४ पुरस्कार, बंगाल फिल्म पत्रकार संघ के सात पुरस्कार। लायंस क्लब दिल्ली और बंबई सहित कई प्रशंसक क्लबों और संघों के असंख्य पुरस्कार। फिल्म कलाकारों के सहायतार्थ धन संग्रह करने वाली 'फिल्म फंक्शन्स कमेटी' के वे बरसों प्रमुख संयोजक रहे हैं।

■ **प्रमुख फिल्में** : □ यमला जट (१९३९) □ खानदान (१९४२) □ जिद्दी (१९४८) □ बड़ी बहन (१९४९) □ आह/ आँसू (१९५३) □ अंगारे / मीनार/ पहली झलक (१९५४) □ बारादरी/ देवदास/ कुंदन/ मुनीमजी (१९५५) □ मिस इंडिया/ मि. एक्स/ अदालत (१९५७) □ मधुमती (१९५८) □ जालसाज (१९५९) □ बेवकूफ/ छलिया/ जिस देश में गंगा बहती है (१९६०) □ गुमनाम (१९६५) □ शहीद (१९६५) □ दिल दिया दर्द लिया/ दस लाख/ सावन की घटा (१९६६) □ मिलन/ राम और श्याम/ उपकार (१९६७) □ आदमी (१९६८) □ हीर रांझा/ जॉनी मेरा नाम/ पूरब और पश्चिम (१९७०) □ परिचय (१९७२) □ विक्टोरिया नंबर २०३ (१९७२) □ बॉबी/ जंजीर/ (१९७३) □ अंधा कानून/ नौकर बीवी का/ नास्तिक (१९८३) □ जागीर/ शराबी (१९८४) कर्मयुद्ध (१९८५) □ सुहागन (१९८६)। ■



# प्रेमनाथ

पृथ्वीराज कपूर के रिश्तेदार का बड़ा लड़का **प्रेमनाथ** आर्मी के अवसर छोड़कर, बंबई आ गया और पृथ्वी थिएटर में अभिनय के पाठ सीखने लगा जहाँ राजकपूर से मित्रता हुई, जो शीघ्र ही रिश्तेदारी में बदल गई जब कृष्णाजी से राजकपूर का विवाह हुआ। राजकपूर ने अपनी पहली फिल्म 'आग' में प्रेमनाथ को सहनायक की महत्वपूर्ण भूमिका दी। आग में प्रेमनाथ अमीर घर का नवयुवक है जिसे चित्रकला का शौक है और वह अपना पारिवारिक थिएटर अपने मित्र राजकपूर को देता है। दोनों एक ही लड़की से प्यार कर बैठते हैं और राजकपूर दोस्ती के नाम पर अपने प्यार की कुर्बानी देता है। दूसरी फिल्म 'बरसात' में प्रेमनाथ खिलंदड़ भँवरा है, जो औरतों को पैर की जूती या उपभोग मात्र की वस्तु मानता है- राजकपूर रूहानी प्यार में यकीन करता है। बरसात में 'पतली कमर है तिरछी नजर है' पर बेसाख्ता थिरक कर प्रेमनाथ ने दर्शकों के दिल में जगह बना ली और 'बादल' में स्वतंत्र नायक के रूप में स्थापित सितारे हो गए। आवारा में अतिथि भूमिका निभाई। राजकपूर, दिलीपकुमार और देवआनंद की प्रसिद्ध तिकड़ी के होते हुए भी प्रेमनाथ अपना स्थान बनाने में सफल रहे क्योंकि उनके अभिनय में ताजगी और तीव्रता दोनों ही थी। स्वभाव का खिलंदड़पन और आर्मी के युवक सा अक्खड़पन भी उनकी अभिनय शैली का हिस्सा था। प्रेमनाथ की चाल में पेंथर की गरिमा थी और संवाद इतने निर्भीक ढंग से बोले जाते थे कि श्रोता को यकीन हो जाता था कि वह अथॉरिटी से मुखातिब है।

प्रेमनाथ ने फिल्म जगत में प्रवेश इस अदा से किया कि उनके सामने सब बौने हैं- सुपिरियारिटी की यह भावना उनके व्यक्तिगत जीवन का भाग थी। मधुबाला को लेकर वे दिलीप से टकराए और 'सैमसन डिलाइला' में बीनाराय से प्रेम विवाह किया। उनके मन में राजकपूर से प्रतिस्पर्धा करने की भावना थी और सफल सितारा होते ही उन्होंने 'गोलकुंडा का कैदी' का निर्माण शुरू किया। इस फिल्म की असफलता से वे बौखला गए और उन्होंने संन्यास ले लिया। इन्हीं दिनों उनकी शगूफा भी असफल रही। कई वर्ष वे हिमालय में भटके और सिद्धि प्राप्त करने की कोशिश भी की। अपने टेम्परामेंटल पति के दबाव के कारण बीनाराॅय का संतुलन भी कुछ समय के लिए बिगड़ा। लम्बे वनवास के बाद दो फिल्मों ने प्रेमनाथ को फिर सफलता के सिंहासन पर बैठाया। वे फिल्में थीं- **जॉनी मेरा नाम** तथा **बॉबी**। अपनी दूसरी पारी में चरित्र अभिनेता और खलनायक के रूप में प्रेमनाथ अपने नायकों पर भारी पड़ने लगे.- **रोटी कपड़ा और मकान** तथा **शोर** में उन्होंने जानदार अभिनय किया। दूसरी पारी में प्रेमनाथ का भाव अठारह लाख रुपए प्रति फिल्म तक पहुँचा और उन दिनों वे अपने आपको जनरल कहते थे तथा सेवकों के नाम भी आर्मी के पदों के अनुसार होते थे। मोहन कुमार की 'अमीर गरीब' में प्रेमनाथ के अभिनय को सराहा गया। रणधीर कपूर के 'धरम-करम' में भी उनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी और शंकर भगवान से उनके संवाद के दृश्य अत्यंत लोकप्रिय हुए। धरम करम में उन्हें ईश्वर के बनाए हुए डिजाइन को बदलने का दंभ है। फिल्म के अंत में जब वे ऊपर वाले के डिजाइन को नहीं बदल पाते तो उनकी करुणा दर्शकों को अपने प्रभाव में जकड़ लेती है। प्रेमनाथ एक विलक्षण प्रतिभा के धनी थे परंतु अपने सनकीपन और औघड़पन के कारण उनका पूरा विकास संभव नहीं हुआ यद्यपि दोनों ही पारियों में उन्होंने धन और यश कमाया। ● **जयप्रकाश**

■ **प्रमुख फिल्में** : □ आग (१९४८) □ बरसात (१९४९) □ बादल/ सगाई/ बुजदिल/ दो सितारे/ शोखियाँ/ आन (१९५१) □ अनजान/ पर्वत/ साकी (१९५२) □ औरत/ दर्दे दिल (१९५३) □ चंगेज खान/ समुंदर (१९५७) □ जागीर (१९५९) □ अपनाघर/ डॉ. शैतान/ गेम्बलर (१९६०) □ पठान (१९६२) □ आम्रपाली (१९६६) □ जॉनी मेरा नाम (१९७०) □ राजा जानी/ शोर (१९७२) □ बॉबी (१९७३) □ कालीचरण (१९७६) □ फर्ज की कीमत (१९८५)। ■

अजीत

# नफासत-नजाकत के साथ खलनायकी

हिंदी फिल्मों में सफेद झक सूट/तितलीनुमा 'बो टाई' और कीमती पाइप-से धुआँ उड़ाते अँगरेजी-हिंदी के चुटीले, एक पंक्ति वाले संवाद सपाट चेहरे और विकृत दृश्य बोध के साथ उगलते **अजीत** उर्फ **हमीद अली खान** ने खलनायकी को एक नए ही अंदाज में पेश किया है। सत्तर के दशक में अजीत ने अपने इस अनोखी शैली के 'विलेन' को जन्म प्रकाश मेहरा की फिल्म **जंजीर** में तेजा की भूमिका के साथ दिया। लगे हाथों बतला दिया जाए कि यह वही 'जंजीर' फिल्म थी, जिसने अमिताभ बच्चन तथा लेखक जोड़ी सलीम-जावेद की तकदीर के दरवाजे भी खोल

कृष्ण निरंजन सिंह

# कुटिल नजरें

**कृ**ष्ण निरंजन सिंह का जन्म एक सितंबर उन्नीस सौ नौ को देहरादून में हुआ था। पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य वकालत के व्यवसाय से जुड़े थे। सीनियर केम्ब्रिज करने के बाद पिता उन्हें उच्च शिक्षा के लिए लंदन भेजना चाहते थे, मगर वे वकालत का पेशा न अपनाकर अन्य कोई व्यवसाय अपनाना चाहते थे। अपने दोस्तों के साथ मिलकर उन्होंने जंगली जानवरों को पकड़कर उन्हें चिड़ियाघरों में बेचने का व्यवसाय किया। यह कंपनी ज्यादा नहीं चली। के.एन. सिंह ने लखनऊ में आकर 'स्नोव्हाइट' नामक लॉण्ड्री खोल ली। लखनऊ में उनकी मुलाकात पहाड़ी सान्याल से हुई। अमर गायक सहगल से भी वे इन्हीं दिनों संपर्क में आए, जो रेमिंग्टन टाइपराइटिंग कंपनी के प्रतिनिधि के रूप में लखनऊ आते रहते थे। लॉण्ड्री का व्यवसाय भी चला नहीं। रुड़की में स्कूल खोलकर भी सफल व्यवसायी नहीं बन पाए। सन् १९३५ में वे बहन के ऑपरेशन के सिलसिले में कलकत्ता गए। यहाँ उनकी मुलाकात अपने पुराने दोस्त पहाड़ी सान्याल और सहगल से हुई। रिश्तेदारी के संदर्भ में उनका मिलना पृथ्वीराज कपूर से भी हुआ। पृथ्वीराज कपूर के घर पर ही विख्यात निर्देशक देवकी बोस ने उनके सामने फिल्मों में काम करने का प्रस्ताव रखा। पहली बार सन् १९३६ में फिल्म **'सुनहरे दिन'** में वे एक छोटी सी (डॉक्टर) भूमिका में परदे पर आए। देवकी बाबू की अगली फिल्म **'हवाई डाकू'** में उन्हें नायक के रूप में लिया गया। नायिका बनीं रामप्यारी।

बुरे आदमी के रूप में उन्हें पहली बार न्यू थिएटर्स की फिल्म अनाथ आश्रम (१९३७) में छोटी सी भूमिका मिली। इसके बाद ए.आर. कारदार की फिल्म 'मिलाप' में उन्होंने सरकारी वकील के रूप में काम किया। कारदार साहब उनसे काफी प्रभावित हुए। अपने साथ बंबई ले गए। बंबई में पहली बार **'बागबान'** में वे खलनायक बनकर आए





नायक अजीत, नायिका नलिनी जयवंत के साथ



दिए थे।

अजीत की शैली उनके पहले के खलनायकों (प्रेमचोपड़ा - रंजीत) तथा बाद के मुगाम्बो आदि से बिल्कुल भिन्न थी। उनके खलनायक के रूप में उद्भव के पूर्व ही प्राण की 'ड्राइंग रूम वाली' खलनायकी खत्म हो गई थी। अजीत की 'स्टाइल' किसी बड़ी कार्पोरेट कंपनी के प्रबंध निदेशक जैसी थी। वे निहायत ही तसल्ली के साथ अपने चेले- चपाटियों, [illegible] कुटिल मुस्कान के साथ वे अपनी 'मोना [illegible] निपटा देने में देर नहीं करते थे। मुक्केबाजी और मारा- मारी में उनका विश्वास नहीं था। नए-नए अस्त्र-शस्त्र, यातना के वैज्ञानिक उपकरण तथा हट्टे-कट्टे हुक्म के गुलामों की मदद से वे सिगार का धुआँ उड़ाते हुए नायक की चालों को तब तक नाकाम करते रहते थे, जब तक कि फिल्म की १७ वीं रील में नायक और उसके बाद 'पुलिस' उनका खेल एकबारगी खत्म नहीं कर देती थी। 'डोंट बी सिली, लिली' 'लिक्विड तुम्हें जीने नहीं देगा, ऑक्सीजन तुम्हें मरने नहीं देगी,' 'कहो तो फिर अंदर कर दूँ' जैसे उनके फिकरे उनके प्रशंसक अब भी दुहराते हैं। उनका यही रूप उनकी 'नौजवान,' 'जुगनू,' 'यादों की बारात,' 'धर्मा,' 'छुपा रुस्तम,' 'कालीचरण' जैसी फिल्मों में उजागर हुआ था।

अजीत का प्रवेश हिंदी फिल्मों में सन् १९४६ में छह वर्ष के लंबे संघर्ष के बाद 'शाहे-मिसर' नामक फिल्म से हुआ था। यह तथा इसके बाद की पाँच फिल्में, जिनमें एक 'बेकसूर' उन्होंने मधुबाला के साथ की थी, पिट गईं। इसके बाद १९४९ में निर्देशक ने हमीद अली खान का नाम बदलकर अजीत किया। फिल्मिस्तान की आई.एस. जौहर निर्देशित फिल्म **नास्तिक** में उनकी नायिका नलिनी जयवंत थीं और यह काफी सफल भी रही, लेकिन जल्दी ही अजीत ने यह महसूस कर लिया कि उनका खुरदरा चेहरा और तगड़ा जिस्म उस जमाने के फिल्मी नायकों की छवि के उपयुक्त नहीं था। उन्होंने बगैर किसी शिकवे के चरित्र अभिनेता की भूमिकाएँ स्वीकारनी शुरू कर दीं। 'नया दौर' और 'मुगल-ए-आजम' में दिलीप कुमार के साथ की हुई उनकी भूमिकाएँ अब भी याद की जाती हैं। 'मुगल-ए-आजम' के तमिल संस्करण के संवाद भी उन्हें अब तक शब्दशः याद हैं।

सन् १९८२ से वे धीरे-धीरे फिल्मों से निवृत्त होने लगे। उद्योग में अनुशासनहीनता और बढ़ता गैर पेशेवराना माहौल उन्हें रास नहीं आया। रही-सही कसर दिल की बीमारी ने पूरी कर दी। उनके हृदय की 'बाय-पास' शल्य क्रिया अमेरिका के प्रख्यात सर्जन डेंटन कूली ने खुद की है और तब से ही वे अपने गृहनगर हैदराबाद में अंगूर और अनार की खेती कर रहे हैं तथा कभी-कभार ही बंबई आ पाते हैं।

● हेमचंद्र पहारे

## *मोतीलाल से मुलाकात : सशर्त*

*के.एन.सिह यानी कृष्ण निरंजनसिह से मोतीलाल की पहली मुलाकात का किस्सा बड़ा दिलचस्प है। सन् १९२५ में किशनजी किसी शादी में दिल्ली गए थे। विवाह मंडप में काफी भीड़ जमा थी। अचानक सड़क पर एक ठेलेवाले ने आवाज लगाई। उसकी आवाज सुनकर किशन को उससे चुटकी लेने की इच्छा हुई। सभी इकट्ठा लोगों के सामने एकाएक खड़े होकर उन्होंने घोषणा की कि जो व्यक्ति अपना पाजामा उतारकर केवल नेकर में ही उस ठेलेवाले को बुला लाएगा, उसे मैं दस रुपए इनाम दूंगा।*

*इस चुनौती को एक युवक ने स्वीकार किया और वह केवल नेकर पहने बाहर गया और दूसरे ही क्षण ठेले वाला हाजिर था। दस रुपए का इनाम पाने वाला युवक मोतीलाल था और यहीं से किशनजी का पहला परिचय मोतीलाल से हुआ।*

*● शशि शर्मा*

तथा यह फिल्म हिट रही। सन् १९४२ में बनी 'एक रात' ने के.एन. सिह को हिंदी फिल्मों में खलनायक के रूप में स्थापित कर दिया तथा १९६० तक वे शीर्षस्थ खलनायक रहे।

सन् १९४३ से उन्होंने फ्री लांसर कलाकार के रूप में काम करना शुरू किया। 'महारथी कर्ण' एवं 'द्रोपदी' में वे दुर्योधन के रूप में आए। चरित्र अभिनेता के रूप में भी उन्होंने कई फिल्मों में काम किया। सफल खलनायक की अपनी धारणा बताते हुए वे कहते हैं कि बुरा आदमी वही सफल होता है, जो ऊपर से दिखाई सामान्य पड़े, मगर आंखों तथा संवाद अदायगी के तरीकों से अपनी कुटिलता दर्शा सके। दो सौ से अधिक फिल्मों में काम करने वाले इस कलाकार को अपनी प्रतिभा के अनुरूप प्रतिष्ठा कभी नहीं मिली।

**प्रमुख फिल्में :**

□ विद्यापति (१९३७) □ बागबान (१९३८) □ सितारा (१९३९) □ सौभाग्य (१९४०) □ एक रात/फिर मिलेंगे (१९४२) □ इशारा/पृथ्वीवल्लभ (१९४३) □ द्रौपदी/ज्वार-भाटा (१९४४) □ हुमायूं/मजदूर (१९४५) □ धरती के लाल (१९४६) □ बरसात (१९४९) □ आवारा/बाजी/हलचल/सनम/सजा/आंधियाँ (१९५१) □ जाल (१९५२) □ बाज/शिकस्त (१९५३) □ मेरिन ड्राइव/मिलाप (१९५५) □ फंटूश (१९५६) □ चलती का नाम गाड़ी (१९५८) □ बरसात की रात/छबीली (१९६०) □ दूल्हा-दुल्हन/वो कौन थी (१९६४) □ मेरा साया/तीसरी मंजिल (१९६६) □ बढ़ती का नाम दाढ़ी।

अमरीश पुरी

# मुगाम्बो खुश हुआ

**शे**खर कपूर की 'मिस्टर इंडिया' के मुगाम्बो तथा 'नगीना' के सपेरों के गुरु की भूमिकाओं से लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचने वाले अमरीश पुरी मूलतः मंच के अभिनेता हैं। बल्कि मंच पर भी अभिनय वे शौकिया तौर पर करते थे। वास्तव में वे अपना यह शौक केंद्रीय श्रम मंत्रालय में नौकरी करते हुए पूरा करते थे। थिएटर के साथ उनका नाता १९६१ में ही जुड़ गया था। फिल्मों में उनका प्रवेश काफी विलंब से (१९७३) श्याम बेनेगल की 'निशांत' से हुआ। इसके बाद उन्होंने उन्हीं की 'मंथन' और 'भूमिका' तथा सुनील दत्त की 'रेशमा और शेरा' में भी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ कीं।

अमरीश पुरी की पहली व्यावसायिक फिल्म थी फिरोज खान की 'कुर्बानी' (१९८०)। इससे पूर्व १९७५ में ही उन्होंने अपने आपको पूरी तरह फिल्मों से जोड़ लेने के उद्देश्य से अपनी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। थिएटर से उनका नाता पूरी तरह से अभी भी नहीं टूटा है। उनकी राय में थिएटर से रचनात्मक संतोष तो ज्यादा मिलता है, क्योंकि एक तो आपके काम के नतीजे आपको तत्काल दर्शकों की तालियों की गड़गड़ाहट से मिल जाते हैं। (फिल्मों में उनकी प्रतिक्रिया बहुत बाद में मिल पाती है) और दूसरे थिएटर से आपके काम पर अकेले आपका पूरा

## *वे दिन भी क्या दिन थे! -अजीत*

**आप टॉप के खलनायक थे फिर अचानक अपना अच्छा खासा फिल्म कैरियर आपने क्यों छोड़ा?**

एक तो हमें एक जैसे रोल मिल रहे थे। फिर बदलते युग की फिल्में और फिल्म मेकिंग से ऊब चुका था। हमने महसूस किया कि अब पहले वाला माहौल हमारा नहीं रहा। नए नायक-नायिका सीनियर कलाकारों की इज्जत नहीं करते। हम वक्त के पाबंद हैं। सेट पर नए कलाकारों का सारा दिन इंतजार करना अच्छा नहीं लगता। निर्माता लोग भी हीरो-वर्शिप करने लगे थे। ऐसे माहौल में हमारा दम घुटने लगा था। दो बार हार्ट अटेक भी आया। फिल्में छोड़ अपने फार्म हाऊस पर आराम करने चला गया।

**पर अब तो फिल्मों में खलनायक की स्थिति भी बिगड़ी है। ऐसे में आपकी वापसी क्या कुछ खास कर सकेगी?**

हमारे पुराने दोस्त के बेटे सलीम से हमारे पारिवारिक संबंध हैं। वे नहीं माने और हमें फिल्म 'पुलिस ऑफिसर' में रोल दे दिया। कहने लगे आपकी फिल्मों में वापसी के साथ इंडस्ट्री को एक नया विलेन भी मिल जाएगा। हम भी मना नहीं कर सके क्योंकि मैं भी एक कलाकार हूँ।

**आज की फिल्मों के खलनायक को देख पुराने दिन याद नहीं आते?**

मियाँ, हमारे जमाने में आज के खलनायकों जैसी भूमिकाएँ नहीं मिलती थी। हमारी फिल्मों में एक खास छबि बनी रहती थी। हमने अपनी फिल्मों में आज जैसे बलात्कार वाले दृश्य नहीं किए। आज की फिल्में हमें पसंद नहीं आती। आज अभिनेता के पास तीस-चालीस फिल्में होती हैं। वह अपने 'परफार्मेन्स' क्या देगा। पहले खलनायक अगर सड़क से गुजरता था तो लोग उसे गालियाँ देते थे। आज आटोग्राफ लेने उसके पीछे भागते हैं।

**आपने अपने जमाने की किन नायिकाओं के साथ काम किया है?**

हमारे ख्याल से सभी टॉप नायिकाओं के हम हीरो हुआ करते थे। जैसे गीताबाली/सुरैया/नलिनी जयवंत/मीना-कुमारी/निम्मी/शकीला/नसीमबानो/मधुबाला/बीनाराय।

**आपको शिकार का भी शौक रहा है?**

जी हाँ, मध्यप्रदेश में भोपाल के पास नया दौर की शूटिंग चल रही थी तो मैं, सलीम और जानीवाकर शूटिंग कर लौट रहे थे। एक शेर हमारे सामने आ गया। बस हमने अपनी बंदूक की गोली मारी, शेर मर गया। यही हमारा पहला शिकार था। अब शिकार पर भी बंदिश है।

**आजकल रोमांटिक फिल्मों के ट्रेंड में खलनायक का महत्व कम होता जा रहा है?**

जनाब, बहुत कुछ करने को होता है। अगर नकारात्मक चरित्र न हो तो सकारात्मक चरित्र उभरेगा कैसे। विलेन की स्थिति तो अनिवार्य है। फिल्म कोई भी हो विलेन अगर शक्तिशाली नहीं हो तो फिल्म के दूसरे पात्र उभरेंगे कैसे?

● जयसिंह रघुवंशी



नियंत्रण होता है। फिल्मों में आपका प्रदर्शन निर्देशक, कैमरामैन तथा अन्य सहयोगी कलाकारों पर भी निर्भर करता है। लेकिन फिल्मों में काम करने से पैसे के साथ-साथ कलाकार ज्यादा बड़े दर्शक समूह तक पहुँच पाता है।

अमरीश पुरी का दावा है कि अपनी तीखी अवलोकन क्षमता के कारण उन्होंने जो यादें अपने दिमाग में संग्रहीत कर रखी हैं उनके बल पर वे अभी भी, अपने को दुहराए बगैर, नए-नए चरित्रों को परदे और मंच पर साकार कर सकते हैं। उनके हिसाब से सुपरिभाषित चरित्र होने पर ही अभिनेता सफल होता है, फिर वह चाहे नायक की भूमिका कर रहा हो या खलनायक की।

खलनायक के रूप में भी अपने आपको दर्शकों में लोकप्रिय बनाने वाले अमरीश केवल दर्शकों को खुश करने के लिए कुछ नहीं करते। वे अपने आपको पूरी तरह निर्देशक के प्रति उत्तरदायी मानते हैं। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि एक अभिनेता दर्शकों के उपभोग की एक 'वस्तु' होता है। अंत में वही उसे 'स्वीकार' या 'अस्वीकार' करते हैं। वर्तमान में वे हिंदी सिनेमा के अग्रणी 'बुरे आदमी' हैं और भविष्य में भी 'अच्छा' काम करने की इच्छा रखते हैं चाहे पात्र 'विलेन' का हो या किसी 'चरित्र' का। यह सुपरिभाषित चरित्र चित्रण का ही परिणाम है कि निशांत में क्रूर जमींदार तथा भूमिका में सामंती कुलीन वर्ग के प्रतिनिधि की उनकी भूमिकाएँ हिंदी खलनायकों की पिटी-पिटाई छवि से काफी ऊपर उभरी हुई है और बाद की व्यावसायिक फिल्मों के उनके विकृत रूप-रंग तथा भंगिमाओं वाले खलनायक उनकी याद को विस्मृत नहीं पर पाए हैं।

■ **प्रमुख फिल्में:** □ निशांत (१९७३) □ मंथन (१९७६) □ ईमान-धरम (१९७७) □ आक्रोश/ दोस्ताना (१९८०) □ कलयुग (१९८१) □ शक्ति (१९८२) □ अंधा कानून/ अर्द्ध सत्य/ गाँधी/ मंडी/ विजेता (१९८३) □ दुनिया/ जागीर/झूठा सच/ मशाल (१९८४) □ मेरी जंग (१९८५) □ जाँबाज/ नगीना/ सल्तनत (१९८६) □ मि. इंडिया (१९८७) □ शहंशाह/ वारिस (१९८८) □ दाता/ दोस्त/ फर्ज की जंग/ इलाका/ मुजरिम/रामलखन/ सूर्या/ त्रिदेव/ यतीम (१९८९) □ अजूबा/सौदागर (१९९१)

● **प्रस्तुति : आदर्श गर्ग**

## रणजीत
# परदे का दरिंदा

रणजीत को दर्शकों ने फिल्मों में हीरोइनों के कपड़े फाड़ते, शोहदों के साथ सड़कों पर उधम मचाते या फिर तस्करी के दाँव-पेंच दिखाते एक दरिंदे के रूप में ही देखा है। लेकिन वास्तविक जिंदगी में रणजीत व्यसनों से दूर रहने वाले निहायत सादगी पसंद, संयमित और शाकाहारी व्यक्ति हैं। उन्होंने किसी का खून करना तो दूर, तमाचे के लिए कभी हाथ तक नहीं उठाया। करीब तीन सौ फिल्मों में विलेन की भूमिका निभाने वाले रणजीत का असली नाम **'गोपाल बेदी'** है। अमृतसर में जन्मे रणजीत फिल्मों में आने से पहले भारतीय वायुसेना में काम कर चुके हैं। वहाँ एक सैन्य अधिकारी की सुपुत्री के जरा ज्यादा करीब चले जाने के कारण वह नौकरी से दूर धकेल दिए गए। कुछ दिनों तक 'क्या-क्या न सहे जुल्मो सितम, बेवफा तेरे प्यार में' की तर्ज वाले गाने गाते रहने के बाद १९६७ में उन्होंने दूरदर्शन की नौकरी कर ली। नाटक भी तैयार करने लगे। यहीं से रणजीत को एक्टिंग का शौक लगा। सुनीलदत्त की मेहरबानी से उन्हें 'रेशमा और शेरा', शर्मीली तथा सावन-भादों आदि फिल्मों में खलनायक की भूमिकाएँ मिल गईं। एक बदमाश के रूप में दर्शक उनसे प्रभावित हुए। रणजीत ने खलनायकी को अपना पेशा बना लिया। एक लंबे अरसे तक प्राण और प्रेम-चोपड़ा के साथ वे शीर्षस्थ विलेन की श्रेणी में गिने जाते रहे। लेकिन, अमजद और कादर खान की घुसपैठ के बाद खलनायकी के मैदान में उन्हें 'रणजीत' से "रणछोड़" बनना पड़ा। आजकल उन्होंने निर्देशन का भार संभाल लिया है और 'गजब तमाशा' नाम से एक फिल्म पिछले दिनों रिलीज होकर उनकी तरह पिट चुकी है। ■

## डैन धनोआ
# खूबसूरत खलनायक

ऊँचे-पूरे **'डैन धनोआ'** खूबसूरत खलनायकों की श्रेणी में आते हैं। हालांकि बदमाशी में विशेषज्ञता हासिल न होने के कारण उन्हें 'गब्बरसिंह' या 'मोगाम्बो' जैसी 'उच्चस्तरीय' विलेन भूमिकाएँ तो नहीं मिली, लेकिन परदे पर बुरे आदमी के रूप में यह उनका शैशव काल है। जल्दी ही वह इस कला में महारत हासिल कर लेंगे। कदकाठी के अलावा उनका नाम भी आक्रामक होने के कारण उन्हें इसका अतिरिक्त फायदा मिलेगा। डैन धनोआ को सबसे पहले फिरोज खान ने अपनी फिल्म **'जाँबाज'** में मौका दिया था। एक पार्टी में फिरोज की नजर कुटिल नाक-नक्श वाले डैन पर पड़ी, तो वह काफी प्रभावित हुए और तुरंत 'जाँबाज' के मुख्य विलेन की चमचा जमात में से एक भूमिका हेतु उनका चुनाव कर लिया।

फिल्मों में आने से पहले डैन धनोआ एक जहाजी थे। अपने पैतृक शहर चंडीगढ़ से बंबई आकर उन्होंने एक जहाज पर नौकरी की। लेकिन जब फिरोज खान उन पर मेहरबान हुए तो उन्होंने अपनी व्यावसायिक नौका का रुख परदे की ओर कर लिया। जाँबाज के बाद उन्हें 'मर्द' में काम मिला। इसके बाद भी कई

छुटपुट भूमिकाएँ करते रहे। लेकिन अब तक कोई 'धमाकेदार रोल' वे नहीं कर पाए हैं। अलबत्ता दिव्या राणा जैसी अभिनेत्रियों के साथ उनका नाम जुड़ता रहा। अब वे मजहर खान की पूर्व पत्नी रूबैना से ब्याह रचा कर अपनी प्रेम यात्रा के जहाज का लंगर डाल चुके हैं। फिल्माकाश पर डैन को अपने डैनों की मजबूती का प्रमाण जल्दी ही देना होगा। ■

बॉब क्रिस्टो

## विदेशी विलेन

"हम टुमको खटम कर डेगा, बोलो हमारा सोना किडर रखा है।" इस तरह के डॉयलाग हिंदी फिल्मों में अक्सर एक गंजे, दढ़ियल और भीमकाय गोरे अँगरेज के मुँह से सुनने को मिलते हैं। विलेन की भूमिकाएँ निभाने वाले इन विदेशी ब्रांड श्रीमान का नाम है—'रॉबर्ट जॉन क्रिस्टोफाइड' उर्फ 'बॉब क्रिस्टो।' उनका जन्म ऑस्ट्रेलिया में हुआ था। वहाँ अपनी पत्नी की एक दुर्घटना में मौत से शोक संतप्त होकर उन्होंने मातृभूमि छोड़ने का फैसला कर लिया व अमेरिकी सेना में भरती हो गए। बॉब ने रोडेशिया और विएतनाम की लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं। उनके भारत आने के पीछे एक मजेदार कारण है। दरअसल एक विदेशी पत्रिका में भारतीय अभिनेत्री 'परवीन बॉबी' का चित्र देखकर वे आकृष्ट हो गए। इस खूबसूरत तारिका से ब्याह रचाने की ख्वाहिश लिए उन्होंने भारत आने का फैसला कर लिया। 'बॉब' को 'बॉबी' तो मिली नहीं, अलबत्ता बंबई के जिस मकान में वे किराए से रहते थे, उसकी मालकिन 'नर्गिस' से उन्होंने शादी कर ली। पत्नी के अनुरोध पर 'बॉब' ने हिंदी फिल्मों में किस्मत आजमाने का प्रयास किया। उनकी पहलवान छाप काया को देखकर संजय खान ने अपनी फिल्म 'अब्दुल्ला' में एक छोटी-सी भूमिका दे दी। इसके बाद 'बॉब क्रिस्टो' बंबइया फिल्मों के स्थायी अँगरेज विलेन बन गए। इस 'लाल मुँह के बंदर' को हिंदुस्तानी हीरो के हाथों पिटते देख दर्शक अत्यंत प्रसन्न होते हैं। परदे पर अपनी धज उड़ने के बावजूद 'बॉब' को भारत और भारतीय फिल्में बहुत रास आईं और वे यहीं के होकर रह गए हैं। ■





*दिनेश हिंगू के सामने खलनायकी करते प्रेम चोपड़ा और नीलू फूले*

प्रेम चोपड़ा

## बगल में छुरी

फिल्मों में 'वह कौन थी' तथा 'उपकार' जैसी फिल्मों द्वारा शुरूआत करने के पूर्व **प्रेम चोपड़ा** एक प्रकाशन-संस्था में क्लर्क थे। उन्होंने अपनी सबसे यादगार भूमिकाएँ 'बॉबी' तथा 'मर्द' में की हैं। इस विशिष्ट चर्चा में प्रेम अपने कैरियर के बारे में बतला रहे हैं—

**एक अभिनेता के रूप में आप अपने आप को इतने लंबे समय तक कैसे बनाए रख सके?**

इस मामले में मैं काफी भाग्यशाली रहा हूँ। नियमित व्यायाम और सही खुराक के द्वारा मैंने अपना अभिनेता के रूप में अच्छा रख-रखाव किया है। अभिनेता को हर वक्त जनता की नजर में रहना पड़ता है। उसे अपनी देखभाल करनी ही पड़ती है। वैसे मैं सोचता हूँ मेरे कैरियर की तो अभी शुरूआत ही हुई है। नहीं, मैं मजाक नहीं कर रहा हूँ। मेरा वक्त तो अब आया है। मैं ऐसी कई फिल्में कर रहा हूँ, जिनमें मैं ही प्रमुख खलनायक हूँ। एक ऐसे व्यक्ति के लिए यह बहुत बड़ी बात है, जिसने कोई साठ फिल्में तो ऐसी ही की हैं, जिनमें उसकी भूमिका सिर्फ दो दृश्यों की थी। अब मैं फिल्में तो कम कर रहा हूँ, लेकिन उनमें मेरी भूमिकाएँ महत्वपूर्ण हैं। एक अकेले 'विलेन' की फिल्मों का जमाना अब गुजर गया है और हमें वक्त की हवा के मुताबिक चलना सीखना ही पड़ता है।

**एक अभिनेता के रूप में अपनी पारी के बारे में आप क्या सोचते हैं?**

मैंने कभी अपनी कोई खास छवि बनाने के बारे में नहीं सोचा। मुझे अच्छी तरह पता था कि आप की कोई निश्चित छवि बने बगैर आप स्टार नहीं बन सकते। मैंने जो रास्ता अपने लिए चुना वह थोड़ा लंबा जरूर था, लेकिन उसके नतीजे मेरे लिए ठीक ही रहे। मेरे ख्याल से मैं अन्यों की अपेक्षा ज्यादा समय तक टिक पाया हूँ। हर सुपर स्टार एक बार अपनी छवि स्थापित कर लेने के बाद उसे भुनाने की कोशिश करता है। आज लोग अपनी एक अलग छवि बनाने के लिए खुद से संघर्ष कर रहे हैं, क्योंकि उनकी पुरानी छवि बिक नहीं रही है। मेरे निर्माता-निर्देशकों का मैं कृतज्ञ हूँ, जिनकी वजह से मुझे मेरे चरित्रों के द्वारा ही पहचाना जाता है। हर नए पात्र के साथ मैं नई जिंदगी जीता हूँ और मेरे जीवन की सबसे अच्छी बात मैं यही मानता हूँ। आज भी मुझे यदि कोई नकारात्मक भूमिका दी जाएगी, तो मैं खुशी से उसे स्वीकार कर लूँगा क्योंकि मुझे उस पात्र के पीछे निहित तर्क और नाटकीय तत्व का महत्व पता होगा। मैं पिटी-पिटाई भूमिकाएँ नहीं करना चाहूँगा क्योंकि उनका प्रभाव भी एक जैसा ही होता। मेरे ख्याल से मैंने इसी ढंग से जीना चाहा था और एक अभिनेता के रूप में मैं आइंदा भी ऐसे ही जीना चाहता हूँ। मैं अभिनेता के रूप में जिंदा रहना चाहता हूँ। परदे पर मैं जब भी आऊँ तो मैं जीवंत रूप में ही आना चाहूँगा।

**फिल्म उद्योग के बारे में आपकी क्या राय है?**

• हमारे थिएटरों की मौजूदा हालत, उनमें प्रदर्शन की खराब क्वालिटी तथा दर्शकों की इस माध्यम की कम समझ के कारण यह दृश्य-माध्यम उद्योग के लिए ज्यादा दिक्कतें पेश नहीं करता। मैं 'मूड' के मुताबिक प्रकाश-व्यवस्था का हामी हूँ, लेकिन ऐसे दृश्य देखकर मुफस्सिल के गाँव-कस्बों में दर्शक चिल्लाने लगते हैं 'अंधेरा है।' फिर भी निर्देशकों को केवल भव्य दृश्य प्रस्तुत करने के लिए मूल कहानी से भटक नहीं जाना चाहिए।

**अपनी जातीय जिंदगी के बारे में कुछ बतलाइए?**

मेरे पिता ही मेरी ताकत और सबसे बडा आसरा थे। स्वभाव से खामोश तथा खुशमिजाज मेरे पिता ही मेरे सारे कामकाज की देखभाल करते थे। उन्हें खोने के बाद ही मुझे महसूस हुआ कि मै उन पर कितना ज्यादा निर्भर था। मैं कुछ समय के लिए तो बिल्कुल बिखर ही गया था। काफी समय तक मैं सकते की हालत में रहा और एक बार तो मुझे फिल्में छोड़ ही देने का विचार आया। लेकिन, मेरे करीवी लोगों ने मुझे समझाया कि मुझे असलियत का सामना कर जिंदगी सामान्य ढंग से जीना शुरू करना चाहिए।

■ **प्रमुख फिल्में** : □ वो कौन थी (१९६४) □ शहीद (१९६५) □ मेरा साया/ तीसरी मंजिल (१९६६) □ उपकार (१९६७) □ झुक गया आसमान (१९६८) □ दो रास्ते/ वारिस (१९६९) □ हिम्मत/ कटी पतंग/ प्रेम पुजारी/ पूरब और पश्चिम (१९७०) □ हरे राम हरे कृष्ण (१९७१) □ अपराध/ बेईमान (१९७२) □ प्रेम नगर/ वचन (१९७४) □ बैराग/ महाचोर/ मेहबूबा (१९७६) □ ड्रीमगर्ल (१९७७) □ देस परदेस/ त्रिशूल (१९७८) □ काला पत्थर/ द ग्रेट गैम्बलर (१९७९) □ क्रांति/ नसीब (१९८१) □ खुद्दार (१९८२) □ बेताब/ पुकार/ सौतन (१९८३) □ मकसद (१९८४) □ अर्जुन/ मर्द (१९८५) □ नगीना (१९८६) □ कलयुग और रामायण (१९८७) □ शहंशाह (१९८८) □ क्लर्क/ दाता/ घराना/ संतोष (१९८९) □ प्रतिज्ञाबद्ध (१९९१)। ■

## चिरंजीत

# बंगला सिनेमा का रैम्बो

चिरंजीत को बंगाल का 'सिल्वेस्टर स्टेलान' (रैम्बो फेम) कहा जाता है। आम तौर पर चाकलेटी नायकों के लिए प्रसिद्ध बंगला सिनेमा के वे पहले 'रफ-टफ हीरो' हैं। बंगाल में 'एक्शन फिल्मों' की शुरूआत का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है। समकालीन युवा कलाकारों के बीच एक नई छवि लेकर उभरने वाले 'चिरंजीत' का असली नाम **'दीपक चक्रवर्ती'** है। उन्होंने अपने व्यावसायिक कैरियर की शुरूआत एक चित्रकार के रूप में की थी। सत्यजित राय की पारिवारिक बाल पत्रिका 'संदेश' के लिए वह रेखांकन किया करते थे, लेकिन सत्यजित राय के संपर्क में आकर उनका रुझान सिने-जगत की ओर हो गया। कुछ दिनों तक कलकत्ता दूरदर्शन और आकाशवाणी पर उद्घोषक का काम करने के बाद उन्होंने फिल्मों में छुटपुट भूमिकाएँ निभाना शुरू कर दी।

इसी बीच 'रंजन मजूमदार' ने 'चिरंजीत' के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखते हुए उन्हें 'सोने सोहाग' के हीरो की भूमिका सौंपी। परदे पर उनके मर्दाने डील-डौल और गैर परपरागत भूमिका को काफी पसंद किया गया। इसके बाद चिरंजीत 'गायक' और 'आघात' फिल्मों में शानदार अभिनय के लिए पुरस्कृत हुए। बंगला सिनेमा में तब तक उनकी गिनती अग्रणी कलाकारों में होने लगी थी। खास तौर पर उनका बलिष्ठ शरीर बंगाली युवकों के बीच शरीर सौष्ठव के जुनून का उत्प्रेरक रहा। सफल हीरो के रूप में स्थापित हो जाने के बाद 'चिरंजीत' अब फिल्म निर्माण की ओर उन्मुख हो चुके हैं। उनके द्वारा निर्देशित 'मर्यादा' बंगाल में काफी सफल रही है। ■




# डैनी डेंगजोग्पा

पुणे फिल्म और टेलीविजन संस्थान, जहाँ उनके साथ जया बच्चन तथा फिल्म निर्माता रोमेश शर्मा भी उनके सहपाठी थे, से अभिनय का पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद **डैनी** ने 'मेरे अपने' तथा '३६ घंटे' जैसी कई सफल फिल्मों में अभिनय किया। बाद में कई फिल्मों में खलनायकी करने के बाद उन्होंने प्रिंसेस गावा से शादी रचाकर कुछ समय के लिए फिल्मों में काम करना बंद कर दिया था। लेकिन उनकी रचनात्मक प्रेरणाएँ उन्हें वापस फिल्मों में ले आई है। इस हालिया साक्षात्कार में उन्होंने अपनी इसी वापसी के बारे में गुफ्तगू की है:—

**कृपया अपने फिल्मी कैरियर के बारे में कुछ बतलाइए।**

मैंने अपना फिल्मी जीवन पुणे फिल्म संस्थान में अभिनय के कोर्स में प्रवीणता पदक प्राप्त करने के साथ शुरू किया। मेरी पहली सफल फिल्म गुलजार की 'मेरे अपने' थी। इसके बाद एक खलनायक के रूप में खुद को स्थापित करने के पूर्व मैंने 'ये गुलिस्ताँ हमारा' तथा '३६ घंटे' जैसी फिल्मों में काम किया। इसके बाद मेरी 'फकीरा' भी बहुत सफल रही और मैंने लगभग ३० फिल्मों में अभिनय किया। मेरा खयाल है मैं एक परिपूर्ण अभिनेता हूँ। मेरा पारिश्रमिक निश्चित है, क्योंकि मैं जो कहता हूँ, वह करके दिखलाता हूँ। कम पारिश्रमिक पर काफी फिल्मों के प्रस्ताव मेरे पास आए, लेकिन मैंने उन्हें सिद्धांततः ठुकरा दिया। मैं अपनी 'प्राइस' के मामले में कोई समझौता नहीं करता।

**फिल्मों में वापस आने का विचार आपको**

**कैसे आया?**

'मैं कुछ वर्षों तक फिल्मों से बिलकुल बाहर रहा। फिर एक दिन सावन कुमार मेरे पास आए और उन्होंने मुझसे **'सनम बेवफा'** में एक भूमिका करने को कहा। यह फिल्म बहुत सफल रही। इसके कुछ महीनों बाद मेरे घनिष्ठ मित्र रोमेश शर्मा मेरे पास 'खुदा गवाह' में प्रमुख खलनायक की भूमिका का काफी आकर्षक प्रस्ताव लेकर आए। मुझे खुशी है कि उसमें मेरे काम को पसंद किया गया।'

**आपके पास कोई और फिल्में हैं?**

मेरे पास अच्छी भूमिकाओं वाली जो चार-पाँच फिल्में हैं उनमें 'चौराहा' (जितेन्द्र-जयाप्रदा) तथा 'गुरुदेव' (अनिल कपूर, ऋषि कपूर, श्रीदेवी) शामिल हैं। हालांकि मैं इस समय बिलकुल चुस्त-दुरुस्त हूँ तथा कई फिल्मों में काम कर सकता हूँ, मैं कुछ ही फिल्में काफी छाँट-बीन कर लेता हूँ।

**निर्देशक के रूप में अपने अनुभवों के बारे में कुछ बतलाइए।**

मैंने निर्देशन पहली बार **'फिर वही रात'** में किया था और टिकट खिड़की पर इस फिल्म के पिटने से मैं काफी हतोत्साहित हुआ। मैंने कुछ बरस तक कोई भी फिल्म निर्देशन करने के बारे में नहीं सोचा। कुछ बरस पहले मेरे मित्र रोमेश तथा मैंने दिल्ली के पास एक भूखंड वहाँ फिल्म स्टूडियो खोलने की नीयत से खरीदा था। उसी समय हम लोगों के हाथ एक अच्छी पटकथा लगी। हमने उसे फिल्माने का निर्णय कर लिया। 'बंधु' शीर्षक की यह फिल्म हिंदी और बंगाली दोनों भाषाओं में बनाई गई है और बहुत जल्दी रिलीज होगी।



*डैनी और नसीरुद्दीन शाह*

■ **प्रमुख फिल्में:** □ मेरे अपने □ खोटे सिक्के (१९७४) □ काला सोना (१९७५) □ फकीरा/ कालीचरण/ लैला मजनूं/संग्राम (१९७६) □ हीरा मोती (१९७९) □ अब्दुल्ला/काली घटा (१९८०) □ बुलंदी (१९८१) □ अंधा कानून (१९८३) □ अंदर बाहर/ जागीर/ कानून क्या करेगा/ करिश्मा (१९८४) □ जवाब/महाशक्तिमान/ प्यार झुकता नहीं/ युद्ध (१९८५) □ जीते हैं शान से/ पाप की दुनिया (१९८८) □ खोज/ यतीम (१९८९) □ विष्णुदेवा (१९९१) खुदा गवाह (१९९२) ■

अमजद खान

# गब्बरसिंह का 'हेंग-ओवर'

विज्ञान में स्नातक उपाधि प्राप्त करने के बाद **अमजद खान** जब फिल्मों में अपनी जगह बनाने की कोशिश कर रहे थे, उनकी तरफ रमेश सिप्पी का ध्यान गया और उन्होंने उन्हें 'शोले' में गब्बरसिंह की भूमिका सौंप दी। हिंदी फिल्म इतिहास की इस सफलतम फिल्म के बाद अमजद अब तक कोई पचास फिल्मों में काम कर चुके हैं, जिनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं 'चरस', 'हिम्मत-वाला', 'चोर-पुलिस', 'कुर्बानी' तथा सत्यजित रॉय की 'शतरंज के खिलाड़ी।' इस खास मुलाकात में वे अपनी भविष्य की योजनाओं के बारे में बतला रहे हैं :-



अमजद खान को रिझाते एक 'बड़ा आदमी'

**फिल्मों में आपका प्रवेश कैसे हुआ?**

'मेरे पिता जयंत फिल्मों के माहिर अभिनेता थे। जब मैं छोटा बच्चा था, तभी मैं अपनी मां के साथ स्टूडियो जाता। वहाँ शूटिंग देखता। कैमरा-ट्रॉली पर सवारी का आनंद भी लेता था। हाँ, सिनेमा मुझे भी आकर्षित करता था, लेकिन बचपन में मुझे 'सुपरमैन' जैसी फिल्में देखना ही अच्छा लगता था। इन दिनों जिस तरह हम लोग काम कर रहे हैं, उसे आदर्श स्थिति निश्चय ही नहीं कहा जा सकता। कोई भी अभिनेता फिल्म में ही लगातार काम कर उसे, एक साथ ही पूरी करना चाहेगा। इससे आप चरित्र को ठीक से विकसित कर पाते हैं तथा आपकी एकाग्रता भी भंग नहीं होती।

**आप अपनी सबसे अच्छी भूमिकाएँ किन्हें मानते हैं?**

आज तक की मेरी फिल्मों में **'शोले'** सबसे अच्छी है। वैसे बहुत से लोग **'लव स्टोरी'** तथा **'हिम्मतवाला'** की मेरी भूमिकाओं को भी याद करते हैं। जहाँ तक 'शोले' का सवाल है, वह बार-बार प्रदर्शित होती रहने के बावजूद आज १५ वर्ष बाद भी 'हाउस फुल' चलती है। मैं अपनी कोई निश्चित छवि बनाने में विश्वास नहीं करता, लेकिन मुझे अक्सर नकारात्मक भूमिकाएँ दी जाती हैं। मेहनत से नतीजे अच्छे निकलते हैं। इससे आपको अपनी गलतियाँ पता लगाने में मदद मिलती है।

**इतनी सारी सफल फिल्मों के बावजूद आपका कैरियर अचानक ढल क्यों गया?**

इसकी वजह मैं नहीं जानता। सच पूछिए तो मैंने अपनी सभी फिल्मों में अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करने की ही कोशिश की है, लेकिन आज हालत यह है कि आप पहले से अनुमान नहीं लगा सकते कि क्या चीज काम कर जाएगी और क्या नहीं। हर चीज यहाँ बहुत ही अनिश्चित है। जहाँ तक मेरा अपना सवाल है, अब मैंने अपनी भूमिकाएँ सावधानी से चुनना शुरू कर दिया है। पहले मैं इस बारे में बगैर ज्यादा सोचे, भावनाओं में बहकर भूमिकाएँ स्वीकार कर लेता था। यह चीज ठीक नहीं थी। सच कहूँ तो मुझे यह भी पता नहीं कि मेरी अभिनीत फिल्मों की क्या कीमत वितरकों को मिल रही है। जब बात आँकड़ों पर आती है तो बात सिर्फ हिसाब-किताब की रह जाती है।

छूमंतर/दिल आगे मैं पीछे/हम फंटूश हैं तथा 'कालीशंकर' में मेरी भूमिकाएँ अच्छी हैं। एक अभिनेता के रूप में मैं जो कुछ करने वाला हूँ उसके बारे में पहले से सोचने में विश्वास करता हूँ। चूँकि मेरी याददाश्त अच्छी है, मैं अपने संवाद एक-दो बार दोहराकर ही याद कर लेता हूँ। उसके बाद मैं सोचता हूँ कि अमुक दृश्य मैं कैसे करूँगा। मैं 'शॉट' के बारे में निर्देशक से भी चर्चा करता हूँ और पता लगाता हूँ कि वह क्या चाहता है, इसके बाद वह जैसा चाहता है, वैसा करता हूँ। खुश या बदकिस्मती से मैं एक अच्छा अभिनेता हूँ और सारी विनम्रता के बावजूद मुझे यह मानना ही पड़ता है। इस उद्योग में अब मुझे काफी समय हो गया है। एक्शन फिल्मों के दौर में भी जो मैं अपना अस्तित्व बनाए रख सका तो मैं उसे अपनी उपलब्धि मानता हूँ।

**इतने बरसों बाद अभिनेता के रूप में आप कैसा महसूस करते हैं?**

आखिर मैं भी एक इंसान हूँ। जिस तरह की चीजें मेरे साथ इधर घटी हैं, उनके बारे में थोड़ी तल्खी महसूस किए बगैर मैं कैसे रह सकता हूँ? लेकिन मैंने यह सोचकर अब उस पर काबू पा लिया है कि उससे मुझे भविष्य में कोई फायदा नहीं होगा। मैं दौड़ हार गया हूँ, लेकिन इसका दोष मैं घोड़े को नहीं दूँगा। लेकिन, यदि मैं हारा भी तो इससे क्या, मैं जानता हूँ कि मैं एक प्रतिभाशाली घोड़ा हूँ।

**प्रमुख फिल्में :**

□ शोले (१९७५) □ चक्कर पे चक्कर/हम किसी से कम नहीं (१९७७) □ गंगा की सौगंध/कस्मे-वादे/मुकद्दर का सिकंदर (१९७८) □ मि. नटवरलाल/सुहाग (१९७९) □ प्यारा दुश्मन/राम-बलराम (१९८०) □ बरसात की एक रात/कालिया/कन्हैया/लावारिस/नसीब/पाँच कैदी/प्रो. प्यारेलाल/याराना (१९८१) □ हिम्मतवाला/नास्तिक (१९८३) □ कामयाब/मकसद/मोहन जोशी हाजिर हो/तेरे-मेरे बीच में (१९८४) □ पाताल भैरवी/उत्सव (१९८५) □ अँधेरी रात में दिया तेरे हाथ में/लव एंड गॉड/नसीहत (१९८६) □ बीस साल बाद/नकाब (१९८९) □ लव (१९९१)। ■

शक्ति कपूर

# हास्य मिश्रित दुष्टता

शक्ति कपूर को बचपन से खेलों के प्रति लगाव तथा पढ़ाई के प्रति अरुचि रही। अच्छे खिलाड़ी होने के कारण पढ़ाई में उनका फिसड्डीपन स्कूल वाले सहन कर लिया करते थे। शरारतें करते, पिता की मार, फटकार सहते वे कैशोर्य की दहलीज तक पहुँचे। अच्छी कद काठी होने के कारण उनके पास मॉडलिंग के प्रस्ताव आए, मगर पिता के डर से वे राजी न हुए। परिचित पान वाले ने उनका डील डौल और अदाएँ देखकर उन्हें फिल्मों में जाने की सलाह दी। काफी मशक्कत के बाद वे पिताजी को मना पाए, उनके साथ ही निर्माता



*बात ऐसे बनेगी : शक्ति कपूर-प्रेम चोपड़ा*

ओमप्रकाश के पास गए। फिर शुरू हुई पूना के फिल्म संस्थान में प्रवेश तथा फिल्मी उद्योग में खलनायक के रूप में प्रतिष्ठित होने की कथा। **'सरगम'** में उनके अभिनय से संभावनाओं को पहचान कर निर्माताओं ने शक्ति को एक सशक्त खलनायक के रूप में ढालने की कोशिश की।

प्राण एवं प्रेमनाथ से प्रेरणा पाकर खलनायकी में हास्य का पुट देने की कोशिश शक्ति कपूर ने सफलता के साथ की। निर्देशक राघवेन्द्र राव तथा अभिनेता कादर खान ने इस काम में उनकी भरपूर मदद की। 'हिम्मतवाला' के बाद फिल्म 'मवाली' में उन्हें काफी सशक्त भूमिका मिली। उनकी प्रतिभा को उभारने, झिझक को दूर करने के लिए कादर खान ने विशेष रूप से संवाद लिखे। इसके बाद 'तोहफ़ा' में वे एक सफल खलनायक बन कर आए। 'इंसाफ का इंस्पेक्टर बेंडे', 'कहाँ है कानून' का गंभीर पुलिस अधिकारी, 'कर्ज चुकाना है' का सहृदय करोड़पति आदि ऐसी भूमिकाएँ हैं, जिनमें शक्ति कपूर के अभिनय के विविध आयाम प्रमाणित हुए हैं। 'कमांडो', 'आग ही आग' तथा 'बागी' में शक्ति कपूर ने खलनायकी को अलग ही अंदाज में पेश किया है।

शक्ति कपूर ने फिल्मों में नायक के रूप में भी जमने की कोशिश की थी। 'जख्मी इंसान' आदि फिल्मों की असफलता से खिन्न होकर वे पुनः खलनायकी की ओर झुक गए। वर्षों के अंतराल के बाद 'दिल आगे मैं पीछे' में वे पुनः नायक के रूप में अनुबंधित हुए हैं। अपनी सफलता की पृष्ठभूमि में वे पत्नी शिवांगी की भूमिका को अहम मानते हैं। उन्हें अफसोस यही है कि प्रतिभा को पूरी तरह से प्रदर्शित करने का उन्हें अब तक उचित अवसर नहीं मिल पाया। किसी खास छवि में कलाकार को सीमित कर देने की हिन्दी फिल्मी रीति को वे ठीक नहीं मानते। उनके अनुसार अभिनेता मात्र अभिनेता ही होता है। उसे नायक/ खलनायक/ विदूषक/ चरित्र अभिनेता आदि के खाँचे बनाकर कैद करने से उसकी मौलिक प्रतिभा समाप्त हो जाती है। ■

## गुलशन ग्रोवर

# तकियाकलाम के धनी

*गुलशन ग्रोवर की पाँचों अँगुलियाँ इस वक्त घी में हैं। अमरीशपुरी के बाद दूसरी पसंद के रूप में निर्माता विलेन की भूमिकाओं के लिए गुलशन को ही याद करते हैं। **सदमा** और **सोहनी-महिवाल** जैसी फिल्मों से खलनायकी की शुरूआत करने वाले गुलशन अब इंडस्ट्री के अग्रणी खलनायकों में धाक जमा चुके हैं। दीपक नास्ता ने उनसे बातचीत की:—*

**अपने आरंभिक कैरियर के बारे में कुछ बताइए?**

मैंने 'एक्टिंग' की विधिवत तालीम ली है। अच्छी शक्ल-सूरत के बावजूद मैं 'हीरो' इसलिए नहीं बना, क्योंकि निर्माताओं की चमचागिरी के गुण मुझमें नहीं थे। फिर मैंने सोचा कि हीरो बनकर एक-दो फिल्मों के सहारे मैं इंडस्ट्री में जगह नहीं बना पाऊँगा। लगातार सफलता के लिए भाग्य की जरूरत होती है, इसलिए मैं अन्य युवा कलाकारों की तरह हीरो बनने के चक्कर में भागने की बजाए विलेन बन गया। खलनायकी में विभिन्न भूमिकाओं के अवसर भी अधिक थे। आज मैं 'हीरो' नहीं तो क्या हुआ, इंडस्ट्री का सबसे खूबसूरत 'विलेन' हूँ।

**आप अभिनय की कौन-सी शैली में विश्वास रखते हैं?**

मेरी कोशिश निर्माता और दर्शक दोनों के साथ ईमानदारी बरतने की रहती है। मूल रूप से मैं एक भावुक व्यक्ति हूँ, इसलिए पर्दे पर भावाभिव्यक्ति मेरे लिए मुश्किल काम नहीं।

**आप अपनी फिल्मों में अकसर तकिया-कलाम का उपयोग करते हैं, इसके पीछे कोई खास वजह?**

पहली बार मैंने 'सोहनी-महिवाल' फिल्म में एक तकिया कलाम '**गन्ना चूस के**' का प्रयोग किया था। दर्शकों को यह काफी पसंद आया। इसके बाद 'राम-लखन' में सुभाष घई ने मुझे इसी तरह का एक संवाद '**आई एम ए बेड मैन**' तकिया कलाम की तरह बोलने को कहा। यह सचमुच मजेदार बात थी, क्योंकि सामान्यतः कोई भी आदमी खुद को बुरा नहीं बताता। लेकिन 'बेडमैन' के रूप में मुझे जो लोकप्रियता मिली, वो 'सुपरमैन' या 'स्पाइडरमैन' जैसे चरित्रों से कम नहीं थी। दरअसल दर्शक मेरे मुँह से किसी खास संवाद का बार-बार बोला जाना पसंद करते हैं। यह बात मैंने समझ ली है और इसीलिए अक्सर अपनी फिल्मों में तकिया कलाम का उपयोग करता हूँ।



*अपने उस्ताद कादरखान के साथ गुलशन*

**आगामी फिल्में?**

शुरूआती फिल्मों में मुझे महत्वहीन भूमिकाएँ मिली थीं। मैंने अपने अभिनय से छोटी भूमिका में भी जान डालने की कोशिश की। यही वजह है कि अब मुझे वजनदार रोल मिल रहे हैं। मेरी आगामी फिल्मों में आखिरी इंतकाम/नीली आँखें/सपने साजन के और टाइम मशीन प्रमुख हैं। ■

---

# सदाशिव अमरापुरकर

महाराष्ट्र के नगर अहमदनगर में पारंपरिक पंडित परिवार में जन्मे **सदाशिव अमरापुरकर** को बचपन से ही क्रिकेट तथा अभिनय आकर्षित करता रहा। धीरे-धीरे उन्होंने स्कूल के नाटकों में भाग लेना शुरू किया। उनका अभिनय सराहा जाने लगा। समाज शास्त्र में एम.ए. की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे कुछ दिनों तक आकाशवाणी में उद्घोषक रहे। बाद में अभिनय को गंभीरता से अपनाकर इंडियन नेशनल थिएटर से जुड़ गए। इसी संस्थान की प्रस्तुति 'हैण्ड्स अप' में उन्हें पुलिस इंसपेक्टर के रूप में कार्य करते हुए गोविन्द निहलानी ने देखा तथा 'अर्धसत्य' के लिए चुन लिया। अमरापुरकर को लगा कि गोविन्दजी संभवतः उन्हें पुलिस इंसपेक्टर वाली भूमिका देंगे मगर उन्हें मिली भूमिका अंडरवर्ल्ड के दादा की। इस भूमिका को सहज स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से अदा कर वे भारतीय फिल्मों के चहेते खलनायक बन गए। अनिल शर्मा की 'ऐलाने जंग' ने उन्हें खलनायक के रूप में स्थापित करने में काफी सहायता दी।

सदाशिव अभिनय की गहराइयों को मौलिक रूप से परिभाषित करते हैं। वे कहते हैं अभिनेता तभी सफल होता है जब वह अभिनय न कर रहा हो। अर्थात स्वाभाविक रूप से स्वयं को पात्र में समाहित कर देने की कला को ही वे सफल अभिनेता का गुण मानते हैं। बिना किसी संघर्ष तथा बिना प्रशिक्षण के फिल्मों में सफल हुए सदाशिव का कहना है कि प्रशिक्षण आदि सफलता के लिए सहायक हो सकते हैं मगर अनिवार्य नहीं। अनिवार्य तो लगन, निष्ठा तथा परिश्रम है। माँस-मदिरा तथा मोहिनी से दूर रहने वाले सदाशिव चरित्र अभिनेता के रूप में भी स्थापित होना चाहते हैं। एक निर्माणाधीन फिल्म में उन्हें ऐसी भूमिका मिली भी है। इसमें वे ऐसे सज्जन किंतु कुरूप पात्र की भूमिका कर रहे हैं जिसे कुरूपता के कारण पत्नी त्याग देती है।

सदाशिव अमरापुरकर का कहना है कि अच्छे अभिनेता को धैर्यधारी होना चाहिए। दरअसल दूसरों की बात सुनकर प्रतिक्रिया



**प्रमुख फिल्में :** ☐अर्द्धसत्य (१९८३) ☐जवानी (१९८४) ☐आगत/ नासूर/ तेरी मेहरबानियाँ (१९८५) आखिरी रास्ता/ औरत/ मुद्दत (१९८६) ☐हुकूमत (१९८७) ☐कालचक्र (१९८८) ☐दाता/ ईश्वर/ ऐलाने जंग/ लश्कर (१९८९) ☐फरिश्ते/हफ्ता बंद/ सड़क (१९९१)।

व्यक्त करना ही अभिनय है। बकौल उनके अभिनय (एक्ट) महत्वपूर्ण नहीं, महत्वपूर्ण तो 'रिएक्शन (प्रतिक्रिया) है। उनकी तमन्ना है कि अच्छे अभिनेता के रूप में उनकी पहचान बने। पिछले दिनों महेश भट्ट की फिल्म **'सड़क'** में नारी पात्र 'महारानी' का रोल कर सदाशिव ने सबको चमत्कृत कर दिया है।

● **सुषमा कस्बेकर**

## दक्षिण से चिरंजीवी

हिंदी फिल्म 'प्रतिबंध' के नायक **चिरंजीवी** का जन्म आंध्रप्रदेश के मोगुलतार कस्बे में हुआ था। बी.ए. पास करने के बाद उन्होंने चेम्बर स्कूल ऑफ एक्टिंग में अभिनय का प्रशिक्षण लिया। सन् १९७८ में वे 'प्रनाम खरीदू' में पहली बार पर्दे पर आए। धीरे-धीरे वे तेलुगु फिल्मों के अमिताभ बच्चन माने जाने लगे। तेलुगु फिल्मों में उनका नाम ही बॉक्स ऑफिस सफलता की कुंजी माना जाता है। उनकी सन् १९७९ में प्रदर्शित हुई तेलुगु में बनी फिल्म 'अत्ता की यमाडु अम्मायिकी मौगुडू' बाद में रजनीकांत को लेकर तमिल में बनी। दक्षिण के हास्य अभिनेता रामलिंगाया की पुत्री सुरेखा से विवाहित चिरंजीवी दो बच्चों के पिता हैं। हिंदी फिल्म **'प्रतिबंध'** उनकी तेलुगु फिल्म 'अंकुसम' पर आधारित है। चिरंजीवी के अभिनय की विशेषता उनके भाव प्रदर्शन की अद्भुत क्षमता है। सहजता के साथ वे एंग्री यंग मैन का रोल करते हैं, उसी सहजता के साथ वह रोमांटिक प्रेमी की भूमिका भी कर लेते हैं।

### जय कालगुटकर

## खतरनाक आँखें

जिसने भी फिल्म **१०० डेज** देखी है, वह फिल्म के विलेन **'जय कालगुटकर'** की कौंधती हुई खौफनाक आँखें नहीं भूल सकता। इस नए खलनायक की आँखों पर पूरी इंडस्ट्री की नजर जमी है। ऊँचे डील-डौल, कातिलाना आँखों और हंगामाखेज हाव-भाव के बल पर पहली ही फिल्म से उन्होंने तहलका मचा दिया है। चालीस वर्षीय जय पेशे से एक बैंक अधिकारी होने के बावजूद मराठी रंगमंच पर काफी समय तक सक्रिय रहे। उन्होंने माधव खाडिलकर के निर्देशन में शौकिया तौर पर नाटकों में काम किया। पेशेवर अभिनय को अपनाने की मंशा न होने के कारण 'जय' मंजू असरानी के टी.वी. सीरियल 'कशमकश' में एक छोटी सी भूमिका निभाने के लिए भी लाख मान-मनौव्वल के बाद राजी हुए। जब फिल्म निर्माता 'प्राणलाल मेहता' की नजर उन पर पड़ी तो उन्होंने फिल्म '१०० डेज' में विलेन की भूमिका के लिए 'जय' को अनुबंधित कर लिया। फिल्मों में अभिनय का अनुभव न होने से 'जय' थोड़े विचलित हुए, तो 'प्राणलाल' ने उनसे कहा कि 'परदे पर मुझे सिर्फ तुम्हारी आँखें चाहिए, उन्हें और भयानक बनाओ।'

जय बताते हैं कि आँखों से उन्हें बहुत फायदा मिला है। बैंक में अपने मातहतों को 'लाइन' पर लाने के लिए भी वे इसका इस्तेमाल करते हैं।

उनके सामने आँख उठाकर देखने की हिम्मत कोई नहीं कर सकता। 'जय' के साथ सिर्फ एक दिक्कत है कि 'कोमलांगियाँ' उनसे 'नैन मिलाने' में कतराती हैं। '१०० डेज' की शूटिंग के दौरान फिल्म की हीरोइन 'माधुरी' जय को सेट पर देखते ही छिपने का स्थान ढूँढने लगती थी। ■

## मोहनीश बहल

*फिल्म इंडस्ट्री में विनोद खन्ना, शत्रुघ्न सिन्हा खलनायक से लोकप्रिय नायक बन गए। धर्मेंद्र और अमिताभ बच्चन जैसे आज के स्टारों ने भी अपने कैरियर के शुरूआत में कुछ फिल्मों में खलनायक की भूमिका निभाई थी। लेकिन,* ***मोहनीश बहल*** *ने तो अपना कैरियर बतौर नायक 'तेरी बाहों में'/'बेकरार'/'मेरी अदालत'/'ये कैसा फर्ज' और 'पुराना मंदिर' से शुरू किया था। वह नायक के रूप में असफल रहा। जैसे ही वह खलनायक बना, तो वह दर्शकों का चहेता हो गया। मोहनीश 'मैंने प्यार किया', 'बागी', 'प्यार का साया' और फिल्म 'शोला और शबनम' में एक सफल खलनायक बन-कर उभर कर आया है। मुलाकात के अंश:—*

**फिल्म 'मैंने प्यार किया' में आपको खलनायक की भूमिका करने का अवसर कैसे मिला?**

फिल्म 'मैंने प्यार किया' में मुझे खलनायक की भूमिका बड़ी मुश्किल से मिली थी। मैं इस रोल को माँगने के लिए बड़जात्या के पास खुद गया था सलमान खान ने इस रोल को दिलवाने की बहुत कोशिश की थी। इस प्रकार मुझे यह रोल मिल गया।

**जब नायक के रूप में आप असफल रहे, उस समय आपने कैसा महसूस किया?**



नायक के रूप में असफलता मिलने पर मुझे बहुत दुःख हुआ। करीब तीन वर्ष तक मुझे बेकार घर बैठना पड़ा। लेकिन 'बेकरार' फिल्म में मेरे अभिनय की काफी प्रशंसा हुई थी।

**आप पायलट बनना चाहते थे, क्या यह सच है?**

हाँ, यह सच है कि मैं पायलट बनना चाहता था। पर मेरी मम्मी को इसमें खतरा महसूस हुआ। मेरी इच्छा थी कि मैं अमेरिका में रहकर ही व्यापार करूँ। कुछ दिन मैंने न्यूजर्सी के एक होटल में काम भी किया था। अपने माता-पिता को छोड़कर दूर अकेला नहीं रहना चाहता था, इसलिए भारत लौट आया।

**खलनायक की भूमिका को अपना कर क्या आप संतुष्ट हैं?**

हाँ, 'प्यार का साया' में खलनायक की भूमिका करके मुझे असफलता नहीं मिली। अब मेरे अभिनय में परिपक्वता आ गई है। मैंने सफलता पा ली है। फिल्म 'मैंने प्यार किया' से ज्यादा फायदा हुआ है। इस फिल्म से सलमान खान, राम-लक्ष्मण और मुझे ज्यादा फायदा हुआ है। फिल्म 'बागी' में मैंने जग्गू नाम के दलाल की भूमिका की थी। सलमान की जिद्द थी कि मैं वह रोल करूँ।

**खलनायक की भूमिका करने पर आप क्या अंतर महसूस करते हैं?**

पहले मैं अपनी ही इमेज की भूमिका करना चाहता था। जब मुझे नायक की भूमिका न मिलने का आभास हुआ तब मैंने खलनायक की भूमिकाएँ करने का फैसला कर लिया। यह कठोर सत्य है कि जिसे मैंने अपनाया है, अब मुझे महत्वपूर्ण भूमिकाएँ मिल रही हैं।

**आप कौन-कौन सी फिल्मों में खलनायक की भूमिका कर रहे हैं?**

फिल्म 'प्लेटफॉर्म' में अजय देवगन व पृथ्वी के साथ हूँ। 'शोला और शबनम' में गोविंदा के साथ खलनायक की भूमिका की है। 'हनीमून' में निगेटिव और पॉजिटिव दोनों तरह की भूमिका है। चिंटू के साथ 'बोल राधा बोल' और 'चंद्रमुखी' में हूँ। दर्शक कहाँ तक मुझे प्रोत्साहन देते हैं, यह देखना है।

**एकता से शादी करने का ख्याल आपके मन में कैसे आया?**

एकता की मेहनत देखकर मैं प्रभावित हो गया। वह ऐसी लड़की है कि यदि घर में खाने को कुछ न हो तो वह स्वयं अपने हाथों से खाना बना सकती है। घर में नौकर-चाकर न हों तो घर की सफाई भी कर सकती है। वह एक समझदार लड़की है। वह बीस साल की है और मैं तीस साल का।

**आप अपना आदर्श किसे मानते हैं?**

मैं अपना आदर्श अपनी माँ (नूतन) को ही मानता हूँ। मैंने अपनी माँ से बहुत कुछ सीखा है।

● **इंटरव्यू : बानो अली**

## खण्ड-५

## हास्य नायक



हँसी के उजाड़ में...

# हास्य नायक एक कॉमेडियन अनेक

● हेमचंद्र पहारे

हिंदी फिल्मों में हास्य की परंपरा नहीं रही है यह कहना तो उचित नहीं होगा लेकिन उनमें वह एक दुर्लभ जिंस की तरह ही उपस्थित रही है। भारतीय साहित्य और मंच पर भी हास्य को एक दोयम दर्जे की चीज ही माना जाता रहा है। एक संपूर्ण हास्य नाटक, कहानी या उपन्यास हमारे यहाँ खोजने पर मुश्किल से ही पाया जा सकता है। सिनेमा के मूक-युग में जबकि हॉलीवुड और ब्रिटेन में जहाँ सर्वकालिक श्रेष्ठ हास्य अभिनेता पैदा हुए वहीं हमें अपने **याकूब, दीक्षित, चार्ली, बी.एच. देसाई, मजनू** तथा **गोप** से ही काम चलाना पड़ा तथा इन्होंने भी ज्यादातर चार्ली चैप्लिन, हार्डी-लॉरेल, मार्क्स बंधु तथा नार्मन विजड्म के ही हिंदी संस्करण पेश करने का प्रयास किया और इसमें उन्हें एक हद तक सफलता भी मिली। हिंदी फिल्मों की हास्य परंपरा में जो एक विचित्र रुझान हमेशा देखने में आता रहा वह यह कि सफल हास्य कलाकार अपनी उपलब्धियों के शिखर पर पहुँच एक-दो फिल्मों में नायक बने और फिर फिल्म के असली नायक पर जब भारी पड़ने लगे, तो धीरे-धीरे उनकी भूमिकाएँ छोटी होती चली गईं और वे दृश्य से पूरी तरह लुप्त हो गए। दूसरी तरफ नायक जब गंभीर भूमिकाएँ करते हुए शिखर पर पहुँचते तो उनमें हल्की-फुल्की या हास्य भूमिकाएँ भी करने की इच्छा पैदा होने लगी और वे स्वयं हास्य कलाकार बन लोगों को हँसाने लगे। शुद्ध रूप से हास्य नायक या महानायक की जो समृद्ध परंपरा विदेशी फिल्मों में देखने में आती है उसके उदाहरण हिंदी बल्कि भारतीय फिल्मों में भी उँगलियों पर गिने जाने लायक ही हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कॉमेडी या हास्य हिंदी फिल्मों का प्रमुख या महत्वपूर्ण घटक कभी भी नहीं रहा बल्कि हमारी फिल्मों में उसकी उपस्थिति लगभग उतनी ही रही जितनी शेक्सपीयर की महान त्रासदियों में थी। हिंदी फिल्मों के हास्य कलाकारों की सबसे बड़ी खासियत यही कही जा सकती है कि इस 'सौतेले' व्यवहार के बावजूद उनमें से कई ने अपनी अलग पहचान बनाने में सफलता प्राप्त की। हिंदी फिल्मों के प्रारंभिक युग में **बी.एच. देसाई** ने बॉम्बे टॉकीज की 'बसंत', 'किस्मत' तथा 'झूला' जैसी फिल्मों में अपनी प्रतिभा कुछ इस तरह प्रदर्शित की कि 'आठ दिन' जैसी फिल्म में जब उन्हें एक गंभीर स्थिति में 'मरने' का अभिनय करना पड़ा तो दर्शक उस हाल में भी उन्हें देखकर ठहाके लगाने लगे और दृश्य का प्रभाव ही नष्ट हो गया। देसाई को गुजराती भाषी होने के कारण हिंदी संवाद बोलने में कुछ दिक्कत आती थी लेकिन अपनी इस कमी को उन्होंने अपनी बढ़िया शैली के द्वारा कुछ इस निपुणता से पूरा किया कि सआदत हसन मंटो ने एक पूरा लेख उनकी अभिनय कला पर लिख डाला।

बस्टर सीटन शैली के दूसरे उल्लेखनीय हास्य कलाकार थे **दीक्षित**, जो परदे पर स्वयं

**जो दूसरों को हँसाता है, वह सीधा स्वर्ग जाता है। लेकिन हिंदी फिल्मों में हास्य की परंपरा समृद्ध नहीं रही है। भारतीय साहित्य और रंगमंच पर भी हास्य को दोयम दरजे की चीज माना जाता रहा है। शायद भारतवासी अब तक इस तलाश में हैं कि किस पर हँसे और हँसे तो कैसे हँसे।**

कभी नहीं मुस्कराते थे। उनका सपाट चेहरा देखकर **'पगड़ी'**, **'आपकी सेवा में'** तथा मराठी 'बायल वेड़ा' के दर्शकों के पेट में बल पड़ जाते थे। दीक्षित ने केसरी के साथ मिल हार्डी-लॉरेल के ढंग की कॉमेडी भी सफलतापूर्वक की।

**गोप** और **याकूब** के साथ हिंदी फिल्मों में खलनायक हास्य अभिनेता का मिश्रण भी लोकप्रिय हुआ। **चार्ली**, जो बाद में पाकिस्तान चले गए, की 'संजोग' फिल्म बहुत ही सफल हुई थी। इस फिल्म के एक गीत 'पलट तेरा ध्यान किधर है' को आजकल के 'ओए, ओए' की तरह सरकार को प्रतिबंधित करना पड़ा था। याकूब की उल्लेखनीय फिल्मों में महबूब का मदर इंडिया का पहला संस्करण **'औरत'**, **'दीदार'** तथा 'हलचल' थी। 'हलचल' में उनके संवाद "इतनी बेरहमी से मारा जालिमों ने, सोचा भी नहीं रोज का आना जाना है" ने उन्हें भारतीय दर्शकों का चहेता पात्र बना दिया था। **गोप** को हिंदी फिल्मों का हार्डी कहा जा सकता है। वे अक्सर एक बौड़म या नाकारे पात्र की भूमिका करते थे। हास्य फिल्मों के पहले सुपर स्टार **भगवान** हैं। उनके अभिनय में जो एक तरह की बेपरवाही और घनघोर आत्मविश्वास था उसकी बराबरी बहुत ही कम लोग कर पाए हैं। आज के सुपर स्टार **अमिताभ** भी भगवान की नृत्य शैली के बहुत बड़े प्रशंसक हैं। सी.रामचंद्र के संगीत से सजी भगवान की फिल्म 'अलबेला' ने हिंदी फिल्मों में 'हास्य संगीत' फिल्मों की एक नई विधा को जन्म दिया। भगवान जब नाचते और गाते थे तो दर्शक भी उनका साथ देते थे।

चेतन आनंद की 'आँधियाँ' के साथ **जॉनी वॉकर** अपनी एक अलग शैली लेकर आए। सींकिया बदन, शराबियों जैसी ऊँची पट्टी पर खींच कर बोली गई उनकी आवाज तथा उनके अद्भुत 'टाइमिंग सेंस' ने उन्हें 'आरपार', 'मिस्टर एंड मिसेज ५५', जैसी फिल्मों के साथ एक कॉमेडियन के रूप में स्थापित कर दिया। लेकिन जॉनी वॉकर इन फिल्मों में जिस तरह नायक पर हावी हुए उससे उनके जमाने के कई नायकों ने उनके साथ काम करना बंद कर दिया। लेकिन उस समय उनकी लोकप्रियता का आलम यह था कि निर्माताओं ने उन्हें नायक लेते हुए ही 'मिस्टर कार्टून एम.ए.', 'छू मंतर', 'जॉनी वॉकर' जैसी सफल फिल्में बना डाली। भगवान के साथ जो बात सी.रामचंद्र की रही वही जॉनी वॉकर के साथ ओ.पी. नय्यर के संगीत ने की।

पचास और साठ के दशक के हास्य-कलाकारों में दो अन्य उल्लेखनीय नाम थे **आगा** और **ओमप्रकाश**। आगा ने तो शुरूआत नायक तथा चरित्र अभिनेता के रूप में दिलीप की ज्वार-भाटा तथा अमिय चक्रवर्ती की 'पतिता' के साथ की लेकिन बाद में उन्हें भी हास्य-कलाकार नायक के रूप में **'पिलपिली साहब'** तथा **'ऊटपटांग'** जैसी फिल्मों में काम करने का अवसर मिला। दक्षिण भारत के जेमिनी तथा ए.वी.एम. जैसे बैनरों की फिल्मों में **आगा** और **ओमप्रकाश** अनिवार्य रूप से उपस्थित रहते थे। ओमप्रकाश ने भी 'दस लाख', 'खानदान' जैसी दक्षिण की पारिवारिक सामाजिक फिल्मों में उसी शैली का अभिनय करते हुए दर्शकों को हँसाने में सफलता प्राप्त की।

दक्षिण भारत की ही जेमिनी और ए.वी.एम. की फिल्मों 'बहार' तथा 'लड़की' के साथ आगमन हुआ **किशोर कुमार** का जिन्हें हम एक ऐसा 'विशेषज्ञ कॉमेडियन' कह सकते हैं जिसने इसी हैसियत से नायक का दर्जा हासिल किया। बिमल रॉय की 'परिवार' तथा 'नौकरी' में ट्रेजी-कॉमेडी पात्रों का तथा रागिनी तथा खुद की 'दूर गगन की छाँव में' में गंभीर भूमिकाएँ करने के बावजूद किशोर ने हास्य कलाकार के रूप में अद्भुत बहुविधता का परिचय दिया। 'नई दिल्ली' 'बेगुनाह', 'पहली झलक', 'शरारत', 'अधिकार' तथा 'चलती का नाम गाड़ी' के खुशमिजाज, जरा सनकी से, युवा नायक के साथ ही साथ उन्होंने 'पड़ोसन' तथा 'प्यार किए जा' जैसी फिल्मों में सुपरिभाषित हास्य

*आगा और हेलन : हिप-हिप हुर्रे!*





*आय.एस. जौहर : देखो मेरी अकड़?*

भूमिकाओं को सफलतापूर्वक अंजाम दिया। हास्य अभिनय के 'टाईमिंग' और 'इंप्रोवाइजेशन' जैसे तत्वों में किशोर की बराबरी बहुत ही कम कलाकार कर पाए हैं। हँसाने की कला उन्हें जन्मजात प्राप्त थी। उनकी नृत्य और गायन निपुणता में हास्य का जो मिश्रण उन्होंने किया वह सिर्फ वही कर सकते थे।

पूरी लंबाई की हास्य फिल्में बनाने वाले दो अन्य नायकों में इसके बाद के युग में आए **महमूद** तथा आई.एस.जौहर। इन्होंने 'भंडैती' (बफूनरी) तथा नौटंकियों के 'हँसोड़' पात्रों को बेझिझक हिंदी फिल्मों में 'बेवकूफ', (किशोर के साथ) 'जौहर, मेहमूद इन गोआ' (तथा हाँगकाँग) में पेश किया तथा नारी वेश धारण कर हँसाने में सफलता प्राप्त की। जो कुछ **दादा कोंडके** ने आठवें दशक में किया उसका पूर्वाभास महमूद ने सातवें दशक में ही शुभा खोटे तथा अरुणा ईरानी के साथ अपनी जोड़ी बनाकर दे दिया था। आई.एस. जौहर जिस तरह बगैर 'लाउड' हुए हँसाने में सफल होते थे (तीन देवियाँ) कुछ वही गुण **देवेन वर्मा** में भी था। उन्होंने भी गुलजार-ऋषिकेश मुखर्जी की 'अँगूर', 'गोलमाल', 'रंग बिरंगी', 'अनुपमा', 'शौकीन' आदि में अपने संयत सौम्य हास्य से अपनी अच्छी छाप छोड़ी। **असित सेन, राजेन्द्र नाथ, मोहन चोटी, धूमाल, मुकरी, पेंटल, मारुति** आदि का उल्लेख करते हुए हम **असरानी** और **केष्टो** तक आ जाते हैं। असरानी ने भी 'शोले' तथा 'गुड्डी', 'अभिमान' तथा 'बावर्ची' जैसी 'ड्राइंगरूम-कॉमेडियों' में सुलिखित भूमिकाओं में अपनी विशिष्ट शैली से दर्शकों को गुदगुदाया। हिंदी फिल्मों में तो हास्य की भूमिका सीमित रही है लेकिन दूरदर्शन के आगमन के बाद से कुछ सुपरिभाषित तथा परिष्कृत हास्य भूमिकाएँ परदे पर देखने में आने लगी हैं तथा **सतीश शाह, रवि वासवानी, राकेश बेदी, राजेश पुरी, मोहन गोखले, टिकू तलसानिया, समीर खक्खड़, अशोक सराफ** और मराठी के लक्ष्मीकांत बेर्डे जैसे बढ़िया हास्य कलाकार अचानक उभरे हैं गोकि इन्हें बड़े परदे पर बहुत ज्यादा सफलता नहीं मिल पाई है।

महानायकों में देव आनंद और राजकपूर की फिल्मों में तो यों भी हास्य के तत्व काफी रहते थे और इसीलिए उन्हें कभी लीक से हटने की मजबूरी भी पेश नहीं आई। लेकिन दिलीप कुमार, अमिताभ बच्चन और धर्मेंद्र को जरूर हास्य पैदा करने की क्षमता प्रदर्शित करने के लिए कुछ खास फिल्मों में अभिनय करना पड़ा। दिलीप ने जहाँ 'आजाद', 'कोहिनूर', 'लीडर' तथा 'राम और श्याम' जैसी फिल्मों के द्वारा हास्य कलाकार के रूप में खुद को स्थापित किया, वहीं अमिताभ ने 'चुपके-चुपके', 'लावारिस', 'नमक हलाल', 'अमर अकबर एंथनी' जैसी फिल्मों में अपनी क्रुद्ध-युवा की छवि से पीछा छुड़ाकर शुद्ध हास्य की सृष्टि की। धर्मेंद्र ने भी 'शोले' तथा 'दिल्लगी' में एक सफल हास्य कलाकार बन कर दिखला दिया। इस लेख के प्रारंभ में ही कहा गया है कि शुद्ध हास्य शायद हम भारतीयों की प्रकृति से ज्यादा मेल नहीं



*मोहन चोटी : दर्शक हँसते रहे, मैं रोता रहा!*

खाता और शायद इसीलिए हमारे महानायकों को भी छोटे कॉमेडियनों की तरह ही अक्सर विलायती प्रतिरूपों की नकल करने की जरूरत पड़ती रही। बॉब होप, डॉनी के, जेरी लुईस (दिलीप का 'लीडर' कुछ ऐसा ही पात्र था) की नकल हमारे महानायक अक्सर करते पाए गए। मूलतः विदेशी पात्र 'जोकर' को भारत भूमि पर प्रतिरोधित करने की कोशिश में ही राजकपूर जैसे अभिनेता को अपनी सबसे महत्वाकांक्षी फिल्म में मात खानी पड़ी। ऐसा लगता है कि जिस तरह हमारे फिल्म निर्माता सफल फिल्म का कोई रामबाण फार्मूला अभी तक नहीं ढूँढ पाए हैं उसी तरह शायद हम भारतीयों को कौन सी देसी चीज हँसा सकती है यह अभी तक पता नहीं चल पाया है। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम भारतीयों में हास्य बोध ही कम होता है? ■

## ■ प्रमुख हास्य फिल्में

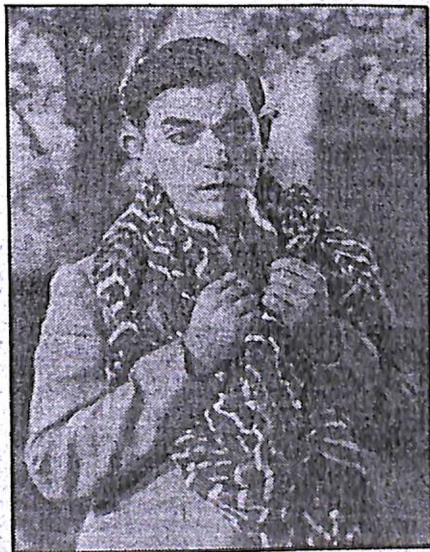
□ आगे की सोच □ अब आएगा मजा □ एग्रीमेंट □ अकलमंद □ अलबेला □ अप्रैल फूल □ आशा □ बाप नंबरी बेटा दस नंबरी □ बाप रे बाप □ बढ़ती का नाम दाढ़ी □ बातों बातों में □ बावर्ची □ भागमभाग □ भागो भूत आया □ भूत बंगला □ बीवी और मकान □ बॉम्बे टू गोआ □ ब्रह्मचारी □ चाचा जिंदाबाद □ चला मुरारी हीरो बनने □ चलती का नाम गाड़ी □ चमेली मेमसाब □ छू मंतर □ चश्मे बद्दूर □ छोटी सी बात □ चुपके-चुपके □ दिल्ली का ठग □ दो दूनी चार □ दो जासूस □ गोलमाल □ हाफ टिकट □ हमारे तुम्हारे □ हीरो हीरालाल □ जाने भी दो यारों □ खट्टा मीठा □ खूबसूरत □ कुँआरा बाप □ पड़ोसन □ प्यार किए जा □ पीछा करो □ शौकीन।

## हाजी नूर मोहम्मद चार्ली

# पलट तेरा ध्यान किधर है!

बिना बोलती फिल्मों के जमाने से सवाक् फिल्मों के जमाने तक हास्य अभिनेता के रूप में छाए रहने वाले **चार्ली** का पाकिस्तान में एक सुखी गृहस्थ के रूप में बुढ़ापा कटा तथा वहीं उनका १९८३ में निधन हुआ। **हाजी नूर मोहम्मद चार्ली** का दावा था कि १९२० से १९५० के दौरान उन्होंने कुल ४५० फिल्मों में काम किया जिनमें से १८० बिना बोलती फिल्में थीं।

नूर मोहम्मद को बचपन से ही हास्य अभिनेता बनकर चार्ली की तरह नाम कमाने की ललक थी। इसीलिए उन्होंने अपने नाम के साथ 'चार्ली' चस्पा कर लिया जो बाद में उनकी संतानों के नाम से भी जुड़ा रहा। चार्ली के पिता नहीं चाहते थे कि बेटा फिल्मों में काम करे। उन्होंने एक बार तो बेटे का सिर तक घुटवा दिया था। बाप की बंदिशों से जब बेटा पागलपन की कगार तक पहुँचने लगा तब उन्होंने उसे फिल्मों में काम करने की इजाजत दे दी। चार्ली को सबसे पहले **'चंद्रकांत'** नामक फिल्म में काम मिला। वे हास्य अभिनेता के रूप में इस फिल्म में खूब जमे। जब फिल्मों में आवाज आई, सब अन्य नायकों की तरह वे अपने गाने खुद ही गाया करते थे। उनके द्वारा गाया गया एक गीत, 'जहाँ से मिली तेरे दर की खाक' काफी लोकप्रिय हुआ था। इसके बाद वे गुजराती, मराठी व कई दक्षिण भारतीय भाषाओं की फिल्मों में आए। वे अपने गीत स्वयं ही लिखते थे। उन्हें संगीत भी स्वयं ही दिया करते थे। कुल मिलाकर चार्ली ने ६० से भी अधिक गीत गाए, लिखे तथा संगीतबद्ध किए। इजरा मीर की फिल्म 'प्रेमी पागल' में पहली बार चार्ली को प्रमुख भूमिका के लिए लिया गया।



सन् १९३४ से १९४१ तक वे रंजीत स्टूडियो से जुड़े रहे। इस दौरान उन्होंने तूफान मेल, नादिरा, सिपाही की सजनी आदि फिल्मों में काम किया। फिल्म 'ठोकर' में उन्हें हास्य नायक तथा खलनायक की मिली-जुली भूमिका मिली। चार्ली की सर्वाधिक सफल फिल्म मुसाफिर (१९४०) मानी जाती है। रंजीत स्टूडियो में उनकी आखिरी फिल्म 'बाँसुरी' थी। इसके बाद १९४२-४३ से वे फ्री लांसिंग करने लगे। मेहबूब की 'तकदीर' तथा ए.आर. कारदार की 'संजोग' उनकी उल्लेखनीय फिल्में रहीं। 'संजोग' का गीत 'पलट तेरा ध्यान किधर है भाई' एक दशक तक लोकप्रिय रहा।

बँटवारे के बाद वे पाकिस्तान चले गए तथा वहाँ लगभग छह फिल्मों में काम करने के बाद सपरिवार अमेरिका जाकर बस गए। पत्नी के निधन के बाद उसे दफनाने के लिए वे पाकिस्तान लौटे तथा कुछ माह बाद स्वयं भी चल बसे।

● **लोकेन्द्र**

## दामू अण्णा मावलंकर

# हँसिए-हँसाइए



महाराष्ट्र में अभिनय एक संस्कृति के रूप में विकसित हुआ है। इसी वजह से वहाँ समर्पित कलाकारों की फसल लहलहाती रही। इनमें से एक नाम दामू अण्णा मावलंकर का है, जिन्होंने चार दशक तक दर्शकों को अपने असाधारण अभिनय कौशल के मोहपाश में जकड़े रखा। १८९३ में महाराष्ट्र के एक छोटे से कस्बे मालवन में जन्मे दामू, मराठी सिनेमा और रंगमंच के सबसे लोकप्रिय हास्य अभिनेता माने जाते हैं। १४ मई १९७५ को एक हादसे में हुई मृत्यु से पहले उन्होंने अभिनय और प्रसिद्धि की तमाम बुलंदियों का स्पर्श कर लिया था।

एक गरीब परिवार में पले-बढ़े दामू अण्णा तीस के दशक में मराठी रंगमंच से जुड़ गए थे। उन्होंने स्वर्गीय दीनानाथ मंगेशकर की 'बलवंत संगीत नाटक मंडली' के साथ कई नाटकों में काम किया। इसके बाद वे सिनेमा की ओर उन्मुख हुए। विश्राम बेडेकर द्वारा निर्देशित 'लक्ष्मी चे खेल' उनकी पहली फिल्म थी। उनके अभिनय को जब अपने जमाने के मशहूर मराठी फिल्मकार 'मास्टर विनायक' ने देखा, तो प्रभावित होकर अपनी बहुचर्चित फिल्म 'ब्रह्मचारी' में दामू को प्रमुख भूमिका सौंप दी। यह फिल्म युगांतकारी सिद्ध हुई। सामाजिक कुरीतियों पर आधारित इस फिल्म में दामू अण्णा ने एक गाँधीवादी समाज सुधारक की भूमिका निभाई थी। अपने हास्य मिश्रित अभिनय से उन्होंने दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया। **'ब्रह्मचारी' में दामू** के साथ प्रसिद्ध अभिनेत्री **मीनाक्षी** ने काम किया था, जो फिल्म में अपने एक स्नान दृश्य की वजह से काफी चर्चित रहीं। दामू और मीनाक्षी इसके बाद १९४१ में वी.एस. खांडेकर की फिल्म 'अमृत' में बतौर नायक-नायिका परदे पर प्रस्तुत हुए।

'ब्रह्मचारी' के बाद दामू अण्णा ने मास्टर विनायक के 'प्रफुल्ल चित्र' बैनर में रहकर काफी काम किया। इनमें 'सरकारी पाहुने' और 'लग्न पहवें करुन' प्रमुख हैं। इन दोनों फिल्मों में उनके साथी कलाकार थे 'जोग', जो उन्हीं की तरह एक हास्य अभिनेता के रूप में मशहूर हुए। जोग और दामू को मराठी सिनेमा का 'लॉरेल-हार्डी' कहा जा सकता है। १९४४ में जब मराठी रंगमंच का शताब्दी समारोह बंबई में मनाया गया, तो जोग-अण्णा की जोड़ी ने द्वितीय विश्वयुद्ध पर आधारित एक हास्य नाटिका प्रस्तुत की। दामू अण्णा इसमें 'हिटलर' बने थे। उन्होंने जमकर हिटलरी तानाशाही का मजाक उड़ाते हुए नाजीवाद पर तीखे प्रहार किए। समकालीन परिस्थितियों को लेकर उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता का इससे आभास मिलता है। दामू ने अपनी कुछ अन्य फिल्म 'ब्रांडीची बाटली', 'सुखचा शोध' और 'मोरुची मावशी' में भी अभिनय के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ आवाज उठाई है।

दामू अण्णा मराठी सिनेमा के सर्वाधिक महँगे कलाकारों में गिने जाते हैं। उन्हें सोलह सौ रु. माहवार तनख्वाह मिलती थी। कार रखने वाले इक्के-दुक्के व्यक्तियों में वे शुमार थे। मास्टर विनायक की 'चिमुकला संसार' प्रदर्शित होने के बाद १९४५ में उन्होंने अपनी एक निजी 'प्रभाकर नाटक मंडली' खोल ली। बाद में इसे बंद करना पड़ा। दामू के विलक्षण हास्य अभिनय का अंदाज इससे लगाया जा सकता है कि दर्शक उन्हें परदे पर देखते ही खिलखिलाने लगते थे। जब गर्दन को खम देकर अपने विशिष्ट अंदाज में संवाद बोलना शुरू करते, फिर तो सिनेमाघरों में हँसी के फव्वारे के असर से भूचाल-सा आ जाता था। दौलत और शोहरत के बावजूद दामू अण्णा निजी जीवन में एक सादगी पसंद इंसान रहे। दुनिया को खुश देखना उनका ध्येय था। जिंदादिली उनके व्यक्तित्व पर महक बन कर छाई हुई थी। ■

# याकूब, क्या खूब!

याकूब ने हास्य कलाकार के रूप में अभिनय आरंभ किया था। उनकी चाल में एक अजीब लचीलापन था तथा डॉयलाग बोलने में एक विशेष आकर्षण। उन्हें कॉमिडी करते समय प्रयत्न करना पड़ता था, हास्य को

उभारने के लिए। परंतु इसे वे इतने स्वाभाविक ढंग से करते थे कि महसूस ही नहीं होने देते थे। सरलता से, स्वाभाविक ढंग से उसे अभिनय द्वारा व्यक्त करने में याकूब की अपनी एक निजी शैली थी। उनके हास्य अभिनय में उतनी सूक्ष्मता नहीं थी, फिर भी उच्चकोटि के कलाकार होने के कारण अपने मँजे हुए अभिनय से उसे जीवंत कर देते थे। कभी-कभी वे अपनी मायूसी और बेकसी बतलाकर अपने पर करुणा पैदा कर लोगों को हँसाने में सफल होते थे।

याकूब को दर्शकों ने सफल खलनायक के रूप में भी देखा है। हास्य कलाकार से खलनायक! इससे मालूम होता है कि वे अभिनय कला में कितने पारंगत थे। जब हास्य कलाकार का अभिनय करते थे तो लोग हँस-हँस कर कुर्सियों से उछल पड़ते थे। जब खलनायकी करते, तो दर्शकों को ऐसा लगता था कि उन्हें परदे से खींचकर फाँसी पर लटका दिया जाए।

याकूब अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी अभिनय की आत्मा समझते थे। वे कभी लिखे हुए डॉयलाग नहीं बोलते थे। सेट पर अपने बनाए हुए डॉयलाग को लिखे हुए डॉयलाग के साथ मिला देते थे। मोटू गोप के साथ उनकी जोड़ी खूब जमी। सिर पर टोपी, हाथ में रूल और उनके चेहरे पर मस्सा उन्हें खूब फबता था।

■ **प्रमुख फिल्में:** □ सुभद्रा हरण/ बुलबुले पंजाब (१९३२) □ नाचवाली/ अनोखी मोहब्बत (१९३४) □ लाल चीता (१९३५) □ दो दीवाने/ वतन (१९३८) □ पति पत्नी/ ठोकर/ अछूत (१९३९) □ औरत/ होली/ पागल (१९४०) □ सिकंदर (१९४१) □ मामाजी (१९४२) □ नजमा/ नौकर/ सलमा/ राहगीर (१९४४) □ गाली/ बड़ी माँ/ घर/ फूल (१९४५) □ आइए/ दुनिया/ पारस/ सिपहिया (१९४९) □ निराला/ प्यार (१९५०) □ दीदार/ हलचल (१९५१)। ■



गोप

# हर मोटू में छिपा है

गोप हास्य की प्रतिमूर्ति थे। पुराने सिने-प्रेमियों के मन में और देश-विदेश के उन तमाम लाखों मोटे आदमियों की शक्ल और सूरत में गोप को आज भी महसूस किया जा सकता है।

गोप एक बहुमुखी प्रतिभा के कलाकार थे। उनमें 'सेंस ऑफ ह्यूमर बहुत अच्छा था।' गाने के साथ-साथ क्रिकेट भी अच्छा खेलते थे। वे एक नेक इंसान थे। आजीवन उन्होंने देने का काम किया, एक दमड़ी किसी से नहीं माँगी। उनके घर पर व्हिस्की, ब्रांडी की बोतलें पड़ी रहती थीं। खुद के लिए नहीं, दोस्तों के लिए। वे तो सिगरेट और पान के शौकीन थे। उन्होंने हर जरूरतमंद की सहायता की। सन् पैंतालीस में 'रंगभूमि' का निर्माण सिर्फ इसलिए किया कि जगदीश सेठी को काम मिल जाए। एगबेस नाम की महिला से उनका पहला प्यार हुआ तो उसकी खातिर उन्होंने ईसाई धर्म को स्वीकार किया, अपनी समूची दौलत उसे दी।

गोप प्रोडक्शन के नाम से उन्होंने फिल्म निर्माण भी शुरू किया। 'हंगामा' उनके



प्रोडक्शन की पहली फिल्म थी। नासिर खान हीरो तथा नूतन हीरोइन थी। गोप और याकूब की ऐसी जोड़ी बनी कि हर वितरक, निर्माता से फिल्म खरीदने के पूर्व पूछता, 'गोप-याकूब की जोड़ी, आपकी फिल्म में है या नहीं?'

गोप एक संपन्न सिंधी परिवार के थे। संभवतः वे अपनी माँ के इलाज के लिए उन दिनों सिंध से बंबई आए थे और उन दिनों उनकी मुलाकात ईस्टर्न फिल्म के मालिक हरि शिवदासानी से हो गई और एक्टिंग करते-करते ही प्रकाश पिक्चर्स कंपनी के सेट पर मरे। वे सेट पर यह डॉयलाग बोलते हैं, 'ठीक है, पढ़ लिया! बाकी जाकर ऊपर पढ़ूँगा।' इस डॉयलाग के बाद उनकी आँखें बंद हो गईं।

■ **प्रमुख फिल्में:** □ प्रेम परीक्षा (१९३४) □ भारत की बेटी (१९३५) □ प्रतिमा/ प्रेम रात्रि/ शेर का पंजा (१९३६) □ राजकुमारी/ जमना (१९३८) □ हिंदुस्तान हमारा (१९४०) □ प्यास/ साजन (१९४१) □ दुनिया एक तमाशा/ हँसो-हँसो ए दुनिया वालो (१९४२) □ स्कूल मास्टर (१९४३) □ खिलाड़ी/ प्रीत (१९४५) □ लाट साहब (१९४६) □ मिर्जा साहिबा (१९४७) □ प्यार की जीत (१९४८) □ बाजार (१९४९) □ आरजू/ हँसते आँसू (१९५०) □ खजाना/ सनम (१९५१) □ हंगामा (१९५२) □ तीरंदाज (१९५५)। ■

मुकरी

# हँसी का जेबी-संस्करण

मुकरी ने सन् १९४१ में फिल्म **'नादान'** से फिल्मी दुनिया में प्रवेश किया था। उनका पूरा नाम 'मोहम्मद उमर अली मुकरी' है। 'नादान' से उन्हें ब्रेक जरूर मिला, पर अच्छा काम मिला 'प्रतिमा' में। यह दिलीप कुमार की दूसरी फिल्म थी। इस फिल्म के लिए मुकरी को 'प्रतिमा' के साढ़े सात सौ रुपए और दिलीप कुमार को सिर्फ पाँच सौ रुपए मिला करते थे। उनकी जब शादी की बात आई थी और लड़की वालों ने पूछा था कि लड़का कितना कमाता है, तो उनके घर वालों ने साढ़े सात सौ की रसीद दिखा दी थी।

मुकरी और दिलीप कुमार अंजुमन इस्लाम स्कूल (बोरीबंदर-बंबई) में साथ ही पढ़ा करते थे। दिलीप कुमार एक बहुत बड़े हीरो बन चुके थे, इसलिए मुकरी ने उन्हें एक दिन 'यूसुफ साहब' कहा। दिलीप कुमार ने यह सुना तो नाराज हो गए। बोले, 'मेरे क्लासमेट होकर साहब कहते हो। दूसरी बार कहोगे तो दाँत तोड़ दूँगा।'

बचपन से ही मुकरी का मिजाज आशिकाना रहा है। एक बार उन्होंने दिलीप कुमार से कहा, 'चलो कैबरे देखते हैं।' इस पर दिलीप कुमार ने बिगड़कर कहा, 'आज कहा, सो कहा, आइंदा कहेगा तो तेरा बोरिया-बिस्तर बाहर फिंकवा दूँगा।'

एक दिन मुकरी, दिलीप कुमार के साथ लोकल ट्रेन में स्टूडियो जा रहे थे, कि ट्रेन में बैठी एक खूबसूरत लड़की ने उनके कान में पूछा, 'क्या यह दिलीप कुमार है?' मुकरी ने भी उसके कान में कहा, 'हाँ, यह दिलीप कुमार है।' दिलीप कुमार ने समझा कि मुकरी लड़की के साथ कोई छेड़खानी कर रहे हैं। उन्होंने स्टूडियो में आते ही मुकरी का तमाम सामान मेकअप रूम से बाहर फेंक दिया।

शेख मुख्तार एक लंबे-तगड़े आदमी थे और मुकरी ठिगने। उनकी जोड़ी **लंबू-टिंगू** के नाम से मशहूर थी। उन्होंने दादा/ उस्ताद पेड्रो/ मेरा दोस्त और मंगू आदि कई फिल्मों में साथ काम किया। शेख मुख्तार ने अपनी जिंदगी में कभी मनोरंजन नहीं किया था। एक दिन मुकरी उन्हें अपने साथ जबरदस्ती कैबरे दिखाने ले गए। कैबरे देख कर शेख मुख्तार

कहने लगे, 'यार मुकरी, मजा आ गया। आज तुमने मुझे एहसास कराया कि इंसान को काम के अलावा मनोरंजन भी करना चाहिए।'

'चोरी-चोरी' में राजकपूर को थप्पड़ मारने का एक सीन था। पता नहीं उस दिन क्या हुआ कि मुकरी ठीक से थप्पड़ नहीं मार पा रहे थे। रीटेक पर रीटेक हो रहे थे। जब आठ बार रीटेक हो गए तो राजकपूर ने कहा, 'ठहरो, मैं तुम्हें बताता हूँ कि थप्पड़ कैसे मारना चाहिए।' और उन्होंने मुकरी के गाल पर ऐसा जोरदार थप्पड़ मारा कि मुकरी को दिन में तारे नजर आ गए। फिर मुकरी ने भी उन्हें नहीं छोड़ा और चालू शॉट में ऐसा कस कर थप्पड़ मारा कि राजकपूर का गाल लाल हो गया। राजकपूर ने गाल सहलाते हुए कहा— थप्पड़ कैसे मारना चाहिए, तुझे यह बता कर मैंने वाकई गलती की। ■

## राधाकिशन
# आधी राधा : आधे किशन

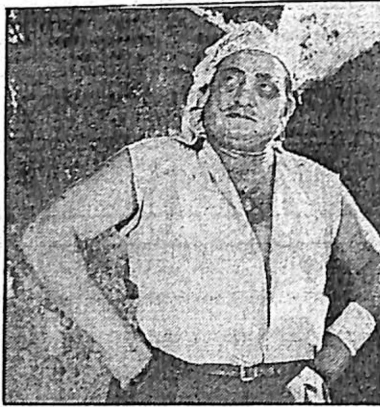
हर हास्य कलाकार अपनी कोई विशेषता लिए पैदा होता है। उसी तरह हास्य अभिनेता **राधाकिशन** भी अपनी विशेषता लिए पैदा हुए। उनकी विशेषता थी आवाज। कई बार पहले उनकी आवाज सुनाई देती और फिर रजतपट पर उनका आगमन होता। लेकिन दर्शक उनकी 'एंट्री' तक रुके नहीं रहते, उनकी आवाज सुनते ही सिनेमाघर कहकहों से गूँजने लगता।

राधाकिशन जब पूना में 'प्रभात' में थे, उसी समय वहाँ लेखक मुखराम शर्मा भी थे। दोनों पक्के दोस्त बन गए। आगे पं. मुखराम शर्मा को फिल्म लेखक के रूप में अच्छी सफलता मिली और उसका लाभ राधाकिशन को मिला। अपनी हर फिल्म में राधाकिशन के लिए एक विशिष्ट पात्र की रचना वे करते। 'औलाद', 'अधिकार', 'एक ही रास्ता', 'वचन', 'नई दिल्ली', 'दुश्मन', 'धूल का फूल' आदि फिल्मों में राधाकिशन द्वारा अभिनीत पात्र इस दोस्ती के गवाह हैं।

अभिनय के साथ-साथ राधाकिशन को लेखन का भी शौक था और इसी शौक के कारण वे फिल्म निर्माता बने। यही उनकी जीवन की सबसे बड़ी भूल साबित हुई। व्यावसायिक छल-छद्म न जानने के कारण वे अपनी फिल्म 'अमर रहे ये प्यार' के कारण डूब गए। इधर-उधर से उधार ली गई रकम पर ब्याज बढ़ता चला गया। इनकम टैक्स विभाग से बकाया टैक्स वसूली के लिए नोटिस मिला। इसका परिणाम उनकी मानसिक स्थिति पर हुआ। पैडर रोड के 'प्रेम कोर्ट' स्थित निवास से एक सुबह कूद कर राधाकिशन ने आत्महत्या कर ली। ■



*राधाकिशन-मनोरमा : खूब मिलाई जोड़ी*



## भगवान दादा
# अलबेले-निराले

पिछली पीढ़ी के दर्शक **भगवान दादा** की कॉमिडी फिल्मों के दीवाने रहे हैं। आज वे अपने जमाने को पीछे छोड़ आए हैं। एक जमाना था जब उन्होंने 'जागृति पिक्चर्स' संस्था से कई सफल कॉमिडी फिल्में दीं। फिल्म चाहे 'जलन' हो या 'दो मतवाले', 'बहादुर' हो या 'भोले-भाले'-कथावस्तु एक ही हुआ करती। बस प्रस्तुतिकरण नया होता। दर्शक दीवाने हो प्रदर्शित फिल्म की खिड़की पर टूट पड़ते थे।

उनकी फिल्म 'अलबेला' ने टिकट खिड़की पर कई रेकॉर्ड तोड़े थे। राजकपूर की 'आवारा' और भगवान की 'अलबेला' साथ-साथ ही प्रदर्शित हुई। 'आवारा' में राजकपूर-नर्गिस थे तो 'अलबेला' में भगवान और गीताबाली। 'आवारा' के मुकाबले 'अलबेला' ने जुबली मनाई। 'अलबेला' में गीताबाली के साथ भगवान जिस लचक के साथ नाचे हैं, दर्शक कभी नहीं भुला सकते।

भगवान की फिल्म दर्शकों को क्यों आकर्षित कर रही है, यह जानने के लिए वी. शांताराम ताज जैसे सिनेमाघर में दर्शकों के बीच यह फिल्म देखने गए थे।

बहुत कम दर्शक जानते होंगे कि 'गोविंदा आला रे आला' नृत्य वर्षों पूर्व भगवान ने शुरू किया था जो आज भी इतना लोकप्रिय है कि फिल्मों में ही नहीं, गली-मोहल्लों में भी नवयुवक यह नृत्य सामूहिक रूप से करते हैं और उसी ताल और लय के साथ, जैसे अलमस्त हो भगवान नाचा करते थे।

भगवान – बाबूराव की जोड़ी ने चालीस-पचास के दशक में खूब धूम मचाई थी। भगवान दादा की कमर का लोच और ठुमके इतने बेहतरीन होते थे कि अमिताभ बच्चन तक ने उसकी नकल की है।

**प्रमुख फिल्में:** □ मतलबी (१९४८) □ भेदी बंगला/ जीते रहो/ जिगर/ जोकर/ खुश रहो/ शौकीन (१९४९) □ अच्छा जी (१९५०) □ एक्टर/ दामाद/ गजब (१९५१) □ भूले भटके □ अलबेला (१९५२) □ प्यारा दुश्मन (१९५५)। ■

# जलवे जानी वाकर के

एक दिन किस्मत ने साथ दिया। **जानी वाकर** को फिल्म 'आखिरी पैगाम' में काम करने का मौका मिला। उसके बाद नवकेतन की फिल्म 'बाजी' जिसे गुरुदत्त ने बनाई थी मिली। जब गुरुदत्त का प्रोडक्शन अलग हुआ तो वे गुरुदत्त प्रोडक्शन और नवकेतन दोनों में काम करने लगे। फिर देखते ही देखते पूरी फिल्म इंडस्ट्री पर छा गए और उस वक्त के सारे टॉप के आर्टिस्टों के साथ न सिर्फ काम करने लगे, बल्कि जानी वाकर का भी नाम उन लोगों के साथ लिया जाने लगा।

अपने जमाने में जितनी शोहरत जानी वाकर को मिली, अभी तक शायद ही किसी कॉमेडियन को मिली होगी। 'मधुमती/ पैगाम/ मेरे महबूब/ चौहदवीं का चाँद/ प्यासा' आदि जानी वाकर की सफल फिल्में हैं, जिन्होंने उन्हें जमीन से उठाकर मंजिल पर पहुँचाया है। यह वह समय था, जब बड़े-बड़े आर्टिस्ट खुद जानी वाकर के साथ काम करने में खुशी महसूस करते थे। वे समझते थे कि जानी वाकर की वजह से फिल्म सिल्वर और



गोल्डन जुबली मनाएगी। फिल्म 'चंगेज खान' में जानी वाकर ने बड़ी प्यारी एक्टिंग की थी। अगर यह कहा जाए कि फिल्म 'चंगेज खान' सिर्फ जानी वाकर की वजह से चली, तो गलत नहीं होगा।

एक जमाना था जब जानी वाकर के पास इतनी फिल्में होती थीं कि वे सुबह जाते थे, तो रात बारह बजे से पहले घर नहीं आ पाते थे। उन्होंने कई फिल्में भी बनाईं, जो बॉक्स ऑफिस पर सफल हुईं। जानी वाकर सिर्फ एक सफल कॉमेडियन ही नहीं, बल्कि बड़े हाजिर जवाब भी हैं। आज भी जानी वाकर का हँसना-हँसाना एक हॉबी है। इनके पास बैठकर कुछ देर के लिए आदमी अपने सारे दुख दर्द भूल जाता है।

रेडियो सीलोन पर सनलाइट साबुन का कार्यक्रम जानी वाकर पेश करते थे। उन दिनों रेडियो का ज्यादा चलन नहीं हुआ था। पान-दुकानों और होटलों के आसपास दर्शकों का हुजूम खड़ा होकर जानी वाकर के चुटीले जवाब सुना करता था।

इंदौर में मूँगफली बेचने से लेकर बस कंडक्टरी तक जानी वाकर ने की है। गुरुदत्त से उनकी गहरी दोस्ती थी। उनकी तमाम फिल्मों में जानी वाकर ने काम किया और बदले में गुरुदत्त ने उन पर बढ़िया गाने फिल्माए। छरहरे बदन, आड़ी-तिरछी सूरत-शक्ल का उपयोग उन्होंने अपने मैनरिज्म में इस प्रकार किया कि दर्शक उनकी उपस्थिति से हँसे बिना नहीं रह सकता। पिछले दिनों उन्होंने अपने बेटे को फिल्मों में लाने के लिए एक फिल्म 'पहुँचे हुए लोग' बनाई थी। धारदार होते हुए भी वह टिकट खिड़की पर पिट गई।

**प्रमुख फिल्में :** □ देवदास/ जोरू का भाई/ मेरिन ड्राइव/ मिलाप/ मिस कोकाकोला/ मिस्टर एंड मिसेस'५५/ जानीवाकर (१९५५) □ छू मंतर/ चोरी चोरी/ सी आय डी/ श्रीमती ४२० (१९५६) □ दुनिया रंग रंगीली/ माई बाप/ मि. एक्स/ नया दौर/ परदेसी/ प्यासा (१९५७) □ अमर दीप/ चंदन/ खोटा पैसा/ मधुमती/ मि. कार्टून एम.ए./ नया पैसा (१९५८) □ जवानी की हवा/ पैगाम/ सट्टा बाजार (१९५९) □ चौदहवीं का चाँद/ एक फूल चार काँटे (१९६०) □ रिक्शावाला/ छोटे नवाब/ आशिक (१९६१) □ बहू बेगम (१९६७) □ बाजी (१९६८) □ गोपी (१९७०) □ बिंदिया चमकेगी (१९८४) □ हम दोनों (१९८५)। ■

मजनू

## अपलम चपलम

उसका नाम था हैराल्ड लुइस। लेकिन यह नाम जाने कब गुम हो गया। वह **मजनू** नाम से ही जाना पहचाना गया। यह नाम उसके व्यक्तित्व के विपरीत था। १९३५ में शोरी ने लैला-मजनू की कहानी की पैरोडीनुमा फिल्म बनाई थी। 'मजनू १९३५' में हैराल्ड लुइस ने मजनू की भूमिका अदा की थी। इस फिल्म और हैराल्ड लुइस के अभिनय को दर्शकों ने खूब पसंद किया। इसी भूमिका के कारण उसका नामकरण मजनू हुआ। १९२७ के पहले से वह फिल्म उद्योग में कार्यरत था। लाहौर फिल्म व्यवसाय में घोरी के सहारे उसने फिल्म उद्योग में प्रवेश लिया। फिल्मों में आने से पहले मजनू ने नाटकों तथा सर्कस में जोकर के रूप में भी काम किया था।

१९२७ में उसने अपनी पहली फिल्म बनाई, 'अनलकी लवर्स', इसके बाद 'पापी'। वली साहब द्वारा निर्मित 'हीर रांझा' का निर्देशन भी मजनू ने किया था।

१९४७ में देश विभाजन के समय वे बंबई आ गए। यहाँ उन्हें आई.एस. जौहर का साथ मिला। के. शोरी ने अपनी फिल्म 'एक थी लड़की' के माध्यम से जौहर और मजनू की जोड़ी को लोकप्रिय बनाया। 'नकद नारायण' से 'अपलम चपलम' तक कई फिल्मों में यह जोड़ी चमकी। मजनू एक तरफ जौहर के साथ भूमिका करते रहे वहीं दूसरी ओर 'एक दो तीन', 'ढोलक', 'गूँज', 'आग का दरिया', 'दोस्त', पिलपिली साहब' आदि फिल्मों में स्वतंत्र भूमिका निभाते रहे। ■



*जौहर-मजनू : लारालप्पा के हमसफर*

## ओम प्रकाश

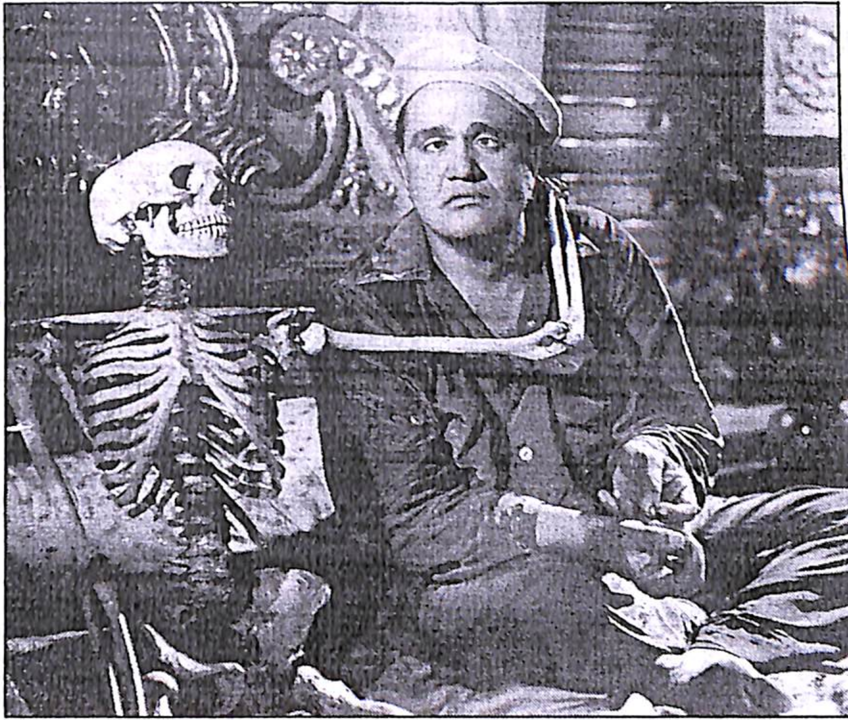
*बीते कल के सर्वश्रेष्ठ हास्य कलाकारों में से एक* ***ओमप्रकाश*** *ने 'चुपके-चुपके', 'दस लाख', 'बैराग' तथा कई अन्य सफल फिल्में देकर ख्याति अर्जित की है।*

**फिल्म उद्योग में इतनी लंबी पारी खेलने के बाद अब आप कैसा महसूस करते हैं?**

एक अभिनेता के रूप में फिल्मों में अपने कैरियर से मैं संतुष्ट हूँ। मूलतः मैं एक शैलीबद्ध कलाकार हूँ। मेरी लोकप्रियता और उपलब्धियों का कारण मेरी विशिष्ट शैली ही है। यह शैली मुझ में जन्मजात थी और उसे ही मैंने कालांतर में विकसित किया। मैं जब फिल्मों में आया, तो दूसरा विश्व-युद्ध खत्म ही हुआ था। उन दिनों हिंदी फिल्मों के बड़े सितारे **मोतीलाल/ अशोक कुमार** तथा **पृथ्वीराज** हुआ करते थे। मुझे एक कलाकार के रूप में अपनी सीमाओं का वास्तव में कुछ पता नहीं है। पौराणिक या ग्रामीण पात्रों को छोड़ मैंने सब तरह की भूमिकाएँ की हैं। बहुत से लोग मुझे डायनमो कहते हैं, क्योंकि मैं बहुत तेज रफ्तार से चलता हूँ। जी हाँ, मैं न तो खाली बैठ सकता हूँ न धीरे चल सकता हूँ। मैं तो बस एक सीधा-सादा, स्वभाव से सहज व्यक्ति हूँ।

**फिल्म उद्योग के बारे में आपके क्या विचार हैं?**

जिंदगी मुझ पर बहुत मेहरबान रही है।



मुझे जिंदगी में सफलता, असफलता और सराहना सब मिले हैं। कई रंगा-रंग व्यक्ति मेरे जीवन में आए हैं। इनमें पर्ल एस. बक, चार्ली चैप्लिन, समरसेट् मॉम, फ्रेंक काप्रा तथा जवाहरलाल नेहरू भी शामिल हैं। कुछ अन्य लोग भी हैं। जब मैंने फिल्मों में प्रवेश किया तो इस दुनिया ने बड़ी आसानी से मुझे अपना लिया। कई तरह की हास्य भूमिकाएँ करने के बाद कई चरित्र भूमिकाएँ भी मैंने की हैं।

**अपने जीवन की कोई याद रखने लायक घटना?**

पहली बार जब मैं कैमरे के सामने आया तो काफी घबराया हुआ था। एक तरह से मैं जैसे नींद में सब कुछ कर रहा था। महूरत के दो दिन पूर्व ही मुझे मेरे संवाद दे दिए गए थे। उन्हें मैंने याद कर लिया और सब कुछ ठीक-ठाक निपट गया। बाद में मैंने सुना कि परदे पर मेरी उपस्थिति उतनी प्रभावशाली नहीं थी। मैंने जान लिया कि मुझे काफी मेहनत करनी होगी और तभी लोगों का मुझ पर ध्यान जाएगा और लोग मुझे पसंद करेंगे। मैंने सोचा कि मेरा चेहरा परदे पर देखना दर्शकों के लिए एक अनोखा अनुभव होना चाहिए। अपने संवाद बोलने में मैं बहुत जल्दी कर जाता था।

**इधर कुछ दिनों से आपने फिल्मों में काम करना किस वजह से बहुत कम कर दिया है?**

ऐसा मैंने किसी खास योजना के तहत नहीं किया है। मेरी कुछ फिल्में लंबी खिंच जाने से यह अचानक कमी आ गई। लेकिन भविष्य में भी मेरा बहुत ज्यादा फिल्में करने का इरादा नहीं है। मैं अब साल में कुछ ही अच्छी फिल्में करूँगा।

■**प्रमुख फिल्में :** □ लाहौर/ नाच/ रात की रानी (१९४९) □ मीना बाजार (१९५०) □ खजाना (१९५१) □ पूनम (१९५२) □ लड़की (१९५३) □ शिकस्त (१९५३) □ बाराती/ दोस्त/ पहली झलक/ कवि (१९५४) □ कुंदन/ सितारा (१९५५) □ ढाके की मलमल/ लालटेन / श्रीमती ४२० (१९५६) □ आशा/ भाभी/ शारदा (१९५७) □ चाचा जिंदाबाद/ कन्हैया (१९५९) □ दिल अपना और प्रीत पराई (१९६०) □ भरोसा/ नर्तकी/ तेरे घर के सामने (१९६३) □ दस लाख (१९६६) □ कन्यादान (१९६८) □ गोपी/ मेरा नाम जोकर (१९७०) □ जंजीर (१९७३) □ सगीना (१९७४) □ आँधी/ जूली/ चुपके-चुपके (१९७५) □ नौकर बीवी का (१९८३) □ आवारा बाप (१९८५) □ काँच की दीवार (१९८६)

● **आदर्श गर्ग द्वारा प्रस्तुत**

# केश्टो मुखर्जी

**एक शराबी** जो हमेशा नशे में धुत्त रहता है और जिसके हाथ में या इर्दगिर्द बोतल लुढ़कती रहती है, उसका नाम था **केश्टो मुखर्जी।** हर फिल्म में उसकी ऐसी ही छवि पेश की गई। रोल चाहे जितना छोटा हो, अपनी नशीली तथा लड़खड़ाती आवाज से केश्टो मुखर्जी उसे यादगार बना देते थे। ऋषिकेश मुखर्जी की अधिकांश फिल्मों में उन्होंने काम किया है।

उनके अलावा अनेक कॉमेडियन फिल्माकाश में आए। मगर वे जब तक आकर जगमगाते तब तक बहुत देर हो चुकी थी। कॉमेडियन की उपस्थिति अपना अर्थ खो चुकी थी और हीरो ही कॉमेडियन बन गया था। ऐसे जुगनुओं में **डालडा/पोल्सन/मनमौजी/बीरबल/ लिलीपुट/जानी विस्की/ जूनियर मेहमूद** के नाम उल्लेखनीय हैं। ■

# इंद्रसेन जौहर

**आय.एस. जौहर** के नाम से मशहूर इंद्रसेन जौहर फिल्मी दुनिया के जोकर भी थे तथा जीनियस भी थे। अपने 'आयडिया' के गोले वे हमेशा बरसाया करते थे। जरूरत से ज्यादा शिक्षित होने के कारण बड़बोले हो गए थे। हाजिर जवाबी में उनका कोई जवाब नहीं था। फिल्मफेअर पत्रिका में उन्होंने बरसों तक पाठकों के प्रश्नों के मजाकिया उत्तर दिए थे। शुरू-शुरू में मजनू के साथ उनकी जोड़ी जमी थी। बाद में मेहमूद के साथ मिलकर उन्होंने फिल्मों की सीरिज बना डाली थी- जौहर-मेहमूद. इन गोआ/इन कश्मीर/इन हांगकांग। देश-समाज में घटने वाली घटनाओं को हल्के-फुल्के ढंग से लेना उनकी आदत थी। शिमला समझौते के समय पाक प्रधानमंत्री भुट्टो की बिटिया भारत आई तो उसे हीरोइन बनने का न्यौता दे दिया। बंगलादेश बना तो 'फाइव राइफल्स' शीर्षक से अपनी बेटी अम्बिका को नायिका बनाकर अर्द्धनग्न पोज में पेश कर दिया। दरअसल जौहर फिल्म लाइन में फ्रस्ट्रेशन की जिंदगी जी रहे थे। खुद को मजाक बनाकर वह दूसरों को अपने पर हँसने का मौका नहीं देना चाहते थे शायद! ■

*सामाजिक फिल्मों में चरित्र अभिनेता की भूमिका करने वाले ओमप्रकाश ने नायक, हास्य अभिनेता, खलनायक के अतिरिक्त आम जीवन के लगभग सभी पात्रों को निभाया है। हावड़ा ब्रिज के तांगा चालक, 'दिल अपना प्रीत पराई' का जुबान से कड़वा परंतु दिल से नर्म रोगी, 'प्यासी शाम' का जवाँ दिल बुड्ढा जैसे पात्रों को ओमप्रकाश ने बखूबी जिया है। फिल्म 'प्यार किए जा' में महमूद से मनगढ़ंत स्क्रिप्ट सुनते हुए भय, हास्य और रोमांच तीनों ही भाव दर्शकों को रोमांचित कर देते हैं। फिल्म 'दस लाख', 'अन्नदाता', 'बुड्ढा मिल गया' और 'वरदान' जैसी फिल्मों में ओमप्रकाश ने प्रमुख भूमिका निभाने के साथ-साथ फिल्मों के नायक तथा नायिका के कमजोर अभिनय का भार भी बखूबी संभाला। कुछ फिल्मों में ओमप्रकाश ने अतिथि कलाकार के रूप में छोटी-छोटी भूमिकाएँ भी की हैं। वेट लिफ्टिंग, बागवानी, ताश के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी में 'सपने' और 'भगवान' शीर्षक से अनेक व्यंग्य लिखे हैं।*



*एक चतुर नार सायरा के साथ मेहमूद*

मेहमूद

## बड़े मियाँ दीवाने...

**कॉ**मेडियन के रूप में एक लंबा फिल्मी जीवन बिताने के बाद **'मेहमूद'** पिछले कुछ समय से परदे पर निष्क्रिय हो गए थे। लेकिन अब अपने प्रशंसकों के आग्रह पर वह फिर से सिने-जगत का रुख कर रहे हैं। प्रस्तुत है उनसे बातचीत के प्रमुख अंश-

**एक लंबे अंतराल के बाद फिल्मों में वापसी का विचार कैसे हुआ?**

इस दौरान मैं बंगलौर में अपने परिवार के साथ फुरसत का वक्त गुजार रहा था। लेकिन कुछ निर्माता मेरे पास अपनी फिल्मों में काम करने का आग्रह लेकर चले आए। मेरे भीतर 'एक्टिंग' की ख्वाहिश फिर कुलबुला उठी, और मैंने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। श्रीमान आशिक/ मोहब्बत का सफर/ दयालू/ चाँद का टुकड़ा/ अंदाज अपना अपना/ घातक और वंदना मेरी आगामी फिल्में हैं। मैं आश्वस्त हूँ, कि अभी चार-पाँच साल मेरा फिल्मी जीवन और चलेगा।

**अपने आरंभिक कैरियर के बारे में कुछ बताइए?**

मैंने पहली बार आठ वर्ष की उम्र में फिल्म 'किस्मत' में काम किया था। इसके बाद हर तरह के पापड़ बेले। ड्रायवर बना, मजदूरी की, फिर धीरे-धीरे एक्टर बन गया। हास्य अभिनेता के रूप में मेरी पहली फिल्म 'ससुराल' थी। मैंने हीरो और विलेन के रोल भी किए हैं।'सी.आई.डी.' और 'अभिमान' का मैं खलनायक था। जबकि 'शबनम' 'कैदी नं. ९११ में हीरो। इसके अलावा छोटी बहन और परवरिश में मेरी चरित्र भूमिकाएँ थीं। मैंने फिल्म निर्माण में भी हाथ आजमाए, 'कुँआरा बाप' 'सबसे बड़ा रुपया' इसका उदाहरण है। इस तरह फिल्म जगत में मेरे कार्यक्षेत्र का फैलाव मेरी तोंद के अनुपात में बढ़ता गया।

**क्या अब आपको दर्शकों से पहले जैसा प्यार मिल पाएगा?**

मैं अपनी पूर्व संचित ख्याति को धूमिल करने वापस नहीं लौटा हूँ। मेरी कोशिश पहले से भी बेहतर प्रदर्शन की रहेगी। हालाँकि परदे पर दूसरी पारी खेलने के मेरे निर्णय को कुछ लोग सठियाने की संज्ञा दे सकते हैं, क्योंकि मैं ६० वर्ष का हो चुका हूँ। लेकिन मेरा काम देखने के बाद सबका मुँह बंद हो जाएगा। वैसे भी बीच में एक्टिंग मैंने किसी मजबूरी के कारण नहीं छोड़ी थी। बल्कि बड़े कलाकार मेरे साथ काम करने से कतराने लगे थे। उनके अनुसार मेरी मौजूदगी के आगे दूसरे अभिनेताओं को चमकने का मौका नहीं मिलता।

जानी वाकर के बाद लोकप्रियता के क्रम में मेहमूद आते हैं। शुभा खोटे और अरुणा ईरानी के साथ उनकी जोड़ी खूब जमी। मुँह में से जुबान निकालकर होठों पर फेरते हुए और दोनों हाथों से लुँगी सम्हालने की उनकी अदा बेजोड़ रही है। पड़ोसन मेहमूद की सर्वोत्तम फिल्म है।

■ **प्रमुख फिल्में** □ नौकरी (१९५४) □ फरार (१९५५) □ बारिश (१९५७) □ परवरिश (१९५८) □ छोटी बहन/ प्यासा (१९५९) □ कानून/ लंबे हाथ/ रोड नं. ३०३ (१९६०) □ छोटे नवाब/ फर्स्ट लव। ससुराल (१९६१) □ दिल तेरा दिवाना (१९६२) □ दिल एक मंदिर/ गोदान/ हमराही/ गृहस्थी (१९६३) □ चित्रलेखा/ शबनम/ जिद्दी (१९६४) □ आरजू/ गुमनाम/ जौहर मेहमूद इन गोआ/ काजल/ नमस्तेजी (१९६५) □ प्यार किए जा (१९६६) □ पड़ोसन (१९६८) □ शतरंज/ वारिस (१९६९) □ मस्ताना (१९७०) □ कुँआरा बाप (१९७४) □ जिनी और जानी (१९७६) □ एक नई पहेली (१९८४) □ लव मैरिज (१९८५)। ■

## आगा

**हास्य नायकों में आगा** का कैरिअर काफी लम्बा रहा है। पुणे में जन्मे आगा १९४१ से परदे पर आने लगे थे। 'नई रोशनी' उनकी पहली फिल्म थी। आरंभ में वे नायक बने। बाद में कॉमेडियन बना दिए गए। उनकी कॉमेडी का अंदाज निराला था। सोचने से पहले संवाद को जल्दी से बोल जाना और वाक्य समाप्त होने पर जब उसका मतलब समझ में आता था, तो वे अपनी ही बात से मुकर जाते थे। जेमिनी की 'संसार' उनकी मशहूर फिल्म थी। 'लखनऊ चलो अब रानी, बंबई का



बिगड़ा पानी'- आगा पर फिल्माया यह गीत बहुत लोकप्रिय हुआ था। उनकी फिल्म 'सबक' ने सफलता के झंडे फहराए थे। जलाल आगा उनके बेटे हैं, जो अभिनेता होने के साथ निर्देशक भी हैं।

भानु बनर्जी

## दम आलू

**बं**गाली फिल्मों में हास्य अभिनेताओं की जहर गांगुली तथा शिशिर भादुड़ी द्वारा स्थापित परम्परा को आगे बढ़ाने वाले **भानु बनर्जी** की सबसे सफल फिल्म थी 'पाशेर बाड़ी'। हिन्दी में इसी फिल्म को मेहमूद ने 'पड़ोसन' के नाम से बनाया था और उसमें दक्षिण भारतीय संगीत शिक्षक की भूमिका को

ही मूल फिल्म में भानु बनर्जी ने अपने पूर्वी बंगाल के लहजे के साथ एक तरह से अमर बना दिया था।

भानु बनर्जी ने अपने अभिनय- कैरियर की शुरूआत तीस के दशक के उत्तरार्द्ध में ढाका में अपने छात्र-जीवन में मंच से की। सन् १९४२-४३ में कलकत्ता आए और चाणक्य-चंद्रगुप्त नाटक में उन्होंने चाणक्य की



भूमिका की। इस भूमिका में उनकी सफलता ने ही उन्हें उनकी पहली फिल्म 'जागरण' दिलाई। इस फिल्म में उन्होंने अकाल-पीड़ित व्यक्ति की भूमिका की। उनकी बेहद दुबली पतली काया को यह 'रोल' खूब रास आया। 'पाशेरबाड़ी' की उनकी भूमिका में भी उनकी कद-काठी की इसी विशेषता का निर्देशक ने फायदा उठाया और बंगाल के घर-घर में उन्हें **'सींक की झाड़ू पर रखा दम आलू'** के नाम से बुलाया जाने लगा। 'बसु परिवार' तथा 'साढ़े चौहत्तर', जैसी फिल्मों के द्वारा लगभग तीन दशक तक बंगाली दर्शकों को हँसाने वाले भानु बनर्जी को भारतीय हास्य-फिल्मों से मुख्य शिकायत यह रही कि उनमें हास्य मूलतः संवादों के द्वारा पैदा किया जाता है और उसमें हार्डी-लॉरेल शैली की शब्द स्टॉप स्टिक कॉमेडी की गुंजाइश ज्यादा नहीं रहती। गंभीर फिल्मों में भी उन्होंने अभिनय किया उनके साथ भी वही दिक्कत रही जो बॉम्बे टॉकीज की हिंदी फिल्मों के हास्य कलाकार वी.एच. देसाई के साथ थी।: परदे पर उनके आते ही लोग हँस पड़ते थे। ■

## असित सेन
# टोप हाफ पेंट धारी

**स**बसे अच्छा हास्य कलाकार वह होता है, जो खुद हँसे बगैर लोगों को खिलखिलाने पर मजबूर कर दे। **असित सेन** इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। उन्हें परदे पर देखते ही दर्शको के पेट में गुदगुदी होने लगती थी। खास तौर से महाद्वीपीय आकार वाला उनका शारीरिक भूगोल, कमर की भूमध्य रेखा से झूलती तम्बूनुमा हाफ पेंट और रफ्तार में बैलगाड़ी को मात करने वाली मरियल संवाद अदायगी -दर्शकों की हास्य चेतना पर मार करने वाले उनके यह अचूक हथियार रहे हैं, जिनसे उन्होंने करीब २५० फिल्मों में अभिनय के जौहर दिखला कर 'हँसोड़ सम्राट' की पदवी पाई।

इंडस्ट्री में 'अशित दा' के नाम से मशहूर असित सेन का जन्म गोरखपुर (उ.प्र.) में हुआ था। जहाँ उनके पिता फोटोग्राफर का काम करते थे। कैमरा तकनीक में पारंगत होने के बाद 'असित' बंबई चले आए, और 'बिमल राय' के 'न्यू थिएटर' में कैमरामेन की नौकरी कर ली। उनके व्यक्तित्व को देखते हुए बिमल ने अपनी फिल्म 'सुजाता' में एक झक्की प्रोफेसर का रोल उन्हें दे दिया। 'असित' के अभिनय कैरियर की यह शुरूआत थी। बिमल राय के सान्निध्य में ही उन्होंने दो फिल्मों 'परिवार' और 'अपराधी कौन' का निर्देशन भी किया। 'सुजाता' के बाद उन्हें महेश कौल की 'सौतेला भाई' में काम मिला। इसी फिल्म में असित सेन ने अपनी मशहूर 'घोंघा छाप' संवाद अदायगी का पहली बार प्रयोग किया; जो अत्यंत प्रभावशाली रही, और 'सौतेला भाई' से असित एक स्थापित हास्य अभिनेता



के रूप में विख्यात हो गए।

असित दा की यादगार फिल्में दुश्मन/ धर्मा/ गोपीचंद जासूस/ बीस साल बाद/ जरूरत और जंगली मानी जाती है। 'गोपीचंद जासूस में तो उन्होंने राजकपूर के साथ कमाल ही किया था। हिन्दी सिनेमा के इतिहास में इसे सर्वोत्तम हास्य फिल्मों की श्रेणी में रखा गया है। असित सेन की चिरपरिचित छवि को देखते हुए शायद कोई विश्वास न करे किंतु हास्य भूमिकाओं के अलावा वह **'डाग्दर बाबू'** तथा कुछ बँगला फिल्मों में विलेन का रोल भी कर चुके हैं। हालाँकि 'डाग्दर बाबू', फिल्म के हीरो उत्तर कुमार की मृत्यु हो जाने के कारण पूरी नहीं बन पाई। लेकिन समीक्षकों के अनुसार असित सेन ने इस फिल्म में गजब का प्रभावशाली अभिनय किया था।

■ **प्रमुख फिल्में** □ जानवर/ मेरे सनम/ शहीद (१९६५) □ लव इन टोकियो/ तीसरी कसम (१९६६) □ उपकार (१९६७) □ आराधना/ इंतकाम (१९६९) □ आनंद/ पहचान/ पूरब और पश्चिम (१९७०) □ लाल पत्थर/ मेरा गाँव मेरा देश (१९७१) □ अनुराग (१९७२) □ अमानुष (१९७५) □ बैराग (१९७६) □ अनुरोध (१९७७) □ तेरे मेरे बीच में (१९८४) □ आरपार (१९८५)। ■

## कादर खान
# दो अर्थों पर सवार

**का**दर खान की लोकप्रियता और हरफनमौला क्षमताओं को देखते हुए कहना आसान नहीं कि वे नायक हैं या खलनायक? अलबत्ता उन्हें 'परिचायक' कहना उचित होगा- आम भारतीय की उस रुग्ण मानसिकता का, जिसके रहते वह 'आगा', 'असित सेन' या 'देवेन वर्मा' जैसे कलाकारों के गुदगुदाने वाले स्वस्थ्य हास्य पर तो मुँह लटकाए रहता है, लेकिन कादर खान के भद्दे भटियारपन को हास्य की श्रेणी में रख उन्हें 'हीरो' बना देता है। निश्चित रूप से कादर खान की ख्याति आज किसी हीरो से कम नहीं। एक्टिंग और संवाद लेखन के लिए इंडस्ट्री में मशहूर 'कादर खान' ने अपना बचपन बंबई की झोपड़ियों वाले इलाके कमाठीपुरा में गुजारा है। उनका जन्म काबुल (अफगानिस्तान) में हुआ, जहाँ उनके पिता मौलवी का काम करते थे।

अफगानिस्तान में राजनीतिक हालात बिगड़ने पर उनका परिवार बंबई आ गया। बंबई में कादर खान को जो परिवेश मिला, उसमें चोर-उचक्कों की भीड़ शामिल थी। मगर कादर ने उनका रास्ता नहीं अपनाया। छुटपन से ही उन्होंने एक्टर बनने का इरादा कर लिया था। वे सड़कों पर आते-जाते लोगों की नकल उतारा करते। एक दिन पुराने जमाने के मशहूर रंगमंचीय कलाकार 'अर्शद खान' ने उन्हें देखा। वे आठ वर्षीय 'कादर' को अपने साथ ले गए, और अपने एक नाटक में भूमिका सौंप दी। कादर ने अपनी सहज बालसुलभ हरकतों से दर्शकों का खूब मनोरंजन किया। यहीं से उनके पेशेवर अभिनय जीवन की शुरूआत हुई।

कादर खान ने थिएटर के साथ पढ़ाई भी जारी रखी। जिस वक्त उनके बचपन के दोस्त अपराध जगत की सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे, उन्होंने किताबों की पायदान का उपयोग कर स्नातक उपाधि हासिल की। इसी दौरान स्वर्गीय रमेश बहल ने अपनी फिल्म 'जवानी-दीवानी' के लिए 'कादर' के सामने संवाद- लेखन का प्रस्ताव रखा। नया काम होने की वजह से वे थोड़े विचलित थे, लेकिन चुनौती मान कर इसे स्वीकार कर लिया। फिल्म कुछ खास सफल नहीं हुई, फिर भी कादर के कैरियर में इसका काफी महत्व रहा। इसी की बुनियाद पर उन्होंने बाद में इंडस्ट्री के सर्वाधिक



'बिकाऊ' संवाद लेखक की हैसियत पाई। बतौर संवाद लेखक 'रोटी' कादर खान की दूसरी फिल्म थी। इसी बीच उन्हें 'बैराग' और 'जबरदस्त' में एक्टिंग का मौका भी मिला। 'बैराग' में उनका काम देखकर फिल्म के हीरो दिलीपकुमार इतने प्रसन्न हुए, कि उन्होंने कादर खान को अपना विकल्प घोषित कर दिया था।

ग्लैमर की दुनिया में कादर का आरंभिक प्रदर्शन स्तरीय और प्रभावशाली था। लेकिन वक्त के साथ वे समझौते करते गए। मद्रासी निर्माताओं की फिल्मों के लिए उन्होंने जो संवाद लिखे, वह भाषा में भदेस के इस्तेमाल की चरम सीमा थी। दर्शकों को लुभाने के लिए द्विअर्थी संवादों का सहारा लेने में कादर खान ने दादा कोंडके को भी मात कर दिया। 'जीतेंद्र-श्रीदेवी' छाप फिल्मों में कादर और शक्ति कपूर की जोड़ी के मुख से सड़क छाप 'डायलाग' सुनने के लिए दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ी। कादर-शक्ति के छिछोरे हास्य की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 'पिछले दिनों प्रदर्शित फिल्म 'नाचने वाले गाने वाले' में वे बतौर हीरो परदे पर प्रस्तुत हुए। यह सही है कि कादर खान ने कीचड़ से जिंदगी की शुरूआत कर सफलता के मनोरम उद्यान तक पहुँचने की दुर्लभ उपलब्धि हासिल की लेकिन लगता है इस प्रक्रिया में थोड़ा-बहुत पंक भी वे अपने साथ चित्रपट तक घसीट लाए। ■

जगदीप

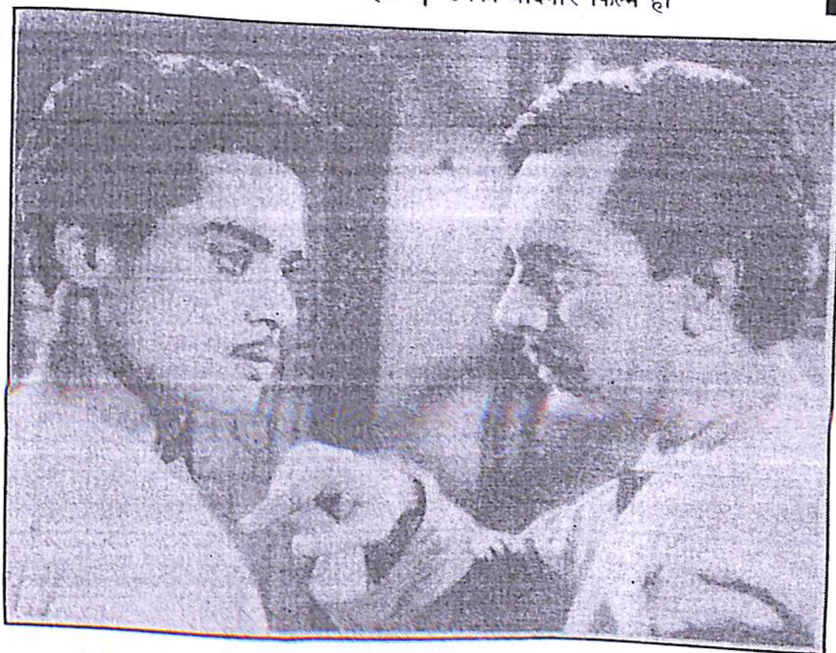
## सूरमा भोपाली

जगदीप की पहली फिल्म 'अफसाना' थी। जब वे एक्स्ट्रा के रूप में फिल्म के सेट पर गए, तो उन लोगों को एक ऐसे लड़के की जरूरत थी जो उर्दू के कठिन शब्द बोल सके। इसमें जगदीप सफल हो गए और उन्हें दस रुपए मिले। जगदीप की दूसरी फिल्म 'आसमान' थी और तीसरी फिल्म 'फुटपाथ', जिसमें उन्होंने दिलीपकुमार के साथ काम किया। उसके बाद 'दो बीघा जमीन, ढाके की मलमल, मुन्ना, आर-पार, अब दिल्ली दूर नहीं, भाभी' रिलीज हुई, जिससे उन्हें भारी प्रसिद्धि मिली। फिल्म 'हम पंछी एक डाल के' में पंडित जवाहरलाल नेहरू को जगदीप का काम इतना पसंद आया कि उन्होंने मद्रास में जगदीप को अपनी हाथ घड़ी पुरस्कार में दे दी।

फिल्म 'बरखा' के साथ-साथ कई फिल्मों में वे हीरो भी बने, लेकिन सभी फिल्में फ्लॉप हो गई। हिंदी फिल्मों के अलावा जगदीप ने गुजराती फिल्म 'जन्म-जन्म का साथी', भोजपुरी फिल्म 'जेकरा चरणवा' पंजाबी और मारवाड़ी फिल्मों में भी काम किया है।

फिल्म 'शोले' में सूरमा भोपाली का रोल अदा करने के बाद लोग इन्हें सूरमा भोपाली कहकर पुकारने लगे। बाद में इन्होंने 'सूरमा भोपाली' फिल्म भी बनाई। जगदीप की अन्य प्रमुख फिल्में हैं- 'बिंदिया/ दामाद/ एजेंट विनोद/ दो हवलदार/ सुनयना/ दादा/ चौकी नं. ११/ कर्मयोगी/ शाही लुटेरा/ दिल और दीवार।' ■

*फिल्म बिंदिया में जगदीप-बलराज साहनी*



वी.एच. देसाई

## मिचमिच आँखें

वी.एच.देसाई की गणना मँजे हुए हास्य कलाकारों में होती थी। उनके परदे पर आते ही, संवाद बोलने के पहले ही सारा हाल दर्शकों की हँसी से गूँज उठता था। वे बड़ौदा के रहने वाले थे। वकालत की दुनिया को छोड़ फिल्मी दुनिया में आए थे। छोटा कद, चमकीली मिचमिचाती आँखें, गोरा उज्ज्वल रंग, सिर से पैर तक बगैर कोशिश के सबको हँसा देने वाली एक स्वाभाविक क्षमता, इन सबके मिले-जुले रूप थे वी.एच. देसाई। जब वे बोलते थे तो ऐसा लगता था मानो उनका पूरा शरीर ही बोल रहा हो। एक मिनट में उनके चेहरे पर अपने आप ही कई भाव उभर आते थे। फिर भी उनमें एक व्यक्तित्व था। जब वे गंभीर होते थे तो वह बनावटी लगता था और उस मुखड़े को देखकर हँसी रोकना कठिन होता था।

फिल्म संसार में वी.एच. देसाई का हास्य कलाकारों में अपना एक उच्च स्थान है। कॉमेडी में उनकी अपनी एक शैली थी, और वह शैली थी सर्वदा एक घबराए, नर्वस इंसान की। इन्हीं को वे हास्य अभिनय से व्यक्त करते थे। जीवन की हर छोटी-बड़ी बात को भी उन्होंने कॉमेडी के माध्यम से व्यक्त किया। 'बंधन'/ 'अंजान'/ 'झूला'/ 'किस्मत'/ 'सफर' उनकी यादगार फिल्में हैं। ■

## बहुमुखी जानकीदास

हास्य अभिनेता **जानकीदास** शुरू से ही अनवरत काम करने के आदी रहे हैं। जवानी के दिनों में जानकीदास साइकल चलाने में लगातार दस वर्ष तक राष्ट्रीय चैंपियन रहे हैं। वे ओलिंपिक खेलों में जज भी रह चुके हैं। आरंभ के दिनों में फिल्म में काम माँगने के लिए जानकीदास विजिटिंग कार्ड का उपयोग करते थे, जिस पर लिखा होता था जानकीदास एम.ए (इंग्लिश, हिस्ट्री)। जब कई जगहों से जवाब मिला कि यहाँ पढ़ाई काम नहीं देती, तो इन्होंने तिकड़म अपनाई। निर्माता एस.एफ. हुसैन को एम.ए. का अर्थ मास्टर ऑफ एक्टिंग बताया। बदले में इन्हें 'खूबसूरत' में सुरैया के पति की भूमिका मिल गई।

जानकीदास जब सोहराब मोदी के पास काम माँगने पहुँचे तो सोहराब मोदी ने इन्हें चुन लिया और कहा- 'जाओ अब हीरोइन ढूँढ लाओ।'

जानकीदास विजयलक्ष्मी को ले गए, जिसे सोहराब मोदी ने नामंजूर कर दिया। एक दिन इन्हें एक खूबसूरत लड़की सायन रेलवे स्टेशन पर मिली, साथ में उसके पिता भी थे।

जानकीदास इस लड़की को सोहराब मोदी के पास ले गए और सभी ने इनकी खोज को सराहा। सोहराबजी ने अपनी फिल्म 'दौलत' में जानकीदास के साथ इस लड़की को नायिका की भूमिका में पेश किया। वह लड़की थी मधुबाला, जिन्होंने बाद में अपने अभिनय से फिल्म जगत को बहुत कुछ दिया। जानकीदास को फिल्म वाले बहुत लकी मानते हैं. इसलिए हर फिल्म में छोटा-मोटा रोल उन्हें मिल जाता है। अभिनय के अलावा जानकीदास पत्रकारिता भी करते हैं। स्वतंत्रता सेनानी भी वे रह चुके हैं। ■

देवेन वर्मा

## नेचरल एप्रोच

देवेन वर्मा उर्फ गज्जू भाई सही मायनों में 'सफल कॉमेडी' और 'नेचरल एप्रोच' वाले हास्य अभिनेता हैं। देवेन वर्मा परिस्थितिजन्य हास्य पैदा करते हैं। वे अपना चरित्र निभाते समय पैदा हुए हावभावों में ही विश्वास रखते हैं। बी.आर. चोपड़ा की 'धर्मपुत्र' में उन्होंने एक छोटा-सा, नौकर का हास्य चरित्र निभाया था। फिर उस रोल की ऐसी तारीफ हुई कि इन पर 'कॉमेडियन' का ठप्पा लग गया।

'एक्टर' किसी का मोहताज नहीं होता, यह उन्होंने 'देवर' फिल्म में खलनायक बनकर सिद्ध कर दिया। शायद कुछ और भी कर दिखाते, परंतु हास्य अभिनय वाली फिल्मों में जो लगातार तारीफें हुई कि जब भी देवेन के भाग्य से भूमिकाओं का छींका टूटा, उसमें हास्य का लड्डू ही निकला।

**प्रमुख फिल्में:** □ अनुपमा/ देवर (१९६६) □ मिलन (१९६७) □ संघर्ष (१९६८) □ खामोशी (१९६९) □ मेरे अपने (१९७१) □ कोरा कागज (१९७४) □ अर्जुन पंडित (१९७६) □ खट्टा-मीठा (१९७७) □ भोलाभाला (१९७८) □ गोलमाल/लोक परलोक (१९७९) □ थोड़ी सी बेवफाई (१९८०)



□ सिलसिला (१९८१) □ अंगूर (१९८२) □ रंग-बिरंगी (१९८३) □ भागो भूत आया (१९८५) □ झूठी (१९८६)। ■

## असरानी

जयपुर शहर में १ जनवरी १९४१ को जन्मे **असरानी** के पिता सफल व्यापारी थे। सन् १९५८ में मैट्रिक की परीक्षा अधूरी छोड़कर हीरो बनने का इरादा लेकर वे बंबई आए। बंबई में वर्षों तक संघर्ष करने के बाद भी उन्हें छोटी-मोटी भूमिकाओं के अतिरिक्त कोई काम नहीं मिला। अतः वापस जयपुर लौटकर वे आकाशवाणी और रंगमंच पर काम करने लगे। पूना के फिल्म संस्थान के खुलने पर उन्होंने अभिनय का पाठ्यक्रम किया और पहली महत्वपूर्ण फिल्म मिली 'गुड्डी'। इसके बाद 'मेरे अपने, 'बावर्ची', 'परिचय' आदि फिल्मों में उनकी हास्य भूमिकाएँ सराही गई। फिल्म 'अनहोनी', 'अनामिका', और 'आज की ताजा खबर' में वे चरित्र अभिनेता के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। पूना के फिल्म संस्थान में सहपाठिनी रही मंजु बंसल से प्रेम विवाह करने के बाद वे स्थापित हो गए। फिल्म



'शोले' में उनका अभिनय बहुत सराहा गया। फिल्मों के अतिरिक्त दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिकों के निर्माण से भी वे जुड़े हुए हैं।

● सरला

पेंटल

## दो नैना मतवारे

पेंटल का हिंदी दर्शकों से सामना हुआ था १९६८ में निर्माता निर्देशक आत्माराम की फिल्म 'उमंग' से। यह नृत्यकारों के एक समूह की कहानी थी और पेंटल इसमें मुख्य नर्तक थे। नायक और खलनायक के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी थे पेंटल। इंस्टीट्यूट के दिनों में ही महेश कौल, ए.भीमसिंह और किशोर साहू ने तीन फिल्मों के लिए पेंटल को साइन किया था। ये फिल्में ज्यादा नहीं चली लेकिन इन्हें प्रशंसा मिली। पेंटल हमेशा हास्य भूमिका से ही नहीं जुड़े रहे। कहीं उनके किरदार हास्य के दायरे से निकलकर खलनायकी की तरफ चले गए, तो कहीं-कहीं हास्य के साथ उनके किरदार भावनात्मक धरातल पर ज्यादा उभरे। इस विविधता से उनके चरित्र में कभी एकरसता महसूस नहीं हुई। पेंटल के अब तक के अत्यंत महत्वपूर्ण किरदार हैं 'बावर्ची' में नृत्य शिक्षक का। पेंटल की कॉमेडी में उनके चेहरे पर जड़ी दो गोल-गोल आँखों का चमत्कार है। वे आँखें मटका कर दर्शक के दिल में गुदगुदी मचा देते हैं। ■

दादा कोण्डके

## 'अर्थ' के लिए अनर्थ

दादा कोंडके फिल्म माध्यम को भटियारखाना बनाने के लिए याद किए जाएँगे। अश्लीलता की चरम सीमा को परदे पर दर्शाने वाला उन जैसा कलाकार (?)- न भूतो न भविष्यति। उनकी फिल्मों के द्विअर्थी संवाद, हीरो-हीरोइन द्वारा फूहड़ मुद्राएँ और गंदे मजाक सिनेमा के सफेद पर्दे पर कालिख पोतने के लिए काफी हैं। लेकिन इन्हीं हथकंडों की बदौलत दादा कोंडके की लगातार नौ मराठी फिल्मों ने रजत जयंती मना कर उनका नाम 'गिनीज बुक' में दर्ज कराया। इनमें से तीन फिल्में- 'बोट लाविन तिथे गुदगुल्या'/ तुमच आमच जमल / और 'पांडु हवलदार' व्यावसायिक सफलता के लिहाज से 'शोले' के समकक्ष मानी जाती हैं। दादा ने हिन्दी में भी कुछ सुपरहिट फिल्मों का निर्माण किया है।

दादा कोंडके ने स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित भद्दे मजाक को फिल्मों में चित्रित कर आम दर्शकों की यौन कुंठा भुनाने का प्रयास किया है। उन्होंने वे तमाम अश्लील इशारेबाजी और चुटकुलेबाजियाँ परदे पर उतार दीं, जिन्हें सिर्फ अंतरंग मित्रों के बीच या फिर सड़कछाप व्यक्तियों की बातचीत में ही कहा, सुना और देखा जा सकता है। सेंसर से बचने के लिए दादा ने द्विअर्थी संवादों का सहारा लिया, और एक ऐसे देहाती, गँवार व्यक्ति को अपनी फिल्मों में केंद्रीय पात्र की शक्ल में ढाला, जो मूर्ख समझा जाने के कारण महिलाओं से उट-पटाँग बातें कर सके। यह भूमिका हर फिल्म में वह स्वयं निभाते रहे हैं। दरअसल सस्ते हथकंडों के जरिए पैसा कमाने का भूत दादा कोंडके पर तब से सवार था, जब असहनीय अभावों में उन्हें बचपन गुजारना पड़ा। अल्पायु में ही अनाथ हो जाने के कारण वे बैंड वालों के साथ काम करने लगे। काफी समय तक बैंड बजाने के बाद उन्होंने देहाती नौटंकियों में छुटपुट अभिनय शुरू कर दिया। इसके अलावा बंबई के 'अपना बाजार' में झाड़ू लगाने की नई नौकरी भी कर



ली। (आज दादा इतना पैसा कमा चुके हैं, कि पूरे 'अपना बाजार' का सबसे बड़ा शेयर उनके पास है)

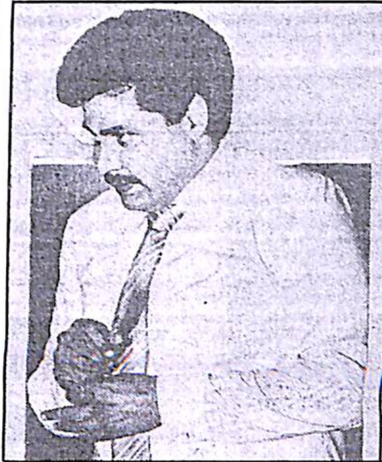
नौटंकियों में काम करते हुए दादा कोंडके ने दो हास्य मराठी नाटकों 'विच्छा माझी पूरी करा' और 'गाढवाच लग्न' का मंचन किया। इन दोनों नाटकों ने पूरे महाराष्ट्र में जबरदस्त सफलता हासिल की। यहाँ तक कि कई गणमान्य नागरिक भी देहातों में उनके नाटक देखने गए। इन नाटकों में अश्लीलता नहीं थी, और उनमें सादे देहाती हास्य का पुट इस्तेमाल किया गया था। दादा की ख्याति सुनकर स्व. राज कपूर ने भी इन्हें देखा, और उनकी पीठ ठोंकी। फिल्मों में दादा कोंडके को पहला मौका 'भालजी पेंढारकर' जैसे प्रतिष्ठित मराठी फिल्मकार ने दिया। उनकी फिल्म 'तम्बदी माटी' में दादा की महत्वपूर्ण भूमिका थी, लेकिन यह फिल्म ज्यादा नहीं चल पाई। कुछेक और फिल्मों में काम करने के बाद दादा कोंडके ने खुद निर्माता बनने का फैसला किया। चूँकि 'अच्छी' फिल्मों का बॉक्स आफिस पर 'बुरा हश्र' वे देख चुके थे, इसलिए उन्होंने लोक नाट्य में प्रयुक्त किए जाने वाले 'भदेस शब्दों' की ओर देहाती दर्शकों का रुझान देखते हुए उनके फिल्मीकरण की बात सोची। उनका यह 'आइडिया' कामयाब रहा, और दादा की एक के बाद एक फिल्में सुपरहिट साबित हुई। अपनी फिल्मों में महिला पात्र तलाशने के लिए उन्हें काफी सर रगड़ना पड़ा। क्योंकि कोई संभ्रांत हीरोइन उनके साथ काम करने को राजी ही नहीं होती थी। अंततः 'उषा चव्हाण' के रूप में दादा को अपनी स्थाई नायिका मिल गई जिसके साथ उनका रोमांस भी गरमाया।

मराठी फिल्मों की कामयाबी को देखते हुए दादा कोंडके ने हिन्दी दर्शकों के लिए भी 'तेरे मेरे बीच में'/ अँधेरी रात में दिया तेरे हाथ में/ आगे की सोच आदि फिल्मों का निर्माण किया। जिन्होंने हिन्दी सिनेमा में भी द्विअर्थी संवादों की परंपरा शुरू कर दी। कादर खान इसी परंपरा के पोषक माने जाते हैं। दादा कोंडके ने 'अर्थ' का अनर्थ कर जितना 'अर्थ' (पैसा) कमाया है, उसे 'सार्थक सिनेमा' वाले दस जनम में भी नहीं कमा सकते। ■

सतीश शाह

## जाने भी दो यारो

सतीशशाह को स्कूली जिंदगी से अभिनय का शौक था। सेंट जेवियर्स कॉलेज बंबई के पढ़े हुए सतीश ने १९७६ में पूना के फिल्म इंस्टीट्यूट से अभिनय में डिप्लोमा लिया। मॉडलिंग से अपने कैरियर की शुरूआत करने वाले इस हास्य अभिनेता को 'यह जो है जिन्दगी' नामक धारावाहिक से लोकप्रियता मिली। रंगमंच पर भी वे मजमा के ग्रुप के साथ सात-आठ प्रस्तुतियों में आए। उनकी फिल्मों में सईद मिर्जा की 'अरविंद देसाई की अजीब दास्तान', 'अलबर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है,' 'मोहन जोशी हाजिर हो' 'अमृत',



'अवाम', 'लव-८६', 'पीछा करो' जाने भी दो यारो आदि प्रमुख हैं। यह जो है जिन्दगी में पैंसठ तरह की भूमिकाएँ करके उन्होंने एक कीर्तिमान बना डाला है। सतीश शाह के अनुसार कला फिल्मों में काम करके संतोष तो मिलता है मगर जिन्दगी के लिए जरूरी सुविधाएँ पाने लायक धन नहीं। इसीलिए वे व्यावसायिक फिल्मों से जुड़ गए। ■

## कार्टून मिर्जा मुशर्रफ

मध्यम कद/ दुबले पतले/ रूखे-सूखे सफेद बाल/ धँसी हुई आँखें/ पिचके गाल/ एक या दो दाँत नमूने के रूप में चौखटे में लटकते हुए/ अस्त-व्यस्त कपड़े/ यह पहचान है **मिर्जा मुशर्रफ** की। मिर्जा मुशर्रफ फिल्मों में आने से पहले और देश विभाजन के पहले पत्रकार व संपादक रह चुके हैं। स्वतंत्रता सैनिक के रूप में दो बार जेल भी जा चुके थे।

फिल्मों में आने से पहले जब ये नेता थे, तो सिनेमा हॉल में फिल्म देखने गए, लेकिन इन्हें कंसेशन नहीं मिला तो इन्होंने भीड़ इकट्ठी कर फिल्म की स्क्रीनिंग रुकवा दी। बांद में थिएटर के मैनेजर ने इन्हें पटाने के लिए अपनी फिल्म 'कजाक की लड़की (१९३५) में छोटा-सा रोल दिलवा दिया। इसके बाद काम मिला ईस्ट इंडिया फिल्म कंपनी में। कारदार की फिल्म 'बागबान' (१९३७) में सभी गाने ट्यून के साथ इन्होंने बनाए थे सभी हिट हुए। पी.एल. संतोषी के साथ 'पागलखाना' में काम किया। कारदार बंबई आए तो मिर्जा भी बंबई आ गए। बी.एम. व्यास और एस.एम. युसूफ से मुलाकात घनिष्ठता में बदल गई। फलस्वरूप इनकी तकरीबन सभी फिल्मों में मिर्जा कॉमेडियन रहे। ■

राजेन्द्रनाथ

## ठीक है ठीक है

राजेन्द्रनाथ की एक टाइप्ड कॉमेडी है। इस टाइप्ड कॉमेडी को राजेन्द्रनाथ ने जिस ढंग से पेश किया वह अपनी जगह अटल है। एक समय था जब राजेन्द्रनाथ अपने समय के बड़े आर्टिस्ट शम्मी कपूर, राजेन्द्रकुमार और शशि के साथ बड़ी-बड़ी फिल्मों में होते थे। इन फिल्मों में उनका काम किसी भी बड़े आर्टिस्ट से कम नहीं होता था और न लोकप्रियता ही किसी से कम थी। शूटिंगों के लिए अक्सर विदेश भी जाते थे।

लेकिन समय के साथ-साथ दौर भी बदलता गया, मगर राजेन्द्रनाथ ने अपने आप को समय के साँचे में नहीं ढाला, बल्कि उन्होंने समय को अपने साँचे में ढालने की कोशिश की।

आमतौर से आर्टिस्ट किसी न किसी बड़े आर्टिस्ट से प्रभावित होकर उसकी कॉपी करने की कोशिश करता है। लेकिन राजेन्द्रनाथ के साथ यह बात नहीं है। वे जितनी देर पर्दे पर होते हैं, एक माहौल-सा बन जाता है। पर्दे पर हँसाने वाले राजेन्द्रनाथ बाहर बहुत ही गंभीर और सज्जन इंसान हैं। परदे पर अक्सर वे पट्टेदार पायजामा-कुरता पहनकर आते रहे। कभी-कभी अपने हास्य को वे फूहड़ता तक खींचकर ले जाते और चड्डी-बनियान में परदे पर आ जाते थे। भौंहें ऊपर-नीचे चढ़ाने में उन्हें महारत हासिल है।

## इण्डियन हार्डी दीक्षित

दीक्षित थाना के तत्कालीन सेशन जज के होनहार एवं सुशिक्षित पुत्र थे। इनकी पहली फिल्म थी **'जगमगाती जवानी'** जो मूक थी। रणजीत मूवीटोन में **दीक्षित** और **घोरी** की ऐसी जोड़ी बनी कि उन्हें लॉरेल और हार्डी कहा जाने लगा। दीक्षित हार्डी और घोरी लॉरेल। संयोग था कि उन्हीं दिनों सवाक् फिल्मों का युग शुरू हुआ था और यह जोड़ी उन दिनों धमाके का काम कर रही थी। दीक्षित की दोस्ती सहगल से थी। दीक्षित की स्मरण शक्ति तीव्र थी। उन्हें संस्कृत पढ़ने और बोलने का शौक था। वे आजीवन अविवाहित रहे। कॉमेडी तो उनकी व्यावसायिक बाध्यता थी। उन्हें जर्मन एक्टर एमिल जैनिस की फिल्म 'पैट्रियाट' पसंद थी। वे उसी तरह की एक्टिंग के हिमायती थे। ■

खण्ड-६

नए नायक



'आशिकी' का नया अंदाज : अनू अग्रवाल- राहुल राय

# किसे याद रखें किसे भूल जाएँ?

● दिलीप गुप्ते

पिछले दो वर्षों में बंबई के चकाचौंध भरे संसार में जितने नायक उतरे हैं उतने पहले कभी नहीं उतरे थे। लगभग हर नई फिल्म में नया नायक था। सैलाब थमा नहीं है। नायक आ रहे हैं, नायक जा रहे हैं। सब एक ही साँचे के। किसी की अपनी कोई पहचान नहीं। लाँग शॉट में सभी एक जैसे। बड़े जोरशोर से आते हैं। खामोशी के साथ लौट जाते है। दर्शक इस नई पीढ़ी के साथ अपने आपको जोड़ नहीं पा रहा है।

नए नायकों की इस भीड़ में कई ऐसे हैं जो आर्क लैंप की रोशनी में ही बड़े हुए हैं। इनके माता-पिता या तो स्टार रहे हैं या निर्माता-निर्देशक। इनके खून में फिल्मी संस्कार तो हैं पर अभिनय के जिंस नहीं। ये सभी अभिनय स्कूल से पढ़कर आए हैं मगर कच्चे हैं। कैमरे के सामने निडर होकर बढ़िया पोज तो दे सकते हैं मगर अभिनय नहीं कर सकते। अपने बलबूते पर कोई फिल्म नहीं खींच सकते। इनका आत्मविश्वास फिल्मी पत्रिकाओं तक ही सीमित है।

कहाँ कमजोर पड़ जाते हैं ये नए नायक? शरीर यष्टि तो पुरुषोचित है, सौंदर्य में भी कम नहीं। स्टार सन होने का फायदा है। शायद नुकसान भी। बल्कि नुकसान ज्यादा है। खाते पीते घर के होने के कारण किसी भी चीज का अभाव नहीं रहा। जो माँगा मिला। इनके माता पिता ने संघर्ष किया, तंगहाली देखी, असफलता झेली। जिंदगी को करीब से देखा और वही अपने अभिनय में उँडेला। इसके विपरीत स्टार सन ने दुख देखा ही नहीं। हरदम मुस्कराते रहे। जरा से रोए तो घर भर के नौकर दौड़े चले आए। पकवान भरा टिफिन लिए आया हमेशा बगल में खड़ी रही। ये नायक दुख को कैसे अभिव्यक्त करेंगे? भूखे आदमी के भाव चेहरे पर कैसे लाएँगे? ये सिर्फ गुस्सा कर सकते हैं या तोड़फोड़ कर सकते हैं।

नए नायकों की शिक्षा-दीक्षा अँगरेजी स्कूलों में होती है। इन्हें हिन्दी नहीं आती। आती भी है तो अँगरेजीनुमा इसलिए संवादों की अदायगी में ये पोचे निकलते हैं। सभी ऊँचे स्वर में प्रेम भी करते हैं, घृणा भी, हँसते भी हैं, रोते भी हैं। आवाज पर नियंत्रण करना इनके बस की बात नहीं है।

नई पौध में सिर्फ स्टार-सन ही नहीं बल्कि बड़े उद्योगपतियों-व्यापारियों के बेटे भी हैं जो बोतल के दूध पर पले हैं। पैसे कमाने की चिंता नहीं। फिल्मों में नहीं चले तो भी सड़क पर आने जैसा डर नहीं। दरअसल अभिनय इनके



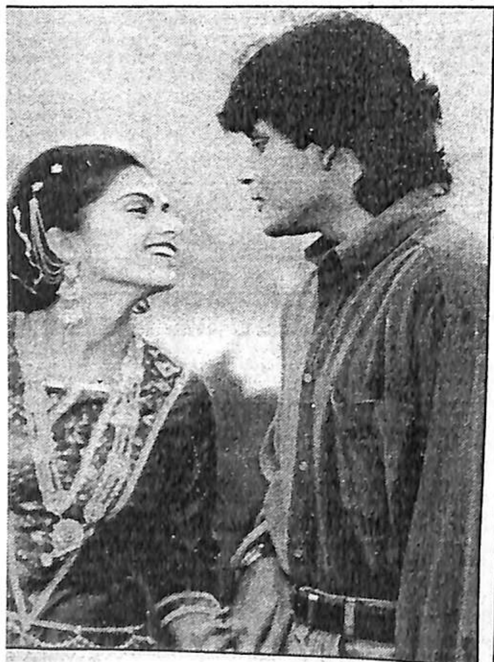
*काँटों में फूल की महक : मधु-अजय देवगन*

लिए मौज मजा है इसलिए ये गंभीर होने की कोशिश भी नहीं करते।

आज की तेज रफ्तार की जिंदगी आज के नायकों पर हावी हो गई है। वे कम समय में और कम मेहनत में ज्यादा से ज्यादा फिल्में करना चाहते हैं, ज्यादा से ज्यादा दौलत बटोरना चाहते हैं, ज्यादा से ज्यादा रोमांस करना चाहते हैं। अपनी इमेज से ज़रा भी इधर-उधर नहीं होना चाहते।

दरअसल नई पौध के सामने कोई आदर्श ही नहीं है। इनका कहना है कि जब अशोक कुमार, दिलीप कुमार, मोतीलाल वगैरह बिना किसी से प्रभावित हुए इतने बड़े नायक बन सकते हैं तो हम क्यों नहीं। ये लोग स्वाभाविक नायक हैं, प्राकृतिक नायक हैं। इन्होंने जिंदगी देखी है, उसे अपने अभिनय में इस्तेमाल किया है। उनके मुकाबले नए नायकों की जिंदगी हुई कितनी है? जो उम्र स्कूल-कॉलेज

*भाग्यश्री का हिमालय और हिमालय की भाग्यश्री*



में पढ़ने की होती है उस उम्र में ये इश्क फरमाते हैं। किशोरवय नायक हमारी संस्कृति में ही नहीं हैं।

जीवन से दूर होने और अपूर्ण शिक्षा होने के कारण नए नायक जल्दबाजी में उल्टे सीधे निर्णय लेते हैं। एक फिल्म क्या चली नंबर की दौड़ में शामिल हो गए। नाम बिकता है इसलिए विज्ञापनों में मॉडल भी बन गए। दिलीप कुमार, , राजकपूर या अमिताभ बच्चन ने कभी किसी वस्तु के विज्ञापन के लिए मॉडलिंग की है?

नई पीढ़ी में संस्कार नहीं हैं। पुराने अभिनेताओं को लीजिए।शीर्ष पर थे तब भी अपने बराबरी वाले को इज्जत दिया करते थे। आज के नायक तो शराबखोरी में डूबे हुए हैं। गुत्थम-गुत्था होते हैं। गालियाँ देते हैं। गोलियाँ दागते हैं, हवालात आबाद कर आते हैं। अपने प्रेम के किस्से मजे ले लेकर पत्रकारों को बताते हैं।

ऐसा नहीं कि नए नायक पूरी तरह नाकारा हैं। ओम-नसीर-अनुपम का लोहा कौन नहीं मानता? क्यों? इसलिए कि ये मूलत: रंगमंच से आए हैं। इन्होंने जिंदगी के नजदीक के किरदार निभाए हैं। ये लाउड नहीं हुए, फैशन के पुतले नहीं बने।

आज फिल्मों का ग्लैमर हर किसी को खींच रहा है। वे लोग फिल्में बना रहे हैं जिनका दामन दागदार है। इन्होंने फिल्मों का चेहरा बदसूरत कर दिया है। आज की फिल्में हमारी फिल्में नहीं हैं। उसमें काम करने वाले नायक हमारे कैसे हो सकते हैं।

नायक आते रहेंगे, अपनी किस्मत की खाते रहेंगे, चले जाएँगे। टिकाऊ अभिनेताओं की नस्ल खत्म हो गई है। अमिताभ बच्चन के बाद कोई सुपर स्टार नहीं आएगा? जो लोग नए नायकों को टिकाऊ मानते हैं वे उनकी आज की हिट फिल्म पाँच साल बाद देखें। अगर वह दो हफ्ते चल गई तो समझो वे टिकाऊ हैं और उसी फिल्म के मुकाबले दिलीप कुमार से लगाकर अमिताभ की कोई साधारण सी फिल्म देखें किसकी फिल्म ज्यादा चलती है? ■

## सलमान खान

# मुकद्दर

एक-दो फिल्मों की विफलता के बावजूद आज की तारीख में **सलमान खान** का क्रेज बदस्तूर बना हुआ है। वे एक बिकाऊ स्टार हैं। उनका ही-मेन चेहरा दर्शकों को अपने सम्मोहन में बाँध लेता है। सलमान के बारे में यह प्रतिक्रिया एक ऐसे वितरक की है जिसने सलमान की फिल्म 'सनम बेवफा' से लाखों का वारा-न्यारा किया है। वैसे जहाँ तक प्रतिष्ठित नायकों का सवाल है, अमिताभ की बात जाने दें, तो सिर्फ **संजय दत्त** और **जैकी श्राफ** ही ऐसे पुराने नायक हैं, जिनकी फिल्में इन दिनों ज्यादा पसंद की जा रही हैं। नए नायकों में सलमान के बाद अजय देवगन की ही फिल्मी इमेज थोड़ी वजनदार है। 'मैंने प्यार किया' बागी, पत्थर के फूल, कुर्बान, साजन जैसी कई हिट फिल्मों ने आज सलमान को एक ऐसे मुकाम पर पहुँचा दिया है, जो खुद उनके लिए भी एक आश्चर्यजनक बात बन चुकी है।

यह चौंकाने वाली सफलता सलमान के लिए नुकसानदायक भी सिद्ध हुई है। 'मैंने प्यार किया' के सेट पर सभी से हँस-हँस कर बोलने वाला सीधा-सादा सलमान आज सचमुच कहीं खो गया है। सफलता ने उसका सीना काफी चौड़ा कर दिया है। उसके स्वभाव में एक अजीब-सी बेरुखी ने स्थाई स्थान बना लिया है।

यह बात भी सुनने को मिल रही है कि पिता सलीम के साथ भी सलमान के संबंध कुछ खास अच्छे नहीं चल रहे हैं। पापा सलीम के अवहेलित व्यवहार ने ही शायद आज उन्हें इस मुकाम पर लाकर खड़ा किया है।कभी पापा ने उन्हें मजाक में व्यंग्य करते हुए कहा था कि अभिनय करना उतनी सीधी बात नहीं है, वह इसका ख्याल छोड़ दे। बस पापा के उसी मजाकिया वाक्य को सलमान ने एक चैलेंज के रूप में ग्रहण कर लिया और निर्माताओं के दरवाजे खटखटाने शुरू कर दिए। रेखा की एक फिल्म 'बीवी हो तो ऐसी' जो उसकी पहली फिल्म थी, में वह पिछली सीट में बैठा नजर आता है, लेकिन अपनी दूसरी फिल्म 'मैंने प्यार किया' के बाद वह सीधे मंच पर जा बैठा।

सच तो यह है कि सलमान बहुत मूडी है। यही वजह है कि अक्सर लोग उसे गलत समझ बैठते हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, कर्मक्षेत्र और मित्रता की दुनिया में उसे इतने कटु अनुभवों से दो-चार होना पड़ा है कि आज उसे हमेशा अपने आप से लड़ना पड़ता है।

संगीता बिजलानी के साथ उसके आत्मीय संबंधों की खिचड़ी पिछले एक अरसे से पक रही है। पर वह उसे फिलहाल अपने कैरियर

# का सिकन्दर

● गोपा चक्रवर्ती

की खातिर शादी का रंग नहीं देना चाहता। उसके मुताबिक इतनी जल्दी शादी करके मैं अपने कैरियर की चमक को कम नहीं करना चाहता हूँ। उसकी नई प्रेमिका **सोमी अली** की भी खासी चर्चा है। सोमी अपनी माँ के साथ पाकिस्तान से बंबई नायिका बनने के उद्देश्य से ही आई है। यहाँ आते ही धर्मेन्द्र ने अपनी फिल्म 'जान' के लिए उसे साइन कर लिया जिसके नायक उनके बेटे बॉबी देवल हैं। लेकिन सलमान को सोमी की सुन्दरता ने इस कदर सम्मोहित किया कि उन्होंने झट उससे दोस्ती गाँठ कर उसे अपने मोहपाश में बांध लिया। इस बीच सोमी धर्मेन्द्र की फिल्म से हट गई तथा लगभग इसके साथ ही साथ सलमान ने 'बुलंद' फिल्म में इसे अपनी नायिका बना लिया।

'सनम बेवफा' के निर्माता निर्देशक सावन कुमार टाक जो इन दिनों श्रीदेवी और सलमान की धमाकेदार जोड़ी को 'चाँद का टुकड़ा' में पेश कर रहे हैं, सलमान से विशेष प्रभावित हैं। इंडस्ट्री में यह भी कहा जाता है कि उनकी वजह से ही सलमान का पारिश्रमिक इतना बढ़ा है। सावन कुमार का कहना है, मैं यह मानता हूँ कि इंडस्ट्री में कई अभिनेता सलमान से ज्यादा प्रतिभाशाली, मेहनती और हैंडसम हैं। पर इतने कम अरसे में सलमान को जितनी सफलता मिली है, वो और किसी को नहीं मिली है। सलमान ने सबको पछाड़ दिया है।

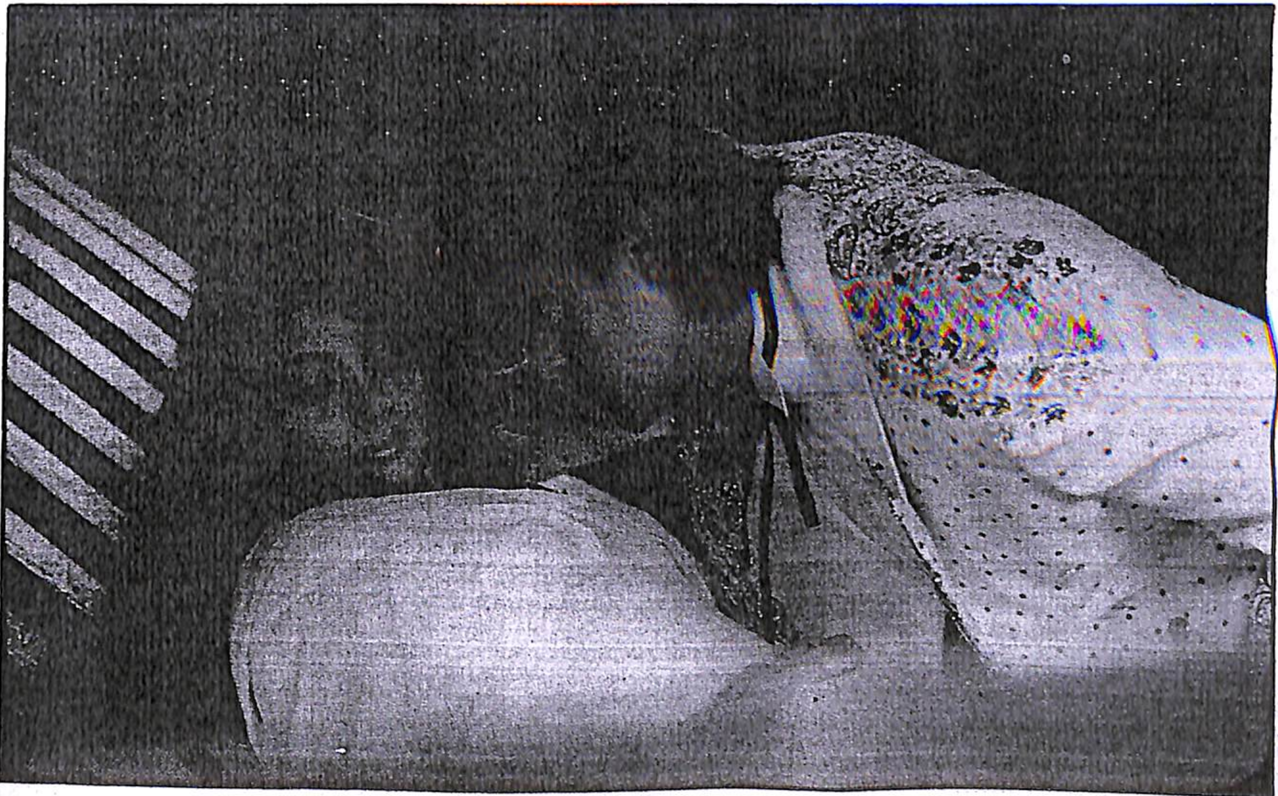
श्रीदेवी से सलमान के बारे में पूछने पर वे कहती है, 'बहुत ही अच्छा अभिनेता है। लड़का भी बहुत अच्छा है। लेकिन दूसरी नई नायिकाएँ, जिन्होंने सलमान के साथ काम किया है उसका नाम सुनते ही भड़क उठती है। 'कुर्बान' की नायिका **आयशा जुल्का** कहती है, 'मैं अब कभी उसके साथ काम नहीं करूँगी। 'सनम बेवफा' की चाँदनी बेहद कटु स्वर में कहती है, 'सलमान एक नंबर का अक्खड़ और जिद्दी है। 'सनम बेवफा' के दौरान उसने हर तरह से मुझे परेशान किया। उसे जरा भी समझ नहीं है। रवीना टंडन तो खुले आम कहती हैं कि वह सलमान की धौंस नहीं सहेगी।

**साजन** के बाद से सलमान ने दो हीरो वाले प्रोजेक्ट ठुकराने शुरू कर दिए हैं वे कहते हैं 'जब मैं अकेला अपने कंधों पर फिल्म ढो सकता हूँ, तो मुझे दूसरे हीरो की सहायता की क्या जरूरत है। जिस फिल्म में दो हीरो होते हैं, उसमें दोनों के लिए संभावनाएँ कम हो जाती हैं।' सलमान के इस वक्तव्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सफलता मिलते ही हर कलाकार अपने आपको नंबर वन के रेस का घोड़ा समझने लगता है। जहाँ तक सलमान की बात है, तो अभी तक वे खुलेआम ऐसा दावा नहीं करते। हाँ अनिल कपूर, जैकी श्राफ, मिथुन चक्रवर्ती जैसे अपने सीनियरों के साथ फिल्में न करने की उनकी नीति इतना जरूर संकेत देती है कि वे सिर्फ अपने बलबूते पर ही बुलंदी तक पहुँचना चाहते हैं।

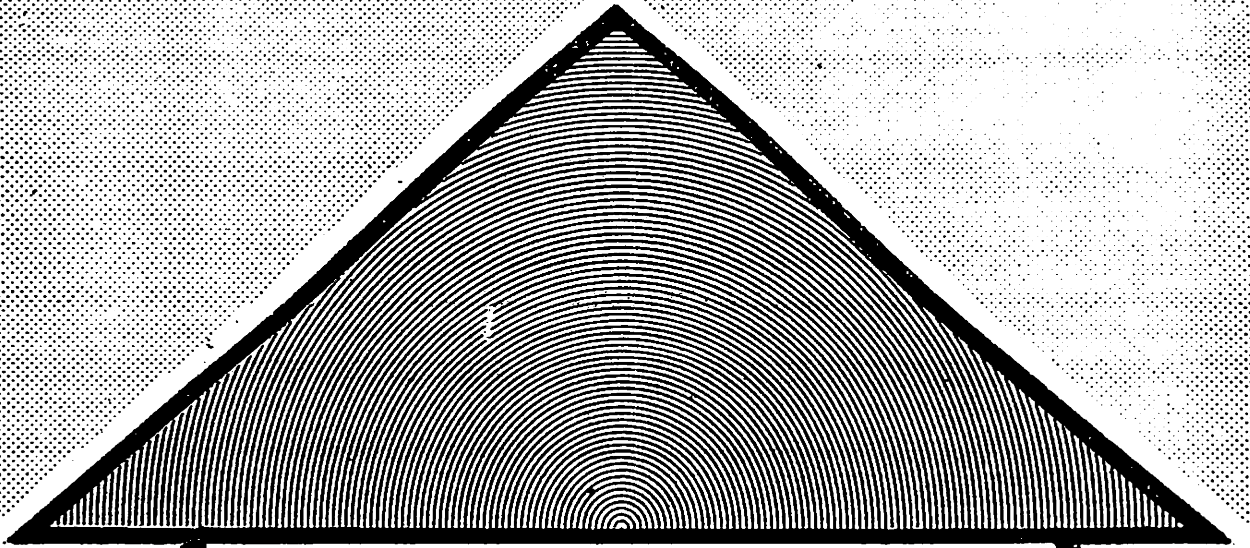
सलमान की चर्चा के साथ ही आमीर खान और कुमार गौरव के नाम भी अनायास जुड़ जाते हैं। इसकी वजह यह है कि सलमान से पहले ये दोनों कलाकार भी रोमांटिक फिल्मों की तूफानी सफलता के साथ अवतरित हुए थे। इनके पीछे भी निर्माताओं की भीड़ लगी थी और आज कुमार गौरव तो अतीत की बात बनते जा रहे हैं, जबकि आमीर के कैरियर में भारी उतार-चढ़ाव आया है। इन दिनों आमीर- सलमान की चर्चा राजकुमार संतोषी की नई फिल्म 'अंदाज अपना अपना' के साथ हो रही है, पहली बार दोनों खान बंधु एक साथ काम कर रहे हैं, तो मुकाबला निश्चित ही जोरदार होने की संभावना है। ■



रेखांकन : जफर मोहम्मद



श्रीदेवी के साथ सलमान खान



# हर परिवार का घर अपना
# पूरा होता घर का सपना

## मध्यप्रदेश सरकार की नयी आवास योजनाएं

पिछले दो वर्षों में मध्यप्रदेश में लाखों परिवारों के लिए अपने घर का सपना साकार होने लगा है। खास तौर पर ऐसे परिवार जिनके लिए साधनों की कमी की वजह से मकान बनाने का सोच पाना भी मुश्किल था उनके लिए सरकार ने कई रियायतों के साथ ऐसी आवास योजनाएं लागू की हैं जिनकी शुरूआत होती है अंतिम पंक्ति के अंतिम व्यक्ति की भलाई से :

**झुग्गीमुक्त - आवास युक्त योजना :**
बुनियादी सुविधाओं के अभाव में शहरों में बसे झुग्गीवासियों के लिए इस योजना पर भोपाल में 160 करोड़ रु. की लागत से मकान बनाने का काम शुरू हो गया है। जल्दी ही इसे रायपुर, इन्दौर, ग्वालियर और जबलपुर में भी लागू किया जाएगा।

**शासकीय कर्मचारियों के लिए विशेष योजना :**
इस योजना के तहत सभी शासकीय कर्मचारियों को जिला मुख्यालयों पर मकानों के प्लॉट तैयार करके दिये जाएंगे। कर्मचारियों को इसके बदले 50 रु. प्रतिमाह से 300 रु. प्रतिमाह की राशि अपनी पद श्रेणी के हिसाब से देना होगी।

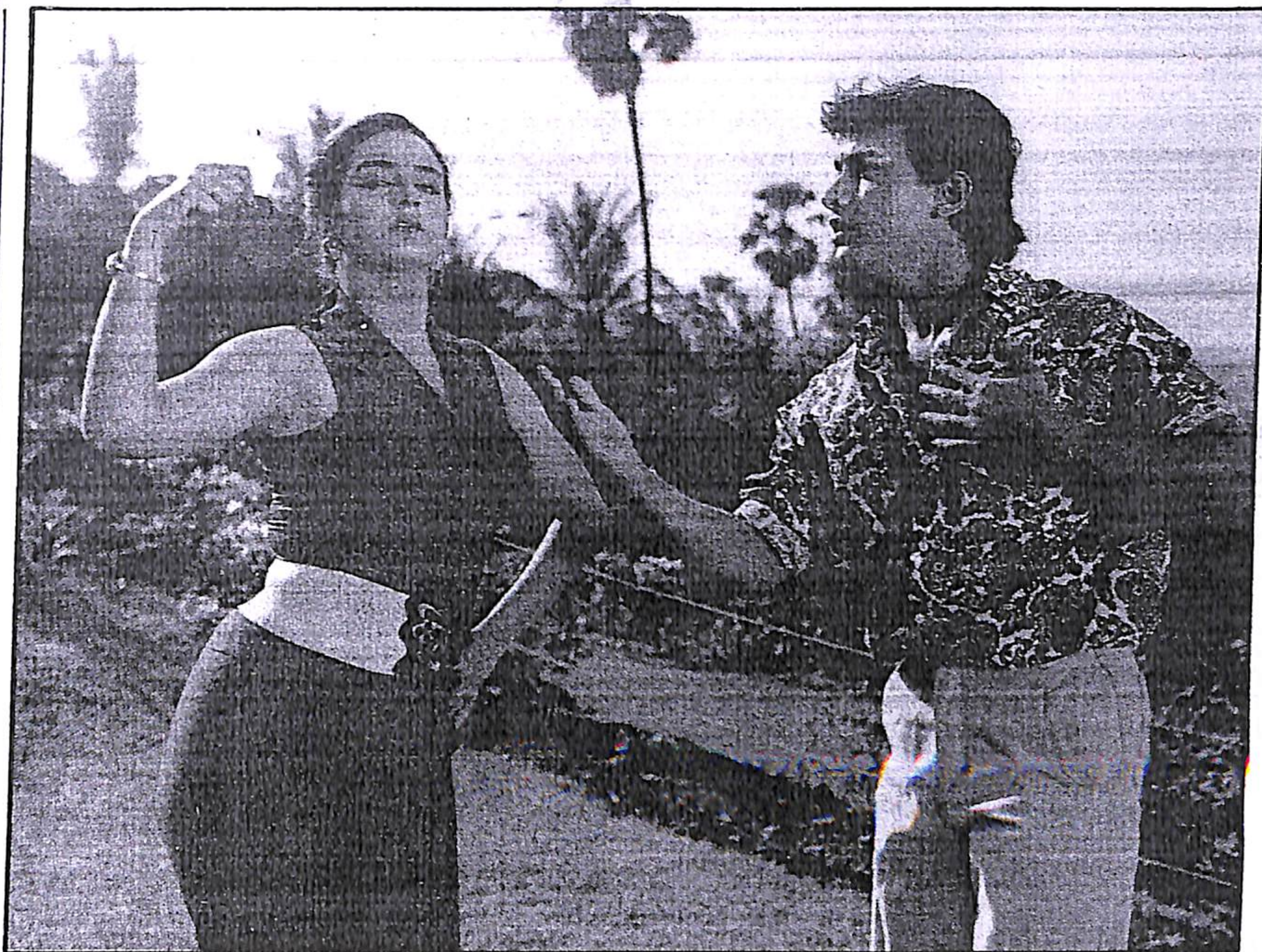
**विश्व बैंक सहायता से नगरीय परियोजना :**
विश्व बैंक से प्राप्त 52.66 करोड़ रु. की लागत से पिछले दिनों पूरी की गयी इस परियोजना में 56,000 से अधिक गंदी बस्तियों के सुधार, 16382 शौचालयों का निर्माण और मकान के ढांचे भूखंड विकसित करने का काम किया गया।

**आंबेडकर शताब्दी वर्ष में अनुसूचित जातियों को आवास :**
आंबेडकर शताब्दी वर्ष को मध्यप्रदेश में अनुसूचित जाति आवास वर्ष के रूप में मनाया गया। इस योजना के तहत कुल एक लाख निर्धनतम ग्रामीण अनुसूचित जाति परिवारों को आवास सुविधा मुहैया कराने का लक्ष्य रखा गया था जिसके मुकाबले अब तक 1.22 लाख परिवारों को आवास सुविधा दी जा चुकी है। इस तरह ग्रामीण क्षेत्रों में पिछले दो वर्षों के दौरान विभिन्न आवास योजनाओं के तहत 1.97 लाख परिवारों के अपने घर हो चुके हैं।

**आवास वित्त निगम :**
ज़रूरतमंद लोगों के लिए मध्यप्रदेश गृह निर्माण मंडल, नगर विकास प्राधिकरण जैसी संस्थाएं ज्यादा से ज्यादा मकान बना सकें, इसके लिए प्रदेश में आवास वित्त निगम का गठन किया जा रहा है जिसे शुरू में पांच करोड़ रुपये दिये जाएंगे।

संकल्प पूरे करने वाली सरकार
**मध्यप्रदेश सरकार**

म.प्र. माध्यम/ 92



*फरहा नचा रही है, आमीर नाच रहे है*

आमीर खान

# प्यार के राही

● **असीम चक्रवर्ती**

याद कीजिए आज से लगभग छह साल पहले प्रदर्शित **'कयामत से कयामत तक'** की सफलता को, धड़ाधड़ फिल्में फ्लाप हो रही थीं। फिल्मोद्योग भयंकर आर्थिक तंगी के दौर से गुजर रहा था। ऐसे में सुखद अनुभूति की तरह 'कयामत से...' प्रदर्शित हुई। सीधी सादी कहानी। एकदम ताजगी भरे चेहरे। गुनगुनाने वाला संगीत। चुस्त निर्देशन। बस दर्शकों को और क्या चाहिए था। इस फिल्म के लोग दीवाने हो गए। पूरी इंडस्ट्री इस फिल्म की सफलता का आकलन करने लगी। जहाँ बड़े सितारों से भरी और बड़े नाम दाम वाली फिल्मों को दर्शक एक के बाद एक खारिज करते चले जा रहे थे, वहाँ एक छोटी फिल्म दर्शकों को इतना क्यों भा गई? यह बात सभी के लिए चौंकाने वाली थी। कुछ निर्माताओं को लगा कि दर्शक अब मारधाड़ की फिल्मों से राहत पाना चाहते हैं। कुछेक का सोचना था कि पुराने चेहरे देखकर दर्शक बोर हो चुका है।

अपने-अपने ढंग से इस फिल्म की सफलता का कारण ढूँढ़ा गया। उसी के आधार पर, कई नई फिल्मों की नींव रखी गई। नए चेहरों को लेकर प्रेमकथा बनाने में निर्माताओं की रुचि बढ़ी। **आमीर** इस बारे में कहते हैं- देखिए पूरी ईमानदारी और मेहनत से बनाई गई हर फिल्म का दर्शक स्वागत करते हैं। घिसे-पिटे विषय की बजाए सीधी सादी कहानी दर्शकों को ज्यादा पसंद आती है।

सच तो यह है कि आज 'कयामत से...' का वह मासूम नायक आमीर खान दर्शकों का खास चहेता बन गया है। निश्चित रूप से आमीर में इस दौरान काफी परिवर्तन आया है। उनका अभिनय और परिपक्व हुआ है 'कयामत से...' में जूही और उनकी जोड़ी ने अपनी मासूमियत की वजह से भी दर्शकों को कुछ ज्यादा आकर्षित किया था। जाहिर यह आकर्षण ज्यादा दिन तक रहने वाला नहीं था। लेकिन निर्माता थे कि आमीर के इस अंदाज का फायदा उठाना चाहते थे। आमीर की तीसरी प्रदर्शित फिल्म 'लव-लव-लव' बॉक्स ऑफिस पर लुढ़क गई। यही नहीं इसके बाद की फिल्म अव्वल नंबर भी कब आई और कब चली गई किसी को पता नहीं चला।

आमीर इस बात से इंकार नहीं करेंगे कि बी. सुभाष की 'लव लव लव' में वे परदे पर थोड़ा आक्रमणकारी नजर आए थे। नायिका जूही चावला को पाने के लिए उन्होंने संघर्ष का रास्ता अपनाया था। थोड़ी सी मारपीट भी की थी। पर इसमें कोई शक नहीं है कि मारपीट के दृश्यों में आमीर का अभिनय बहुत स्वाभाविक नहीं लग पाता। उन्हें एक साथ पाँच-छह गुंडों के साथ जूझते हुए देखना दर्शकों को बहुत आश्चर्यजनक लगता है। दर्शक अब आमीर को जुझारू रूप में देखना जरूर चाहते हैं पर ऐसे रफ-टफ नायक के रूप में नहीं जो एक साथ चार-पाँच नायकों की ठुकाई करता है। उनके इस सोच के मूल में आमीर का संपूर्ण व्यक्तित्व है जो बिलकुल रोमांटिक परिवेश की सृष्टि करता है, जिसके चलते ही शायद वे आमीर को पिटते हुए देखना नहीं चाहते हैं। इसीलिए 'कयामत से...' और 'लव लव लव' में नायिका को अपनी जीवन संगिनी बना लेने की उनकी इच्छा को दर्शकों का पूरा समर्थन मिलता है। इस परिप्रेक्ष्य में यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि 'कयामत से...' में जहाँ वे नायिका के साथ मौत को गले

इंटरव्यू : आमीर खान

## कम काम : अधिक आराम

**फिल्मों में आने से पहले आप निर्देशन का काम सीख रहे थे। निर्देशक बनना आपको पसंद भी है?**

इस समय निर्देशन की ओर जाने का मतलब अभिनय से छुट्टी लेना हुआ। मैं अभी अभिनय छोड़ना नहीं चाहता हूँ। निर्देशन करने की मेरी तमन्ना जरूर है, जो समय आने पर जरूर पूरी करूँगा।

**अभिनय की तरफ आपका झुकाव कैसे हुआ?**

चाचा नासिर हुसैन के सहायक के रूप में 'मंजिल-मंजिल' तथा 'जबरदस्त' फिल्में करने के दौरान मुझे ऐसा लगा था कि मैं भी अभिनय कर सकता हूँ। अभिनय के प्रति मेरी रुचि की पहली शुरूआत यहीं से हुई।

**अपने भविष्य की योजनाओं के बारे में क्या कहना चाहेंगे?**

ढेर सारी योजनाएँ हैं। एक-एक करके वे सामने आती रहेंगी। कुल मिलाकर ये चुनौतियों से भरी हैं। मैं चाहता हूँ कि दर्शकों की माँग के मुताबिक मेरे कलाकार व्यक्तित्व का निर्माण हो। इस प्रयास में मैं सफल रहूँ।

**आप साल में ज्यादा से ज्यादा दो या तीन फिल्मों में ही काम क्यों करते हैं?**

मेरे ख्याल से तो इस मामले में गैपिंग कोई मायने नहीं रखती है। यदि फिल्मों में दम हो तो एक ही कलाकार की एक साथ रीलिज हुई तीन-चार फिल्में हिट हो जाती हैं और यह उल्टा भी हो सकता है।

**आपके पसंदीदा कलाकार कौन-कौन से हैं?**

भारतीय कलाकारों में अमिताभ बच्चन मुझे सर्वाधिक पसंद हैं तथा विदेशी कलाकारों में माइकल जे. फॉक्स।

**आपका प्रिय शौक?**

संगीत का शौक मुझे दीवानगी की हद तक है। पुराने फिल्मी गीत और गायक दोनों ही मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। गजल गायकों में मुझे जगजीतसिंह और मेहंदी हसन बहुत पसंद हैं।

**कौन-सा खेल पसंद है?**

मैं क्रिकेट का दीवाना हूँ। मुझे भारतीय क्रिकेट की दशा देखकर बेहद दुख होता है। राजनीति ने इसे काफी पीछे धकेल दिया है।

**आज की फिल्मों के बारे में आपकी क्या राय है?**

कौन-सी फिल्म कब हिट होगी यह कोई बता नहीं सकता। कोई भी नायक एक फिल्म के हिट होने के बाद दूसरी फिल्म के हिट होने की उम्मीद नहीं कर सकता। अभिनेताओं का काम है मन लगाकर काम करना और निर्देशकों का फिल्म बनाना। बस वही सिलसिला जारी है।

**अपने दाम्पत्य जीवन के बारे में कुछ बताइए?**

मैं अपने आपको एक अत्यंत साधारण आदमी समझता हूँ। मैंने किसी तरह का कोई घमंड नहीं पाल रखा है। ठंडे दिमाग से हर काम करता हूँ। लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करता हूँ। किसी प्रकार की कोई ईगो नहीं है। लोग मुझे प्यार करते हैं। मेरी पत्नी रीना भी कभी मुझे गलत नहीं समझती। ■





लगाते हैं, फिल्म सुपर-डुपर हिट बन जाती है पर 'लव लव लव' जिसमें वे नायिका को जीते जी पा लेते हैं, बॉक्स ऑफिस पर लुढ़क जाती है। ऐसा क्यों? इस सवाल पर आमीर गंभीर हो जाते हैं फिर जैसे इस प्रश्न को टालने के अंदाज में कहते हैं 'यह बताना बड़ी मुश्किल बात है कि यह फिल्म क्यों फ्लॉप हो गई क्योंकि इसके निर्देशक बी. सुभाष एक जमे-जमाए निर्देशक हैं। दर्शकों की नब्ज अच्छी तरह से पहचानते हैं। शायद मेरे ही अभिनय में कोई कमी रह गई हो।'

आमीर की चौथी फिल्म देव आनंद की **'अव्वल नंबर'** एक फ्लॉप फिल्म थी। दूसरे इसमें उनकी भूमिका बिल्कुल महत्वहीन थी। आमीर से ज्यादा इस फिल्म में आदित्य पंचोली को सराहा गया। ऐसी महत्वहीन भूमिका वाली फिल्म को साइन करने के पीछे आमीर की क्या मजबूरी थी, तब यह प्रश्न उनके ढेर सारे प्रशंसकों को झकझोर गया था।

आमीर की दूसरी प्रदर्शित फिल्म थी 'राख।' आदित्य भट्टाचार्य की यह फिल्म भले ही ठीक-ठाक न गई हो पर बतौर अभिनेता अपने आपको साबित करने का आमीर को इसमें भरपूर मौका मिला था। इस फिल्म में उनकी भूमिका एकदम निगेटिव थी। एक खूनी लड़के के किरदार को अपने चेहरे के भोलेपन के बावजूद आमीर ने परदे पर बहुत सहज ढंग से जिया था। इस फिल्म के फ्लॉप होने का आमीर को भी बहुत अफसोस है। उनका कहना है कि इस फिल्म को आदित्य ने बहुत मेहनत से बनाया था। अगर यह फिल्म हिट हो जाती तो क्या इस बात का डर नहीं था कि

आमीर के पास धड़ाधड़ नेगेटिव रोल आते? इस सवाल पर आमीर मुस्करा पड़ते हैं।

आमीर के पिता ताहिर हुसैन और चाचा नासिर हुसैन को इंडस्ट्री में किसी पहचान की जरूरत नहीं है। इसका कुछ हद तक लाभ आमीर को मिला है। लेकिन अन्य ,स्टार पुत्रों की तरह आमीर को योजनाबद्ध ढंग से पेश नहीं किया गया है। आमीर की माँ- बाबूजी की बहुत इच्छा थी कि आमीर स्नातक तक की पढ़ाई करे। लेकिन बी.कॉम की पढ़ाई पूरी करने से पहले ही आमीर को फिल्मी बुखार ने बुरी तरह अपनी गिरफ्त में ले लिया। आमीर ने उन्हें समझाया 'जब फिल्म लाइन में ही जाना है, तो डिग्री की क्या जरूरत है' यह तर्क उन्होंनें मान तो लिया लेकिन आमीर के स्नातक न होने का दुख उन्हें आज भी है। वैसे पढ़ाई के बीच में ही आमीर ने अपने चाचा नासिर हुसैन के साथ बतौर सहायक काम करना शुरू कर किया था और इस दौरान फिल्म से संबंधित हर छोटे-मोटे काम को उन्होंने समझने की कोशिश की। चाचा नासिर हुसैन के साथ सहायक के रूप में काम करने के अनुभवों की जिक्र चलने पर आमीर बताते हैं 'मेरा लक्ष्य फिल्म डायरेक्शन नहीं बल्कि एक्टिंग था। इससे पहले मैं फिल्म मेकिंग की सारी बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहता था। इसलिए एक्टिंग स्कूल में जाने के बजाए अंकल के साथ बतौर असिस्टेंट काम करना मुझे ज्यादा अच्छा लगा।

यह आमीर का सौभाग्य था कि इसके बाद प्रदर्शित फिल्म 'दिल' ने सफलता के झंडे ही नहीं गाड़े, बल्कि उसे चर्चा की एक नई जमीन भी दी। 'दिल' की ताबड़तोड़ सफलता ने उन्हें कई कदम आगे बढ़ा दिया। यह दिल के जबरदस्त हिट का बुखार ही था कि इसके बाद आई आमीर की तीन फ्लॉप फिल्में दीवाना मुझसा नहीं/जवानी जिंदाबाद और अफसाना प्यार का।

इस साल के शुरू में प्रदर्शित 'दौलत की जंग' जैसी फ्लॉप फिल्म में भी उनका यह अंदाज बदस्तूर कायम है। जहाँ तक फ्लॉप फिल्म का सवाल है इसमें आमीर कहीं से भी विचलित नजर नहीं आते हैं। मैं तो बस इतना जानता हूँ कि मैं अपने काम को सही अंजाम देता हूँ। फिल्मों के पिटने की ढेर सारी वजहें होती हैं। ■

रंजीत चौधरी

## अमेरिका में सफल

हिन्दुस्तानियों की यह खासियत है कि हम किसी पंछी के डैनों की क्षमता का अंदाजा तब लगा पाते हैं, जब वो यहाँ का बाशिंदा न रहकर परदेसी आकाश पर ऊँची उड़ान भरता है। शायद यही सोचकर बंबई के अभिनेता **'रंजीत चौधरी'** भारत में असफल रहने पर अमेरिका जा पहुँचे। वहाँ हालीवुड के रजत पट पर उन्होंने जो चमक बिखेरी, उसने भारतीयों की तंद्रा तोड़ दी। अब 'धन्य-धन्य' की मुद्रा में छाती चौड़ी कर रंजीत चौधरी को भारतीय समीक्षक एक महान कलाकार घोषित कर रहे है।उनकी दो फिल्मों 'लोनली इन अमेरिका' और 'सैम एंड मी' ने अमेरिका और कनाडा के सिने-हलकों में धूम मचा रखी है। इनमें से 'सैम एंड मी' का निर्देशन भी रंजीत ने ही किया है।इस फिल्म ने पिछले दिनों 'कान फिल्मोत्सव' में दूसरा पुरस्कार जीता। बंगलौर के समारोह में भी इसका प्रदर्शन हुआ था।

अमेरिका जाने से पहले रंजीत चौधरी भारत में काफी समय तक रंगमंच से जुड़े रहे हैं। उन्होंने खट्टा मीठा/ हंगामा बांबे स्टाइल/ चक्र/ खूबसूरत आदि फिल्मों में भी हल्की-फुल्की भूमिकाएँ निभाईं। अभिनय के अलावा निर्देशन और पटकथा लेखन में भी माहिर होने के कारण रंजीत का **'मालगुड़ी डेज'** जैसे कुछ टी.वी. सीरियलों के निर्माण में सक्रिय योगदान रहा। लेकिन इन तमाम उपलब्धियों के बावजूद वे एक अग्रणी कलाकार के रूप में प्रतिष्ठा नहीं पा सके।

एक भारतीय आप्रवासी **'दीपा मेहता'** ने उन्हें अपनी फिल्म 'सैम एंड मी' में अवसर दिया। इस मौके का फायदा उठाकर रंजीत ने वह जौहर दिखाए, कि सारे अमेरिका में उनका नाम लोगों की जबान पर आ गया। रंजीत की ख्याति से प्रभावित होकर मीरा नायर (सलाम बांबे) उनके पास 'लोनली इन अमेरिका' के लिए एक रोमांटिक भूमिका लेकर पहुँची। इस हास्य प्रधान फिल्म में एक



बार फिर जोरदार अभिनय के जरिए रंजीत ने अपनी क्षमता के प्रति सारे संदेह दूर कर डाले। पश्चिमी समीक्षकों द्वारा इस फिल्म के बाद उन्हें 'वुडी एलन' जैसे प्रख्यात अभिनेता की श्रेणी में रखा गया है। रंजीत के अनुसार 'लोनली इन अमेरिका' की शूटिंग के दौरान उनके साथ महाराजा जैसा व्यवहार किया गया। एक अमेरिकी युवक सिर्फ उनकी सिगरेट जलाने के लिए नियुक्त था। इससे रंजीत को हालीवुड में मिले सम्मान का अंदाजा लगाया जा सकता है। फिलहाल रंजीत चौधरी 'हाफ पास्ट-१३' और 'फिफ्टी वेज टू मीट युअर लवर' में नायक की भूमिका निभा रहे हैं जबकि एक अन्य फिल्म में 'बेन किंग्सले' के साथ उनकी दूसरे नंबर की भूमिका है। ■



आदित्य पंचोली

## डगमग नाव में सवार

● **निशा श्रीवास्तव**

*आदित्य पंचोली ने बतौर नायक अपने कैरियर को सँवारने के बजाए प्रेम लीलाओं में अधिक समय बिताया जिसके कारण कैरियर के साथ- साथ उसका पारिवारिक जीवन भी प्रभावित हुआ। आदित्य को अपनी गलतियों का एहसास हुआ और फिर उसने धीरे-धीरे अपनी लगन व मेहनत से अपनी पहचान एक प्रतिभाशाली अभिनेता के रूप में बना ली।अव्वल नंबर/ महासंग्राम/ सैलाब/ और साथी में उसके सशक्त अभिनय की सभी ने प्रशंसा की। आदित्य ने हर भूमिका वह चाहे नायक की हो या खलनायक की ईमानदारी से निभाई है। हाल ही में एक फिल्म 'याद रखेगी दुनिया' में वह प्रभावशाली अभिनय के लिए काफी चर्चित हुआ।*

**'अव्वल नंबर' और 'महासंग्राम' में आपके काम की काफी प्रशंसा हुई इसके बावजूद आपके कैरियर को कोई लाभ नहीं हुआ इसका क्या कारण है?**

इन दोनों फिल्मों में मैंने खलनायक की भूमिका निभाई थी। इसके बावजूद सभी ने मेरे काम की तारीफ की। यहाँ हर कलाकार मेहनत करता है। कभी-कभी किसी को अपना गाडफादर बनाकर भी कामयाबी हासिल की जाती है। यह जरूरी तो नहीं कि हर व्यक्ति की किस्मत अच्छी हो। मैं भी उन्हीं लोगों में से हूँ जिनका साथ किस्मत भी नहीं देती।

**आपने एक प्रतिभाशाली अभिनेता के रूप में अपनी पहचान तो बना ली, इस पर भी आपको सभी से शिकायत है?**

सिर्फ एक अच्छे अभिनेता के रूप में पहचाना जाना काफी नहीं है। मैंने एक्टिंग को प्रोफेशन के तौर पर अपनाया है। इसे अपना कैरियर बनाया है। इसलिए जाहिर है यह मेरी जीविका का भी साधन है। अगर मेरे हिस्से लोगों की प्रशंसा ही आएगी तो क्या फायदा ऐसे खोखले दिलासों से। मुझे तो इंतज़ार है कुछ हिट फिल्मों का।

**आपमें वह सारी खूबियाँ हैं, जो एक सफल हीरो में होना चाहिए। फिर वह कौनसी रुकावट है जिसकी वजह से आप अन्य अभिनेताओं की तरह अपना एक निश्चित स्थान बनाने में असफल हैं।**

मेरा चेहरा, पर्सनेलिटी भी अच्छी है। आवाज भी दमदार है। यह सारी अच्छाइयाँ होने के बाद भी मुझे एक अच्छा अभिनेता कभी नहीं समझा गया। मुझे खलनायक की भूमिका निभानी पड़ी और लोगों ने मुझे इसमें पसंद भी किया। मेरी ज्यादा फिल्में नायक वाली ही हैं। एक बार बुरा आदमी बन जाने के बाद दोबारा अच्छा आदमी बनना जरा मुश्किल है। मगर मुझे खुशी है कि दर्शकों ने एक बार फिर मुझे एक रोमांटिक हीरो इमेज वाली फिल्म याद रखेगी दुनिया में स्वीकार किया है।

**फिल्मों के साथ निजी जीवन में भी आपकी इमेज लवर बॉय की रही है?**

निजी जीवन में लवर बॉय की इमेज होना तो अच्छी बात है। मैं तो चाहता हूँ कि मैं हमेशा कन्याओं से घिरा रहूँ। एक रोमांटिक हीरो की अधिकांश प्रशंसिका कन्याएँ ही होती हैं।

**इस समय प्रत्येक अभिनेता एक दूसरे का प्रतिद्वंद्वी है, ऐसे में आप किन-किन अभिनेताओं को अपना प्रतिद्वंद्वी समझते हैं?**

मैं अपना मुकाबला किसी अभिनेता से नहीं करना चाहता। न ही मैं किसी को अपना प्रतिद्वंद्वी समझता हूँ। आदित्य, आदित्य ही रहेगा। चाहे खलनायक के तौर पर रहे या हीरो के तौर पर।

**आपकी हाल ही की फिल्म 'साथी' में भी आपकी भूमिका नकारात्मक ही है?**

मैं एक कलाकार हूँ। मैं अपने आपको किसी एक इमेज से बाँधकर नहीं रखना चाहता। बार-बार एक ही किस्म की भूमिका कर मैं बोरियत महसूस करता हूँ। इस मामले में मैं अकेला ऐसे अभिनेता नहीं हूँ। आज के सुपर स्टार अमिताभ बच्चन ने अपने कैरियर की शुरुआत में कुछ फिल्मों में खलनायक की भूमिका निभाई थी। लेकिन आज वह लाखों करोड़ों के चहेते हीरो हैं। अब शक्ति कपूर जैसे बदनाम खलनायक ने भी पॉजिटिव भूमिका करना शुरू कर दिया है।

**आपको गुस्सा बहुत जल्दी आ जाता है?**

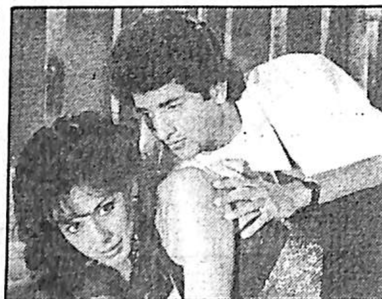
यह सच है कि बिना सिर-पैर की झूठी बातें सुनते ही मेरा दिमाग गर्म हो जाता है। माना कि हम कलाकार पब्लिक फीगर हैं किन्तु इसका यह मतलब तो नहीं है कि आप मेरे बारे में जाने बगैर ही उल्टी-सीधी बातें करते फिरें। मेरे साथ ऐसा कई बार हुआ कि मुझसे मिले बिना ही झूठी अफवाह फैलाकर मुझे बदनाम करने की कोशिश की गई। ऐसी बातों को सुनकर किसी को भी गुस्सा आ सकता है।

**निर्माता बनने का अनुभव कैसा रहा?**

अभिनेता बनना जितना आसान है उतना ही निर्माता बनकर एक साथ सारी जिम्मेदारियों को निभाना मुश्किल है। कभी आर्टिस्टों के डेट्स की समस्या आ खड़ी होती है, तो कभी रॉ स्टाक, तो कभी सेट का बन्दोबस्त करना। इन सबके बाद एडिटिंग/डबिंग। बाप रे बाप आइंदा ऐसी गलती करने की हिम्मत नहीं करूँगा। ■

# कुणाल गोस्वामी

असफल स्टार पुत्रों की फेहरिस्त में मनोज कुमार के साहबजादे **कुणाल गोस्वामी** भी नाम दर्ज करवा चुके हैं। तीन लगातार फ्लॉप फिल्मों के बावजूद कुणाल को अपने दुर्भाग्यपूर्ण श्रीगणेश का कोई अफसोस नहीं। कुछ समय के अंतराल से वे एक बार फिर फिल्म नगरी पर धावा बोलने वाले हैं। बतौर हीरो, कुणाल की पहली फिल्म थी- 'कलाकार'। अच्छे गीत संगीत और चुस्त पटकथा के बावजूद कमजोर हीरो-हीरोइन की वजह से यह सुपरफ्लॉप साबित हुई। कुणाल की अगली फिल्म 'घुँघरू' ने भी बाक्स आफिस पर दम तोड़ दिया। दरअसल दर्शक कुणाल के अपरिपक्व अभिनय और साधारण व्यक्तित्व को बर्दाश्त नहीं पर पा रहे थे। मनोज कुमार ने अपने सुपुत्र को सचेत कर रखा था कि सयाना होने से पहले वह परदे पर न आए, वरना दर्शक उसे बच्चा समझकर गंभीरता से नहीं लेंगे। कुणाल को इस स्थिति



से बचाने के लिए उनके पिता ने अपनी उबाऊ फिल्म 'क्रांति' में एक किशोर की छोटी-सी भूमिका सौंपी थी, ताकि वह वक्त के साथ तालीम ले। किंतु कुणाल ने बचपना दिखाते हुए अपनी उम्र से अधिक वय वाली भूमिकाओं पर हाथ साफ करने की जल्दबाजी में टाँगें तुड़वा लीं। अब २४ साल की उमर में वे पूरी सावधानी के साथ 'शक्त सामंत' की फिल्म 'आखिरी बाजी' में काम कर रहे हैं। इसके अलावा भी उन्हें भूमिकाएँ मिलने लगी हैं।

**के.एम.श्रीवास्तव को बताया अजय देवगन ने**

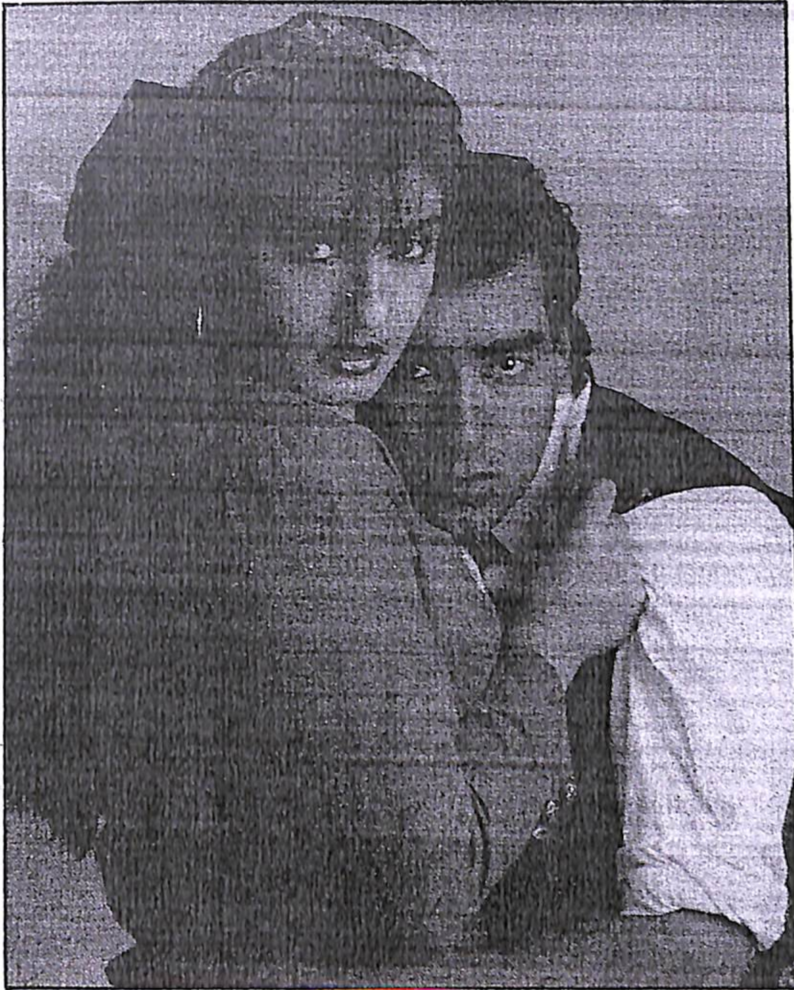
# 'मैं अभी जमीन पर ही खड़ा हूँ'

*साधारण से चेहरे वाले उस युवक को जिसने भी देखा यही अनुमान लगाया कि उसमें नायकों वाली कोई बात नहीं है। वह अभिनय के क्षेत्र में सफल हो ही नहीं सकता। फाइट मास्टर का बेटा है तो फाइटर ही बनेगा। लेकिन जब उस साधारण से चेहरे वाले उस युवक की पहली फिल्म **'फूल और काँटे'** प्रदर्शित हुई, तो सभी को उसमें सफल नायक के गुण दिखाई देने लगे। इतना ही नहीं, कभी फाइट मास्टर का बेटा कहा जाने वाला वही युवक **अजय देवगन** अपनी पहली ही फिल्म की सफलता के बाद अपनी पहचान बना बैठा और अब अजय के पिता के रूप में उसके फाइटर पिता की पहचान होने लगी।*

*'फूल और काँटे' की सफलता पर कुछ लोगों का यह भी कहना है कि फिल्म अपने संगीत के बल पर सफल हुई है और अजय देवगन फाइट मास्टर का बेटा था इसलिए फाइट अच्छी हुई है। लेकिन इन सब बातों से अलग यदि अजय की आने वाली फिल्मों को देखा जाए तो एक लंबी कतार दिखाई देती है और कतार में लगी फिल्मों के लिए वह बीस-बीस लाख रुपए पारिश्रमिक ले रहा है। अपनी पहली फिल्म की सफलता और आने वाली फिल्मों की चर्चा हुई तो अजय ने कहा- मुझे 'दिव्य शक्ति' से काफी आशाएँ हैं। इस फिल्म में मैं एक भोला भाला इंसान हूँ, जो बाद में बदलकर पत्रकार बनता है। इसमें करने के लिए काफी कुछ है। एक बदलाव है।*

**आपकी फिल्म 'रक्षक' और 'प्लेटफार्म' की काफी चर्चा है?**

आशा तो सभी फिल्मों से होती है। भला ऐसा कौन होगा जो केवल अपनी सफलता एक या दो फिल्मों पर ही निर्भर रखेगा। हर फिल्म से सफलता की आशा होती है। 'प्लेटफार्म' में मैं मवाली की भूमिका निभा रहा हूँ। कई रंग हैं। विभिन्नता है इस भूमिका में। उसी तरह बोकाड़ियाजी की फिल्म 'रक्षक' में मैं एक केंद्रीय भूमिका में हूँ। इस फिल्म में करिश्मा कपूर मेरे साथ है। करिश्मा एक पुलिस कमिश्नर की बेटी है। कमिश्नर एक दिन अपनी गाड़ी में लाश देखकर मुश्किल में पड़ जाता है। इस घटना



*रवीना टंडन तथा अजय देवगन*

के बाद खलनायक गुलशन ग्रोवर करिश्मा को ब्लैकमेल करता है। अंत में मैं इस रहस्य को सुलझाता हूँ।

**कौन-कौनसी फिल्में आप कर रहे हैं?**

महेश भट्ट के साथ 'चाहत' और 'गिरवी'। बोकाडियाजी के साथ ही एक फिल्म और है 'दिल है बेताब'। हेरी बवेचा के साथ 'दिलवाले', 'एक ही रास्ता', 'जिगर', कानून।

**आपकी केवल एक ही फिल्म अभी प्रदर्शित हुई है और इसकी सफलता का असली हकदार संगीत को माना जा रहा है, आप क्या कहेंगे?**

इस बात से मना नहीं किया जा सकता कि फिल्म का संगीत काफी लोकप्रिय है। लेकिन किसी भी फिल्म की सफलता किसी एक के अधिकार में नहीं होती। पूरी यूनिट का सहयोग होता है।

**'फूल और कांटे' में आपने फाइट के अलावा कुछ नहीं किया।**

कहने के लिए कुछ भी कहा जा सकता है। अगर आपने फिल्म देखी है तो आप इस बात का अपने आप अंदाजा लगा सकते हैं कि फिल्म जूडो-कराटे वाली नहीं थी बल्कि लव स्टोरी थी। इसलिए मेरे अभिनय से नकारा नहीं जा सकता। वैसे फाइट भी थी, लेकिन आवश्यकता के अनुसार।

**आपकी फिल्मों के चुनाव में आपके पिता का पूरा हस्तक्षेप रहता है?**

अगर ऐसा है तो इसमें बुरा क्या है। वो मेरे पिता हैं। इससे भी अधिक वो मेरे मार्ग-दर्शक हैं। उन्होंने एक लंबा समय गुजारा है फिल्मों में। उनका अनुभव मुझसे अधिक है। कौन बाप चाहेगा कि उसका बेटा गलत रास्ते पर चले। वह जानबूझ कर उसके रास्ते में रुकावट बने। वे मुझे सलाह देते हैं और जो सलाह देते हैं वह मेरे भले के लिए ही देते हैं।

**आप अब निर्माताओं से मुँह खोलकर मेहनताना माँगने लगे हैं?**

अगर मैं इस तरह की माँग करता तो आज मेरे पास बड़े बैनर और बड़े निर्देशकों की फिल्में नहीं होतीं। मुझे बोकाड़ियाजी ने अपनी फिल्म के लिए दो लाख में साइन किया था। जब 'फूल और काँटे' सफल हो गई तो उन्होंने अपने आप ही मेरे पैसे बढ़ा दिए। ऐसा कई निर्माताओं के साथ हुआ है। जो लोग ये कह रहे हैं कि मैं पैसों की माँग करने लगा हूँ तो इतना समझ लेना चाहिए कि यह उन लोगों की बातें हैं जिनकी फिल्मों में काम करने से मैंने इन्कार कर दिया होगा।

**जब आपकी पहली फिल्म प्रदर्शित हुई थी तो कैसा महसूस हुआ?**

जिस दिन फिल्म बंबई में प्रदर्शित हुई थी मैंने दर्शकों के साथ बैठकर उस फिल्म को देखा था। जब दर्शकों ने पैसे फेंकने शुरू किए तो मुझे इतनी खुशी हो रही थी कि मैं बता नहीं सकता। मैंने चुपके से उनमें से कुछ पैसों को उठा लिया और फ्रेम कराकर उन्हें संभालकर आज भी रखा हुआ है। इसके अलावा मुझे एक बात की और खुशी हुई थी कि यह फिल्म अनिल कपूर और श्रीदेवी की 'लम्हें' के साथ प्रदर्शित हुई थी। नए कलाकारों के होते हुए हमारी फिल्म ने सफलता हासिल की।

**आपका चेहरा सुनील दत्त से काफी मिलता है, आपका क्या कहना है?**

ये अच्छी बात है कि मुझमें दत्त साहब जैसे व्यक्ति और अभिनेता की झलक है। इसका मतलब ये नहीं कि मैं सुनील दत्त बन गया। बनना तो मुझे **अजय देवगन** ही है। मैं सुनील दत्त बन ही नहीं सकता। वे मुझसे सीनियर ही नहीं आयु में भी बहुत बड़े हैं। मैं उनसे कुछ सीख सकता हूँ तो मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी। ■

रवि बहल

# उम्मीदों के सहारे

प्रसिद्ध फिल्मकार 'श्याम बहल' के पुत्र **रवि बहल** एन. चंद्रा की फिल्म 'नरसिम्हा' से नए नायकों की भीड़ में शामिल हो गए हैं। यह उनकी पहली फिल्म नहीं है। इसके पहले उन्होंने रवि नगाईच की 'मोर्चा' में नायक की भूमिका निभाई थी। मात्र ग्यारह वर्ष की आयु में 'हीरो' बनने वाले इंडस्ट्री के वे पहले और एकमात्र कलाकार हैं। 'मोर्चा' के काफी समय बाद तक पढ़ाई में व्यस्त रहने के कारण रवि इस उपलब्धि का लाभ उठाने में पिछड़ गए। जब तक उन्होंने वाणिज्य स्नातक की उपाधि प्राप्त की, दर्शकों की स्मरण शक्ति के दायरे से वह बाहर जा चुके थे।

नई शुरूआत के लिए खुद को तैयार करने की प्रक्रिया में रवि ने नृत्य और जूडो-कराटे का प्रशिक्षण लिया। एन. चंद्रा ने उस भोली शक्ल वाले इस गोरे चिट्टे नौजवान को देखा, तो 'नरसिम्हा' में उन्हें प्रेमी युवक की भूमिका सौंप दी। इस बीच 'रवि' को एक 'बी ग्रेड' फिल्म 'इंतेहाँ' में भी काम मिल चुका था। मगर उनका नाम 'नरसिम्हा' के बाद ही लोगों की जुबान पर चढ़ सका। रवि बहल ने एक अँगरेजी फिल्म 'द फॉर पेविलियन' में भी काम किया है। भारत में फिल्माई गई इस फिल्म की बदौलत रवि को ओमर शरीफ और 'एमी इर्विंग' जैसे अंतरराष्ट्रीय कलाकारों के साथ अभिनय का सौभाग्य मिला। 'नरसिम्हा' में रवि बहल की भूमिका सनी देओल के मुकाबले दूसरे नंबर पर थी। ■

## नागार्जुन

# महानायक के पुत्र

दक्षिण भारत के सुपर स्टार एक्किनेनी नागेश्वर राव के बेटे **नागार्जुन** ने अभिनय को अपना कैरियर बनाने के बारे में कभी नहीं सोचा था। अमेरिका जाकर वे मैकेनिकल इंजीनियर के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे ताकि आराम से जिन्दगी बसर कर सकें। किस्मत को कुछ और ही मंजूर था। फिल्मों का ग्लेमर, चकाचौंध तथा ख्याति उन्हें वापस भारत खींच लाई। अभिनय का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए वे बंबई में आशा चंद्रा के संस्थान में भर्ती हुए। संघर्ष या काम मिलने में मुश्किल जैसी कोई समस्या उनके सामने नहीं थी। हिन्दी फिल्म **'हीरो'** के तेलगु संस्करण 'विक्रम' में पहली बार नायक बनकर आए। यह फिल्म हिट रही। इसके बाद कलात्मक फिल्म 'गीतांजलि' में उनकी अभिनय प्रतिभा खिलकर सामने आई। इस फिल्म को राष्ट्रीय स्वर्ण कमल मिला। 'उदयम' भी काफी सफल रही। फिल्म **'शिवा'** ने सुपर हिट होकर दक्षिण में सफलता के नए कीर्तिमान स्थापित किए। हिन्दी में भी यह फिल्म डब की गई तथा काफी सफल रही।

पिता की इच्छा के विरुद्ध अभिनय के क्षेत्र में आए नागार्जुन ने फैसला किया कि वे वर्ष में पाँच से अधिक फिल्मों में काम नहीं करेंगे। इनमें से दो फिल्में वे होंगी जो उनके अपने 'अन्नपूर्णा' स्टुडियो में बनेंगी।

अभिनय को पूजा का दर्जा देने वाले इस कलाकार को सिर्फ नायक बनने का चाव ही नहीं है वे हर किस्म की चुनौतीपूर्ण भूमिका करने को तैयार रहते हैं। उनकी मान्यता है कि 'खलनायक' की भूमिका करके भी अभिनेता दर्शकों के दिल में जगह बना सकता है। वे हिन्दी फिल्मों में निरंतर काम करना चाहते हैं मगर साथ ही किसी भी स्थिति में तेलगु फिल्मोद्योग नहीं छोड़ना चाहते। 'खुदा गवाह' में वे एक महत्वपूर्ण भूमिका में अमिताभ के साथ आए हैं और श्रीदेवी के साथ उनका एक डांस बहुत सराहा गया है। ■





अक्षय कुमार-आयशा जुल्का

## अक्षय कुमार

# ब्लैक बेल्टधारी

नए-नवेलों की जिस फौज ने फिल्मी मैदान पर दावा बोला है, **अक्षय कुमार** उनमें से एक रंगरूट हैं। इन साहब की भर्ती अदाकारी के तमगों को देखकर नहीं, बल्कि उनकी वर्दी पर जड़े जूडो-कराटे छाप 'ब्लैक बेल्ट' के आधार पर हुई है 'बैंकाक' (थाईलैंड) से मार्शल आर्ट की तालीम लेकर आए अक्षय कुमार बंबई में मैदान मारने के लिए हाथ-पाँव भांज रहे हैं। उनकी शुरूआती फिल्मों **'सौगंध'** और 'डांसर' ने ठीक-ठाक कारोबार किया है, लेकिन महज इतने से वे खुद को 'अक्षय' साबित नहीं कर सकते। उन्हें 'खिलाड़ी' और 'नजर के सामने' फिल्मों को सफल बनाना है।

छः फुट एक इंच लंबे अक्षय कुमार बचपन से 'ब्रूस ली' के प्रशंसक रहे हैं। 'एक्शन' फिल्में देख-देखकर उनके दिमाग में 'दूसरा ब्रूस ली' बनने का फितूर सवार हो गया। वे मुक्केबाजी तथा जूडो-कराटे में महारथ हासिल करने थाईलैंड चले आए। यहाँ रहकर उन्होंने प्रसिद्ध थाई कुश्ती 'मुआई थाई' के दाँव-पेंच भी सीखे। एक सिद्धहस्त लड़ाका बनकर बंबई लौटते ही उन्होंने फिल्मों में काम तलाशना शुरू कर दिया। पहली फिल्म मिली प्रमोद चक्रवर्ती की 'दीदार'। इसके पहले ही अक्षय की दूसरी फिल्म 'सौगंध' प्रदर्शित हो गई। 'मुकेश खन्ना' और 'राखी' जैसे वरिष्ठ कलाकारों के रहते इस फिल्म में वे दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींचने में ज्यादा सफल नहीं रहे। ■

# करण कपूर

**शशिकपूर** और जेनीफरकपूर का यह छोटा लड़का योरपीयन व्यक्तित्व का धनी है। सुनहरे बाल और रंगीन आँखों वाले इस कैंडल कपूर के पास एक खिलाड़ी का चुस्त दुरुस्त शरीर है, परन्तु हिन्दी नहीं बोल पाना बहुत बड़ा गुनाह है। अपनी पहली फिल्म **'सल्तनत'** में उसने जरा भी प्रभावित नहीं किया। किसी भी नए लड़के के लिए मुकुल दत्त के निर्देशन में चमक पाना संभव नहीं है। राज सिप्पी की **लोहा** में करण के कार्य को सराहा गया और मल्टी स्टार के लिए आदर्श माना गया। जब उसको मौके मिलने ही वाले थे तब वह फोटो जर्नलिज्म करने के लिए अमेरिका चला गया। ब्राम्बे डाइंग की विज्ञापन फिल्मों में करण लोकप्रिय हुआ। दरअसल एक एथलीट की भूमिका उसे व्यावसायिक सिनेमा में कदम जमाने में मदद कर सकती है। उसे लेकर सफल बॉंड फिल्म की श्रृंखला भी बनाई जा सकती है परंतु फिल्मों में रुचि नहीं होने के कारण ही करण फिल्मों की महाभारत में योद्धा की तरह स्थापित नहीं हो पाया। शरीर को चुस्त रखने के शौक के कारण ही धर्मेन्द्र का करण से विशेष स्नेह था और उनकी बहुत इच्छा कि करण यही काम करे। करण ने फोटो जर्नलिज्म में कदम जमा लिए हैं। ■

राहुल राय

# सफलता के बाद बेकारी की त्रासदी

*फिल्म 'आशिकी' ने जुबिली मनाई और वर्षों से बेकार बैठे महेश भट्ट एक बार फिर व्यस्त हो गए। लेकिन भाग्य की विडंबना ही कही जाएगी कि इस जुबिली फिल्म का नायक **राहुल राय** फिल्म की सफलता के बाद भी नौ महीने तक बेकार बैठा रहा।*

*दिल्ली के रहने वाले दुबले-पतले और साधारण चेहरे वाले इस राहुल ने कुछ विज्ञापन फिल्मों में भी काम किया है। वैसे उसके बातों का स्टाइल भी कुछ ऐसा ही है कि वह दूसरों से अलग ही हो जाता है। 'आशिकी' की सफलता और उसकी दूसरी फिल्म 'प्यार का साया' की असफलता ने उसके कैरियर पर क्या प्रभाव डाला, यही जानने के लिए बातचीत की गई उसके प्रमुख अंश-*

**आप अपने कैरियर को लेकर क्या सोचते हैं?**

मेरे कोशिश करने या ना करने से कुछ नहीं होगा। भगवान की जो मर्जी होगी वही होगा। मैं यह इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि 'आशिकी' के सफल होने के बावजूद मुझे कुछ समय के लिए बेकार रहना पड़ा। अचानक आज मेरी गिनती सफल हीरो में की जा रही है। मुझे पहचान देने का श्रेय मेरे फैन्स को जाता है। मैं चाहता हूँ कि इनका प्यार सदैव मेरे साथ रहे।

**'आशिकी' के प्रदर्शन के बाद आप कुछ समय के लिए दिखाई नहीं दिए?**

घर में बेकार बैठकर टेंशन, कन्फ्यूजन झेल रहा था। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझ से कहाँ गलती हुई है। फिल्म 'आशिकी' सुपर हिट हुई। लेकिन फिर भी कोई काम नहीं मिला। न ही किसी ने काम दिया। उस समय मेरी स्थिति पागलों जैसी हो गई थी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ। उसी दौरान मुझे 'वारिस' और बाद में बी. सुभाष की फिल्म 'प्यार का साया' मिली।

**सुना है कि आप बिना कुछ सोचे-समझे फिल्में साइन करते गए?**

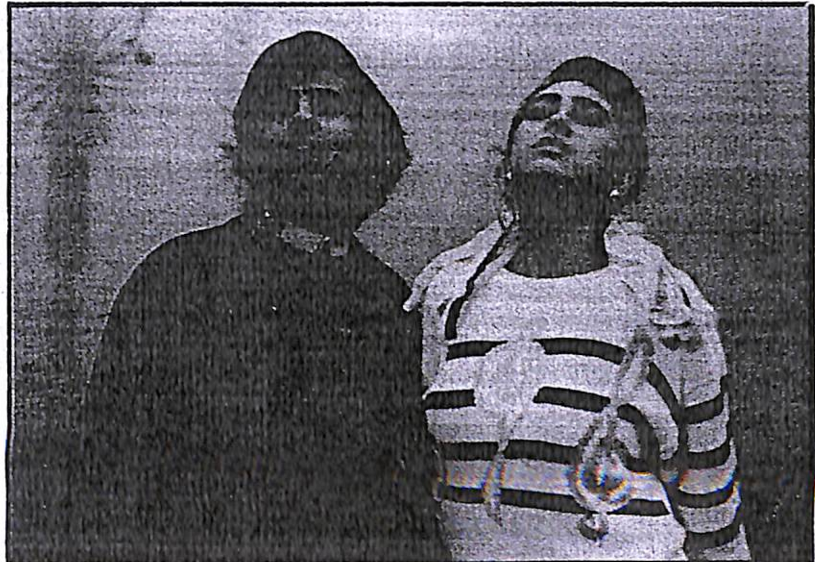
यह सच है। जब मेरे पास फिल्मों के ऑफर आने लगे, तो मैं यह सोचकर साइन करता गया कि कहीं पहले की तरह बिना किसी काम के घर बैठना ना पड़ जाए। इससे ज्यादा मैं टेंशन झेलना नहीं चाहता था। लेकिन अब मैं संभल गया हूँ। अब फिल्में चुन-चुन कर ही करता हूँ।

**आपकी दूसरी फिल्म 'प्यार का साया' बुरी तरह फ्लॉप हो गई?**

मैं पहले की तरह आज भी अपने काम में व्यस्त हूँ। मेरे पास तो फिल्मों की लाइन लगी हुई है। मैं सिर्फ गिनी-चुनी फिल्में ही साइन कर रहा हूँ। यदि एक या दो फिल्में फ्लॉप भी हो गई, तो इससे मेरे कैरियर को कोई नुकसान नहीं पहुँच सकता।

**फिल्म साइन करने से पहले आप किस बात को ज्यादा महत्व देते हैं?**

सबसे पहले मैं फिल्म का बैनर देखता हूँ। यहाँ फिल्म के प्रपोजल तो काफी बनते हैं। विशेष रूप से इस बात पर ध्यान देना पड़ता है कि यह फिल्म बनेगी भी या नहीं। उसके बाद ही डायरेक्टर और कैरेक्टर को देखता हूँ।



*सपने साजन के : राहुल राय-करिश्मा कपूर*

**पिछले दिनों आपने गॉडफादर महेश भट्ट के बारे में उल्टे-सीधे स्टेटमेंट्स दिए?**

देखिए, जहाँ तक हम दोनों के संबंध का सवाल है, वह हम दोनों ही अच्छी तरह जानते हैं। हाँ, यह सच है कि मैंने फ्रस्टेशन में आकर बहुत कुछ कहा है। लेकिन मेरे और महेशजी के रिलेशन को दूसरा कोई नहीं समझ सकता। इससे अनुमान लगा सकते हैं कि मैं उनके साथ आठ फिल्में कर रहा हूँ।

**इन दिनों फिल्म इंडस्ट्री में नए कलाकारों की प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई है। आपने क्या तैयारियाँ की हैं?**

इन सब बातों पर मैं ध्यान नहीं देता। मेरा ध्यान सिर्फ अपने काम की ओर रहता है। फालतू की बातों के लिए मेरे पास टाइम नहीं है। मेरी तैयारी कैरेक्टर की गहराई में उतरने की है और कुछ नहीं।

**आप अन्नू अग्रवाल के साथ काम नहीं करना चाहते, इसकी क्या वजह है?**

'आशिकी' के बाद अन्नू अग्रवाल के साथ दो फिल्में कर चुका हूँ। आगे का कुछ कह नहीं सकता। लेकिन इस समय काम करने का कोई इरादा नहीं है। क्योंकि अन्नू अग्रवाल के काम करने का तरीका मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है।

**इस समय आप फिल्मों में किस प्रकार की भूमिकाएँ कर रहे हैं?**

मैं हर प्रकार की भूमिकाएँ कर रहा हूँ। किसी में कॉमेडी कर रहा हूँ, तो किसी में लव स्टोरी। 'भूकंप' में मैं पुलिस अफसर की भूमिका में हूँ। 'जुनून' में आधा आदमी आधा जानवर बना हूँ। अभी मुझे 'जुनून', 'दिल दिया चोरी-चोरी', 'सपने साजन के' और 'गुमराह' से खास उम्मीदें हैं।

● **बानो अली**

## नन्हे: अभिनव चतुर्वेदी

लोकप्रिय टी.वी. सीरियल 'हम लोग' में **अभिनव चतुर्वेदी** ने 'नन्हे' की भूमिका निभाकर ऊँची कामयाबी हासिल की थी। इस सफलता से उत्साहित होकर जब उन्होंने फिल्मों का रुख किया, तो बड़े परदे पर कद के लिहाज से वह 'नन्हे' ही साबित हुए। हीरो के रूप में मात्र एक फिल्म **'पर्वत के उस पार'** उनके पल्ले पड़ी। इसके बाद दर्शकों ने उन्हें 'परदे के उस पार' कर दिया।

क्रिकेट कमेंटेटर रवि चतुर्वेदी के पुत्र अभिनव ५ साल की छोटी उम्र से अभिनय कर रहे हैं। ओम शिवपुरी (स्वर्गीय) के थिएटर ग्रुप 'दिशांतर' में उन्होंने कई बाल पात्र अभिनीत किए। अभिनय के अलावा उन्हें क्रिकेट का भी जबरदस्त शौक है। वे रणजी ट्रॉफी में खेलने का सौभाग्य हासिल कर चुके हैं। इतिहास विषय में स्नातक उपाधि लेने के बाद 'अभिनव' मनोहर श्याम जोशी द्वारा लिखित सीरियल 'हम लोग' की कलाकार 'टीम' से जुड़ गए। इसी बीच रमेश सिप्पी ने अपनी फिल्म 'भ्रष्टाचार' में उन्हें भाई की भूमिका सौंपी। तब से हर हीरोइन उन्हें देखते ही राखी लेकर दौड़ पड़ती है। ■

प्रसन्नजीत

## बंगाली छोकरा

एक दौर था जब बंगाली नायकों ने हिंदी फिल्मों में नायक के रूप में सफलता हासिल की। एक-एक करके सभी नायक चले गए। कभी-कभी एकाध नायक बंगाली फिल्मों से आया तो उसका आना और जाना बराबर ही हो गया। बंगाली फिल्मों से ही एक नायक आया है प्रसन्नजीत। बंगाली फिल्मों के चोटी के इस सितारे ने जब हिंदी फिल्मों में प्रवेश किया, तो उसकी चर्चा सुनकर कुछ आशा बँधी कि काफी समय बाद एक बंगाली नायक फिर से सफल होगा। 'आँधियाँ' का नायक प्रसन्नजीत कुछ बनने से पहले ही खो गया। प्रसन्नजीत की फिल्म 'आँधियाँ' की असफलता का कारण मुमताज थी। इसी फिल्म से वर्षों पहले हिंदी फिल्मों से गुडबाय करके जाने वाली अभिनेत्री मुमताज ने दुबारा फिल्मों में सफलता हासिल करने का प्रयास किया था।

प्रसन्नजीत ने कहा- 'मैं इस बारे में किसी को दोष क्यों दूँ। पहलाज सुलझे हुए और समझदार निर्माता हैं। फिल्म सफल होती तो भी हमें भी फायदा होता। अब फिल्म असफल हो गई है तब भी हमें जिम्मेदार होना चाहिए। वैसे भी मुझे इतनी जल्दी नहीं है कि मैं आते ही स्टार बन जाऊँ।'

प्रसन्नजीत हिंदी फिल्मों और बंगाली फिल्मों के चोटी के स्टार **विश्वजीत** का बेटा है। उसे अपने पिता का सहारा लेकर हिंदी फिल्मों की कतार खड़ी कर लेनी चाहिए थी, लेकिन केवल पहलाज निहलानी की दो फिल्में 'भाग्य विधाता' और 'आँधियाँ' के बाद मेहुल कुमार की फिल्म 'मीत मेरे मन के' ही साइन की। ऐसा क्यों? इसके जवाब में प्रसन्नजीत का कहना है कि- 'मैंने बंगाली फिल्मों में बिना किसी सहयोग के सफलता हासिल की है। देवर, भाई, दोस्त जैसी छोटी-छोटी भूमिकाएँ करने के बाद मैं नायक बना। लेकिन इस सफलता के लिए मैंने किसी का तो क्या अपने पिताजी का भी कभी सहयोग नहीं लिया। मैं तो फिल्मों में काम करते समय इस बात को भी कभी सामने आने ही नहीं देना चाहता था कि लोग मुझे विश्वजीत का बेटा समझकर काम दें। मुझे आज इस बात की खुशी है कि मैंने बिना किसी सहयोग के अब तक लगभग पाँच दर्जन फिल्में बंगला में की। छोटी-छोटी भूमिकाएँ करने के दौरान ही एक दिन विमल राय जी की फिल्म 'ब्यूटी पार्लर' का ऑफर मिला और एक दिन एक नई लड़की के साथ मुझे इस फिल्म के लिए साइन कर लिया गया। यह फिल्म सबसे बड़ी हिट साबित हुई।

**पहले आपने कभी नायक बनने के लिए कोई कोशिश नहीं की?**

मुझे कभी भी इस बात की गलतफहमी नहीं रही कि मैं हीरो बन जाऊँगा। मैं छोटी-छोटी भूमिकाएँ सिर्फ इसलिए करता रहा कि मेरा आत्मविश्वास बढ़ेगा।

**जब आप बंगाली फिल्मों के सफल नायक हैं तो हिंदी फिल्मों में असफलता के बाद भी आप क्यों संघर्ष कर रहे हैं?**

बंगाली फिल्मों के दर्शक सीमित हैं। और हिंदी फिल्मों का दायरा काफी विशाल है। हर कलाकार की इच्छा होती है कि उसे अधिक से अधिक दर्शक पहचानें।

**फिल्मों में आने से पहले क्या करते थे?**

मैंने स्टेज पर काफी कार्यक्रम किए हैं। जब मैं १९ वर्ष का था तभी से मैंने स्टेज पर काम करना शुरू कर दिया था। लगभग चार वर्षों तक मैंने स्टेज पर गीत-संगीत के कार्यक्रम प्रस्तुत किए। इसमें मेरी छोटी बहन भी साथ ही कार्यक्रम प्रस्तुत करती थी।

प्रसन्नजीत ने अपना बंगाली फिल्मों का सफर भी धीरे-धीरे शुरू किया। केवल एक ही फिल्म ने उसकी सारी शिकायतें दूर कर उसे रातोंरात स्टार बना दिया। ■

*प्रसन्नजीत-साबिया*



राजीव कपूर

## नक्षत्रों ने साथ नहीं दिया

**पच्चीस** अगस्त १९६२ को राजकपूर के सबसे छोटे बेटे **राजीव** का जन्म हुआ। उसने प्रेमरोग में राजकपूर के सहायक निर्देशक का काम किया और सम्पादन विभाग में इतनी निपुणता अर्जित की कि 'प्रेमरोग' का ट्रेलर उसी को बनाने दिया। उन दिनों फकीरचंद मेहरा ने उसे नायक बनने का प्रस्ताव दिया- फिल्म थी- 'एक जान हैं हम, जो अमेरिकन फिल्म 'एंडलेस लव' पर आधारित थी। इस फिल्म में राजीव ने बहुत अच्छा अभिनय किया परंतु गीतों के प्रस्तुतिकरण में शम्मीकपूर का प्रभाव नजर आया। यह एक ऐसी भूल थी, जो राजीव कपूर को ले डूबी। कपूर परिवार के सभी सदस्यों की हमेशा यह कोशिश रही है कि वे अपनी व्यक्तिगत शैली खोजें।

इसके बाद राजीव की फिल्म **'आसमान'** आई जिसमें उसने दोहरी भूमिकाएँ निभाई थीं-वह नायक भी था और खलनायक भी। इस फिल्म के खलनायक वाले रोल में राजीव ने बहुत प्रभावोत्पादक कार्य किया। इस फिल्म की असफलता ने उसे तोड़ दिया। रवींद्र पीपट ने **लावा** में डिम्पल के साथ उसे प्रस्तुत किया परंतु फूहड़ पटकथा के कारण फिल्म असफल रही। सावन कुमार टाक की **'प्रिया'** भी आधे मन से बनाई फिल्म थी। अब तक निरंतर असफलताओं ने राजीव के आत्म विश्वास को तोड़ दिया था और दर्शकों ने उसे जीरो मान लिया था।

राजकपूर की 'राम तेरी गंगा मैली' उसके जीवन की सफलतम फिल्म सिद्ध हुई परंतु राजीव को काम नहीं मिला जबकि मंदाकिनी ने दर्जनों फिल्में हथिया लीं। इस अन्याय के कारण राजीव ने शराब का सहारा लिया और उसकी देह फैल गई। १९८५ की सफलतम फिल्म के नायक के पास काम नहीं था। रवींद्र पीपट ने 'हम तो चले परदेस' बनाई परंतु बाप और बेटी की इस स्नेह कथा में राजीव को अवसर नहीं दिया। राजीव का अभिनय जीवन जितनी जल्दी प्रारंभ हुआ था, उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो गया। एक जन्मजात कलाकार के सभी गुण राजीव में हैं परंतु अव्यावसायिक निर्देशकों के साथ काम करने की कीमत उसे चुकानी पड़ी। उसे अपनी व्यक्तिगत शैली खोजने के पूरे अवसर भी नहीं मिले। आजकल वह निर्देशक की हैसियत से **प्रेमग्रंथ** की रचना में लगा है जिसमें संजयदत्त नायक हैं। राजकपूर को हमेशा से उसकी निर्देशन क्षमता में विश्वास था। अगर राजीवकपूर में 'राम तेरी गंगा' से अपना अभिनय जीवन शुरू किया होता, तो उसकी कुंडली के सितारे बदल जाते।

(जेपीसी)

अविनाश वाधवान

## इंजीनियर नायक

गुलशन कुमार की फिल्म 'आई मिलन की रात' और मीरा का मोहन से फिल्मों के नायक **अविनाश वाधवान** को दर्शकों के बीच पहचान तो आवश्य मिली, लेकिन एक नायक को जिस ऊँचाई पर होना चाहिए वहाँ अविनाश अभी तक नहीं पहुँच पाया है।

दिल्ली से इंजीनियरिंग की डिग्री लेकर बंबई में वह एम.बी.ए. करने आया था और बंबई में उसे फिल्मों में काम मिला तो वह मना न कर सका। फिल्मों में उसका आना उसके परिवार के किसी भी सदस्य को अच्छा नहीं लगा। जब उसकी फिल्म 'आई मिलन की रात' और 'मीरा का मोहन' में उसकी भूमिका उसने देखी तो उसे आश्चर्य हुआ। जो व्यापारी बनने की तैयारी कर रहा हो, वह अभिनय कैसे करने लगा? पिछली बार ऐसी कई बातों को लेकर टी-सीरीज के दफ्तर में मुलाकात हुई।

**क्या आपको कभी भी फिल्मों में काम करने या मॉर्डलिंग करने का शौक नहीं रहा?**

फिल्मों में काम करने का तो मुझे कभी भी शौक नहीं रहा, लेकिन मंच पर नाटकों में काम करने का बहुत शौक रहा है। कभी परीक्षा के समय यदि कोई नाटक होता था, तो मैं दिन में नाटक की रिहर्सल करता था और रात में पढ़ाई करता था। मॉर्डलिंग के मामले में भी ऐसा हुआ। फ्रांस के एक फैशन आयोजक मि. पियरे कार्डन ने बंबई में फैशन शो का आयोजन किया। उसमें मैंने भी भाग लिया और चुन लिया गया।

**'आवाज दे कहाँ हैं', 'आई मिलन की रात' और 'मीरा का मोहन' को कोई विशेष सफलता नहीं मिली, इसका प्रभाव आपके कैरियर पर क्या पड़ा?**

फिल्मों पर जो भी प्रभाव पड़ा हो लेकिन मुझ पर या मेरे कैरियर पर इनकी असफलता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यदि मेरे कैरियर पर इनका प्रभाव पड़ता तो आज मेरे पास फिल्में न होतीं। आज मेरे पास बलमा/ गुड़िया/ दिल की बाजी/ पुलिस और मुजरिम/ गीत/ आजा सनम/ महा शक्तिशाली जैसी बड़े निर्देशकों की फिल्में हैं।

**क्या इन फिल्मों में आप अपनी पहले जैसी ही भूमिकाएँ निभा रहे हैं?**

पहले की फिल्मों में भी मैंने एक जैसी भूमिका तो नहीं की है और ना ही आने वाली फिल्मों में एक तरह की भूमिकाएँ कर रहा हूँ। मैं हर तरह की भूमिकाएँ करना चाहता हूँ। अच्छे निर्देशकों के साथ करना चाहता हूँ। फिल्म बनने पर मैं उसे देखता हूँ और अनजान लोगों से राय लेता हूँ।

**आपने किन-किन कलाकारों की फिल्मों को देखकर उनकी कमियों और अच्छाइयों को ढूँढा है?**

मैं केवल अमिताभ का फैन हूँ। उन्हीं की फिल्में देखी भी हैं और देखता भी हूँ। मैंने उनकी फिल्म 'अमर अकबर एंथोनी' देखी थी। उसमें उन्होंने शराबी की भूमिका की थी। मैं उस भूमिका से इस कदर प्रभावित हुआ था कि मेरे दिमाग में घंटों ही नहीं कई दिनों तक वह भूमिका छाई रही थी।

**आपके व्यक्तिगत शौक?**

जब भी समय मिलता है अच्छी किताबें पढ़ना पसंद करता हूँ। इसके अलावा स्वीमिंग करता हूँ। इन सबसे जो समय मिलता है फिल्में देख लेता हूँ। इसके अलावा कोई दूसरा शौक नहीं है। ■



सरफराज

## नए नाम के साथ

कुछ वर्षों पहले फिल्म बनी थी 'तुम **पर हम कुर्बान'**, इस फिल्म की निर्मात्री थीं तबस्सुम। फिल्म का नायक था तबस्सुम का बेटा **होशांग गोविल**। दरअसल तबस्सुम ने इस फिल्म का निर्माण ही अपने इकलौते बेटे को फिल्मी दुनिया में नायक बनाने के लिए किया था। लेकिन अपने बेटे को नायक नहीं बना सकी थीं।

'तुम पर हम कुर्बान' की असफलता के बाद होशांग न जाने कहाँ अचानक गायब हो गया। अचानक वही होशांग गोविल काफी लंबे समय के बाद फिर से फिल्मी दुनिया में चर्चित तो हो गया, लेकिन होशांग के नाम से नहीं बल्कि एक नए नाम **सरफराज खान** के साथ। क्या सचमुच नाम बदलने से उसे सफलता मिली है?

इन सब बातों का जवाब होशांग उर्फ सरफराज ने अपने घर पर ही दिया। उसने बताया कि- 'मैंने अपना नाम इसलिए नहीं बदला कि मेरी फिल्म 'तुम पर हम कुर्बान' में मैं होशांग के नाम से असफल हो गया था। बल्कि इसलिए बदला कि मुझे नाम बदलने की सलाह दिलीप साहब ने दी थी। उनका कहना था कि होशांग में दम नहीं लगा। नाम कुछ ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ बात हो।

**दिलीप साहब से क्यों और कैसे मिले?**

उनसे मिलने का कोई विशेष कारण नहीं था। उनकी बहन अख्तर आंटी (आसिफ) का वर्षों से हमारे घर आना-जाना है। हमारे पारिवारिक संबंध हैं। उन्होंने वैसे ही दिलीप साहब से मिलने को कहा तो मैं कलिंगा के सेट पर उनसे मिला। मेरा नाम सुनकर उन्होंने नाम बदलने की सलाह दी और तीन नाम भी बताए। पहला नाम उन्होंने सरफराज। दूसरा नाम रहबर और तीसरा नाम गुलनवाज़ दिया। कहा कि इनमें से कोई एक नाम मैं रख लूँ। मुझे सरफराज खान उनमें से अच्छा लगा।

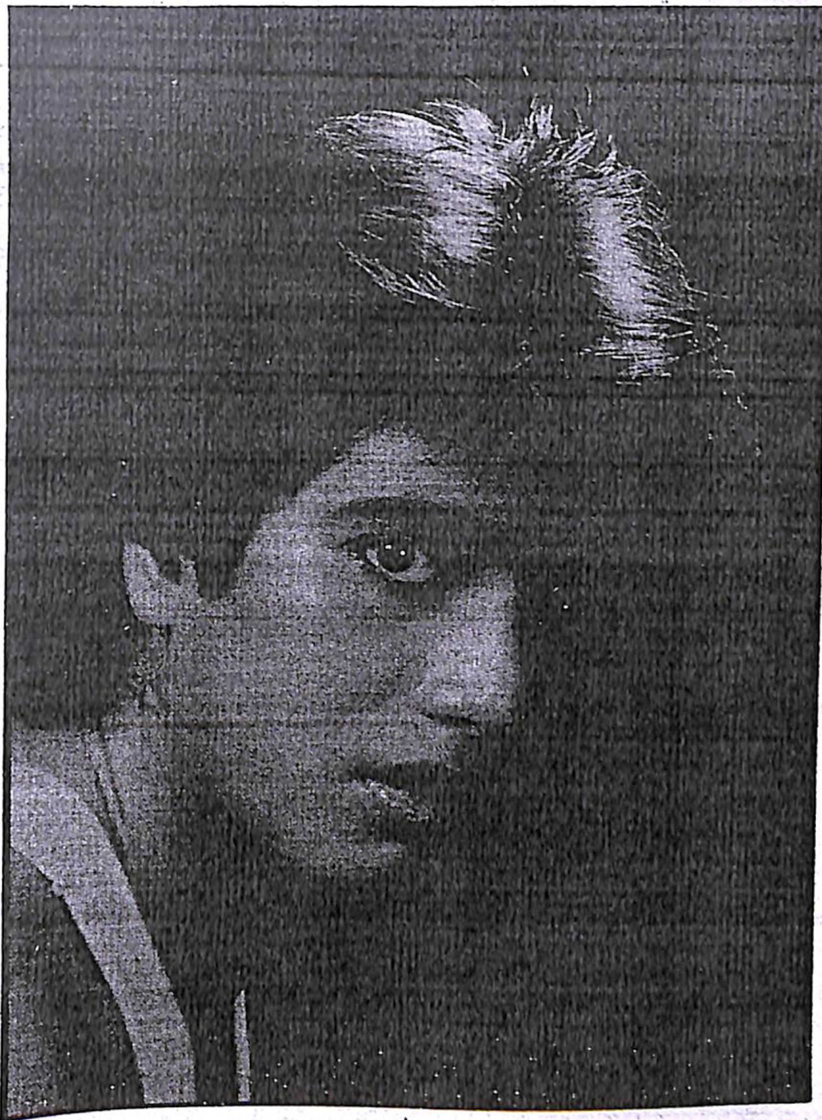
**क्या नाम बदलने से काम मिलने लगा?**

इसी बात का तो मुझे भी आश्चर्य है कि जब मैंने अपने आप को होशांग की जगह सरफराज कहकर मिलना शुरू किया तो काम मिला और अंक ज्योतिष के हिसाब से भी ये नाम ठीक लगा।

**नाम बदलने के बाद कौन-कौन सी फिल्में मिलीं?**

नाम बदलते ही मुझे सबसे पहले महमूद नाजिर की फिल्म ''दिल का गुबार' मिली। इसकी शूटिंग भी शुरू हो गई है। इसके अलावा जे.के. बिहारी की नई फिल्म, राजाराय की 'साहेबजादी', पहलाज निहलानी की नई फिल्में मिली हैं।

**अब तुम एक नई तैयारी के साथ फिल्मों में आए हो, इसके लिए तैयार कहाँ से होकर आए?**



*होशंग गोविल का नया नाम सरफराज*

मैंने आशा चंद्रा से कोर्स किया। जिम में भरती हुआ। डांस-फाइट आदि सभी कुछ सीखा। हिंदी-उर्दू तो मेरी भाषा है।

**किस तरह की भूमिकाओं को प्रमुखता दे रहे हो?**

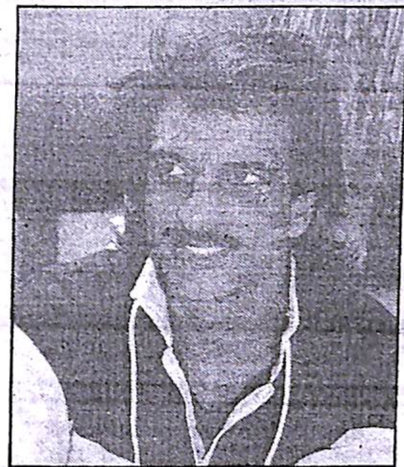
मैंने अभी तक जो भी फिल्में ली हैं उनमें रोमांटिक और एक्शन वाली भूमिकाएँ हैं। मैं करना भी वैसी ही भूमिकाएँ चाहता हूँ।

**ऐसा सुना जाता है कि तुम्हारे पिताजी अभिनेता अरुण गोविल के भाई हैं फिर आपने सरफराज नाम क्यों पसंद दिया?**

इसकी भी एक रोचक कहानी है। मेरी मम्मी का नाम भी तबस्सुम नहीं किरण बाला है। उसी तरह मेरा भी नाम होशंग है। मेरी नानी असगरी पठान थीं और नाना सरदारजी थे। मेरे पिताजी अग्रवाल हैं और मेरी पत्नी गुजराती। कुल मिलाकर हमारा घर सचमुच एक हिंदुस्तान बन गया है। जहाँ हर भाषा, हर प्रांत के लोग रहते हैं। नाम के साथ काम भी तो होना चाहिए। ■

## जावेद जाफरी
# नचनिया नायक

**जावेद जाफरी** का नाम सुनते ही फिरकी जैसे घूमने वाले एक नौजवान की तस्वीर सामने आ जाती है। हास्य अभिनेता **जगदीप** के 'नचनिया' साहेबजादे 'जावेद' के बदन का लोच देखकर कोई कमनीय नृत्यांगना भी लजा जाए। जिस चपलता और दक्षता के साथ वे नृत्य करते हैं, उससे लगता है मानो उनके शरीर में बिजली कौंध रही हो। 'जावेद' को हिंदी फिल्मों में पश्चिमी नृत्य की नई शैली 'ब्रेक डांस' का प्रणेता माना जाता है। मिर्गी के दौरे सा आभास देने वाले इस नृत्य का पहला प्रदर्शन फिल्म **'मेरी जंग'** में हिंदी दर्शकों के समक्ष जावेद जाफरी ने ही किया था। 'बोल बेबी बोल' नामक गीत पर उनके अद्भुत डांस से दर्शक इस कदर मंत्रमुग्ध हुए कि सिर्फ जावेद को नाचते हुए देखने के लिए उन्होंने बार-बार सिनेमाघरों



की राह ली।

जावेद ने 'हड्डी तोड़ डांस' में दक्षता प्राप्त करने के लिए 'कमरतोड़' अभ्यास किया है। स्कूल के दिनों से वे नृत्य सीखते रहे हैं। उन्होंने लंदन जाकर दो माह तक पश्चिमी नृत्य शैलियों का भी प्रशिक्षण लिया है। सुभाष घई ने उन्हें 'मेरी जंग' में एक नृत्य प्रधान भूमिका सौंपी। नकारात्मक चरित्र होने के बावजूद फिल्म में दर्शकों ने जावेद को, ज्यादा पसंद किया। 'बिदेसिया' नाच के पीछे दीवानों की नई पीढ़ी के वे आदर्श बन गए। अब तक 'लश्कर'/ १०० डेज/ कर्मयोद्धा/ वो फिर आएगी आदि फिल्मों में जावेद अपनी नृत्य क्षमता का प्रदर्शन कर चुके हैं। उनकी आने वाली फिल्मों में 'गैंग' और 'लाल परी' हैं। ■

## चंकी पाण्डे
# नए जोश के साथ

फिल्म *'आग ही आग'* से **चंकी पांडे** ने फिल्म इंडस्ट्री में कदम रखा था। इस फिल्म के बाद दो अन्य फिल्मों में भी सफलता प्राप्त कर दर्शकों के मन में अपनी जगह बना ली थी। लेकिन अचानक ही दर्शकों से दूर चले गए, और दर्शकों के बीच इसकी स्थिति खराब हो गई। कुछ समय बाद सह. नायक की हैसियत से काम करना शुरू कर दिया। राजीव राय की फिल्म **'विश्वात्मा'** के बाद व दुबारा चर्चा में आ गए हैं। दर्शकों ने भी उनके काम को सराहा। प्रस्तुत हैं चंकी पांडे से हुई मुलाकात के प्रमुख अंश:

**आपकी फिल्म 'विश्वात्मा' प्रदर्शित हुई। एक मल्टी स्टार फिल्म होने के बावजूद इसमें आपके अभिनय की प्रशंसा हुई। यह सुनकर कैसा महसूस हुआ?**

अपने काम की तारीफ सुनकर तो खुशी ही होती है। वैसे एक मल्टी स्टार फिल्म में दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करना बहुत ही मुश्किल काम है। मैं अपनी हर फिल्म में मेहनत करता हूँ। लेकिन दर्शकों को कौनसी फिल्म पसंद आएगी यह बात कह पाना

मुश्किल है।

**अपने कैरियर के उतार-चढ़ाव के लिए किसे दोषी ठहराते हैं?**

कैरियर के इस उतार-चढ़ाव के लिए किसी और को दोषी ठहराने से क्या फायदा। कैरियर में तो उतार-चढ़ाव आते ही रहते हे। सफलता का आनंद तो असफलता के बाद ही आता है।

**'तेजाब' की छोटी सी भूमिका को आपने कैसे स्वीकार किया?**

फिल्मों में मैं भूमिका की लंबाई नहीं देखता बल्कि मैं उसकी गहराई को देखता हूँ। पहले तो मैं इस रोल को करने के लिए झिझक जरूर गया था, लेकिन रोल काफी महत्वपूर्ण था इसलिए स्वीकार कर लिया। इस फिल्म में बहुत प्रशंसा भी मिली थी।

**आपने अपने कैरियर की शुरूआत नायक के रूप में की थी, फिर आपने कुछ फिल्मों में छोटी-छोटी सी भूमिकाएँ क्यों स्वीकार कीं?**

मैं पहले भी कह चुका हूँ कि मैं भूमिका को नहीं उसकी गहराई को देखता हूँ। सहनायक की भूमिकाएँ मिलने पर मैंने स्वीकार किया। ऐसी बात नहीं कि मुझे नायक की भूमिकाएँ नहीं मिल रही हैं। बहुत जल्दी ही आप मुझे नायक के रूप में फिर पर्दे पर देखेंगे।

**अब तक किसी निर्देशक ने आपकी प्रतिभा का सही उपयोग किया है?**

राजीव राय ने 'विश्वात्मा' में मेरी भीतरी अभिनय प्रतिभा का पूरा-पूरा उपयोग किया है। इसी वजह से मुझ में आत्मविश्वास लौट आया है। मुझे यकीन है कि आप आने वाले समय में एक नया चंकी पांडे देखेंगे।

**स्टार बनने से पहले और बाद में आपने क्या अंतर पाया?**

स्टार बनने के लिए संघर्ष करना पड़ता था और स्टार बनने के बाद उसे बनाए रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। बस और कोई अतर नहीं है।

**आपके पिता एक मशहूर हार्ट विशेषज्ञ हैं, फिर आप फिल्मों में कैसे आ गए?**

फिल्मों में आने का चक्कर तो अपने आप चल गया। मुझे तो एक्टिंग भी नहीं आती थी। एक किस्सा सुनाता हूँ। मैं पाँचवीं क्लास में पढ़ता था। मुझे नाटक में काम करने को मिला। स्टेज पर जाकर अपने डायलॉग भूल गया। दूसरों के डायलॉग बोलना शुरू कर दिया। इस तरह पूरे नाटक का मजा खराब हो गया। एक्टिंग नाम की कौन सी चिड़िया है, मुझे पता नहीं था।

**फिल्मों में आने से पहले क्या करते थे?**

फिल्मों में आने से पहले मैं कार/ फ्लैट्स/ वीडियो की दलाली का धंधा करता था। पैसे कमाने का बहुत शौक था। इसलिए शराब भी बेची। एक दिन प्रोग्राम के सिलसिले में किशोर कुमार के साथ अमेरिका चला गया। वहाँ पर एक लेडी कास्टिंग डायरेक्टर ने वहाँ की फिल्म में काम करने का ऑफर भी दिया था। पर मैंने मना कर दिया। मैं सोचने लगा कि जरूर मुझमें टेलेंट है तभी तो मुझे फिल्म में काम करने की बात कही है। तब से ही मैं इस चक्कर में पड़ गया।



*नीलम और चंकी पांडे*

**अभिनय शुरू करने से पहले क्या किया?**

अभिनय शुरू करने से पहले मैंने बंबई के जितने भी एक्टिंग स्कूल थे सभी जगह जाकर एक्टिंग सीखी। उसके बाद राम शेट्टी से फाइटिंग सीखी, इतना सब कुछ सीखने के बाद भी मुझे किसी ने काम नहीं दिया। करीब डेढ़ साल तक बेकार यहाँ-वहाँ घूमता रहा।



शाहरुख खान

शाहरुख खान

## धमाकेदार एंट्री

दूरदर्शन से पहचान बनाने वाले युवा कलाकारों में **शाहरुख खान** का नाम प्रमुख है। 'फटफटिया' तेवर में संवाद बोलने वाले शाहरुख ने पहले ही सीरियल 'फौजी' से अपने प्रतिद्वंद्वियों को लोकप्रियता के कुरुक्षेत्र में पछाड़ दिया था। एक उत्साही रंगरूट की भूमिका में वे काफी सराहे गए। सर्कस, दिल दरिया, दूसरा केवल, उम्मीद आदि धारावाहिकों में काम करने के बाद शाहरुख ने बड़े परदे का रुख कर लिया। अब तक उनकी एक भी फिल्म प्रदर्शित नहीं हुई, लेकिन उन्हें एक धमाकेदार 'एक्टर' के रूप में देखा जा रहा है।

दिल्ली निवासी शाहरुख, एक्टिंग किसी मजबूरी या दाल-रोटी कमाने के उद्देश्य से नहीं कर रहे। उनका जमा-जमाया पारिवारिक व्यवसाय है। अभिनय का चस्का उन्हें बचपन

से ही लग गया था। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी शाहरुख ने स्कूल और कॉलेज के जमाने में जम कर नाटक खेले। मूलतः अँगरेजी थिएटर से जुड़े शाहरुख का अपना एक नाट्य समूह था, जिसमें रघुवीर यादव, दिव्या सेठ (हम लोग की मँझली) आदि भी काम कर चुके हैं। पढ़ाई पूरी करने के बाद शाहरुख ने दिल्ली के 'जनसंचार शोध संस्थान' (एम.सी.आर.सी.) में दाखिला ले लिया। यहीं दूरदर्शन शृंखला 'फौजी' के निर्माता 'कर्नल कपूर' की नजर उन पर पड़ी। आत्मविश्वास से भरे इस आकर्षक नौजवान को 'कपूर' ने तुरंत अपने धारावाहिक में कमांडो की भूमिका के लिए चुन लिया।

'फौजी' से शाहरुख ने अपने प्रशंसकों की बाकायदा फौज तैयार कर ली। इसमें खास तौर पर 'महिला पल्टन' का बोलबाला था। 'फौजी' से प्रभावित होकर ही हेमा मालिनी ने अपनी **'दिल आशना है'** में हीरो की भूमिका शाहरुख को सौंप दी। फिल्मों में काम मिलने पर 'सर्कस' और 'दिल दरिया' जैसे दो-चार सीरियल निपटाने के बाद शाहरुख ने दूरदर्शन से किनारा कर लिया। आजकल वे 'घोस्ट मेरा दोस्त', 'हम तो मोहब्बत करेगा' और 'दिल आशना है' जैसी उटपटाँग नामों वाली फिल्मों में सलीकेदार अभिनय का प्रयास कर रहे हैं। पश्चिमी अभिनेता 'पीटर सेलर्स' को आदर्श मानने वाले शाहरुख की ख्वाहिश 'एक्टिंग' की बुलंदियों तक पहुँचने की है।

**● आर. शर्मा**

# विवेक मुश्रान बना रहूँ; यही काफी है

*यह देखा गया है कि यदि किसी कलाकार की पहली फिल्म बॉक्स ऑफिस पर सफल रहती है, तो उसकी दूसरी फिल्म को असफलता मिलती है। इस दौर के नए नायकों में सलमान खान, राहुल राय जैसे नायकों के साथ यही हुआ भी। इसी दौर में आए नायक **विवेक मुश्रान** के साथ तो शायद सफलता ने गाँठ जोड़ ली है। सुभाष घई जैसे निर्देशक के साथ फिल्म **'सौदागर'** से अपना फिल्म कैरियर शुरू करने वाले नायक को उसकी इस पहली फिल्म से सफलता तो मिली ही, लेकिन दूसरी फिल्म 'सातवाँ आसमान' की सफलता ने विवेक को सफल नायक बना दिया। जबकि उसकी फिल्म 'फर्स्ट लव लेटर' असफल रही है।*

*'सौदागर' में कलाकारों की भीड़ में खड़े विवेक मुश्रान के बारे में कुछ भी कह पाना तो मुश्किल था। लेकिन नए नायकों की खेप में उसे लोगों ने पसंद अवश्य किया था। हाल ही में 'सातवाँ आसमान' के प्रदर्शन के बाद विवेक के बारे में अब यह निश्चित रूप से कहा जाने लगा है कि वह इस दौर का सफल नायक है। 'सौदागर' और 'सातवाँ आसमान' की सफलता ने विवेक को कहाँ ला खड़ा किया है? वह अपनी इस सफलता के बारे में स्वयं क्या कहता है? यही जानने के लिए उससे मुलाकात हुई—*

**पहली फिल्म 'सौदागर' की सफलता का श्रेय अपनी किस्मत को देते हैं?**

पहले तो मैं इन सब बातों पर विश्वास ही नहीं करता था, लेकिन अब मुझे अपनी किस्मत पर भी विश्वास हो गया है। किसी ज्योतिषी से भविष्य के बारे में जानना या हाथ दिखाने जैसी बातों पर मैं कभी भी विश्वास नहीं करता था। बड़े बैनर की फिल्म। बड़ा निर्देशक। उस पर से 'सौदागर' की सफलता से मैं आज किस्मत पर पूरा विश्वास करने लगा हूँ। इसका मतलब यह नहीं कि मैं अंधविश्वासी हो गया हूँ।

**आपने सुभाष घई की फिल्म पाने के लिए कोई संघर्ष नहीं किया था?**

संघर्ष तो दूर की बात है, मैंने कभी सोचा भी नहीं कि मैं फिल्मों में काम करूँगा। इतनी बात अवश्य है कि जब मुझे यह फिल्म मिली तो मैंने पूरी मेहनत की। फिल्म में मुझसे बड़े-बड़े कलाकार थे। इसलिए फिल्म को सफलता भी मिली।



*विवेक मुश्रान तथा पूजा भट्ट*

**सुभाष घई ने अपनी फिल्म 'सौदागर' के लिए लगभग पांच सौ युवकों का टेस्ट लिया था। अचानक उन्हें विवेक मुश्रान कहाँ से मिल गया?**

मैं उनके ऑफिस में गया था। सुभाषजी के सहायक ने उन्हें बताया कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। मुझे फिल्म का कोई अनुभव नहीं था। सुभाषजी ने मुझसे मिलने से पहले दिन तो मना कर दिया। अगले दिन मैं फिर उनके ऑफिस में मिलने गया तो उन्होंने कहा कि मुझे तो उन्होंने बुलाया नहीं था। फिर मैं क्यों आ गया? मैंने कुछ ऐसा ही उन्हें जवाब दिया और वापस चल दिया। बस इतनी सी बात थी। सुभाषजी ने मेरा टेस्ट लिया और अगले दिन मुझे फाइनल कर दिया।

**फिल्मों में नायक बनने के लिए किस प्रकार का संघर्ष करना पड़ा?**

मैंने कभी फिल्म में काम हासिल करने के लिए संघर्ष नहीं किया। मैंने कभी किसी नाटक या स्टेज पर काम नहीं किया था। दिल के किसी कोने में फिल्म में काम करने की इच्छा अवश्य थी। इसी इच्छा से मैंने सुभाषजी के पास अपनी फोटो छोड़ दी थी और 'सौदागर' में चुन भी लिया गया।

**अब अभिनय करते हुए कैसा लगता है?**

सही मायने में तो अब मुझे पता चला है कि अभिनय देखने में जितना आसान लगता है, करने में उतना ही मुश्किल है। अब समझ सका हूँ कि अभिनय फूलों की सेज नहीं काँटों का ताज है। इस पर चलने के लिए कड़ी मेहनत और लगन की आवश्यकता है।

**आप देव आनंद जैसे लगते हैं। आपके बात करने का ढंग, काम करने का ढंग सभी कुछ वैसा ही लगता है। क्या आप अपने आपको देव आनंद साबित कर सकेंगे?**

मैं अपने आपको देव आनंद तो क्या कोई भी स्टार जैसा साबित नहीं कर सकता। यह अलग बात है कि मुझमें लोगों को देव आनंद की झलक मिलती है। इसका मतलब यह नहीं कि लोग मुझसे देव आनंद जैसी ही अपेक्षाएँ रखें। मैं अपने आपको विवेक मुश्रान ही बना सकूँ यही मेरे लिए काफी है।

**इंटरव्यू : के.एम. श्रीवास्तव**



*शीघ्र प्रदर्शित होने वाली फिल्म 'प्रेम' में संजय कपूर-तब्बू*

संजय कपूर

## 'प्रेम' से स्वागत

**संजय कपूर** अब तक छोटे या बड़े किसी भी परदे पर दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं, लेकिन बतौर अभिनेता उनके स्वागत में नगाड़ों की धुन काफी समय से सुनाई पड़ रही है। अनिल कपूर के छोटे भाई संजय की पहली और एकमात्र फिल्म **'प्रेम'** बनकर तैयार है। धीमी शुरूआत से संजय जरा भी परेशान नजर नहीं आते। फिल्म के निर्माता-निर्देशक बोनी कपूर से संजय का रिश्ता भाई का है। 'बोनी' ने 'प्रेम' प्रदर्शित होने से पहले 'संजय' को किसी अन्य फिल्म में काम करने से रोक रखा है।बोनी और अनिल को अपने खूबसूरत छोटे भाई संजय से काफी आशाएँ हैं। पुनर्जन्म पर आधारित फिल्म 'प्रेम' एक प्रेम कहानी है।

---

अक्षय आनंद

## मंजिल है दूर

**चाकलेटी** नायकों की परंपरा में **अक्षय आनंद** एक नया नाम है। उनसे जुड़े 'आनंद' शब्द के कारण किसी को धोखा नहीं होना चाहिए। देव आनंद के परिवार से उनकी कोई रिश्तेदारी नहीं है। अलबत्ता देव की बिटिया 'देवीना' से जरूर कुछ था। इसी बदौलत वे देव आनंद के 'नवकेतन' बैनर में काम करने का मौका पा गए। मूलतः मॉडलिंग से ग्लैमर की दुनिया में प्रवेश करने वाले अक्षय आनंद को देव साहब ने अपनी फिल्म 'हम नौजवान' में पहली बार एक छोटी सी भूमिका सौंपी थी। परिवार वालों के विरोध के बावजूद 'अक्षय' 'एक्टिंग' के लिए 'हम नौजवान' का नारा बुलंद करते हुए घर छोड़कर चले आए।

पहली फिल्म से कुछ खास हासिल न कर पाने के कारण 'अक्षय' ने टी.वी. सीरियल 'इंद्रधनुष' में भूमिका स्वीकार कर ली। इसी बीच 'रवि राय' ने उन्हें फिल्म 'दो पल' के लिए बतौर हीरो अनुबंधित कर लिया। इसके बाद कुछ अन्य फिल्मों 'तराना प्यार का', उमर पचपन की दिल बचपन का, 'पहली नजर में' और 'दिल का हाल सुने दिलवाला' आदि में काम मिला है। ■

### किधर जा रही है नई पीढ़ी?

*वर्ष १९९१-९२ में जितने नए नायक भारतीय सिनेमा के परदे पर आए उतने पिछले सत्तर वर्षों में भी प्रकट नहीं हुए हैं। सिनेमा का अर्थशास्त्र अब सिर के बल खड़ा हो गया है। बगैर किसी कलाकार, संगीतकार, गायक-गायिका और निर्देशक को पारिश्रमिक दिए, फिल्म के कच्चे माल का मूल्य सत्तर से अस्सी लाख रुपए हो गया है। 'अंडर वर्ल्ड' के लोगों के हाथ में सिनेमा की नकेल है। पैसों की उन्हें कोई कमी नहीं है। लेकिन भरी जेब और खाली दिमाग से कोई काम नहीं होता है। फिल्मी दुनिया के तमाम माता-पिता आज इस कोशिश में हैं कि उनके बेटे-बेटियाँ फिल्मों में ही खप जाएँ। उनके तर्क हैं कि जब दरजी का बेटा दरजी बन सकता है, तो सितारा-पुत्र, सितारा क्यों नहीं बन सकता? आखिर उनके बेटे-बेटियों को कलाकार बनने से क्यों रोका जा रहा है? अब उन्हें कौन समझाए कि कलाकार बनने के लिए जन्मजात प्रतिभा की जरूरत होती है। नई पीढ़ी में पुरानी पीढ़ी की तरह न तो लगन है और न धैर्य। नतीजे में कठपुतले की तरह परदे पर वह नजर आती है। एक फिल्म सुपरहिट तो दूसरी सुपर फ्लॉप! पूत के पाँव पालने में नजर आ रहे हैं। पता नहीं सड़कों पर जो हो रहा है, वही कहीं रजतपट पर न होने लगे। वही गलाकाट प्रतियोगिता।*

# 'एक्शन' हर दौर में सफल है

● शबाना इकबाल की बातचीत अरमान कोहली से

निर्माता-निर्देशक राजकुमार कोहली मल्टीस्टार फिल्में बनाने में अपना जवाब आप हैं। उनकी रिलीज फिल्म **विरोधी** इन दिनों सिनेमा घरों में दिखाई जा रही है जिसमें उन्होंने बारह विलेन को इकट्ठा किया है। इस फिल्म में उनके अपने बेटे **अरमान कोहली** जिनका घरेलू नाम **मुनीश** है, को अपने जौहर दिखाने का अवसर मिला है। फिल्म विरोधी की रिलीज के तुरंत बाद ही हमने उनसे भेंट की और फिल्म की सफलता पर उन्हें बधाई दी। प्रस्तुत है, उस भेंट के अंश-

■ **फिल्म विरोधी आज सफलता के साथ दिखाई जा रही है। रिलीज के पहले आप पर क्या गुजरी?**

□ रिलीज से पहले कैसे हम जिए, मत पूछिए साहब। मानो हम अंगारों पर लोट रहे थे। किसी लम्हे में सुकून नहीं था। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना सब हराम हो गया था। करते कुछ थे, होता कुछ और था। बस एक ही सोच, एक ही ख्याल कि कल क्या होगा।

■ **आप अपनी इमेज किस तरह की बनाना चाहते हैं?**

□ एंग्री यंग मैन की। इसलिए कि एक्शन हर दौर में सफल रहा है। आप फिल्मी इतिहास देख लीजिए, एक्शन सदा से सब पर हावी रहा है। वैसे मैं रोल हर तरह के कर रहा हूँ और करना चाहता हूँ। मेरी एक फिल्म आ रही है **हम अनाड़ी हैं**। इसमें बिल्कुल हटकर कॉमेडी रोल है। एक गाँव का सीधा-सादा देहाती और एक शहर का चालाक नागरिक डबल रोल निभा रहा हूँ। फिल्म 'अनाम' एक सस्पेन्स फिल्म है। जिसमें मेरे पाँच अलग-अलग रोल हैं। **दुश्मन जमाना** में लव और एक्शन दोनों ही हैं।

■ **आपने अदाकारी कहाँ सीखी?**

□ इस लाइन को समझने के लिए अपने पापा राजकुमार कोहली के साथ फिल्म 'बीस साल बाद' और 'पति, पत्नी और तवायफ' में सहायक निर्देशक बना। अदाकारी सीखने का जहाँ तक प्रश्न है, अदाकारी मेरे खून में है। मैंने आज तक किसी क्लास में कोई शिक्षा नहीं ली। न किसी स्कूल या कॉलेज के किसी ड्रामे में काम किया। बस, बचपन से दिल में यह बात थी कि मुझे हीरो बनना है और मैं हीरो बन गया।

■ **जगदीश शर्मा ने (फिल्म जगत में मुन्ना भाई के नाम से प्रसिद्ध) आपको पाँच फिल्मों के लिए साइन किया है, इसका कारण?**

□ मुन्ना भाई बहुत सूझबूझ वाले निर्देशक हैं। उनके काम करने का तरीका मुझे बहुत पसंद है। मेरी तरह उनका भी फिल्मी जगत से पुराना नाता है। मेरी प्रथम फिल्म विरोधी का एलान होते ही कुछ दिनों बाद मुन्ना भाई ने अपनी फिल्म दुश्मन जमाना के लिए मुझे अनुबंधित किया। आप यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि मुन्नाभाई ने दुश्मन जमाना के लिए न मेरा स्क्रीन टेस्ट लिया न मेरी फाइट इमोशन या डान्स देखा। अभी फिल्म आधी भी नहीं बनी थी कि मेरे काम से प्रभावित होकर उन्होंने जुआरी और उसके बाद फिल्म सपूत के लिए साइन किया। फिल्म विरोधी के रशेज जब देखे, तो मुझे अपनी दो और फिल्मों के लिए साइन किया।

■ **आपने किसी हीरोइन के साथ जोड़ी बनाने के लिए कुछ सोचा?**

□ मेरी समझ के अनुसार जोड़ी वह बनाए जिसे खुद पर विश्वास न हो। जिसे यह लगे कि फलाँ के साथ अच्छा संबंध है तो अच्छा काम निकलता है। फलाँ के साथ ट्यूनिंग नहीं है तो पता नहीं मेरा काम अच्छा निकलेगा या नहीं। मुझे अपने आप पर भरपूर विश्वास है। मैं हर किसी के साथ अच्छे से अच्छा काम करने की पूरी कोशिश करता हूँ। मुझे अपने आप पर कॉन्फीडेन्स है। बट, नॉट ओवर कॉन्फीडेन्स।

■ **हर रोज नए कलाकारों के आने से कोई खतरा महसूस नहीं होता?**

□ मैं स्वयं नया हूँ। अभी मेरे खाते में केवल एक रिलीज फिल्म है। हर कलाकार में उसकी कला छुपी होती है। जब हम उनके साथ मुकाबले की भावना से काम करते हैं तो काम और निखरता है। मुकाबला अगर कला तक सीमित है तो बहुत अच्छी भावना है। मेरी तो सदा से यह अभिलाषा रही कि अच्छे कलाकार और निर्माता निर्देशकों के साथ काम करूँ और कुछ न कुछ सीखता रहूँ।

■ **दूसरी जल्दी आने वाली फिल्म?**

□ दुश्मन जमाना। ■



नया नायक अरमान कोहली

खण्ड-७

बहुरूपिया नायक

# हिन्दी फिल्मों का नायक राम है या रावण?

हिन्दी फिल्मों के नायक की छबि न राम की है न रावण की। वह आधुनिक औद्योगिक समाज की देन है। यहाँ नायक मशीन को संचालित करने वाले मानव के बदले खुद मशीन बन गया है। देश और समाज की स्थितियों ने नायक को 'प्रति-नायक' बना दिया है, जो उस हिंसा का आह्वान करता है, जो अपने आप में साधन भी है और साध्य भी। वह ईमानदारी से बेईमानी, भोलेपन से नकारात्मक चतुराई, खरेपन से निरंतर भ्रष्ट होते समाज के मुताबिक जीवन मूल्य बदलता रहता है।

भारतीय सिनेमा की मुख्य धारा के नायक वास्तव में क्या हैं, राम या रावण? यह सवाल इसलिए करना पड़ रहा है कि हमारा सिनेमा परदे पर जो संस्कृति प्रस्तुत कर रहा है उसमें प्रमुख पुरुष पात्र के साध्य भले ही अंत में जाकर महान साबित हों, जिन साधनों का वह प्रयोग करता है वे स्पष्टतः अश्लाघ्य होते हैं। कथा का अंत इन्हीं गलत साधनों के कारण निरर्थक हो जाता है और फिल्म निर्माता के इरादे कितने ही नेक क्यों न हों फिल्म, बिल्कुल प्रभावहीन हो जाती है। नायकों के साधन, साध्य का औचित्य सिद्ध नहीं करते तथा वे भारतीय दर्शनों द्वारा प्रतिपादित सहिष्णुता, धैर्य, अपने सहजीवियों के साथ सामंजस्यपूर्वक जीने तथा सबसे बढ़कर शांति के सिद्धांतों के सर्वथा विपरीत हैं।

● शोमा ए. चटर्जी

भारतीय नाट्यशास्त्र के एक पुरातन ग्रन्थ 'देशरूप' में नाटक के नायक की जो परिभाषा दी गई है उसके अनुसार उसे 'सुसंस्कृत, आकर्षक, उदार, चतुर, मिलनसार, लोकप्रिय, ईमानदार, कुलीन, दृढ़-निश्चयी, युवा, बुद्धि- शक्ति- स्मृति सम्पन्न तथा कलाओं में कुशल, दर्पपूर्ण शूर-वीर, नियमों का पालन करने वाला और सूक्तियों संहिताओं का ज्ञाता होना चाहिए। इसके विपरीत उसके विरोधी (या खलनायक) को 'लालची, जिद्दी, आपराधिक तथा दुष्ट बतलाया गया है। हमारी लोक-नाट्य परंपरा में भी नायक और खलनायकों को इसी तरह परिभाषित किया गया है। कुछ इसी ढंग से भारतीय सिनेमा में नायक का पात्र १९१३ में दादा साहब फालके की फिल्म हरिश्चन्द्र के साथ विकसित होना शुरू हुआ। फालके की ही अगली फिल्म 'लंका

*शोले का गब्बरसिंह गिरफ्तार! -अमजद खान*



**दहन'** का प्रभाव इसलिए दर्शकों पर इतना गहरा पड़ा कि जब राम परदे पर दिखलाई दिए, तो लोग उन्हें दंडवत करने लगे। और यह तब हुआ जबकि फिल्म में ध्वनि नाम की कोई चीज नहीं थी।

यह स्थिति सन् १९४३ में अशोक कुमार द्वारा अभिनीत फिल्म **'किस्मत'** के प्रदर्शित होने तक बरकरार रही। बंबई में दो तथा कलकत्ता में लगातार तीन वर्ष तक चलने वाली इस फिल्म को उसकी इस अपार



*एंग्री यंग मैन : अमिताभ*

लोकप्रियता के बावजूद समीक्षकों की आलोचना का शिकार होना पड़ा था क्योंकि उसमें अपराध को पहली बार आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया था। पहली बार मुख्यधारा के सिनेमा में नायक परंपरा के विपरीत एक चोर था और बड़ी चतुराई से कानून को अपने हाथों में लेता बतलाया गया था। लेकिन यहाँ भी अंत में जाकर पता चलता है कि नायक वास्तव में एक कुलीन परिवार का युवक था और यह 'किस्मत' का दोष था कि उसे विपरीत परिस्थितियों से दो-चार होना पड़ा था। नायक की आपराधिक गतिविधियों का कथानक में औचित्य यह कहते हुए सिद्ध किया गया था कि वह कैसे प्रियदर्शन, आकर्षक तथा भले दिल का इंसान था। दर्शकों को भी यह बात जँच गई।

जहाँ 'किस्मत' में नायक की आपराधिक गतिविधियाँ भाग्य का खेल था वहीं इसके आठ वर्ष बाद १९५१ में आई राजकपूर की फिल्म **'आवारा'** का नायक गलत तथा नकारात्मक वातावरण की उपज था। 'आवारा' इस लिहाज से एक सामयिक विषय पर बनाई गई फिल्म थी जो अपराध के कारणों की पड़ताल करते हुए इस बात को स्थापित करती थी कि मानव का स्वभाव गढ़ने में आनुवंशिकता के साथ ही वातावरण की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह जो भी हो अपने शीर्षक को चरितार्थ करता 'आवारा' का नायक भी भारतीय नाट्यशास्त्र में वर्णित नायक की छबि के विपरीत था। 'आवारा' का नायक 'रामायण' के राम और 'महाभारत' के युधिष्ठिर जैसे शूरवीर नायकों से बिल्कुल भिन्न था।

इसके बाद सिलसिला शुरू हुआ ऐसे रूमानी नायकों का जो या तो प्रेम में **'देवदास'** (पहली बार १९३५ में बरूआ द्वारा तथा दो दशक बाद विमल राय निर्मित) की तरह अतिवादी होकर अपने आपको खत्म कर देता था या **देवआनंद** और **राजेश खन्ना की** असंख्य फिल्मों की तरह नायिका से शादी कर 'सुख की जिंदगी' बसर करने लगता था। यदि मुड़ कर देखें तो 'देवदास' का चरित्र भी 'आवारा' से कुछ कम नकारात्मक नहीं है क्योंकि देवदास भी न तो चतुर है, न दर्पशील न शूरवीर है। दर्शकों और आलोचकों को वह उसके उस ढंग के कारण पसंद आया जिसके अनुसार उसने अपनी प्रेमिका न मिल पाने पर खुद को बरबाद किया। राम के आदर्श पात्र से देवदास भी उतना ही दूर है जितना आवारा का राज था। फर्क दोनों में यही था कि देवदास पार्वती के विछोह में अपराध के बदले बोतल का सहारा ले लेता है।

अमेरिकी फिल्मों से प्रेरित शेखीबाज-दबंग नायक हिन्दी फिल्मों में भी उसके प्रारंभिक काल से ही लोकप्रिय रहा है। लेकिन नायक

*राम के रोल में एन.टी.रामाराव और पद्मिनी*



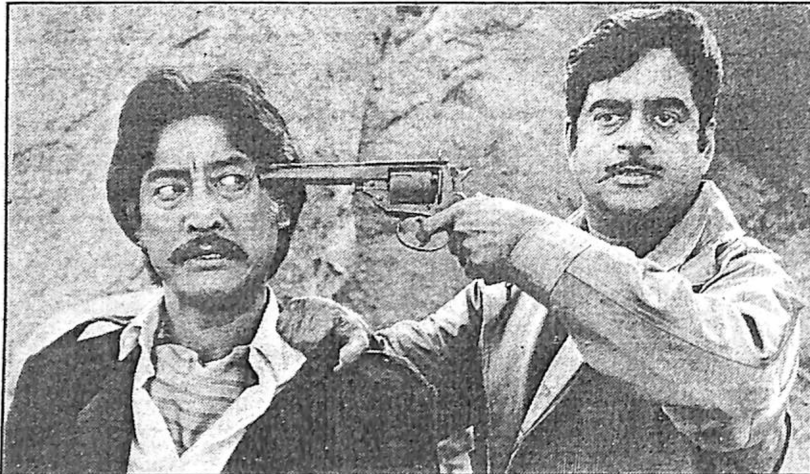
की यह ऐय्यारी और शेखी हमेशा स्पष्ट रूप से सकारात्मक होती थी। यह नायक हमेशा बुराई को खत्म कर दुनिया में प्यार और अमन-चैन बहाल करने के लिए तलवार या पिस्तौल उठाता है। इस पात्र में राम के कुछ *पौरुषमय पौराणिक गुण* दिखलाई देते थे। लेकिन **अमिताभ बच्चन** ने अपनी भूमिकाओं द्वारा मुख्य धारा के सिनेमा में भले नायक की छबि को प्रतिनायक में बदल दिया। उन्होंने यश चोपड़ा निर्देशित **'दीवार'** के द्वारा भारतीय नायक को उलट कर सिर के बल खड़ा कर दिया। इस संदर्भ में १९७३ में बनी प्रकाश मेहरा की **'जंजीर'** का उल्लेख समीचीन होगा क्योंकि उसमें पुलिस इंस्पेक्टर का पात्र सकारात्मक है क्योंकि वह खलनायक से अपने माता-पिता की हत्या का बदला लेने के लिए अपराधी बनता है। वह वैसा ठेठ, समाजविरोधी अपराधी 'जंजीर' में नहीं है जैसा वह 'दीवार' तथा उसके बाद की कई फिल्मों में बन जाता है। 'दीवार' और अमिताभ बच्चन भारतीय सिनेमा में नायक की छबि को फिर से परिभाषित करने के मामले में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुए और अब नायक में पौराणिक आदर्शवादी पात्र जैसा रामत्व कहीं दूर-दूर तक नजर नहीं आता।

पुस्तक 'द मूविंग इमेज' में डॉ. किशोर वालिया की यह टिप्पणी बिल्कुल सही है- 'उन्होंने अब औद्योगिक मानव की अनुकृति का सृजन किया है जो केवल खुद के प्रति प्रतिबद्ध है और उसकी सारी प्रेरणाएँ खूँखार तथा सोची-समझी हुई हैं। यह नायक एक ऐसी परिष्कृत, पूरी तरह गतिशील, मशीन का आभास देता है, जो अपनी शक्ति का उपयोग जरूरी होने पर ही करती है। 'त्रिशूल' में अमिताभ द्वारा अपनी माँ का अग्नि संस्कार

एक ऐसी सुचिंतित तथा प्रत्यक्ष भावना का प्रतीक है जो कथानक का केंद्र बिंदु बन जाती है।'

इस तरह हम देखते हैं कि अब हिन्दी फिल्मों का नायक मूलतः अपने परिवेश का उत्पाद बन गया है और उसके सिद्धांत उसके अनुरूप बदलते रहते हैं। वह ईमानदारी से बेईमानी (दीवार), भोलेपन से नकारात्मक चतुराई (अदालत), खरेपन से ठेठ बर्बरता (लावारिस तथा मुकद्दर का सिकंदर) की तरफ निरंतर भ्रष्ट होते समाज के मुताबिक अपने मूल्यों में तब्दीली करता चला जाता है। इस अर्थ में बच्चन के व्यक्तित्व के माध्यम से प्रक्षिप्त तथा लोकप्रिय बनाई गई नायक की यह छबि न तो राम के ढांचे में बैठती है न रावण के। यह एक अलग ही जाति व छाया का व्यक्तित्व है जो उस आधुनिक औद्योगिक समाज की देन है जिसमें मानव का अस्तित्व सिर्फ उपभोक्ता के रूप में है। यहाँ नायक मशीन को संचालित करने वाले मानव के बदले खुद मशीन बन गया है, जिसे उसके पूर्ववर्तियों ने रचा था। यही बात उन फिल्मों पर भी लागू होती है जिनमें अमिताभ के शौर्य के क्षण आते थे। लेकिन **'परिंदा'** **'अंधा युद्ध'** **'प्रहार'** या **'अर्जुन'** **'घायल'** **'त्रिदेव'** या और बाद की फिल्मों **क्रोधी, विरोधी, लक्ष्मण रेखा** तथा **सरफिरा** के नायकों के साथ ऐसा कुछ नहीं होता। इस प्रसंग में विमल दिशा, नायके तथा मालती सहाय की पुस्तक 'शोले-अ कल्चरल रीडिंग' जिसमें भारतीय सिनेमा के इतिहास की इस सबसे सफल व्यावसायिक फिल्म में बुराई के चित्रण की व्याख्या की गई है, को उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा। वे लिखते हैं 'शोले में चित्रित असत, निराधार, व्यापक, अपरिहार्य होते हुए द्वेषपूर्ण संवेदन हीनता के मनोविज्ञान से जुड़ा हुआ है। 'किस्मत' और 'आवारा' में नायकों के व्यक्तित्व को अंततः उनके पारिवारिक वंशक्रम द्वारा परिभाषित किया गया है लेकिन 'शोले' में वीरू और जय के व्यक्तित्वों को उनके इर्द-गिर्द मौजूद हिंसा के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया गया है। इतना ही नहीं 'किस्मत' और 'आवारा' दोनों फिल्मों में जहाँ नायकों की जड़ें उस सामाजिक परिवेश में जमी हैं जहाँ कथानक घटित होता है, वहीं चूँकि शोले में उनकी कोई जड़ें ही नहीं हैं, वे भारतीय सिनेमा में एक नए प्रकार की संवेदन हीनता का प्रादुर्भाव करते हैं।'

*दो रावण समानांतर : डैनी-शत्रुघ्न*



जीतेन्द्र, धर्मेन्द्र यहाँ तक कि संजीव कुमार जैसे साथियों ने नायक की भूमिकाएँ कीं। नायक उसी समाज का प्रत्यक्ष उत्पाद होता है जिसमें वह जीता है, प्यार करता है और सबसे बढ़कर नफरता करता है।

देश के धीरे-धीरे जातीय तथा साम्प्रदायिक दंगों द्वारा बिखरने, साम्प्रदायिक विश्वास के दुरुपयोग, सर्वव्यापी राजनीतिक तथा आर्थिक भ्रष्टाचार आदि का भारत की प्रज्ञा और संस्कृति पर जो घातक प्रभाव पड़ा है वह अब फिल्मों के नायकों में भी प्रतिबिंबित हो रहा है और बाद का यह प्रति-नायक अमिताभ बच्चन की फिल्मी छवि का प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी नहीं है। अनेक फिल्मों के माध्यम से यह नायक उस हिंसा का आव्हान करता है, जो अपने आप में साधन भी है और साध्य भी। हालाँकि वाल्मिकी रामायण के रावण की रचना एक खल-पात्र के रूप में की गई थी, उसके जीवन में भी कभी-कभी विवेक, बुद्धि, ईमानदारी तथा

अफसोस की बात मगर यह है कि अस्सी के दशक के उत्तरार्ध से लेकर नवें दशक तक की फिल्मों में जिस तरह की हिंसा और बुराई प्रस्तुत की गई वह कथानक, शैली, तकनीक, अभिनय कौशल तथा समग्र सौन्दर्य शास्त्रीय या सामाजिक अपील की दृष्टि से 'शोले' में प्रस्तुत हिंसा के पासंग में भी नहीं ठहरतीं। आजकल की फिल्में 'टोटल रिकॉल' तथा 'फेरल अट्रैक्शन' जैसी फिल्मों के बीच कहीं ठहरती हैं, गोकि इन फिल्मों जैसी परिष्कृत तकनीक, प्रस्तुति तथा अभिनय उनमें कहीं नजर नहीं आते। यही स्थिति इन फिल्मों में काम करने वाले नायकों की है। आजकल के मुख्य धारा के सिनेमा में शौर्य का प्रदर्शन केवल डाकुओं, तस्करों, ब्लेकमेलरों, बलात्कारियों द्वारा ही किया जा रहा है। 'बेनाम बादशाह' फिल्म बड़ी निर्लज्जता के साथ बतलाती है कि उसका नायक एक पेशेवर बलात्कारी होने के बावजूद नायिका उससे शादी करने को तरस रही है और अंत में वैसा करती भी है। तो फिर यह नायक राम जैसा है या उसमें रावणत्व ज्यादा है? स्पष्ट ही वह दोनों जैसा नहीं है। वह तो शुद्धतः वैसा आम अपराधी है जिसके बारे में हम आए दिन अखबारों में पढ़ते हैं और जो खुद जब अंधाधुंध गोलियाँ नहीं चला रहा होता है तो खुद अपने विरोधी की गोली का शिकार हो जाता है।

अपने आलेख 'सिनेमा लैण्ड सोसायटी : असर्च फार मीनिंग इन अ न्यू जीण' (एक नई विधा में अर्थ की तलाश) में संजय काक, सिद्धार्थ वसु तथा प्रदीप किशन इन ग्यारह फिल्मों **डॉन, अमर अकबर एंथोनी, मुकद्दर का सिकंदर, मि. नटवरलाल, कुर्बानी, जंजीर, दीवार, शोले, दोस्ताना, राम बलराम** तथा **शान** का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन सभी फिल्मों में नायक समाज की आपराधिक परिधि पर मौजूद रहने वाले बाहरी व्यक्ति हैं।

जब वे पुलिस के आदमी होते हैं तब भी वे ऐसे आपराधिक तौर-तरीके अपनाते हैं, जो न केवल बर्बर हैं बल्कि गैर कानूनी भी। वे कभी भी अकेले काम नहीं करते। यद्यपि वे असाधारण शारीरिक शक्ति सम्पन्न, द्वंद्व कलाओं में निपुण तथा आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से लैस होते हैं, तथा बुद्धि की भी उनमें कमी नहीं होती, तथापि अकेले होने पर अक्सर वे परेशानियों से नहीं निपट पाते।

'फिल्म्स एंड फासिज्म' शीर्षक लेख में हिरण्मय कार्लेकर लिखते हैं 'ये नायक किन्हीं अमूर्त सामाजिक प्रतिमानों या मूल्यों के रक्षक कभी नहीं होते बल्कि वे खुले आम इनका तिरस्कार करते हैं। और न ही वे ऐसे क्रांतिकारियों में से हैं तो समाज के ढाँचे को बदलना चाहते हैं या सत्ताधारियों को किसी तरह की चुनौती देना चाहते हों। उनकी हिंसा का निशाना वे दुष्ट व्यक्ति हैं जिन्होंने उन्हें या उनके सगे संबंधियों को किसी तरह की कोई हानि पहुँचाई है। उनका एकमात्र उद्देश्य प्रतिशोध है। इन नायकों द्वारा निर्मम, बर्बर तथा गैर कानूनी हिंसा को जिस तरह इन फिल्मों में महिमा मंडित कर वैधता का जामा पहनाया जाता है, वह अंततः भारतीय समाज के आपराधीकरण की प्रक्रिया को ही तीव्र करता है।' (इंडियन एक्सप्रेस १७ जुलाई १९८६)

आज इस लेख के प्रकाशन के छः वर्ष बाद हालात बदतर ही हुए हैं क्योंकि हर तरह की हिंसा का उपयोग/ दुरुपयोग करने वाली एक औसत मसाला फिल्म के औसत नायक को एक ऐसी बिकाऊ जिस में बदल कर रख दिया है जिसमें कोई मानवीय मूल्य नहीं होते। और यदि कथा नायक में कोई इंसानियत ही नहीं रह गई है तो बेचारे राम या रावण को बीच में लाने का मतलब ही भला क्या रह जाता है? ■



# ३७ गुणवाला फिल्मी हीरो!

● श्रीराम ताम्रकर

**'शास्त्र सम्मत एक व्यक्ति में अधिक से अधिक ३६ गुण हो सकते हैं, लेकिन सर्वगुण संपन्न कोई नहीं होता। भारतीय सिनेमा के हीरो में ३६ के बजाए पूरे ३७ गुण होते हैं। उसे न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है, न वायु सुखा सकती है और न कोई शस्त्र काट सकता है क्योंकि वह अजर-अमर है। एक फिल्म पूरी कर वह दूसरी फिल्म में प्रवेश कर जाता है।'**

१. भारतीय सिनेमाई हीरो का पहला गुण यह है कि उसकी जोड़ का दूसरा आदमी तीन लोक, दसों दिशाओं और चौदह भुवन में कहीं नहीं मिल सकता।

२. हीरो के जन्म का कोई निश्चित नियम नहीं है। वह चाहे जिसके गर्भ से चाहे जहाँ पैदा हो सकता है। पेड़-पौधों की तरह अपने आप बड़ा हो जाता है। उसे सदाबहार जवान बने रहने का 'ईश्वरीय' वरदान प्राप्त है।

३. हीरो शिक्षा-अशिक्षा के बंधनों से मुक्त है। पहले तो वह पढ़ने जाता ही नहीं। यदि जाता है तो बोर्ड अथवा विश्वविद्यालय की परीक्षा में हमेशा प्रथम श्रेणी में पास होता है।

४. हीरो को माता-पिता या भाई-बहन जैसे रिश्तेदारों की जरूरत नहीं रहती। ये लोग जरूरत पड़ने पर प्रकट हो जाते हैं और काम खत्म होते ही गायब हो जाते हैं। हीरो को अक्सर माता या पिता की दीवार पर टँगी तस्वीर को हार पहनाते देखा जा सकता है।

५. हीरो को कभी कमाने की जरूरत नहीं होती। (प्रेमिका पाने के लिए कमाने की शर्त जरूर पूरी करता है : संदर्भ—मैंने प्यार किया)। बगैर कमाए उसके ठाठ-बाट किसी टाटा/बिड़ला या अंबानी से कम नहीं होते। यदि वह कहीं दफ्तर में नौकरी करता है, तो उस पर कोई नियम लागू नहीं होते।

६. हीरो दीन-दलितों का सच्चा हमदर्द होता है। दुष्टों का दमन करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। गरीबों के दुःख दूर करना उसका राष्ट्रीय धर्म है। यदि गरीब की जवान-बेटी हो, तो उसका उत्साह देखते ही बनता है। ये तमाम काम वह गीत गाते हुए करता है।

७. हीरो साढ़े सात प्रतिशत धार्मिक होता है। मंदिरों का उपयोग वह प्रायः किसी युवती को पटाकर, दुनिया की नजरें बचाकर तथा भगवान को साक्षी बनाकर विवाह रचाने में करता है।

८. हीरो अच्छा-खासा घुड़सवार होता है। जब वह घोड़े पर सवारी करता है, तो उसका घोड़ा किसी भी जीप, मोटरकार, रेलगाड़ी,हेलीकाप्टर अथवा हवाई जहाज से भी आगे निकल जाता है।

९. हीरो पानी देखकर बच्चों की तरह मचलने लगता है। झील, सागर, नदी या स्वीमिंग-पूल देखते ही तैरने लगता है। वह हमेशा जवान लड़कियों के साथ जल-क्रीड़ा करते हुए नहाता-धोता और गीत गाता है।

१०. हीरो जन्मजात 'महान ड्रायवर' होता है। वह बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, रेलगाड़ी, हवागाड़ी, मोटरकार, स्टीमर, जहाज, बुलडोजर यहाँ तक कि रोड रोलर भी कुशलता से 'ड्राइव' कर सकता है।

११. हीरो शास्त्रीय, उप शास्त्रीय, सुगम तथा पाश्चात्य संगीत का प्रकांड पंडित होता है। हर प्रकार की राग-रागिनियाँ उसे कंठस्थ होती हैं। हर प्रकार के बाजे वह बजा सकता है। कभी-कभी बैंड मास्टर बनकर 'चिकी चिकी बम बम' की आवाजें भी निकालता है।

१२. हीरो हर प्रकार के नाच जानता है। यदि यह कहा जाए कि वह पूरी फिल्म में

नाचता ही रहता है और दूसरों को भी नचाता रहता है, जो ज्यादा ठीक रहेगा। वह नाचते-नाचते हैदराबाद से अहमदाबाद और काश्मीर से कोडाईकनाल पहुँच जाता है।

१३. हीरो महान तलवारबाज होता है। तलवार हाथ में आते हीं उसकी झंकार के साथ अनेक खलनायकों के सिर धड़ से अलग होकर धड़ाधड़ गिरने लगते हैं।

१४. हीरो के सामने युद्ध के मैदान में पूरी बटालियन फीकी पड़ जाती है। वह अकेले ही सबसे निपट लेता है।

१५. हीरो की खास खूबी यह है कि तमाम गुंडे, बदमाश, लुच्चे, लफंगे और तस्करों का सफाया वह पुलिस के आने के पहले ही कर देता है।

१६. हीरो को जासूसी करने की सनद मिली रहती है। जासूसी करते समय उसके आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ सुंदरियों का जमघट लगा रहता है।

१७. हीरो कभी जेल नहीं जाता। कहानी की 'डिमांड' के अनुसार कभी जेल जाना पड़े, तो वहाँ उसे इतनी सुविधाएँ मिलती है जैसे वह पाँच तारा ताजमहल होटल तथा लीला पेंटा में ठहरा हो।

१८. हीरो के एक्सीडेंट बड़े विचित्र होते हैं। उसका अंधापन, लंगड़ापन, लूलापन, मूक-बधिरपन, स्मरण शक्ति या प्रजनन शक्ति यदि 'बिजली फेल' होने की तरह फिल्म के बीच में चली जाती है, तो फिल्म के खत्म होने तक वापस आ जाती है। उसकी हीरोइन किसी राधेश्याम या सीताराम या भोले भंडारी की मूर्ति के सामने एक गीत गाती है, सब ठीक-ठाक।

१९. हीरो को अक्सर दिल की बीमारी होती है। फिल्मी डॉक्टर बगैर 'कार्डियोग्राम' किए एक ही उपचार बताता है—हीरोइन को बुलवा लीजिए, उसके आते ही दिल 'नार्मल' हो जाएगा।

२०. हीरो (अभिनेता) अब नेता भी होने लगे है। फिल्म में किसी भी राजनीतिक दल के मंच से वह घंटों धारावाहिक भाषण दे सकता है।

२१. हीरो में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी होती है। हीरोइन के हाथ में हाथ डालकर कुलाँचे भरते हुए वह राष्ट्रीय गीत गाता है। उसे खेत हो या खलिहान या म्युनिसिपाल्टी का पार्क हर कहीं नेहरू/ शास्त्री/ सुभाष/ तिलक/ बुद्ध/ ईसा की मूर्तियाँ रखी मिल जाती हैं। वह इन महापुरुषों के हाथ कुछ इस अंदाज से जोड़ता है, जैसे अहसान जता रहा हो!

२२. हीरो जैसा सेल्समेन संसार में कहीं नहीं मिलेगा। जिस चीज को वह हाथ लगा दे, वह मिनटों में बिक जाती है।

२३. हीरो हर खेल में विश्व चैम्पियन होता है। भले क्रिकेट का बल्ला पकड़ने की उसे तमीज न हो, सर्वाधिक रन बनाकर वह आखिर तक नाबाद बना रहता है।

२४. हीरो दुनिया भर की तमाम भाषाओं को लिख, पढ़ तथा बोल सकता है। अँगरेजी पत्रिका हाथ में लेकर या पुस्तकों की अलमारी के सामने मुस्कराते हुए खड़े होकर फोटो उतरवाना उसकी हॉबी है।

२५. हीरो बगैर टिकट के भी बस/ ट्रेन/ ट्राम/ मेट्रो से सफर कर सकता है। यहाँ तक कि टेक्सी वाले भी उससे पैसे लेना भूल जाते हैं।

२६. हीरो को तमाम प्रकार के तेल, साबुन, सिगरेट या बीड़ियों के विज्ञापनों में अपना नाम तथा फोटो छपाने का शौक रहता है। वह उन सभी चीजों का उपभोग करने की जोरदार सिफारिश अपने प्रशंसकों से करता है, जिनका इस्तेमाल खुद नहीं करता।

२७. हीरो को कभी कपड़े खरीदने/ सिलवाने/ धोने की जरूरत नहीं होती। मन में विचार आते ही सारे काम अपने आप अलादीन का जिन आकर कर जाता है।

२८. हीरो प्रायः गरीब होता है। लेकिन उसकी गरीबी देखकर कई हिंदुजाओं का मन भी ललचाता है कि—'काश हम भी




ऐसे गरीब होते!'

२९. हीरो को भिखारी वेष में देखकर राह चलते लोग ठहर कर धड़ाधड़ उसे भीख देने लगते हैं। कोई भी चिल्लर नहीं देता। सिर्फ नोट दिए जाते हैं।

३०. हीरो के सपने बहुत महँगे होते हैं। विशाल सेट पर ढेर सारी सुंदरियाँ और परी जैसी नायिका के साथ वह रंग-बिरंगी पोशाकों में प्यार के तराने अलापता है।

३१. हीरो की हर साँस में गीतों के स्वर होते हैं। प्रेम - प्यार, विरह-मिलन, जनम - मरण, राष्ट्रीय - भजन, युगल-एकल-कोरस सभी प्रकार के गीत हर घड़ी, हर पल, हर कहीं वह गाता रहता है। उसकी आधी से अधिक जिंदगी गीत गाने और लड़की पटाने में गुजर जाती है।

३२. हीरो रात हो या दिन, सुबह हो या शाम, घर हो या जंगल, स्कूल-कॉलेज हो या मंदिर आठों प्रहर प्रेम-प्यार-इश्क-मोहब्बत-लव की बंशी बजाया करता है। वह प्रेम का 'कल्प-पुरुष' है क्योंकि—

अ. किसी भी लड़की को छेड़ने की उसे छूट रहती है।

ब. किसी भी हीरो को कभी बदसूरत लड़की नहीं मिलती।

स. पैदल/ सायकल/ मोटर सायकल/ मोटर गाड़ी से लड़की को टक्कर मारते ही वह हीरो से मोहब्बत करने लगती है।

३३. हीरो के प्रेम शास्त्र के अनुसार यदि वह गरीब परिवार में 'अवतार' लेता है, तो अमीर बाप की बिगड़ैल बेटी से इश्क करता है। अमीर खानदान में अवतरित होने पर गरीब/ अछूत कन्या का उद्धार करता है।

३४. हीरो के चंद चमचे भी हमेशा साथ रहते हैं, जो हाँ में हाँ तथा 'ना' में 'ना' जोड़कर उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ने देते।

३५. हीरो राम भी होता है और रावण भी। वह कृष्ण भी होता है और कंस भी। वह पूरी दुनिया को सिर पर उठा सकता हैं और पैरों तले रौंद भी सकता है।

३६. हीरो दरअसल एक बहुरुपिया प्राणी होता है। कभी वह नायक होता है, तो कभी महानायक। कभी खलनायक, कभी चरित्र नायक, कभी हास्य नायक। बिल्ली की तरह नौ सौ चूहे खाकर वह हज पर जाता है और लौटकर 'हाजी' कहलाता है।

३७. भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद् भगवत गीता में जो गुण आत्मा के बताए हैं, वे भारतीय सिनेमा के हीरो पर पूरी तरह चरितार्थ होते हैं—वह अजर-अमर है। उसे न आग जला सकती है, व पानी गला सकता है, न वायु सुखा सकती है और न शस्त्र से उसे काटा जा सकता है। वह एक फिल्म पूरी कर दूसरी फिल्म में प्रवेश कर जाता हैं, क्योंकि वह अजर है, अमर है। ■

# अभिनेता भी और राजनेता भी

● फिल्मेश्वर

अमेरिका में दोयम दर्जे के अभिनेता **रोनल्ड रेगन** ने जब वहाँ के राष्ट्रपति के रूप में सफलतापूर्वक दो पारियाँ पूरी कीं और भारत में भी लगभग उन्हीं दिनों **अमिताभ बच्चन, सुनील दत्त, वैजयंतीमाला, दीपिका चिखलिया** तथा **लंकेश (अरविंद) त्रिवेदी** ने राजनीति में कदम रखते हुए सफलताएँ प्राप्त की तो कुछ देर के लिए ऐसा लगा कि हिंदी फिल्मों और दूरदर्शन के सितारे भी देश की राजनीति में सार्थक और सक्रिय भूमिका निभा पाएँगे। लेकिन जल्दी ही स्वयं इन सितारों का और उनके प्रशंसकों का यह भ्रम दूर हो गया। जो लोग यह सोच रहे थे कि **अन्नादोराई, एम.जी.रामचंद्रन, एम. करुणानिधि** तथा **एन.टी. रामाराव** की तरह हिंदी फिल्मों के उक्त नायक-नायिका भी राजनीति के शिखरों पर पहुँचेंगे उन्हें पता चल गया कि विभिन्न तथा अलग-अलग कारणों से उनके फिल्मी नायक राजनीति में 'जूनियर आर्टिस्ट' या ज्यादा से ज्यादा 'मेहमान कलाकारों' के दर्जे से ऊपर नहीं उठ पाएँगे।

राजनीति में दक्षिण के कलाकारों की सफलता के कारणों पर पहले नजर डाली जाए। अन्नादोराई, करुणानिधि, एम.जी. रामचंद्रन तथा इस समय जयललिता के फिल्मी तथा राजनीतिक कैरियर को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है, कि इन कलाकारों की परदे की छवि और निजी या व्यक्तिगत छवि तथा आचरण में कहीं न कहीं समानता रही है। एम.जी. रामचंद्रन यदि परदे पर सर्वशक्तिमान, दुखियों और दीनों के उद्धारक की भूमिकाएँ करते थे तो वास्तविक जीवन में भी अनेक पारमार्थिक तथा समाज सेवा के कार्यों में शुरू से आखिर तक दिलचस्पी लेते रहे थे। उनकी गतिविधियाँ फिल्मी तथा राजनीतिक क्षेत्रों में लगभग समानांतर चलती रही। करुणानिधि तथा अन्ना के जो संवाद परदे पर सुनकर उनका प्रशंसक समुदाय तालियाँ पीटता था, उन्हीं संवादों को वे उनके वास्तविक जीवन में भी चरितार्थ होते देखते थे। **एन.टी. रामाराव** यदि परदे पर पौराणिक पात्रों के चमत्कार पेश करते थे तो निजी जीवन में भी बाढ़ और सूखे के समय उनके प्रशंसक क्लबों के माध्यम से वे समाज सेवा के कामों में सक्रिय होते रहे।

इसके विपरीत हिंदी फिल्मों के अभिनेता राजनीति में किसी खास उद्देश्य से किसी खास मौके पर वक्त की नजाकत को ताड़ते हुए प्रवेश करते रहे। **पृथ्वीराज कपूर** तथा **नर्गिस दत्त** को राज्यसभा में उनकी फिल्मी सेवाओं और योगदान को देखते हुए नामजद किया गया था। **सुनील दत्त** ने अभिनेता रहते हुए ही पहले अपने अजंता आर्ट ग्रुप के माध्यम से जवानों के मनोरंजनार्थ कार्यक्रम आयोजित किए तथा बाद में अपनी पत्नी नर्गिस की याद में कैंसर अस्पतालों की स्थापना के अलावा बंबई के अपने क्षेत्र में भी काफी सेवा कार्य किए। उन्हें इसका फायदा भी मिला और १९८९ के चुनावों में जबकि उनकी कांग्रेस (इ) पार्टी सत्ता से उखड़ गई, वे अपनी सीट बरकरार रखने में सफल हुए। **वैजयंती माला** की भूमिका उनके सांसद बनने के पूर्व तथा बाद में भी कोई खास उल्लेखनीय नहीं रही। सन् १९८५ में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद से उपजी सहानुभूति की लहर पर सवार होकर ही वे संसद में पहुँचीं।

अमिताभ बच्चन का परिवार नेहरू परिवार से व्यक्तिगत रूप से बहुत पहले से जुड़ा रहा था, राजनीति में उनका प्रवेश भी निहायत ही व्यक्तिगत कारणों से हुआ। राजीव गाँधी के साथ उनकी मित्रता ने ही उन्हें इंदिराजी की हत्या के बाद अपने मित्र (व देश के!!) के संकट की घड़ी में उसका साथ देने के लिए प्रेरित किया। जन-सेवा या देश सेवा का उनका कोई उद्देश्य नहीं था। सन् १९८५ के आम चुनावों में हेमवतीनंदन बहुगुणा को उन्होंने हराया जरूर लेकिन उनकी वह जीत भी बहुत कुछ उन विशेष परिस्थितियों के कारण हुई थी क्योंकि थोड़ा बहुत योगदान इसमें उनकी फिल्मी लोकप्रियता का अवश्य था। लेकिन लोकसभा में पहुँचने पर उनके प्रशंसकों ने देखा कि उनका महानायक मात्र कुर्सी की शोभा बढ़ा रहा है और देश की किसी भी समस्या को हल करने में उसकी कोई भूमिका ही नहीं है तो उनकी 'सुपर मैन' की छवि यकायक ध्वस्त हो गई। जो रही सही कसर थी उसे बोफोर्स प्रकरण ने पूरा कर दिया। कांग्रेस (इ) के पुराने कार्यकर्ताओं ने उन्हें हमेशा एक बाहरी तथा लादा हुआ व्यक्ति ही माना। नतीजा यह कि बिना अपना कार्यकाल पूरा किए उन्हें पद त्याग यह कहते हुए करना पड़ा कि '**राजनीति बहुत ही गंदी चीज है और अब वे उससे कभी कोई वास्ता नहीं रखेंगे।**' इस संदर्भ में देश की जनता उनसे दो सवाल पूछ सकती है कि 'क्या फिल्मी दुनिया में गंदगी नहीं है और क्या फिल्मों में राजनीति नहीं होती?' दूसरी तरफ कुछ ज्यादा सक्रिय होने वाले सुनील दत्त से भी राजीव उनकी पंजाब आदि की पद यात्रा से विशेष प्रसन्न नहीं हुए थे।



*लो बेटा राजेश, राजनीति में काम आएगा!*

उपरोक्त प्रकरण तो उदाहरण है सत्ताधारी दल के पक्ष में की जाने वाली राजनीति के। सत्ताधारी दल या कांग्रेस के विरुद्ध भी कुछ कलाकारों ने अपनी आवाजें यदा-कदा उठाई हैं। लेकिन आम तौर से वे भी बे-असर ही रही हैं क्योंकि फिल्मी सितारों ने यह आवाज बगैर किसी लोकप्रिय मुद्दे के किसी निजी और तात्कालिक कारणों से ही उठाई। आपातकाल के दौरान **प्राण** तथा **देव आनंद** जैसे लोगों ने उसके खिलाफ '**नेशनल पार्टी**' की स्थापना के जो छुटपुट प्रयास किए वे फिस्स होकर रह गए। **राज बब्बर** तथा **शत्रुघ्न सिन्हा** ने भी **वी.पी.सिंह** का साथ देकर कांग्रेस के खिलाफ प्रचार किया लेकिन जल्दी यह बात साफ हो गई कि घुटे हुए राजनीतिज्ञों ने उनकी छिछली लोकप्रियता का लाभ उठाने के लिए सिर्फ उनका इस्तेमाल भर किया। बंगाल में **विक्टर बनर्जी** ने परंपरागत रूप से एक कांग्रेस समर्थक परिवार से होने के बावजूद ऐन चुनाव के वक्त भाजपा में शामिल होकर अपनी राजनीतिक अपरिपक्वता का ही परिचय दिया। राजनीतिज्ञों द्वारा कलाकारों की लोकप्रियता भुनाने की ही मिसाल **दीपिका, अरविंद त्रिवेदी, शत्रुघ्न सिन्हा** तथा **राजेश खन्ना** भी हैं जो मजे से राजनीतिज्ञों को उन्हें इस्तेमाल करने का मौका दे रहे हैं। इनके इस क्षेत्र में चोटी पर पहुँचना तो दूर मामूली सफलता प्राप्त करना भी संदिग्ध है क्योंकि देश की जनता तथा उनके प्रशंसक भी यह भलीभाँति जानते हैं कि इन कलाकारों की न तो कोई राजनीतिक प्रतिबद्धताएँ हैं, न उद्देश्य न जनता की सेवा की इच्छा ही उनमें है।

प्रतिबद्धता के सिलसिले में दो नायकों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। **दिलीप कुमार** ने जाहिरा कारणों से अपने राजनीतिक रुझानों को कभी उजागर नहीं होने दिया और हमेशा इस या उस तरफ कूद पड़ने की नीयत से हमेशा बागड़ पर बैठे रहे। यों वे खुद को कांग्रेस समर्थक बतलाते रहे हैं लेकिन खुल कर सामने आने से परहेज करते रहे। दूसरे अपवाद रहे **मिथुन चक्रवर्ती** जो पहले राजनीति में रहे और बाद में फिल्मों में आए लेकिन एक बार फिल्मों में आने के बाद इस पूर्व नक्सलवादी ने राजनीति में अब तक तो हाथ नहीं डाला है।

इसी प्रतिबद्धता के मसले को आगे बढ़ाने से हमें दक्षिण भारतीय अभिनेताओं की राजनीति में सफलता के कारणों का पता चल जाता है। दक्षिण के कलाकारों ने अपनी स्पष्ट राजनीतिक प्रतिबद्धताओं के साथ जनता के साथ ठेठ निचले स्तर पर जुड़ अपना व्यापक जनाधार बनाया। तभी हमने देखा कि एम.जी.आर. की मौत पर उनके प्रशंसकों ने आत्महत्याएँ तक कीं। कोई भी व्यक्ति सिर्फ चेहरा-मोहरा, 'डायलाग बाजी' और 'स्टाइल' देख कर ऐसी चटक प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करता।

अपना जनाधार बनाने में दक्षिण के कलाकारों को सफलता मिलने का एक कारण उनके कार्य क्षेत्र का सीमित होना भी था। दक्षिण के सभी कलाकारों ने मूलतः कुछ क्षेत्रीय मुद्दों को उठाकर ही लोकप्रियता अर्जित की जबकि हिंदी फिल्म के अभिनेताओं को ऐसी सुविधा नहीं उपलब्ध है। वे तो राजनीतिक नेताओं द्वारा उठाए गए व्यापक और राष्ट्रीय मुद्दों में अपनी आवाज भर मिला सकते हैं। तीसरा तत्व है दक्षिण के कलाकारों की जीवन शैली की सादगी। शान-शौकत, दौलत के फूहड़ प्रदर्शन तथा अपने आसपास एक अलग दुनिया रचने से दक्षिण के कलाकार हमेशा बचते रहे जबकि बंबइया कलाकार जितनी अवास्तविक जिंदगी परदे पर पेश करते हैं उतनी ही भयावह रूप से कल्पना-लोकी जिंदगी अपने वास्तविक जीवन में भी जीते हैं जो उन्हें आम आदमी से दूर ले जाती है।

# नायक की लोकप्रियता का समाजशास्त्र

● विजय अग्रवाल

निःसंदेह रूप से किसी भी नायक अथवा नायिका की सफलता का श्रेय उसकी अभिनय कुशलता को होता है। लेकिन जहाँ उसकी लोकप्रियता का प्रश्न आता है, वहाँ उसके अभिनय कौशल के साथ-साथ उस समय की सामाजिक स्थितियों का उतना ही योगदान जुड़ जाता है। यहाँ हमें 'सफलता' और 'लोकप्रियता' के अंतर को समझना होगा। 'सफलता' का संबंध इस बात से है कि नायक ने अपनी भूमिका का निर्वाह कितनी दक्षता के साथ किया है। आवश्यक नहीं है कि एक सफल नायक लोकप्रिय भी हो। पुराने नायकों में तथा नए लोगों में **ओम पुरी, नसीरुद्दीन शाह** जैसे अनेक सफल नायक हैं, लेकिन लोकप्रिय नहीं। 'लोकप्रिय' का संबंध फिल्म के अर्थशास्त्र से है। किन्हीं कारणों से नायक लोगों के बीच इतना चर्चित और प्रिय हो जाता है कि फिल्में चाहे जैसी भी हों, उसमें उसकी भूमिका चाहे जैसी भी हो, लेकिन वह अकेले अपने नाम के सहारे फिल्म को सफलता के शिखर पर पहुँचाने की ताकत रखता है। उसकी इस लोकप्रियता के तत्व जितने समाज में विद्यमान होते हैं, उतने स्वयं नायक में नहीं। स्पष्ट है कि 'सफलता' जहाँ अभिनय से जुड़ा हुआ है, वहीं 'लोकप्रियता' विशेषकर समाज से।

हिंदी फिल्मों में लोकप्रियता के चमत्कार का प्रथम श्रेय **अशोककुमार** को दिया जा सकता है। अशोककुमार न तो प्रशिक्षित थे और न ही उनमें अभिनय के प्रति विशेष ललक ही थी। उन्होंने फिल्म जगत में उस समय प्रवेश किया, जब देश का स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरम पर था। पुनर्जागरण आंदोलन के फलस्वरूप लोगों में एक नई सांस्कृतिक चेतना आ रही थी। सन १९३६ की **'अछूत कन्या'** ने अशोककुमार को एक सफल अभिनेता के रूप में स्थापित किया। इसके सात वर्ष बाद बनी फिल्म **'किस्मत'** ने एक ही सिनेमाघर में सर्वाधिक दिन चलने का रिकॉर्ड बनाकर उन्हें लोकप्रिय बना दिया। वह युग गाँधीजी के विचारों से आंदोलित युग था और ये दोनों फिल्में गाँधीवादी दर्शन से प्रभावित हैं। 'अछूत कन्या' अछूतोद्धार से संबंधित है, तो 'किस्मत' एक पॉकेटमार के हृदय परिवर्तन से संबंधित।यद्यपि इस काल में बहुत-सी धार्मिक तथा ऐतिहासिक फिल्में बनीं, लेकिन उनके अभिनेता इतने अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके। बाद में जब फिल्में अपने युग की मानसिकता को अभिव्यक्त करने लगीं, तब अचानक उनका नायक समाज का नायक बन बैठा और स्वाभाविक रूप से इस नायक में समाज अपना प्रतिबिंब देखने लगा। गाँधीवादी युग में समाज को अपना यह प्रतिबिंब अशोककुमार में दिखाई पड़ा, इसलिए उसने उसे पर्दे पर अपना प्रतिनिधि मानकर स्वीकार किया और लोकप्रिय बनाया।

इसके बाद के अत्यंत लोकप्रिय नायकों में **दिलीपकुमार** का नाम आता है, जो फिल्म अभिनय जगत में 'ट्रेजडी किंग' के नाम से विख्यात हैं। दिलीपकुमार प्रेम की तीव्रता और तड़प के जीवंत अभिनय के लिए अत्यंत सराहे गए। इस समय भारतीय समाज आजादी के बाद सुख की साँस ले रहा था। पं. नेहरू के नेतृत्व में युवाओं की आँखों ने एक सुनहरे भारत का स्वप्न पाल रखा था। लंबे संघर्ष और तनाव से जूझते हुए समाज को थोड़ा विश्राम का अवसर प्राप्त हुआ था, इसलिए वह अपनी संस्कृति के आदर्शों को पाने की बात सोच रहा था। उसकी यह सोच अँगरेजों द्वारा लादी गई पश्चिमी संस्कृति की प्रतिक्रिया में भी थी। विश्राम ने उसके मन में प्रेम और सौंदर्य की झलक पाने की ललक पैदा कर दी थी। उसके मन के अंदर की प्रेम और सौंदर्य की यह ललक सात्विक स्वरूप लिए हुए थी। सौभाग्यवश पं. नेहरू का काल अपेक्षाकृत शांत और व्यवस्थित भी रहा। स्वतंत्रता की प्राप्ति की लालसा, राष्ट्र के पुनर्निर्माण तथा पाकिस्तान एवं चीन के साथ हुए युद्धों ने भारतीय मन में त्याग की भावना को सुदृढ़ किया था।

सन १९५० से लेकर सन १९७० तक के लोकप्रिय कथानकों में समाज की चेतना में पल रही इन भावनाओं का प्रतिबिंब देखा जा सकता है। इस काल की फिल्मों में प्रेम है/ सौंदर्य है/ प्रेम के लिए त्याग की भावना है/ और यह सब कुछ उदात्तता की सीमा तक है। इन फिल्मों के गीत और संगीत तक इस उदात्तता से मंडित हैं। समाज की इस चेतना को फिल्मों के माध्यम से **दिलीपकुमार, राजेन्द्रकुमार, संजीवकुमार, देवआनंद** और **राजेश खन्ना** जैसे अभिनेताओं ने अभिव्यक्त किया। इन अभिनेताओं के चेहरे की रूपरेखा और मुद्राएँ इन कोमल भावनाओं के सर्वाधिक अनुकूल थीं। यह अनुकूलता जिसमें जितनी अधिक थी, वह अभिनेता उतना ही अधिक लोकप्रिय हुआ। इस दृष्टि से दिलीपकुमार प्रथम स्थान पर रहे। **धर्मेन्द्र** की लोकप्रियता संक्रमणकालीन रही है। संक्रमणकालीन इस अर्थ में कि धर्मेन्द्र सन १९७० तथा सन १९७५ के काल की प्रवृत्तियों को जोड़ने वाली कड़ी हैं।



*प्रतिनायक अमिताभ-मीनाक्षी के साथ*

पं. नेहरू के अवसान के साथ ही भारतीय समाज के एक युग का अवसान हो जाता है। सन १९६७ के बाद से देश में एक नई राजनीतिक संस्कृति का उदय हुआ। जोड़तोड़, झूठ-फरेबी, भ्रष्टाचार, हिंसा, कालाबाजारी आदि तत्व भारतीय समाज और संस्कृति में प्रमुख स्थान पाने लगे। लेकिन ये प्रवृत्तियाँ उतनी प्रबल नहीं हुई थीं, जितनी कि आपातकाल के बाद हुईं। यह छोटा-सा काल



*सोनम और सुमीत सहगल*

भारतीय चेतना का संक्रमण काल था। धर्मेन्द्र इसी. संक्रमणकालीन चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। धर्मेन्द्र में न तो दिलीप और राजेन्द्रकुमार जैसी कोमलता है और न ही अमिताभ बच्चन जैसा तथाकथित कठोर पुरुषत्व। उसमें इन दोनों का संगम है। यदि प्यार से धड़कता हुआ कोमल हृदय है, तो मछलियों से भरी हुई भुजाएँ भी। बाद में अमिताभ बच्चन के नेतृत्व में इन्हीं भुजाओं ने फिल्मी कथानकों का नेतृत्व किया।

सन १९७५ का आपातकाल राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत निर्णायक सिद्ध हुआ। लोगों के मन में अपनी स्थितियों के प्रति गहन असंतोष था, किंतु उसकी अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। उसके अंदर आक्रोश बुरी तरह उमड़-घुमड़ रहा था। व्यवस्था पर से लोगों का विश्वास उठ गया था। ऐसी मानसिकता वाला समाज दो दिशाएँ अख्तियार करता है या तो वह क्रांति करता है या फिर इसे अपनी नियति मानकर ईश्वर की शरण ग्रहण करता है। ऐसी मानसिकता वाले समाज के सामने जब 'दीवार' और 'शोले' में अमिताभ बच्चन आए, तो लोगों को, विशेषकर युवावर्ग को लगा कि मानों उसने कोई फरिश्ता पा लिया हो। अमिताभ अपने यंग एंग्रीमेन की भूमिकाओं में व्यवस्था की अर्थहीनता व्यक्त करने लगे। पुलिस और कानून को नकारने लगे। शेर-सी दहाड़ने वाली आवाज एवं अतिशयोक्तिपूर्ण संवादों के माध्यम से अपने समाज के युवा आक्रोश को अभिव्यक्ति देने लगे। समाज ने अमिताभ बच्चन में अपने असंतोष का निकास द्वार पाया। इस संभावना से आसानी से इंकार नहीं किया जा सकता कि यदि ये ही **'दीवार'** एवं **'शोले'** फिल्म सन १९६० के आसपास आतीं, तो उतनी सफल नहीं हो पातीं। फिर हम यह भी देखते हैं कि स्वयं अमिताभ बच्चन अपनी इससे पहले की फिल्मों में लोकप्रियता की तो बात दूर है, पूरी तरह असफल ही रहे थे। उसी अमिताभ बच्चन की आठवें और नौवें दशक की फिल्में लोकप्रियता के उस मापदंड को कभी नहीं छू सकीं। ओम् पुरी और नसीरुद्दीन शाह का आक्रोश अमिताभ बच्चन के इसी आक्रोश का विस्तार है।

आठवें दशक से लेकर अब तक का समाज विभिन्न दिशाओं में भटक रहा समाज है। कभी वह जल्दी से जल्दी धन कमाना चाहता है और इसके लिए कुछ भी करने को तैयार है। कभी वह धन-धान्य की दुनिया को छोड़कर प्यार की छाँव में विश्राम करना चाहता है। कभी उसका मन अपनी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति असंतोष से भरकर व्यवस्था को तहस-नहस करने के आवेश से भर उठता है, तो कभी वह उसमें संरचनात्मक बदलाव लाना चाहता है। ऐसी स्थिति में कोई भी एक प्रवृत्ति समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इसलिए आठवें दशक के बाद हो यह रहा है कि कोई नायक किसी एक फिल्म में तो लोकप्रिय हो जाता है, किंतु उसकी अगली फिल्म फ्लॉप हो जाती है।

## फिल्म-फेअर पुरस्कार प्राप्त नायक

- □ १९५३ : दिलीप कुमार : दाग
- □ १९५४ : भारत-भूषण : श्री चैतन्य महाप्रभु
- □ १९५५ : दिलीप कुमार : आजाद
- □ १९५६ : दिलीप कुमार : देवदास
- □ १९५७ : दिलीप कुमार : नया दौर
- □ १९५८ : देव आनंद : कालापानी
- □ १९५९ : राजकपूर : अनाड़ी
- □ १९६० : दिलीप कुमार : कोहिनूर
- □ १९६१ : राजकपूर : जिस देश में गंगा बहती है
- □ १९६२ : अशोक कुमार : राखी
- □ १९६३ : सुनील दत्त : मुझे जीने दो
- □ १९६४ : दिलीप कुमार : लीडर
- □ १९६५ : सुनील दत्त : खानदान
- □ १९६६ : देव आनंद : गाइड
- □ १९६७ : दिलीप कुमार : राम और श्याम
- □ १९६८ : शम्मी कपूर : ब्रह्मचारी
- □ १९६९ : अशोक कुमार : आशीर्वाद
- □ १९७० : राजेश खन्ना : सच्चा-झूठा
- □ १९७१ : राजेश खन्ना : आनंद
- □ १९७२ : मनोज कुमार : बेईमान
- □ १९७३ : ऋषि कपूर : बॉबी
- □ १९७४ : राजेश खन्ना : आविष्कार
- □ १९७५ : संजीव कुमार : आँधी
- □ १९७६ : संजीव कुमार : अर्जुन-पंडित
- □ १९७७ : अमिताभ बच्चन : अमर अकबर एंथोनी
- □ १९७८ : अमिताभ बच्चन : डॉन
- □ १९७९ : अमोल पालेकर : गोलमाल
- □ १९८० : नसीरुद्दीन शाह : आक्रोश
- □ १९८१ : नसीरुद्दीन शाह : चक्र
- □ १९८२ : दिलीप कुमार : शक्ति
- □ १९८३ : नसीरुद्दीन शाह : मासूम
- □ १९८४ : अनुपम खेर : सारांश
- □ १९८७ : कमल हासन : सागर
- □ १९८८ : अनिल कपूर : तेजाब
- □ १९९१ : सनी देओल : घायल

● प्रस्तुति : प्रकाश शर्मा

# मध्यप्रदेश में धनबल और बाहुबल राज की समाप्ति

मध्यप्रदेश के इतिहास में 5 मार्च, 90 का दिन धनबल और बाहुबल के प्रभाव की समाप्ति तथा कानून के राज की स्थापना का दिन साबित हुआ है। परिवर्तन के लिए दिए गए जनादेश के बाद **श्री सुन्दरलाल पटवा** के नेतृत्व में इसी दिन राज्य में नई सरकार ने शासन संभाला और प्रदेश में व्याप्त धनबल और बाहुबल के प्रभाव से कमजोर वर्गों के शोषण को समाप्त करने का संकल्प लिया। इसके साथ ही प्रशासन में बिना राजनीतिक हस्तक्षेप के सभी वर्गों के साथ न्याय और विकास की नई राजनीतिक संस्कृति का उदय हुआ।

इसके पहले प्रदेश में ऐसा वातावरण था कि धनबल और बाहुबल से कुछ भी किया जा सकता था। चाहे वह कानून सम्मत हो अथवा नहीं। समाज के कमजोर वर्गों व निर्बल लोगों के वाजिब हकों को धनबल और बाहुबल से दबा दिया गया था। नई सरकार की नई राजनीतिक संस्कृति के दृढ़ संकल्प का सुफल अब प्रदेश में दिखाई देने लगा है। समतायुक्त तथा शोषणमुक्त समाज की स्थापना की दिशा में उठाया गया यह कदम नई सरकार का महत्वपूर्ण कदम था।

समाज से धनबल और बाहुबल की समाप्ति के लिए सरकार ने समाज में आतंक के पर्याय बने व्यक्तियों के खिलाफ कानून के अनुसार कार्रवाई की। सरकार के इन दृढ़ कदमों से समाज के असामाजिक तत्वों को नसीहत मिली है। भोपाल से 16 कि.मी. दूर कीरतनगर में मस्सू मियाँ ने अपना एक साम्राज्य पिछले अनेक वर्षों से कायम कर रखा था। इस क्षेत्र में उसका ही हुक्म चलता था। गरीबों की 1600 एकड़ जमीन दबा रखी थी। शकूर मियाँ जैसे अनेक गरीब लोगों को अपना बंधक बना रखा था। उसका यह साम्राज्य कोई एक-दो वर्षों का नहीं था। उसके खिलाफ आपराधिक प्रकरण होने के बावजूद भी पुलिस और प्रशासन को उसके ऊपर हाथ डालते हुए भय लगता था। इस आतंक को राज्य शासन ने पूरी तरह से समाप्त किया। उसे कानून के अनुसार गिरफ्तार कर जेल भेजा गया। बंधक लोगों को उससे मुक्त कराया गया। उसके कब्जे से 16 सौ एकड़ जमीन मुक्त कराई गई। आज इस क्षेत्र में लोग अमन-चैन से जीवन गुजार रहे हैं।

ऐसा ही वातावरण इंदौर के बंबई बाजार क्षेत्र में था। पूरे इलाके में वर्षों से अवैध धंधे होते थे। शासन-प्रशासन में बैठे हुए सभी लोगों को इन अवैध गतिविधियों की जानकारी थी। लेकिन ऐसा लगता था कि इस इलाके में किसी व्यक्ति का राज चलता है, सरकार का नहीं। नई सरकार ने समाज के लिए नासूर

बने इन अवैध धंधों को समाप्त करने के लिए दृढ़ निश्चय के साथ कठोर कार्रवाई की। जिसका परिणाम है कि आज यह इलाका आतंक के साम्राज्य से मुक्त हो गया है। इसी तरह छतरपुर जिले में भी एक प्रभावशाली व्यक्ति के राज को समाप्त किया गया। प्रदेश के हर क्षेत्र में धनबल और बाहुबल के धनी लोगों के अवैध धंधों को समाप्त किया गया।

लोगों ने सार्वजनिक सुविधाओं के स्थानों पर अतिक्रमण कर लिया था। चाहे शहरी क्षेत्रों में झुग्गियों का व्यवसाय हो अथवा ग्रामीण क्षेत्रों में निस्तार की भूमि पर अतिक्रमण हो। सरकार ने अतिक्रमण हटाया, लेकिन मानवीय संवेदनाओं का सम्मान करते हुए झुग्गियों में रहने वाले गरीब लोगों को दूसरे स्थानों पर बसाया गया। उन्हें बसने के लिए आवश्यक सारी सुविधाएँ सरकार द्वारा दी गईं। अतिक्रमण हटाते समय किसी को बख्शा नहीं गया, चाहे वह कितने बड़े व्यक्ति का क्यों न हो।

यह कोई आसान काम नहीं था। प्रदेश में 86 हजार से अधिक अतिक्रमण शहरी क्षेत्रों से हटाए गए और वास्तविक जरूरत मंदों को पुनर्वासित किया गया।ग्रामीण क्षेत्रों में 70 हजार हैक्टेयर से अधिक निस्तार की भूमि को अतिक्रमण से मुक्त कराया गया। निश्चय ही इस कार्य से शुरू में सरकार को थोड़ी बहुत अलोकप्रियता मिली लेकिन बाद में इसके परिणामों को देखकर लोगों के मन में कानून के प्रति एक विश्वास पैदा हुआ। आज ऐसा वातावरण हर स्तर पर बन गया है कि हर व्यक्ति को कानून का पालन तो करना ही पड़ेगा चाहे वह धन से, बाहु से अथवा राजनीतिक प्रभाव से कितना ही प्रभावशाली व्यक्ति क्यों न हो।

एक ओर जहाँ सरकार ने अपनी नई राजनीतिक संस्कृति के अन्तर्गत कानून का पालन करने के लिए लोगों को सख्ती से मजबूर किया वहीं दूसरी तरफ पुलिस और प्रशासन में राजनीति के अनावश्यक हस्तक्षेप को भी समाप्त किया। आज पुलिस या प्रशासन का अधिकारी कानून और नियम के अनुसार कार्य करने के लिए पूरी तरह से स्वतंत्र है।

प्रदेश में कानून के राज की स्थापना का ही परिणाम है कि मध्यप्रदेश देश में शांति के द्वीप के रूप में उभरा है। प्रदेश में सभी वर्गों के त्योहार ईद, मोहर्रम, दशहरा, होली आदि शांति के माहौल में सम्पन्न हुए।

राज्य सरकार ने अत्याचार निवारण अधिनियम को अधिक प्रभावी बनाया है और अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों पर वर्षों से चले आ रहे अत्याचारों को समाप्त करने की प्रभावी पहल की है। सभी जिलों में अधिनियम के तहत विशेष न्यायालयों की स्थापना की गई है।

सम्पादक बसंतीलाल सेठिया द्वारा नईदुनिया प्रेस के लिए,
प्रेस, बाबू लाभचंद छजलानी मार्ग, इंदौर ४५२००९ से मुद्रित एवं प्रकाशित ◆ सम्पादकीय सलाहकार: राहुल बारपुते

# नायक महानायक

भारतीय सिनेमा पर केंद्रित

फिल्म-विशेषांक १९९२


- प्रधान सम्पादक
  अभय छजलानी
- सहयोगी सम्पादक
  महेन्द्र सेठिया
- सौजन्य सम्पादक
  श्रीराम ताम्रकर
- अभिकल्प
  दिलीप चिंचालकर

प्रकाशन इंदौर की चतुर्थ प्रस्तुति